महात्मा गाँधी
और
भारत

डॉ० अमर ज्योति सिंह
एम०ए०, एम०फिल०, पी-एच०डी० (समाजशास्त्र)

अपने पूज्य पिता श्री आर० पी० सिंह
आई० आर० एस० ई० (अवकाश प्राप्त)
एवं
पूजनीया माता श्रीमती रामावती सिंह
के
चरणों में सादर समर्पित

- डॉ० अमर ज्योति सिंह

विषय क्रम

भूमिका

महात्मागांधी जैसा विशाल और विराट व्यक्तित्व सदियों के अन्तराल में किन्तु विशेष परिस्थितियों में किसी विशेष समाज में उत्पन्न होता है। मैंने न केवल गाँधी को और गाँधी युग को देखा है अपितु गांधी के चमत्कारी नेतृत्व को, गांधी के हिमालय जैसे अडिग साहस को, गंगा जैसी पवित्र उनकी मानसिकता को और हिमालय से बहते हुए निर्झर जैसा उनके हृदय की, कोमलता को, प्रत्येक देश और विदेश के जन-मानस को छुते हुये, निर्मल करते हुए और झकझोरते हुये देखा है। गाँधी जैसा चमत्कारी नेतृत्व, उनके विराट पौरुष का ध्यान आते ही मैं अभिभूत हो जाता हूँ। उनके सम्बन्ध में लिखने में मुझे डर लगता है।

गांधी जी कहा करते थे कि युवक आश्चर्यजनक शक्ति का पूँज होता है और चकित कर देने वाले कार्य को सम्पादित करने की सामर्थ्य रखता है। इस पुस्तक के लेखक डॉ० अमर ज्योति सिंह, गाँधी के उक्त विचार को ही सत्य सिद्ध कर रहे हैं। गांधी के सम्बन्ध में उनका यह अध्ययन अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है और मुझमें भी उस शक्ति को उत्पन्न करने का कारण बन रहा है कि मैं उस जन देवता, उस महापुरुष, उस महामानव के सम्बन्ध में कुछ कहकर उस युग को नमन करूं, जिसे गांधी युग कहा जाता है, जिस युग का प्रत्येक कण गांधी की सुगन्ध से प्रेरित हुआ था, जिसे गांधी ने निर्मित किया अपमानित और रौदं दिये एवं निष्प्राण हो गये राष्ट्र में अपनी दृढ़ता, निर्मलता, नैतिकता और चारित्रिक उत्कृष्टता से सरावोर कर दिया था। गाँधी जैसा महापुरुष, भारत वर्ष जैसी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पदा की पृष्टभूमि वाले देश में ही उत्पन्न हो सकता है और उस गाँधी का प्रादुर्भाव जिसे हम महात्मा मोहन दास करमचन्द गाँधी की संज्ञा से जानते है, वह भारत वर्ष के तत्कालीन परिस्थिति का मानव, समाज को अद्वितीय अनुपम देन है, अक्षुण धरोहर है।

महात्मा गांधी आधुनिक युग के सबसे बड़े महापुरुष थे। वे मानव जाति के पथ प्रदर्शक थे। उन्होनें मानव जाति को आध्यात्मिक और समाजिक मूल्यो की, नैतिकता की, प्रेम की, सहयोग की, पद्धति की तथा स्वतंत्रता के बीज मंत्र को दिया। उनका उपदेश जीवन को पल्लवित और पुष्पित करने का था। उन्होने प्राचीन भारत के ऋषियों द्वारा जलाई गई मशाल को फिर से प्रजज्वलित किया। उस मशाल को जिसे तथागत बुद्ध ने फिर से ज्योति प्रदान की और समय-समय पर इस पावन भारत भूमि पर महापुरुष ने तेजस्विता प्रदान की, उसी मशाल को महात्मा गांधी ने पुनः अपना सर्वस्व दांव पर लगा कर ज्योतित किया, और इस प्रचीनतम् सांस्कृतिक देश की अस्मिता की रक्षा की। उनके दृढ़ निश्चय वाले नेतृत्व ने निष्प्राण हो रहे भारतीय समाज में नई शक्ति, नई स्फूर्ति का संचार किया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण अटल, अचल-हिमालय जैसी अनाचार और अत्याचार की प्रतिमूर्ति ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध प्रायः ससुप्ता अवस्था में पड़ा हुआ भारतीय समाज उठ खड़ा हुआ और उस महापुरुष के मानवीय, सांस्कृतिक नेतृत्व की छाया में चल कर अपनी स्वतंत्रता को हम प्राप्त कर सके। महात्मागाँधी केवल युग पुरुष ही नहीं, नवयुग के प्रवर्तक युग पुरुष थे। जिस राष्ट्र को विदेशी अतताइयों ने पदाक्रान्त कर अपने अमानवीय शिकंजो में जकड़ रखा था, अपने ही राष्ट्र में भारतवासी पशुओं का जीवन व्यतीत करने को बाध्य कर दिये गये थे, उस राष्ट्र को जिसने आत्म शक्ति प्रदान कर मानवता का उपदेश जगाया, उठाया, संगठित किया और आन्दोलित कर पुरुषार्थ के पथ पर आगे बढ़ाया और अन्त में स्वतंत्रता प्राप्त ही कर ली, उसी का नाम गाँधी है।

भारतीय समाज को खोखला कर रही समाजिक कुरुतियों, छूआ- छूत, जाति- पाति, नारी का असम्मान इत्यादि सामाजिक पाप के विरुद्ध जिस व्यक्ति ने संघर्ष किया। अछूतो के प्रति अमानवीय व्यवहार से विचलित हो उठा, जिसने जाति प्रथा के विरुद्ध विगुल फूंका और अछूत शब्द को भारतीय समाज से सर्वदा के लिये बहिष्कृत किया और अछूत कहे जाने वाले लोगो को सम्मानित कर सम्पूर्ण भारतीय समाज में समानता का दर्जा प्रदान कर, एक अभिनव सांस्कृतिक क्रांति को प्रतिपादित किया उस महापुरुष को हम गांधी कहते है। जिस व्यक्ति ने स्वयं अपनी सह अर्धांगिनी कस्तूरबा को साथ लेकर अपनी कंटकाकीर्ण कठिन जीवनयात्रा की और सरल भारतीय समाज में नारी जागरण का मंत्र फूंक कर भारत में नवीन रक्त संचार किया, वह गांधी ही थे।

विदेशी चाल चलन, विदेशी भाषा, विदेशी वस्त्र के मोहजाल में फंसे हुये भारतीय समाज में गांधी ने ही स्वदेशी वस्त्र के प्रति लगाव का भाव, भारतीय भाषा में अभिव्यक्ति की अनिवार्यता का उपदेश और भारतीय पद्धति की वेशभूषा को सम्मानित करने का महान कार्य सम्पादित किया।

गांधी जीवन दर्शन को किसी एक श्रेणी, एक वर्ग में नहीं बाधा जा सकता। गाँधी भारतीय दर्शन, सांस्कृतिक विकास के ज्योति पुरुष थे, किन्तु वें प्रचलित भारतीय अनुष्ठानो से बहुत दूर थे। गाँधी भारतीय संस्कृति की आत्मा के आडम्बर नही। गांधी भारतीय संस्कृति, समस्त जीवन अवयवों और शक्ति में नवयुग की चेतना की स्वर लहरी के झंकार थे। गाँधी को गाँधीवाद में बाघना सर्वथा अनुचित है। गांधी ने अपने जीवन की शैली से, कार्य से, पुरुषार्थ से, मानवजाति को अपने पर विश्वास करने का, अपने पैरों पर खड़ा होने का संदेश दिया। उनका सम्पूर्ण जीवन पराश्रित भावना के विरुद्ध संकेत कर रहा है। गांधी ने सकल समाज को एक ही मंत्र दिया कि अपने दीपक स्वयं बनो। इसी मंत्र को सिद्ध कर लेने के कारण, वे परतंत्रता के विरुद्ध उठ खड़े हुये, इसी के कारण वे सभी को स्वतंत्रता के पक्षधर हुये इसी के कारण वे किसी भी प्रकार के शोषण के विरुद्ध थे।

गांधी जी समाजवादी थे, किन्तु प्रचलित समाजवाद में हिंसा की गन्ध के विरोधी थे। उनका समाजवाद सकल मानव समाज में समानता की स्थापना था। जिसमें शक्तिशाली द्वारा अशक्त का शोषण, बड़े राष्ट्र द्वारा छोटे राष्ट्र का शोषण, पुरुष समाज द्वारा नारी समाज का शोषण, किसी समाजिक प्राविधान द्वारा एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण, निषेध है। उनके कार्य का मूलाधार अहिंसा, सत्य और शान्ति तथा प्रेम है। गांधी का यह तत्वज्ञान भारतीय चिन्तन की अति प्राचीन निधि है किन्तु यह आधुनिक ज्ञान विज्ञान की अनुभूतियों की चेतना से संचारित होकर सर्वथा नवीन भी है। भारतीय संस्कृति और धर्म के मर्म को पहचानने वालो के, गाँधी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ धरोहर है। भारतीय इतिहास का यह अमर संदेश कि संसार में एकता होनी चाहिये, सर्वत्र एक ही भाव और एक ही आत्मा का संचार होता है, यह अमर संदेश गाँधी ने संसार को दिया। इसीलिये वे साम्राज्यवाद, को सहन नहीं कर सकते थे और इसीलिये स्वतंत्रता के नम्बरदार थे, नायक थे। गान्धी के जीवन का यह अमर उद्घोष है कि जीवन का पथ शांति में, प्रेम में है, जीवन के अध्यात्मिक और समाजिक मूल्यो की रक्षा में हैं। गांधी का सम्पूर्ण जीवन अत्याचार, अनाचार, घृणा और द्वेष के विरुद्ध लड़ते ही बीता। इसीलिये गाँधी सकल विश्व में पद दलित और अपवित्र हो रहे भारत को एक सम्मानित राष्ट्र के पद पर स्वतंत्र राष्ट्रों की पंक्ति में स्थापित कर सके। भारत को सम्पूर्ण विश्व समाज में गौरव प्रदान कर सके। गाँधी के जीवन का सम्पूर्ण क्रिया कलाप सांस्कृतिक आन्दोलन है। भारत की पराधीनता की बेला में उत्पन्न होने के कारण, ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध संघर्ष के कारण और पराधीन राष्ट्र को स्वतंत्रता दिलाने के कारण, महात्मा गाँधी एक राजनैतिक नायक हो गये, किन्तु वस्तुतः वे एक महान सांस्कृतिक आन्दोलन के महापुरुष थे, जिसके मार्ग में किसी भी राष्ट्र की गुलामी असहनीय थी।

यदि गाँधी को अपना देश भारत गुलाम न मिला होता तो गांधी मानवता की, मानव संस्कृति और सभ्यता की और अधिक सेवा करने में समर्थ हुये होते। उनके जीवन का सम्पूर्ण समय भारत की गुलामी की जंजीर तोड़ने में, भारतीय समाज में व्याप्त विकृतियों, अन्यायो, अनाचारों को समाप्त करने में, एक आधुनिक दृष्टिकोण का समाज बनाने में ही लग गया। वे इस देश के श्रेष्ठतम मानव थे। वे वर्तमान भारत के पिता थे। उन्होने इस देश में बसने वाले सभी वासियों में एकता, समानता और भातृत्व के भाव का दर्शन किया और इसी भाव को साकार बनाने में उन्होंने अपने जीवन को होम कर दिया।

गांधी जीवन के मंत्र का सार सत्य और अहिंसा है। इसी को स्थापित करने में वे जीवन भर प्रयोग करते रहे। उनका यह कार्य सम्पूर्ण मानव समाज के लिये था, किन्तु भारत वर्ष उनके कार्य की प्रयोगशाला था। उनके कार्य और उनका संदेश विश्वजनीय था।

गांधी जी इस तथ्य को स्वीकार करते है कि जब तक आर्थिक और सामाजिक विषमता रहेगी, अंहिसा के भाव को ठेस पहुचती रहेगी। उनका यह मानना है कि मानव समाज को मानवता के अलंकरण से विभूषित कर हम अंहिसा को सम्मानित कर सकते है। उनकी आत्म उन्नति के पर्याप्त अवसर अबाधगति से उपलब्ध हो तो हिंसा की सम्भावना बढ़ जायेगी। वे यह भी कहते है कि जाति-पाति और सम्प्रदायों के बंधनों को तोड़ कर हम अंहिसा को प्रतिष्ठित कर सकते है। इस अर्थ में व्यवहार रूप में गांधी जी समाजवादी है। समाज से विषमता को, उच्च-नीच के भेद-भाव को, छूआ-छूत की भावना को, समाज में अन्तिम स्तर पर व्याप्त दुःख, और दारिद्रय को और घिनौनी आर्थिक विषमता को समाप्त करके ही हम अहिसंक होने का दावा कर सकते है, ऐसा विलक्षण, गतिशील और आकर्षक नेतृत्व था गाँधी का।

गांधी के विचार ज्ञान का अध्ययन करके हम पाते है के उनके ज्ञान मार्ग में अराजकतावाद था क्योंकि राज्य संस्था में गांधी जी का विश्वास नही था, किन्तु पश्चिम के जो अराजकतावादी थे उनके अन्य किसी विचार से गाँधी के विचार मेल नहीं खाते है। उसी प्रकार गाँधी जी समाजवादी थे, किन्तु जनतांत्रिक समाजवाद के व्यापक मान्यताओं के आधार से परखने पर गांधी के विचार समाजवादी मान्यताओ से मेल नही खाते हैं और उनके आचार भी भिन्न है। राष्ट्र और विश्व द्वारा वे एक धार्मिक पुरुष के रूप में भी प्रतिष्ठित थे, किन्तु उनका धार्मिक संस्थाओ में कोई विश्वास नहीं था और न वे किसी धार्मिक अनुष्ठान और आचार का ही पालन करते थे। गाँधी जी मूलतः मानवीय गुणों से प्रेरित होकर मानव हित साधन का व्रत धारण करने वाले श्रेष्ठ मानव थे।

गांधी जी ब्रिटिश साम्रज्यशाही के विरुद्ध लड़ी गयीं दुर्घस्य लड़ाइयो के तीन– तीन बार नायक रहे। अभूतपूर्व धैर्य और साहस के साथ अपराजेय साम्राज्यशाही के विरुद्ध उन्होनें अहिंसक संघर्ष किया किन्तु इस संघर्ष की कठिन बेला में भी वे अपने मानवीय चरित्र की सर्वांगीण रक्षा करने में सफल रहे। गाँधी का राजनीतिक संघर्ष और समाजिक रचना का आन्दोलन अत्यन्त मनोरम छटा का संगम बनाता है। गांधी की शहादत ने, उनके ही धर्मावलम्बी द्वारा उनकी की गई हत्या, ने गांधी के जीवन में चारचांद लगा दिया। यदि गांधी की हत्या न हुई होती तो गांधी के पुरुषार्थ से भारत पाकिस्तान का पुर्नमिलन सम्भवतः सम्भव हुआ होता।

गाँधी जी ने स्वतंत्रता संग्राम में अपार धैर्य का, नेतृत्व शक्ति का, आत्मबल का और भारतीय सद्‌गुण का परिचय दिया। सरदार पटेल, जवाहर लाल, सुभाष चन्द्र बोस खाँ अब्दुलगफ्फार खाँ, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, डॉ राममनोहर लोहिया राजगोपालाचारी और डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जैसे दिग्गज नेताओं का नेतृत्व करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त हो, वह निश्चय ही महामानव ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त डॉ०.श्यामा प्रसाद मुखर्जी

और साबरकर जैसे व्यक्तियों का भी उन्हें विश्वास प्राप्त रहा। गांधी के संग्रह शक्ति का यह अदभुत प्रमाण है।

देश के विभाजन को रोकने के लिये गाँधी मिस्टर जिन्ना को प्रधानमंत्री बनाने को तैयार हो गये थे। नेहरू और पटेल द्वारा देश का विभाजन स्वीकार किये जाने के बाद भी गाँधी विभाजन के विरुद्ध थे। सन्19 42 के आन्दोलन के समय से गांधी के सम्पर्क कांग्रेस समाजवादी नेताओ से बढ़ने लगे थे। सन्19 42 के आन्दोलन का ''अग्रेजों' भारत छोड़ो ''वाला प्रसिद्ध प्रस्ताव का पूरी शक्ति से समर्थन आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश, और अच्युत पटवर्धन ने किया था। बम्बई में नेताओ की गिरफ्तारी के बाद जयप्रकाश, डॉ लोहिया, पटवर्धन और अरुणा के नेतृत्व में जो भूमिगत आन्दोलन हुआ और जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़े हिला दी उसे गांधी ने निकट से देखा और अनुभव किया। गाँधी राष्ट्र विभाजन के साथ आ रही भारतीय स्वतंत्रता के अंतिम पहर में उपेक्षित होने लगे थे। नेहरू और पटेल ने विभाजन को स्वीकार करने के पूर्व गान्धी से विचार विमर्श करना आवश्यक नही समझा। नेहरू और पटेल ने गान्धी द्वारा प्रस्तुत नया प्रस्ताव, कि काग्रेंस का अध्यक्ष नरेन्द्र देव को बनाया जाय, को अनसुना कर दिया। लार्ड माउन्ट वेटन को तत्काल भारत से चले जाने के सुझाव को भी नही माना गया। गान्धी की प्रार्थना सभा में दिया गया अपनी मृत्यु के पूर्व का भाषण कि, 'यह सम्भवतः इतिहास की पहली धटना है जब विजयश्री प्राप्त कर लेने के बाद सेनापति अपनी ही सेना द्वारा पराजित पाया गया''।

गान्धी का आर्थिक चिन्तन अत्यन्त विस्मयकारी है। वे स्वंतत्र राष्ट्र के स्वावलम्बी आर्थिक ढांचे के हिमायती थे। उन्होने गांवो में फैले हुए भारत के कृषक समाज के हेतु कृषि कार्य के अतिरिक्त, भारत के किसानो को पूरक कार्य विकल्प स्वरुप छोटे-छोटे उद्योग का जाल विछाने के पक्षधर थे। भारत की बेरोजगारी मिटाने का गाँधी का यह चिन्तन अमोध अस्त्र है। खेद है कि स्वंतत्र भारत में गान्धी के इस विचार पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है और न तो उस दिशा मे कोई उल्लेखनीय कार्य ही हुआ ।

गान्धी ने सम्पर्क भाषा के रूप में अथवा राष्ट्र भाषा के रूप सरल हिन्दी, जिसे वे हिन्दुस्तानी कहते थे, का विकास, प्रचार और प्रसार किया। उन्होनें अपने रहन-सहन आचार-विचार, व्यवहार से तथा अपने कार्य से भारत की जनता के साथ अद्भूत रूप से तादात्मय स्थापित किया । ऐसा तादात कि जब तक गाँधी जी का आवाहन नही होता था तब तक राष्ट्र व्यापी आन्दोलन सम्भव न हो पाता ।

गान्धी जी भारतीय स्वंतत्रता संग्राम के अद्वितीय और अप्रतिम सेनापति थे। सन् 1920, सन् 1930 और 1941-42 ई० में छेड़े गये स्वतंत्रता संग्राम के वे अधिनायक थे। उस समय के सभी भारतीय दिग्गज नेता उनके अद्भुत रुप से प्रभावित थे। विश्व में सम्भवतः वे पहले महापुरुष थे, जिन्होने संसार के सबसे बड़े साम्राज्य की परतंत्रता में पड़े हुए विशाल भारतीय भूखण्ड को गुलामी से अहिंसा के मार्ग पर चल कर स्वतंत्र कराया। उनका यह कार्य विश्व इतिहास में बेजोड़ है ।

भारतीय समाज में एकता स्थापित करना, उसमे चेतना की स्फूर्ति का संचारण करना और बिना शस्त्र उठाये, परतंत्र न रहने का संकल्प भाव उत्पन्न करना, उनके नेतृत्व की विशेषता थी । उन्होंने सम्पूर्ण भारत के लोगो में चेतन शक्ति तो उत्पन्न किया ही, चेतन नेतृत्व का संग्रह भी चमत्कारी रूप से किया। उनके स्वतंत्रता संग्राम के कार्यक्रम आश्चर्य में डाल देने वाले होते थे। सन् 1920 ई० में उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ो।, सरकारी विद्यालय छोड़ो, नारा देकर जब असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया तो उससे उत्पन्न समस्या, कि स्कूल छोड़ कर आन्दोलन में आये विद्यार्थियों की आगे कि शिक्षा का क्या हो, राष्ट्रीय विद्यापीठो की स्थापना कर स्वतंत्रता

संग्राम के लिए सैनिको को तैयार करने का अद्‌भुत कार्यक्रम देश को दिया। सन् 1921 में काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, मद्रास विद्यापीठ का प्रारम्भ कराया । डॉ० भगवान दास, आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द, डॉ०राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य कृपलानी. मोरजी देसाई, राज गोपाला-चारी प्रभृति शीर्ष के विद्वान, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में कूद पडे। उस घटना ने भारत में एक अभिनव क्रान्ति का रूप धारण किया । इन विद्यापीठो ने चेतना प्रपन्न, चरित्रपरायण, राष्ट्रीयभावना से ओत-प्रोत नव युवको को उत्पन्न करने का अद्‌भूत कार्य किया ।

सन् 1921-30 के बीच गाँधी जी अस्पश्यता निवारण, कपास की खेती और चरखा से सूत कातने और खादी का वस्त्र तैयार करने का कार्यक्रम दिया । इन कार्यक्रमो के द्वारा गान्धी ने भारतीय समाज मे व्याप्त सड़ी-गली वर्ण-व्यवस्था के उत्तेजन को समाप्त किया और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के द्वारा लंकाशायर में उत्पन्न वस्त्रों से भारतीय समाज मे किये जा रहे शोषण को समाप्त करने के साथ ही ब्रिटेन के आर्थिक ढांचे को डगमगा दिया।

नमक सत्याग्रह के द्वारा अवैध नमक विधेयक को चुनौती तो दी ही, इस कार्यक्रम के द्वारा उन्होने सत्याग्रह को गांव-गांव और घर-घर पहुँचा दिया। सन् 1930 मे सरदार भगत सिंह की फांसी, विठ्ठल भाई पटेल का सेन्ट्रल असम्वली के सभापति पद से त्याग पत्र और कांग्रेस के कराचीं अधिवेशन में, भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात किसान और मजदूर राज्य कायम करने का संकल्प लिया गया । सन् 1941 ई० में द्वितीय महायुद्व में भारत को उसकी इच्छा के विरुद्व अग्रेंजो द्वारा घसीटे जाने का गान्धी ने विरोध किया और उस आन्दोलन का स्वरुप युद्व विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह के द्वारा युद्व करने के विरोध का वातावरण तैयार किया।

गाँधी का नेतृत्व क्रान्ति-कारी होता चला गया । वे प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी थे और उनकी क्रान्ति की प्रक्रिया अहिंसक थी। सन् 1942 ई० आते आते गान्धी भारतीय स्वतंत्रता सग्राम के अतिम युद्व में अपने सम्पूर्ण क्रान्तिकारी तेवर के साथ उपस्थित हुए। उन्होने भारतीय समाज को पराधीन न रहने का संकल्प लेने को कहा ही, भारत को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित करने के साथ ही अंग्रेजो को भारत भूमि छोड़ देने का नारा दिया । उस अन्तिम संग्राम में गान्धी ने देश वासियो को कोई कार्यक्रम न देकर एक मंत्र दिया कि प्रत्येक व्यक्ति नेता है "करो या मरो" बूढ़े, गाँधी के क्रान्ति का वास्तविक स्वरुप था। उस आजादी के अन्तिम संग्राम ने अग्रेंजो के भारत में शासन की जड़ो को आमूल चूल हिला दिया । उसमे गाँधी के अनुयायियो, भारत के कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेताओ ने जिस प्रकार बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया उसने उस संग्राम को वास्तविक क्रान्ति का स्वरुप प्रदान कर दिया। किन्तु उस क्रान्ति के फल-स्वरुप जब अंग्रेजों की कूटनीति ने भारतीय स्वंतत्रता को भारत विभाजन के साथ प्रस्तुत किया तो गाँधी ने इसे स्वीकार नही किया । किन्तु उस योजना के साथ देश में जो सम्प्रदायिक उन्माद उत्पन्न हुआ, उसका समाधान करने जब गान्धी ने नोआरवाली मे अकेले अहिसंक क्रान्ति के तत्वो से लैस होकर शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त तत्कालीन कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पदाधिकारीयो ने विभाजन की योजना गाँधी को बिना जानकारी दिये स्वीकार कर ली। गान्धी विजेता होने के बाद भी अपनी ही सेना द्वारा पराजित कर दिये गये । उस संकट की घड़ी में भी गाँधी का देश को विभाजन से बचाने का प्रयास कांग्रेस द्वारा अमान्य कर दिया गया । गाँधी जी ने देश के साथ वादा किया था कि देश का विभाजन उनकी लाश पर होगा । देश का विभाजन हुआ। उस साम्प्रदायिक उन्माद मे गाँधी साम्प्रदायिक पागलपन के शिकार होकर आततायी की गोली से शहीद होकर साम्प्रदायिक सौहार्द की मशाल को बचाने का अन्तिम प्रयास करते हुये अमर तत्वज्ञानियो की पंक्ति में जा विराजे।

गाँधी नेतृत्व लेखनी की शक्ति के परे है। विश्व विख्यात वैज्ञानिक आइन्सटाइन ने गान्धी की शहादत पर कहा कि, "कुछ सौ वर्ष बाद विश्व के लोगो को यह सहसा विश्वास ही नहीं होगा

कि गान्धी जैसा हाड़माँस वाला व्यक्ति इस धरती पर कभी विचरण कर रहा था। गान्धी ने अपने आन्दोलन से राष्ट्र के साहित्यकारों को अद्‌भुत रूप से झकझोरा था। वकिंम बाबू का, "वन्दे मातरम", जयशंकर प्रसाद का, "प्रबुद्व शुद्व भारती", सोहनलाल द्विवेदी का, "हे कोटिरूप है कोटिनाम", माखनलाल चतुर्वेदी का, "चाह नही है मैं सुरबाला के गहनो में गूथां जाऊ", मैथली शरण' गुप्त का, "भारत वर्ष में गूंजे हमारी भारती" जैसे रोमांचकारी साहित्य का सृजन हुआ ।

समय ज्यों-जयों व्यतीत होता जायेगा गाँधी के विचार, उनका जीवन दर्शन उनकी आचार संहिता, भारत देश के लिए ही नहीं, विश्व समाज के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने में अधिकाधिक उपयोगी होकर प्रासंगिक होती जायेगी । किंग लूथर और नेलसन मंडेला गाँधी युग के बाद के उस सूत्र के उदाहरण मात्र हैं। गाँन्धी की प्रयोगशाला भारत थी किन्तु गाँधी की दृष्टि सार्वदेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय थी। विश्ववन्धु गाँधी, विश्व समाज को प्राचीन भारत, अर्वाचीन भारत और आधुनिक भारत की चितंन परम्परा की अमूल्य देन है, अक्षय निधि है और अमित श्रेयष है।

डॉ० अमर ज्योति सिंह की यह पुस्तक "महात्मा गाँधी और भारत" गाँधी पर और अधिक साधिकार अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करेगी । इस अध्ययन में अध्येता ने महत्वपूर्ण सामग्री एकत्र की है और अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं प्रकाशित की है, जो आगे के अध्ययन का आधार बनेगी ।

(सागर सिंह)

रामनवमी, 9 अप्रैल, 1995
सी- 27/212-1, जलधितरंग,
जगतगंज, वाराणसी

■

महामानव : महात्मा गाँधी

सदियों बाद जब भी विश्व के महानतम् व्यक्तियों की सूची बनाई जायेगी तो उसमें महात्मा गाँधी जी का स्थान सर्वोपरी होगा। महात्मा गाँधी एक ऐसे व्यक्ति थे, 'जो हजारों वर्षों के अन्तराल के बाद जन्म लिये थे और उनके जन्म लेने से भारत की धरती तो धन्य हुई ही साथ ही, साथ सम्पूर्ण विश्व आलोकित हुआ।

महात्मा गाँधी जी महामानव थे, जो भारत ही नहीं अपितु सारे विश्व को सत्य और अहिंसा का मार्ग अपनाने का सुझाव दिये। जिसके लिए विश्व राजनीति, उनकी सदैव ही ऋणी रहेगी। वे आधुनिक भारत के महापुरुष थे। उनका जन्म 2 अक्टूबर 1869 में काठियाबाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान मे हुआ था, पिता, राजकोट राज्य के दीवान थे, और माँ, धर्म-परायण तथा सरल स्वभाव की महिला थी। उनसे प्राप्त राम-नाम की शिक्षा का उन्होंने जीवनपर्यन्त पालन किया, तथा रामनाम के जरिए जीवन की सभी बुराइयों को दूर करने का प्रयास करते रहे। इतना ही नहीं बल्कि जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उन्होंने- 'हे राम!' शब्द का ही उच्चारण किया।

गाँधी जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और दार्शनिक, सभी पक्षों परअपने विचार प्रस्तुत किये। उनके चिंतन का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक और कार्य क्षेत्र अत्यधिक विशाल था। यद्यपि वे बड़े बौद्धिक पुरुष नहीं थे। तथापि उन्होंने समाज की मूल समस्याओं को सुलझाने की जो पद्धति अपनायी थी, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे किसी भी मामले में किसी वैज्ञानिक या समाजशास्त्री से कम नहीं थे। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके द्वारा किये गये योगदान को भारतवासी ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व कभी भी नहीं भूला सकेगा। सत्य के साथ अहिंसा को संयुक्त करके, उन्होंने राष्ट्रीय कार्यकलापों में अहिंसा को एक व्यापक सिद्धान्त बनाकर, उसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का प्रमुख अस्त्र बनाया और इसी अस्त्र के द्वारा विश्व के महानतम शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करके देश को स्वतंत्र कराया तथा संपूर्ण विश्व को अहिंसा का नया पाठ पढ़ाया। अहिंसा का सर्वप्रथम प्रयोग गाँधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में किया। जब 1893 में गांधी जी, दक्षिण अफ्रीका गये, तो वहां भारतीयों की करूण स्थिति को देखकर द्रवित हो गये, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ के भारतीयों की दशा सुधारने के लिए उन्होंने नेटाल में 'भारतीय कांग्रेस' नाम संस्था का गठन किया। 1894 तक गाँधी जी प्रवासी भारतीयों की दशा सुधारने के लिए संघर्षरत रहे। अन्त में वहां की सरकार ने घुटने टेक दिये। गाँधी जी के सत्याग्रह का यह पहला प्रयोग था। भारत लौटने पर देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए एक ओर खादी का प्रचार किया और वहीं देश के नौजवानों को भारतीय परिवेश में शिक्षित करने के लिए राष्ट्रीय विद्यापीठ, ग्रामोद्योग संघ आदि अनेक रचनात्मक संस्थाओं का गठन किया।

सत्य, गाँधी जी के व्यक्तित्व में कूट-कूट कर भरा था। सत्य के दूसरे रूप को ही उन्होंने ईश्वर माना। स्वयं को गांधी जी ने सत्य रूपी परमेश्वर का पोषक कहा है। इस प्रकार गाँधी जी का जीवन, धार्मिक था। जीवन की प्रत्येक क्रिया को, वे धर्म-मय बनाना चाहते थे। इसीलिये उनके लिए न तो विभिन्न धर्मों की वास्तविकता में भेद है और न रूढ़िवादियों की भांति अनेक ईश्वर में। अपने व्यवहारिक जीवन में उन्होंने समस्त धर्मों का समन्वय किया और एक ईश्वर को स्वीकारा, जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। वे आदर्शवादी थे, किन्तु अन्य विचारकों की भांति उनका आदर्शवाद काल्पनिक नहीं था। आस्तिकता, सत्य, चिन्तन व विश्व-बन्धुत्व उनकी विशेषता थी। गाँधी जी ने देखा कि जगत में अब तक पशुता से हिंसा का, हिंसा से शस्त्र का, सामना किया गया है। परिणामस्वरूप निर्बल-पशुता पर सबल-पशुता ही विजयी हुई। बलहीन शस्त्रों पर सबल शस्त्रों की सत्ता ही प्रतिष्ठित हुई। वे कहते थे, कि अहिंसा प्रचंड शंख है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरू से दूर भागती है। वह वीर की शोभा है। वह सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं

किया। एक दार्शनिक के रूप में गाँधी जी ने भारतीय संस्कृति के अनुकूल जीवन को विविध मान्यतायें प्रदान की। इस कारण सामाजिक विचारकों में गाँधीजी का स्थान सर्वोपरि है।

इस पुस्तक को लिखने में आचार्य नरेन्द्र देव के घनिष्ट मित्र, प्रमुख समाजवादी नेता, प्रख्यात अधिवक्ता, कवि तथा लेखक श्री सागर सिंह एवं प्रमुख समाजवादी नेता, भू०पू० सांसद एवं मंत्री श्री प्रभु नारायण सिंह ने अपना अमूल्य समय और सहयोग प्रदान किया। जिसके लिए मैं उन लोगों का सदैव आभारी रहूंगा।

मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता डॉ० अमर बहादुर सिंह, युवा पत्रकार, (अध्यक्ष - राष्ट्रीय युवा पत्रकार संघटन) एवं श्री अमर नाथ सिंह, (एडवोकेट) का भी आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर इस कार्य के लिए मुझे प्रोत्साहित किया।

मैं अपने पितामह स्व० ठाकुर संग्राम सिंह एव पितामही स्व० सूर्यमुखी देवी के चरणों में नमन् करता हूँ जिनके त्याग एवं तपस्या के परिणामस्वरूप मै यह कार्य सम्पन्न करने में सफल हुआ।

मैं कण-कण में विराजमान परम् पूज्य अघोरेश्वर भगवान राम जी एवं अपने आध्यात्मिक गुरूद्वय औघड़ साधु बाबा गुरूपद संभव राम जी (अध्यक्ष- अघोर परिषद ट्रस्ट एवं बाबा भगवान राम ट्रस्ट) एवं औघड़ साधु बाबा सिद्धार्थ गौतम राम जी (अध्यक्ष-श्री सर्वेश्वरी समूह एवं पीठाधिश्वर-क्रीं कुण्ड) का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके आर्शीवाद से यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका ।

अन्त में मैं अपने पूज्य पिता श्री आर० पी०सिंह, आई० आर० एस०ई०, (अवकाश प्राप्त) एवं पूजनीया माता श्रीमति रामावती सिंह के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस कार्य को सफल बनाने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया।

अमर ज्योति सिंह
(डॉ० अमर ज्योति सिंह)

रामनवमी, 9 अप्रैल, 1995
सी० 26/36 ए-3, रामकटोरा,
वाराणसी- 221002

प्रथम अध्याय

महात्मा गाँधी: जीवन परिचय

भारतीय लोक जीवन में महात्मा गाँधी का प्रवेश् इस युग की शायद एक अतिमहत्वपूर्ण घटना है। हजारों वर्षों बाद जब भी इस युग के महान लोगोंकी सूची बनायी जायगी तो जिन आधा दर्जन के लगभग लोगों को उसमें स्थान मिल सकेगा उनमें से एक गाँधी जी भी होंगे । सामान्यतः वीर पुरुष में जो गुण होते हैं उनके बिना कोई वीर नहीं माना जा सकता तो भी सच्चे अर्थों में गाँधी जी वीर पुरुष थे। वे विशालकाय नैतिक ढाँचे में ढले हुए थे। मानव इतिहास में ऐसे लोग अधिक नहीं जिन्होंने विविध क्षेत्रों में इतना अधिक काम किया हो। उन्होंने अपने अपूर्व व्यक्तित्व की छाप भारतीय जीवन के अधिकतर पक्षों पर छोड़ी है और उनके विचारों का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा है। वे जगत के लिए उदाहरणस्वरूप थे, वह महामानव थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और दार्शनिक सभी पक्षों पर विचार किया। उनके चिन्तन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और कार्यक्षेत्र अत्यधिक विशाल था। यद्यपि वह बहुत बड़े बौद्धिक पुरुष नहीं थे तथापि उन्होंने समाज की समस्याओं के अध्ययन और समाधान के लिए जो पद्धति अपनाई, उससे वह निःसन्देह एक महान समाजशास्त्री और समाज वैज्ञानिक पद के अधिकारी हो जाते हैं।

गाँधी जी के लिए देश, राष्ट्र, जाति और समुदाय कोई रहस्यमय चीज नहीं रही। वह इन सबका अर्थ उन व्यक्ति समूहों से लगाते थे जो एक साथ मिल कर कार्य करें और एक साथ ऊपर उठावे। उनके अनुसार एक व्यक्ति अपने समीपवर्ती व्यक्ति कि सहायता करने के लिए बाध्य था। वह चाहते थे कि हर व्यक्ति दूसरों के दुःख में हाथ बंटावे। वे साध्य की अपेक्षा साधन को अधिक महत्व देते थे।

मोहनदास करमचन्द गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 ई० को काठियाबाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान में एक धार्मिक विचारधारा वाले परिवार में हुआ था। उनके पिता करमचन्द पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। वे अपनी सदाचारिता और निष्पक्षता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी माता पुतलीबाई एक साधू प्रकृति की अत्यन्त धार्मिक महिला थीं जिनका गाँधी जी के जीवन पर युगान्तकारी प्रभाव पड़ा। मोहनदास तीन भाई एवं एक बहन थे। भाइयों का नाम लक्ष्मीदास, कृष्णदास तथा मोहनदास एवं बहन का नाम रलियात था। मोहनदास का बचपन पोरबन्दर में ही व्यतीत हुआ। मोहनदास को कम उम्र में ही स्कूल भेजा गया परन्तु वे प्रारम्भिक चरण में ही अपनी प्रतिभा को प्रदर्शन नहीं कर पाये। जब इनकी उम्र सात वर्ष की हो गयी तो इनके पिता पोरबन्दर से राजकोट चले आंये। राजकोट ही मोहनदास का दूसरा घर बन गया। राजकोट के

एक प्राइमरी स्कूल में मोहनदास का नाम लिखवा दिया गया, जहाँ मोहनदास नित्य पढ़ने के लिये जाया करते थे। मोहनदास की किसी खेल या अन्य कार्यों में रुचि नहीं थी।

मोहनदास का विवाह तेरह वर्ष की उम्र में कर दिया गया। इनकी पत्नी का नाम कस्तूरबा था। 1887 ई० में मोहनदास मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर लिये, परन्तु दुर्भाग्यवश एक वर्ष पूर्व उनके पिताका देहान्त हो गया। मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद उन्हें भावनगर के कालेज में पढ़ने के लिये भेजा गया। परन्तु वहाँ पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण उनकी अध्ययन की रुचि कम होने लगी। इसी बीच उनके परिवार के मित्र भावजी दवे के इग्लैण्ड भेजने के सुझाव ने उन्हें नया जीवन दे दिया।

इग्लैण्ड जाने के समाचार ने मोहनदास को उत्सुक और बेचैन बना दिया था। मोहनदास से जब इस प्रसंग में पूछा गया, तो उनका उत्तर इस जिज्ञासा को इसरूप में स्पष्ट करता है, "मुझे विलायत भेजा जाये तो बहुत अच्छा है।" गाँधी जी का विचार था कि उन्हे डाक्टरी पढने के लिये इग्लैण्ड भेजा जावे। परन्तु वे वैष्णव परिवार की मर्यादा के कारण वकालत के अलावा अन्य किसी भी विषय की शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते थे।

धर्मगत सीमायें भी मोहनदास को इग्लैण्ड जाने में बाधक बन रही थी । मांस मदिरा और स्त्री संगम से दूर रहने की प्रतिज्ञा करके मोहनदास ने माता को आश्वस्त कर लिया था परन्तु उनकी जाति के लोग उन्हें इग्लैण्ड भेजने के लिये तैयार नहीं थे और अन्त में उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, परन्तु मोहनदास के बड़े भाई ने अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर धन एकत्र किया तथा उन्हें इंग्लैण्ड भेजने के निश्चय पर अडिग रहे। इस प्रकार अनेक परेशानियों के बाद भी मोहनदास 4 सितम्बर, 1888 ई० को बम्बई से इंग्लैण्ड के लिये प्रस्थान कर दिये तथा सामुद्रिक यात्रा की कठिनाई के बाद सितम्बर के अंतिम दिन वह इंग्लैण्ड पहुँचे।

मोहनदास को यूरोप का जीवन भारतवर्ष से कितना भिन्न है, इसका आभास उन्हें इंग्लैण्ड पहुँचते ही हो गया था। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान से यह ज्ञान भिन्न था। एक परिचित डॉ० प्राणजीवन मेहता के सद्परामर्श में ही इंग्लैण्ड के जीवन का आभास मिल जाता है। "किसी की चीज नहीं छूनी चाहिये किसी से जान-पहचान होने पर हिन्दुस्तान में यू ही सवाल किये जा सकते हैं, वैसे यहाँ नही किये जा सकते,बातें करते हुए जोर से नहीं बोला जाता।"[1] इन साधारण बातों की दीक्षा देने में डॉ० मेहता का अहंकार नहीं बल्कि मोहनदास की अनभिज्ञता के प्रति प्रेम परिलक्षित होता है। मोहनदास को राजकोट के ग्रामीण वातावरण से भिन्न वातावरण में पहुँचकर काफी कष्ट उठाने पड़े। उनके अपने शब्दों में "देश बहुत याद आता था। माता का प्रेम आँखों के सामने

1. गाँधी : सत्य का प्रयोग, पृष्ठ 63

नाचा करता । रात हुई कि रोना शुरू हुआ। घर की अनेक प्रकार की स्मृतियों की चढ़ाई के कारण नीद कहाँ से आ पाती? यह दुःख गाथा किसी से कह भी नहीं सकता था।... मनुष्य विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र, घरों के रहने की रीति-नीति भी वैसी ही विचित्र थी । क्या बोलने और क्या करने में यहाँ का शिष्टाचार भंग होता है, इसका भी बहुत कम पता था।''[1]

इंग्लैण्ड का जीवन रीति-नीति के आधार पर ही उन्हें कष्ट नही दे रहा था, बल्कि माता को दी गयी प्रतिज्ञाओं के आधार पर रहना उनके लिये एक कठिन परीक्षा बन गयी थी। ''शाकाहार की प्रतिज्ञा उनके जी का जंजाल हो गयी । इंग्लैण्ड के मित्रों को यह फ़िक्र सताने लगी कि खान पान का परहेज उसके स्वास्थ्य को चौपट ही नहीं कर देगा वह यहाँ के समाज में घुल मिल भी नहीं पायेगा और खासा नक्कू बन कर रह जायेगा।''[2]

इस प्रकार अनेक समस्याओं के होते हुए भी मोहनदास ने तीन वर्ष तक इंग्लैण्ड में जीवन व्यतीत किये। इन तीन वर्षों में उनको सबसे बड़ी कठिनाई भोजन के लिये ही हुई थी। मोहनदास ने 10 जून 1891 ई० को कानून की परीक्षा पास करने के बाद 11 जून 1891 ई० को इंग्लैण्ड के हाईकोर्ट में अपना पंजीकरण कराया। इसके बाद वे एक बैरिस्टर के रूप में भारतवर्ष वापस लौट आये। भारत आने पर गाँधीजी को आभास हुआ कि अभी मेरा जीवन वास्तविक परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता नहीं रखता। गाँधी जी इन नयी परिस्थितियों से साम्य स्थापित करने के लिये नये-नये विकल्प ढूढने लगे परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

बम्बई में जहाज से उतरते समय ही गाँधीजी को माँ की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनने को मिला। इंग्लैण्ड प्रवास काल में ही माता का देहान्त हो चुका था, परन्तु परिवार वाले शिक्षा को अधूरी छोड़कर भारत वापस आने के भय से गाँधीजी को सूचना नहीं दिये थे। इसका आभास हमें गाँधीजी की आत्मकथा के इस प्रसंग से मिल जाता है, ''माता के दर्शन के लिए अधीर हो रहा था। माता के स्वर्गवास के विषय में घर पहुँचने पर सूचना दी गयी। ...पिता की मृत्यु से मुझे जो चोट पहुंची थी उससे बहुत अधिक इस मृत्यु समाचार से पहुँची । मेरे बहुत मनोरथ धूल मे मिल गये।'' जीवित और मृतक दोनों ही रूपों में'' माँ पुतली बाई ने इस युग पुरुष गाँधीजी को प्रभावित किया। भविष्य के अपरिग्रही, मौनव्रत और उपवासों में संलग्न मार्गदर्शन के लिये ईश्वर पर निर्भर, घृणा का प्यार से जवाब देने वाले महात्मा के निर्माण में सबसे अधिक प्रभाव उनकी माता पुतलीबाई का ही था।[3]

गाँधीजी कुछ दिन राजकोट रहने के बाद बम्बई के लिये चल पड़े, क्योंकि राजकोट में उन्हें जीवन निर्वाह का कोई अन्य साधन नहीं था। बम्बई में पहुँचने पर

---

1. गाँधी : सत्य का प्रयोग, पृ० 63
2. नन्दा, बी०आर० : महात्मा गाँधी, एक जीवनी, पृष्ठ 14-15
3. नन्दा, बी०आर०: महात्मा गाँधी, एक जीवनी, पृष्ठ 22

गाँधी जी ने कुछ ही समय में "एविडैन्स एक्ट" तथा "हिन्दू ला" का मनन कर डाला। कुछ दिन बम्बई में वकालत करने के पश्चात उन्हें अपने भाई के माध्यम से ही दक्षिण अफ्रीका में अब्दुल्ला सेठ की फ़र्म के मुकदमें की पैरवी में जाने का निमंत्रण मिला। 105 पौण्ड नकद तथा अन्य सुविधाओं के आग्रह को स्वीकार करते हुए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका जाने का निश्चय कर लिया। दक्षिण अफ्रीका जाने के निश्चय में उनकी भारत की असफलता मूल प्रेरणा बनी।

परिवार के मोह-माया को त्यागकर गाँधी जी ने सन् 1893 ई० को बम्बई से डरवन के लिये रवाना हुए। एक माह की यात्रा के बाद वे डरवन के बन्दरगाह नेटाल पहुंचे, जहाँ पर उन्हें लेने अब्दुल सेठ स्वयं आये थे । नेटाल में पहुँचने के साथ ही गांधीजी को दक्षिण अफ्रिका में विवशताओं में जकड़े भारतीय जीवन का आभास होने लगा। वहाँ पर रंग भेद के आधार पर भारतीयों को भिन्न - भिन्न प्रकार से अपमानित किया जाता था। गांधी जी को भी वहाँ पर कई बार अपमानित होना पड़ा । गांधी जी जिस मुकदमे की वकालत करने अफ्रीका गये थे उसमें समझौता करा दिये, जिससे दोनो पक्ष बहुत खुश हुए। इस तरह यह गांधी जी की बहुत बड़ी सफलता थी।

अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के लिये अब गांधी जी का सुपरिचित नाम था। मुकदमें के समाप्त होने पर जब गांधी जी के सम्मान में विदाई समारोह का आयोजन किया गया तभी "नेटाल मरकरी" नामक अखबार के शीर्षक "इण्डियन फ्रेंचाइज" ने गाँधी जी को दक्षिण अफ्रीका से न जाने के लिए विवश किया। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने के लिये एक विधेयक नेटाल की विधानसभा में प्रस्तुत किया जा रहा था और 'जफ्री स्टेट' से जिस प्रकार भारतीय व्यापारियों को निकाल दिया गया था, उसी प्रकार यह विधेयक भी भारतीय व्यापारियो एवं भारतीय मूल के अन्य निवासियों से सभी प्रकार के अधिकार छीनने के लिये बनाया जा रहा था। विदाई समारोह विधेयक विरोधी आन्दोलन की समिति के रूप में परिवर्तित हो गया। इस समिति का गठन गांधी जी के आह्वान पर हुआ था, इसलिये उनकी विदाई स्थगित हो गयी। वे भारतीयों के प्रवक्ता हो गये। आन्दोलन को गति और दिशा देने का कार्य गांधी जी को सौंपा गया।

गाँधी जी इस विधेयक का प्रत्यक्ष विरोध करने के पूर्व समस्त भारतीयों को संगठित करना चाहते थे तथा अपने आन्दोलन को उन्होनें तीन भागों में बाँट दिया था- पहला-दक्षिण अफ्रीका में भिन्न -भिन्न जातियों के प्रवासी भारतीयों के बीच एकता की भावना पैदा करना; दूसरा- इस विधेयक से होने वाले प्रभाव और परिणाम से भारतीयों तथा योरोपियों को परिचित कराना; तीसरा-भारत और इंग्लैण्ड की सरकारों और दोनों देशों के जनमत को इस आन्दोलन के पक्ष में करने के लिये व्यापक प्रचार करना। इन तीनों दिशाओं में सफलता के बिना इस विधेयक के सम्बध में किसी प्रकार के प्रतिरोध की आशा करना निर्मूल था। फलतः गाँधीजी ने अपने युवा उत्साह और सजीव विवेक को इस आन्दलन को संगटित करने में लगा दिया। गाँधी जी को इस आन्दोलन में भारी सफलता मिली क्योंकि विधेयक पारित हो चुका था जिससे गांधी जी का उत्साह सजीव हो उठा।

इस प्रकार गाँधी जी कई वर्षों तक अफ्रीका में रहकर आन्दोलनों में बराबर अग्रसर रहे। उन्होंने वहाँ के शासकों की नीति के विरोध में सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया, परन्तु गाँधी जी को आठ वर्षो तक अनवरत संघर्ष करने का बाद उनके आन्दोलन के परिणाम स्वरूप भारतीयों को अफ्रीका में नागरिक अधिकार मिल सका। गाँधीजी सन् 1915 ई० में अपने देश भारत लौट आये।

सन् 1915 ई० में गांधी जी ने साबरमती नदी के किनारे पर एक आश्रम की स्थापना की। सन् 1917-18 ई० उन्होनें चम्पारन और खेड़ा में किसानों के पक्ष में सत्याग्रह प्रारम्भ किया। सन् 1920 ई० में उन्होनें "यंग इंडिया" और उसके गुजराती और हिन्दी संस्करण "नवजीवन" को स्थापित किया। सन् 1924 ई० से खादी के माध्यम सें उन्होंने ग्राम संगठन प्रारम्भ किया। सन् 1930 ई० में उन्होंने "लवण कानून" भंग करने के लिये सत्याग्रह किया। इसके फलस्वरूप उनको गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से मुक्त होने के बाद गाँधी जी सन् 1931 ई० में कांग्रेस के प्रतिनिधि स्वरुप "गोलमेज कान्फ्रेंस" में सम्मलित होने के लिये लन्दन रवाना हो गये, वहाँ से वापस आने पर गाँधीजी को पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। अंग्रेज सरकार ने हिन्दू जाति को विभक्त करने के लिये अनुसूचित जातियों को स्वत्रंत मताधिकार का प्रस्ताव किया। इसके विरोध में गांधी जी ने जेल में ही आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। अन्त में सरकार को मजबूर होकर यह प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। सन् 1933 ई० में गांधी जी को जेल से मुक्त किया गया। इसके बाद गांधी जी ने हरिजनों के विकास के लिये विशेष प्रयास आरम्भ किया तथा सन् 1942 ई० में उन्होंने "भारत छोड़ो आंदोलन" को प्रारम्भ किया।

15 अगस्त सन् 1947 ई० को कांग्रेस ने भारत विभाजन के लिये अपनी स्वीकृति दे दी और उसी दिन ब्रिटिश सरकार ने भारत की राजशक्ति को कांग्रेस को हस्तान्तरित कर दिया। 30 जनवरी सन् 1948 ई० को दिल्ली में प्रार्थना सभा में आते समय नाथूराम गोडसे नामक युवक ने अचानक अपने पिस्तौल से गाँधी जी की नृशंस हत्या कर दी, जिससे भारत भूमि के साथ-साथ विश्वजगत के नक्षत्र से एक महामानव विलुप्त हो गया।

■

द्वितीय अध्याय

सामाजिक विचार

महान पुरुष जिस समाज में रहता है, उस समय की मान्यताओं के विषय में चिन्तन करता है और अपनी सूझ-बूझ के आधार पर निश्चित संशोधन एवं सुधार की योजनाएं बनाता है। महात्मा गांधी भारतीय समाज में पले थे। उनके जीवन में अनेक सामाजिक समस्यायें आयीं जिनका निश्चित समाधान युग और परिस्थितियों के अनुसार करना पड़ा। रिचर्ड बी० ग्रेग के अनुसार गान्धी जी एक समाज-वैज्ञानिक हैं, क्योंकि वह सामाजिक सत्य की खोज वैज्ञानिक ढंग से करते हैं- पहले वह तथ्यों का निरीक्षण करते हैं फिर उस निरीक्षण के आधार पर उनकी अन्तःवृत्ति जिस उपनियम को बनाती है उसको वह बौद्धिक रूप देते हैं और अन्त में उसकी सच्चाई की जांच के लिये प्रयोग करते है।[1] स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याओं का समाधान गान्धी जी ने वैज्ञानिक ढंग से किया और उसमें ही उनकी सफलता सन्निहित है। उनका वैज्ञानिक तरीका प्रयोग और अनुभव का था।

गान्धी जी ने अनुभव किया कि बहुत सी इस प्रकार की सामाजिक मान्यतायें हैं, जिन पर विचार किये बिना आदर्श समाज की सम्भावित कल्पना अधूरी रह जायगी इसलिये सम्बन्धित तथ्यों की गवेषणा कर उन्होंने अपनी कुछ निश्चित धारणायें बनायी। उनके चिन्तन का विषय- जातिप्रथा, स्त्रियों का समाज में स्थान, विवाह प्रथा, सन्तति-निरोध आदि है। इन सब में जो अवगुण आ गये हैं उनको मिटाने के लिये उन्होंने इन सबका सम्बन्ध केवल समाज में ही नहीं बल्कि राष्ट्र से जोड़ दिया और यह बतला दिया कि इन अवगुणों के रहते राष्ट्रीय स्वतंत्रता और एकता खतरे में रहेगी।

गान्धीजी के पूर्व तथा उनके समकालीन विचारकों ने भी सामाजिक सुधार का प्रयास अपने-अपने ढंग से किया। इनमें से राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, तिलक आदि प्रमुख हैं। इन सब के अपनी-अपनी दृष्टि से जिस समस्या को पहले लेना उचित समझा, उसके लिये अथक् प्रयास किया। अपने-अपने क्षेत्र में इन्हें सफलता भी मिली। सब ने मिल कर एक पृष्ठभूमि बना दिया था जिसके आधार पर गान्धी जी को निश्चित पथ निर्देश एवं संगठित प्रयास करने में सुविधा मिली।

समाज सुधार का कार्य अत्यन्त कठिन है। साधारणतया सब लोग इसे करने में समर्थ नहीं हो सकते। समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार समाज सुधारक सामने आते हैं। गान्धीजी ने स्वतः माना है कि- 'राजनीतिक हलचल की अपेक्षा समाज

---

1. महात्मा गाँधी : डॉ० राधाकृष्ण, रिचर्ड बी० ग्रेग का लेख, पृ०63

सुधार का काम कहीं अधिक मुश्किल है।'[1] लेकिंन इसका यह तात्पर्य नहीं कि सुधार के लिये प्रयास ही न करना चाहिये। धैर्य के साथ प्रयत्नशील रहने से सुधार में सफलता मिल सकती है। सुधार का सबसे अच्छा तरीका होगा रूढ़ियों के विरुद्ध लोकमत तैयार करना। यदि लोकमत के बिना सुधारवादी क्रिया प्रारम्भ की जाय तो प्रतिकूल प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। इसलिये गान्धीजी के अनुसार समाज के सब प्रतिबन्धों को नवयुवक वर्ग छिन्न-भिन्न करके फेंक दे, यह भी नही होना चाहिये। इसलिये मेरा यह अभिप्राय है कि किसी समाज में रूढ़ि का त्याग करवाने के लिये लोकमत तैयार कराने की आवश्यकता है। इस बीच में व्यक्तियों को धैर्य रखना चाहिये। धैर्य न रख सके तो बहिष्कारादि को सहन करना चाहिये।'[2]

व्यक्ति एवं समाज :

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, समाज में पलता है, समाज में जीता है, विचार करता है। वह समाज के विकास में सहभागी बनता है। महान ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने बहुत ठीक ही कहा था कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति का जीवन जिन प्रेरणाओं, आदतों, मनोवृत्तियों से प्रेरित होता है वे सभी कुछ समाज तथा सामाजिक जीवन द्वारा ही उपार्जित होती है। इस प्रकार व्यक्ति समाज का अपृथक् अंग बन जाता है। एक के बिना दूसरे की कल्पना करना असम्भव है। किन्तु प्रश्न है कि व्यक्ति क्या है और समाज क्या है ? व्यक्ति से हमारा तात्पर्य व्यक्ति विशेष या मनुष्य से है। समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है; क्योंकि उसमें विवेक शक्ति है, वह उचित-अनुचित का भेद जानता है, उसकी मानसिकता व्यवस्थित एवं विकसित होती है। मनुष्य जीवन को कुछ निश्चित आदर्शों एवं मूल्यों पर आधारित मानता है। समाज का अभिप्राय है वह समूह जिसमें मनुष्य परस्पर सम्बन्धों में रहते हुए निश्चित सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है।

व्यक्ति समाज के विभिन्न सम्बन्धों में रहते हुए सदैव उसकी सीमाओं में जकड़ा नही रहता। व्यक्ति के अन्दर एक सृजनात्मक प्रतिभा होती है जिसके कारण वह स्वतंत्र चिन्तन करता है। यही कारण है कि किसी विशेष सामाजिक परिवेश में व्यक्ति-विशेष अलग ढंग से चिन्तन करता प्रतीत होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्ति समाज से अलग हो जाता है। अपितु इसका यह अर्थ है कि वह किसी विशेष सामाजिक ढांचे में परिवर्तन चाहता है। साथ ही उसका यह परिवर्तन सामाजिक सन्तुलन को भंग न कर उसे परिमार्जित एवं पुष्ट करता है।

जब हम गान्धी विचार-दर्शन के सन्दर्भ में व्यक्ति एवं समाज का विवेचन करते है तो स्पष्ट होता है कि उन्होंने व्यक्ति और समाज दोनों के सर्वांगीण विकास पर जोर दिया है और दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना है। उनकी मान्यता है कि 'समाज व्यक्तियों के क्रिया-कलाप का विस्तार और उनका एक लड़ी में गूंथा जाना है।[3]

---

1. हिन्दी नवजीवन : 6-9-1928
2. हरिजन सेवक : 1-5-1937
3. गाँधी : आत्मसंयम, पृ० 170

अरिस्टाटिल की भांति उन्होंने भी मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना है इसलिये उनका विचार है, 'मैं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत करता हूँ, परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य मुख्यतः एक सामाजिक प्राणी है। अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना सीखकर वह अपने मौजूदा ऊंचे दर्जे पर पहुंचा है। हमें व्यक्तिगत स्वातन्त्रय और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिये सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज जिसका वह सदस्य है, दोनों को समृद्ध करता है।'[1]

व्यक्ति की हर क्रिया समाज से सम्बन्धित है। उसके निजी माने जाने वाले कार्य भी सामाजिक क्रिया की इकाई है, इसलिये कि वह एक सामाजिक प्राणी है। इस दृष्टि से हर व्यवहार संयत एवं संयमित होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में गांधी जी ने प्रोफेसर मोंतगाणा के विचारों को मान्यता दिया है। समाजशास्त्र एवं मानस-शास्त्र की दृष्टि से 'सामाजिक जीवन केवल बहुविध सम्बन्धों का जाल, क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का ताना-बाना है। उसके बीच कोई ऐसा काम हो ही नहीं सकता जिसे हम दूसरों से बिल्कुल अलग या असम्बद्ध कह सकें। हम जो कुछ भी करने का निश्चय या यत्न करें, हमारी अखण्डता, हमारी एक दूसरे से लगा-जुड़ा होना, हमारे निश्चय और कार्य का सम्बन्ध हमारे भाइयों के विचारों और कार्यों से जोड़ देगा। हमारे छिपे विचार और क्षण भर के लिये मन में उठने वाली कामवासना की प्रतिध्वनि भी इतनी दूर तक पहुंचती है कि हमारा मन उस दूरी का अन्दाजा नहीं कर सकता। सामाजिकता मनुष्य का ऐसा गुण नही है जो बाहर से लिया गया हो या जिसका काम किसी और गुप्तवृत्ति का पोषण मात्र हो। वह तो उसका सहज गुण है, उसकी मनुष्यता का ही अंग है वह सामाजिक इसलिये है कि वह मनुष्य है।'[2]

सामाजिकता, व्यक्ति का सहज गुण है इसीलिये व्यक्तिगत धर्म समाजगत होगा। व्यक्ति का अर्थ समाज-धर्म से पृथक् नहीं हो सकता। यदि दोनों में पृथकत्व का आभास होता तो संयमित एवं सदाचारी समाज की सम्भावना कम हो जायेगी। महात्मा गांधी का यह दृष्टिकोण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति की ओर संकेत देता है। इतिहास-प्रसिद्ध अन्य पैगम्बरों की तरह व्यक्तिगत मुक्ति में उनकी भी रुचि थी। पर वह केवल अध्यात्म-राज्य में ही नहीं विचरते थे। जीवन भर वे मनुष्य रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के निराकरण में लगे रहे। उन्होंने लोगों से ईश्वर को केवल अपने भीतर ही खोजने को नहीं कहा, बल्कि भीतर-बाहर दोनों जगह पाने पर बल दिया। औसत आदमियों की तरह उनके लिये भी 'बाहर' उतना ही महत्वपूर्ण था जितना 'भीतर'। सच्ची आध्यात्मिकता किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत और समाजगत प्रत्येक कार्य में प्रतिबिम्बित होनी चाहिये। भौतिक शरीर की तरह ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शरीर में भी आत्मा का निवास है। किसी व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास जितना ही होगा, वह अपने चारो तरफ उतनी ही आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रसार करेगा। गान्धीजी

1. हरिजन : 27-5-1939
2. आत्मसंयम : पृ० 32

ने अपना सरोकार अप्रत्यक्ष के बदले प्रत्यक्ष रूप से जीवन के समग्र विषयों से जोड़ा चाहे वह व्यक्तिगत या समाजगत हो, सदाचारिक या भौतिक हो, हृदय में बैठे या संसार में व्याप्त ईश्वर तथा उसकी भौतिक सृष्टि.हो। व्यक्ति की अन्तरात्मा की मुक्ति के साथ ही समाज में उसकी बाहरी मुक्ति, उनका स्वराज्य था।[1]

यहां एक बात स्पष्ट करना चाहते है कि गान्धी के अनुसार सादाचार ही व्यक्तिगत जीवन की धुरी है। इस धुरी के द्वारा सामाजिक जीवन को नियंत्रित किया जाता है। अतः सदाचाररूपी धुरी को बड़ी सावधानी के साथ परिचालित करने की आवश्यकता है। सदाचार के अन्तर्गत वे आचार मान्य है जिनसे किसी का भी किसी प्रकार का अहित न हो। पारस्परिक विश्वास और सहयोग द्वारा सेवा, त्याग एवं निःस्वार्थ कर्म ही सामाजिक सदाचार के स्तर को गिरने से बचाते हैं। समाज में समता, साम्प्रदायिकता एकता, शोषणविहीन व्यवस्था एवं अल्पमत तथा दुर्बलों की रक्षा हो तो वह समाज सदाचारयुक्त माना जायेगा। इसके लिये सत्य एवं अहिंसा का आचरण आवश्यक हो जाता है। अब तक इन दोनों का आचरण व्यक्तिगत रूप से ही सम्भव माना जाता रहा है लेकिन गान्धीजी ने पूरे समाज के लिए इनका आचरण सम्भव माना है। उनका विचार था कि व्यक्तिगत धर्म समाजगत हो सकता है इसलिये सच्चा धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों के जीवन में जितनी उथल-पुथल मचाता है उतना और कोई चीज नहीं मचा सकता। धर्मभाव के जागने का अर्थ व्यक्ति के जीवन में क्रान्ति होना, उसका रूप बदल जाना, उसे नया जीवन मिलना होता है।[2]

गान्धीजी के चिन्तन का मूल केन्द्र व्यक्ति था, फिर भी वे समाज की उपेक्षा नहीं करते थे। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक प्रगति का पहला चरण व्यक्ति है; क्योंकि व्यक्तियों के सामूहिक विकास से ही समाज का विकास सम्भव है। गान्धी के अनुसार 'समाज भेड़ों के झुण्ड की भांति बिना सोचे, बिना इधर-उधर देखे आगे बढ़ता जा रहा है और कुछ लोग इसी को प्रगति मान रहे हैं। वे इस बात को जानते हैं कि स्थिति ऐसी भयानक है तो भी हमारा वैयक्तिक रास्ता आसान है। उन्हें अपने क्षेत्र में जितना बन पड़े उतना नीति का प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले तो वे अपने में ही प्रचार करें। दूसरों के दोष देखते समय हम खुद बहुत भले से लगने लगते हैं। पर अपने दोषों को देखें तो हम खुद हमीं को कुटिल और कामी दिखाई देंगे। दुनिया का काजी बनने की वनिस्वत खुद अपना काजी बनना अधिक लाभदायक होता है और वैसा करते हुए हमें दूसरों के लिये भी रास्ता मिल जाता है। 'आप भले तो जग भला' का एक अर्थ यह भी है।[3] समाज के लिये भी यही उचित है कि वह व्यक्तित्व विकास के लिये अवसर प्रदान करे। व्यक्तित्व विकास सदाचार के पालन या सामाजिक कर्तव्य के पालन से ही सम्भव है। गान्धीजी ने समाज को एक बड़े परिवार की तरह माना है। कौटुम्बिक व्यवहार की तरह ही सामाजिक व्यवहार भी आवश्यक है।

---

1. कृपलानी , जे०बी०: गाँधी दर्शन, पृ० 4-5
2. आत्म संयम : पृ० 48
3. आत्म संयम : पृ० 133

वर्णाश्रम व्यवस्था :

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्णव्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक उत्तर से दक्षिण तक प्रवाहमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज का वर्गों में विभाजन किया गया था। इसका मुख्य आधार रंग भेद अथवा प्रजातीय धारणा थी। आर्यों ने इस विभाजन के अन्तर्गत यह व्यवस्था भी रखी थी कि कोई भी व्यक्ति कार्यपद्धति रूचि और मनःस्थित के अनुसार वर्ण परिवर्तन कर सकता था, किन्तु ऐसी विकल्पना व्यवहार में विरल ही थी तथा उत्तरवैदिक कालके परवर्ती युग तक आते-आते वर्ण व्यवस्था का यह लचीलापन समाप्त हो गया था। यह सत्य है कि इसने समय-समय पर हिन्दू समाज की समस्त गतिविधियों को अपने विचारों और कार्यों से प्रभावित किया। फलतः देश में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों, संघर्षो तथा क्रान्तियों में इसकी क्रान्तिदर्शी भूमिका रही है। कालान्तर में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी अवस्थाओं का इसने अपनी वर्णगत व्यवस्था से किसी न किसी रूप में दिशा निर्देशन किया। अपने भेद-परक प्रभाव और महत्व को एक दूसरे वर्ण पर सिद्ध करने के लिये इस व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णों के कायिक और वाचिक परस्पर मतभेद और संघर्ष भी होते रहे तथा प्रतिस्पर्धास्वरूप एक दूसरे वर्ग के विरुद्ध निराधार तर्क भी प्रस्तुत किये जाते रहे। किन्तु इन भेदभाव की प्रणालियों के बावजूद वर्ण-व्यवस्था की जड़े कहीं से भी निर्बल न जान पड़ीं, बल्कि परस्पर विचारों, निर्दिष्ट कार्यों और अधिकारों के संघर्ष से इस व्यवस्था की जड़ें और गहरी होती गयीं, जो आज भी हिन्दू समाज में विद्यमान हैं।

वर्ण शब्द का अर्थ :

वर्ण शब्द का शाब्दिक विवेचन करने से ज्ञात होता है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'वृन् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना'। वर्ण और 'वरण' शब्दों में साम्य भी है। सम्भवतः 'वर्ण' से तात्पर्य 'वृत्ति' से है, किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। समाजशास्त्रीय भाषा में 'वर्ण' का अर्थ 'वर्ग' से है जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वास्तव में 'वर्ण' उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है तथा अपने हितों और स्थितियों के विषय में जागरूक होता है।

चतुर्ववर्णों का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद् के पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है जिसके अन्तर्गत समाज की कल्पना एक पुरुष के रूप में मिलती है। जिस प्रकार पुरुष अपने विभिन्न अंगों के सपुंज रूप में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की संज्ञा प्राप्त करता है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग परस्पर सपुंज रूप में समाज के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। वहां पर यह भी विवेचन किया गया है कि 'उस समाजरूपी पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजायें क्षत्रिय बनाये गये, उसकी जंघाओं के रूप में वैश्य और पैर के रूप

में शुद्र थे।'[1] वास्तव में इस विवेचन का मतलब यह है कि जीवित समाज के लिये इन चारो वर्णों का बना रहना अति आवश्यक है। इस वर्णन से यह परिलक्षित नही होता कि समाज के किसी भी अंग का कम महत्व है।

प्राचीन वर्णव्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक समस्याओं का समाधान परिलक्षित होता था, मूलतत्वों का सन्निवेश था। वर्ण की कसौटी कर्तव्य था। कर्तव्य का सही रूप धर्म है। भोजन, विवाह आदि के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार वैदिक काल से महाभारत काल तक इस व्यवस्था का सुन्दरतम रूप रहा। महाभारत के बाद इसकी दुर्व्यवस्था हुई। धीरे-धीरे कुपरिणाम बढ़ते गये। जाति प्रथा का उदय हुआ, इस प्रथा को मान्यता मिली। आज समाज का विकृत रूप सामने है। जातिप्रथा, वर्णव्यवस्था के बिल्कुल असमान है। जाति प्रथा का आधार स्वार्थ बन गया है- फलस्वरूप हिंसा का आना स्वाभाविक है।

यदि वर्णव्यवस्था पर विवेचन किया जाय तो सात्विक विचारों के आधार पर जाति प्रथा टिक नहीं सकती। जातिप्रथा की बढ़ती हुई ज्यादती का ख्याल कर गान्धीजी ने वर्णव्यवस्था को ही अच्छा माना तथा अपने विचारों को प्रगट किया यहां पर हम महात्मा गान्धी के विचारों को ही विस्तार रूप में समझने की कोशिश करेंगे।

महात्मा गांधी के अनुसार वर्णव्यवस्था :

महात्मा गांधी वर्णाश्रम धर्म का अर्थ बताते हुए कहते है कि 'मुझे हिन्दू धर्म का जो भी ज्ञान है उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि वर्ण का अर्थ अत्यन्त सरल है। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि हम सब अपने-अपने पूर्वजों का परम्परागत व्यवसाय सिर्फ जीविका के ही लिये करें अगर वह पैतृक धन्धा मूल नैतिक धर्म से असंगत न हो। आप महसूस करेंगे कि अगर हम सब इस वर्णधर्म का पालन करें तो हमारी भौतिक महत्वाकांक्षायें मर्यादित हो जायेंगी और हमारी भक्ति उन विशाल क्षेत्रों की खोज के लिये मुक्त हो जायेगी जिनसे और जिनके द्वारा हमें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।'[2]

वर्णव्यवस्था को धर्म के व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक पक्ष के अन्तर्गत रखा जा सकता है इसलिये उसे हम धर्म के रूप में स्वीकार करते है। धर्म की आवश्यकता आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने और ईश्वर साक्षात्कार के लिये होती है। महात्मा गांधी का यह विचार है कि यदि वर्ण धर्म का पालन किया जाय तो इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हो जाती है। गान्धीजी ने विश्वास-पूर्वक कहा है- "जैसे-जैसे साल पर साल बीतते जाते है मेरा विश्वास बढ़ता जाता है कि वर्ण धर्म ही मनुष्य का जीवन धर्म है।"[3] वर्णधर्म में किसी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना नहीं है। कोई भी नीतिमान्य कर्म छोटा

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः ।
   उरू तदस्य यद वेश्यः पद्भ्यां शूद्रो जायते ।। (ऋग्वेद, 10-90-12)
2. यंग इण्डिया : 20-10-1926
3. हिन्दी नवजीवन : 13-11-1926

या बड़ा नहीं होता। और उसको करने वाला ऊंच या नीच नहीं होता। वास्तव में वर्णधर्म का प्रचलन अद्वैत की भारतीय परम्परा पर आश्रित है और देश काल तथा पात्र के बन्धन से परे है। मानवमात्र समान है फ़िर भी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्तिके लिये न्यायपूर्ण, शोषणरहित एवं साम्य व्यवस्था आवश्यक थी जिसको वर्णव्यवस्था के रूप में रखा गया।"

ऊंच-नीच की भावना से ऊपर उठकर जिस वर्णधर्म को मान्यता मिली वह जाति प्रथा की तरह स्वार्थ पर नहीं, बल्कि सेवा, समता, स्नेह और सहयोग पर आधारित था। इस दृष्टि से वह किसी भी देश और काल के लिये उपयोगी हो सकता है। इसीलिये गान्धीजी वर्ण व्यवस्था पर अधिक जोर देते थे और कहते थे- वर्ण असल में धर्म है, अधिकार नहीं। इसलिये वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिये ही हो सकता है, स्वार्थ के लिये नहीं। इसी कारण न तो कोई उच्च है, न कोई नीच। ज्ञानी होते हुए भी जो अपने को दूसरों से उच्च मानेगा, वह मूर्ख से भी बदतर है। उच्चता के अभिमान से वर्ण, वर्णच्युत हो जाता है। यहां यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वर्णधर्म में ऐसी कोई बात नहीं कि शुद्र ज्ञान का संचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हाँ शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय को अथवा राष्ट्र रक्षा को अपनी आजीविका का साधन न बना ले। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय परिचर्या न करे, यह भी बात नहीं है, परन्तु परिचर्या के द्वारा आजीविका न चलाये। इस सहज स्वाभाविक धर्म का यदि सर्वथा पालन किया जाय तो समाज में जो उपद्रव आज हो रहे हैं, एक दूसरे के प्रति जो प्रतिस्पर्द्धा बढ़ रही है, धन इकट्ठा करने के जो कष्ट उठाये जा रहे हैं, असत्य का जो प्रचार हो रहा है और जो युद्ध के साधन तैयार किये जा रहे हैं, वे सब शान्त हो जांय। इस नीति का पालन सारा संसार करे अथवा न करे, सभी हिन्दू करे या न करे, पर जितने लोग इस व्यवस्था पर चलेंगे उतना लाभ तो संसार को होगा ही। मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्णधर्म से ही जगत का उद्धार होगा। वर्णधर्म का सच्चा धर्म सेवा धर्म है। जो कुछ किया जाय सेवा भाव से ही किया जाय। सेवा में सौदा कहां ?[1]

निःसन्देह गान्धी जी ने वर्ण-विभाग को जन्मना माना है। बहुत से लोगों ने वर्ण को कर्म के अनुसार माना है। स्वयं गान्धीजी की 'गीतामाता' में 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम गुणकर्म विभागशः' का वर्णन आता है। उनका स्पष्ट कथन है 'श्रीकृष्ण कहते है कि सभी वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा हुई है- 'चातुर्वर्ण्यमया सृष्टम' अर्थात मैं इसे जन्मना मानता हूं। वर्णधर्म बेकार है यदि यह जन्मना नहीं है।[2] गान्धीजी का विश्वास था कि गुण और कर्म भी जन्म द्वारा ही प्राप्त होते है इसीलिये वर्ण विभाग को जन्मना ही मानना ठीक होगा। इससे आवश्यक अनुशासन बना रहता है। इसलिये उन्होंने कहा मैं जन्मना वर्ण विभाग में विश्वास रखता हूं। यदि ऐसा न होता तो वर्णव्यवस्था का कुछ अर्थ ही न रहता, वर्ण व्यवस्था का कुछ उपयोग ही न रहता। तब तो केवल शब्द जाल मात्र रह जाता।[3]

1. हरिजन सेवक : 21-4-1933
2. यंग इण्डिया : 24-11-1927
3. हरिजन सेवक : 14-4-1933

गान्धी ने वर्ण धर्म की जन्मना मान्यता के आधार पर अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाने पर बल दिया है। यदि समाज चार अंगों के विभाजन से अपनी क्रिया सरलतापूर्वक चला सके तो वह अच्छा समाज होगा। अच्छा समाज बनाने में मनुष्य का योग अत्यन्त महत्व का होता है। वर्ण धर्म के अनुसार तब यह आवश्यक होता है कि अपनी जीविका निर्वाह के लिये उस वर्ण का व्यक्ति अपने ही वर्ण के पेशों को अपनाये। यदि ऐसा ही संयोजन किया जायेगा तो विभिन्न विषमताओं का अन्त हो जायेगा, समाज के हर वर्ण की उपयोगिता और हर पेशे का सम्मान समक्ष में आयेगा। यह कोई आवश्यक नहीं कि हर पेशे के आधार पर वर्ण बने। सभी व्यवसायों को चार भागों में बांट दिया गया है। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्मना वर्ण के अनुसार व्यवसाय नहीं करता तो हिन्दू विश्वासों के आधार पर उसे पतित माना जाता है। वह पतित तभी माना जाता है जब वह अन्य व्यवसाय को जीविका के लिये अपनाता है। आज से एक शताब्दी पूर्व कोई बढ़ई का लड़का वकालत करना पसन्द नहीं करता था पर आज वह इस व्यवसाय को चोरी का सबसे आसान तरीका समझता है। अपने व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय में जाने के लिये सोचने वाला आज सिर्फ पैसे के लिये जाता है। तब वह शुद्ध एवं पवित्र व्यवसाय नहीं कर पाता इसलिये वह अपने व्यवसाय से पतित माना जाता है।

कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छा से हृदयगत भावनाओं के आधार पर अन्य व्यवसाय अपनाना चाहते है। ऐसे लोगों के लिये गान्धी जी का सुझाव है कि वे सेवा के लिये ही अन्य व्यवसाय को अपनावें। अपनी जीविका के लिये नहीं। यदि एक शूद्र वर्ण का व्यक्ति उस क्रिया को करता है जो ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित है तो क्या उस शूद्र को ब्राह्मण नही कहा जायेगा ? उसके उत्तर में गांधी जी का कहना है कि वह इस जन्म में ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता और उसके लिये यह एक अच्छी चीज होगी कि वह अन्यायपूर्वक उस वर्ण को न अपनावे जिसमें उसका जन्म नहीं हुआ है। यह शुद्ध नम्रता का चिह्न है।[1] अपने पैतृक गुणों का विकास एवं वर्द्धन करना ही योग्य है। ये गुण अधिकृत भी किये जाते हैं लेकिन पैतृक गुणों का उचित विकास करने से अपने कार्य एवं समाज के प्रति उचित न्याय प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अपने वर्ण के अनुसार कर्म करते हुए धर्म का पालन करना गान्धीजी ने बतलाया। आज की असमानता पर आधारित समाज व्यवस्था का उचित निराकरण वर्णव्यवस्था के आधार पर ही सम्भव है। इससे प्रत्येक श्रम, व्यवसाय और वर्ण की प्रतिष्ठा होगी और समाज का उचित संयोजन होगा।

लेकिन आज की परिस्थिति में जबकि सामाजिक सन्तुलन विनष्टप्राय हो गया है और वर्णव्यवस्था भी बिल्कुल दयनीय स्थिति में हो गयी है। या यों कहा जाय कि वर्णव्यवस्था की जगह गिरी हुई जाति-व्यवस्था आ गई है। तो प्रश्न है कि पुनः वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में गान्धीजी सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए सुधार के लिये आगे आने वालों से कहा है 'नींव नष्ट न करें,

1. यंग इण्डिया: 24-11-1927

पुनः-पुनः सुधार के लिये प्रयास करें। सुधार के विरोधियों से कहें 'यदि तुम धन और शक्ति की ही खोज में रहोगे, और यदि तुम विद्वान नहीं हो तथा उचित धर्म की दीक्षा देने योग्य नहीं हो, तो हम लोग तुम्हें ब्राह्मण नहीं कहेंगे। तब अन्त में खान-पान का प्रश्न आता है। मैं उसे किसी व्यक्ति से विवाद का आधार नहीं बनाऊंगा। लेकिन मुझे ऐसे अवसर की अपेक्षा करनी चाहिये जहां विभेद की रेखा हो। तब मुझे अछूतों के साथ भ्रातृवत होना चाहिये और उनके साथ अपने सगे भाई की तरह व्यवहार करना चाहिये तथा सभी छोटी जातियों और उपजातियों का अन्त कर देना चाहिये तब मुझे अछूतों को धार्मिक शिक्षा हिन्दू धर्म एवं आचार के आधारभूत सिद्धान्तों को देना चाहिये। आज वे शुद्ध पाशविक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। हमें चाहिये कि उन्हें अवांछित भोजन को छोड़ने के लिये तथा शुद्ध एवं स्वच्छ जीवन बिताने के लिये प्रोत्साहित करें।[1]

इस कार्यक्रम के आधार पर गान्धीजी ने संक्षेप में, सुधार के लिये अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वास्तव में समाज के अन्य अंगों की अपेक्षा इन दो वर्गों में अव्यवस्था आ गई है जिसका परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ रहा है। दोनों अंगों के सुधार के लिये गान्धीजी प्रयत्नशील रहे। इसका मतलब यह नहीं कि अन्य अंग उच्चकोटि में सुव्यवस्थित है बल्कि अपेक्षाकृत अपने उत्तरदायित्व को निभा रहे है। सुधार तो समूचे समाज में लाना है। सबके हित के लिये सब का धर्म उत्तरदायी है। अपने-अपने धर्म के मुताबिक आचरण करने से ही सुव्यवस्था हो सकती है। सुधारक तो प्रोत्साहन ही प्रदान कर पायेंगे। क्रियात्मक स्वरूप तो सबके हाथ में है।

भौतिक समृद्धि के व्यामोह में पड़कर कर्म परिवर्तन करके वर्णच्युत होना धार्मिक क्रिया नहीं है। इसके विपरीत अपने वर्ण का ध्यान रखते हुए कर्मरत रहना आध्यात्मिक एवं धार्मिक पिपाशा को शान्त करता है। वर्ण धर्म का एकमात्र पालन पैतृक व्यवसाय को आजीविका के निर्मित करते रहने से ही सम्भव है। स्वेच्छा से अन्य व्यवसाय सिर्फ सेवा के ही दृष्टि से करना चाहिये। इसी से समाज धर्म सुप्रतिष्ठित रहता है।

वर्ण-व्यवस्था की तरह ही प्राचीन काल में भारत में आश्रम-व्यवस्था थी। जीवनयात्रा में आने वाले मोड़ के मर्म को समझकर ही ऐसी व्यवस्था को प्रतिष्ठित किया गया था। वर्ण धर्म की तरह की आश्रम-व्यवस्था भी मनुष्य के मनुष्यत्व की समृद्धि के लिये बनायी गयी थी। इस व्यवस्था में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास को स्थान दिया गया था। ये जीवन के लिये आवश्यक नैतिक नियम थे जिनसे नियमित होकर मनुष्य अपने उचित धर्म का समुचित पालन कर सके। आज इस नैतिकता का साक्षात लोप हो गया है। न तो पूर्ण ब्रह्मचारी कहीं नजर आता है और न गृहस्थ के रूप में कोई उचित व्यक्ति। वानप्रस्थ और सन्यास की भी यही हालत है। आदमी की उम्र घटती जा रही है और इसका प्रधान कारण है- आश्रमों का अभाव। आश्रम व्यवस्था के पालन से सौ वर्ष जीने की सदिच्छा सबको सन्तुष्ट करती थी। ब्रह्मचारी के रूप में प्रारम्भ के पच्चीस वर्ष समाप्त होते-होते ज्ञान की गरिमा से अभिभूत हो गृहस्थ के पालन

1. यंग इण्डिया : 24-11-1927

के योग्य होनें वाला एक अच्छा गृहस्थ बन जाता है जिसे आजीविका के लिये कर्मरत होना पड़ता था। गृहस्थ जीवन के पच्चीस वर्ष बीतते ही त्याग एवं सेवा की प्रवृत्ति को साथ लिये समाज सेवा के लिये संयमपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। दरिषणा, वितेषणा एवं लोकेषणा का परित्याग गृहस्थ को पावन बना देता था। अन्तिम समय में संन्यास से सम्यक् विकास ही करना होता था। इस प्रकार चारो आश्रम, व्यक्ति के जीवन में ब्रह्मचर्य के समय ज्ञान, गृहस्थ के समय कर्म, वानप्रस्थ के समय त्याग एवं सेवा और सन्यास के समय आत्म-विकास और भक्ति का पूर्ण अवसर प्रदान करते थे।

आज की विकृत परिस्थिति में गान्धीजी ने पुनः प्राचीन आश्रम व्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव किया और इसके यथेष्ठ पालन को आवश्यक बतलाया। आज की दयनीय स्थिति के विषय में उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि आज यदि वर्ण विरुद्ध हो गये हैं, तो आश्रम पूर्णतया लुप्त हो गये हैं। लेकिन मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म की पूर्ण सफलता का यह आश्रम व्यवस्था रहस्य है।[1] आश्रम व्यवस्था में गान्धीजी का पूर्ण विश्वास था और उनकी पूर्ण मान्यता थी कि यह तभी अपने पूर्व रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है जबकि वर्ण धर्म जिसके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, पुनः प्रतिष्ठित हो जाय।[2] वर्ण और आश्रम दोनों की प्रतिष्ठा में ही समाज की सच्ची प्रतिष्ठा सन्निहित है।

इन विवेचनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म के कुछ लाभों के प्रति भी दृष्टिपात करना होगा। जिनको ध्यान में रखते हुए गान्धीजी उनकी पुनः प्रतिष्ठा चाहते थे। इसका आर्थिक पहलू ध्यान में रखते हुए उन्होंने लिखा है "आर्थिक दृष्टिकोण से इसका महत्व किसी समय बहुत बड़ा था। इसमें परम्परागत कौशल की रक्षा होती थी। इससे आपसी प्रतिस्पर्द्धा मर्यादित होती थी यह दरिद्रता का सबसे अच्छा इलाज था और इसमें व्यवसाय-धंधा के तमाम फायदे मौजूद थे। यद्यपि इसमें साहस या आविष्कार को पोषण नहीं मिलता था फिर भी ऐसा नहीं मालूम होता कि इन दोनों के रास्ते में उसने कभी रुकावट डाली हों।"[3]

समता और सौम्यता का पाठ पढ़ाने वाले वर्णाश्रम धर्म को प्राकृतिक कानून के रूप में गान्धीजी ने माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है- कि हर एक मनुष्य अमुक स्वाभाविक वृत्तियां लेकर इस संसार में जन्म लेता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित मर्यादाओं के साथ पैदा होता है, जिन पर वह काबू नहीं पा सकता, उन मर्यादाओं का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके ही वर्ण का कानून बनाया गया। वह अमुक वृत्तियों वाले अमुक लोगों के लिये कार्य के अमुक क्षेत्र निश्चित करता है। इससे सारी अनुचित स्पर्द्धा टल जाती है। मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए भी वर्णधर्म में ऊंच-नीच के भेद-भाव की कोई गुंजाइश नहीं, एक तरफ वह प्रत्येक को अपने परिश्रम के फल की गारण्टी देता है और दूसरी तरफ मनुष्य को अपने पड़ोसी को दबाने से रोकता है। इस महान धर्म को नीचे गिरा दिया गया है और वह बदनाम हो गया है। परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि आदर्श

1. यंग इण्डिया : 20-10-1927
2. हरिजन : 28-9-1934
3. यंग इण्डिया : 5-1-1929

समाज व्यवस्था का विकास तभी होगा जब इस धर्म के गूढ़ अर्थों को पूरी तरह समझकर उन पर अमल किया जायेगा।"[1]

परन्तु विचारणीय प्रश्न उठता है कि वर्णाश्रम धर्म को मानने का क्या प्रयोजन है? इसके प्रयोजन पर विश्लेषण करते समय हम उपर्युक्त आशय को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि वर्णाश्रम धर्म मनुष्य के आध्यात्मिक अभ्युदय में भी सहायक है। गान्धीजी का कथन है कि "मानव का लक्ष्य ईश्वर साक्षात्कार है और उसके लिये वर्णाश्रम का पालन उपयोगी हो सकता है; क्योंकि वर्णाश्रम-धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्य जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करता है। वह रोज रोज धन बटोरने और आजीविका के भिन्न-भिन्न साधन खोजने के लिये पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत मनुष्य इसलिये पैदा हुआ है कि वह अपने प्रभु को जानने के लिये अपनी शक्ति का एक-एक अणु काम में ले। इसलिये वर्णाश्रम-धर्म उस पर यह पाबन्दी लगाता है कि वह जीवित रहने के लिये सिर्फ अपने बाप-दादा का पेशा ही करे। यही वर्णाश्रम धर्म है, न कम न ज्यादा।"[2]

वास्तव में महात्मा गांधी का उपर्युक्त दृष्टिकोण हिन्दू धर्म में उल्लिखित 'पुरुषार्थ' की अवधारणा पर आधारित है। पुरुषार्थ के विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के विभिन्न मूल्यों में मोक्ष (ईश्वर साक्षात्कार) चरम लक्ष्य है, किन्तु यह चरम लक्ष्य अन्य पुरुषार्थों की उपेक्षा करके नहीं अपितु उनके सम्यक् पालन के द्वारा सम्भव है। अर्थ, काम मनुष्य जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकतायें है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मनुष्य आध्यात्मिक लक्ष्य के रूप में धर्मानुसरण करता है। यह धर्म जिसका अर्थ उचित, अनुचित, नित्यानित्य, विविध तरह से वर्णाश्रम-व्यवस्था को समाहित करता है, मानव को चरम लक्ष्य की ओर अग्रसारित करता है।

आदर्श समाज :

प्लेटो और अरिस्टाटिल आदर्शवादी सिद्धान्त के जन्मदाता माने गये हैं। इन लोगों ने राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं माना है। इनके लिये राज्य स्वयं साध्य है। राज्य व्यक्तिगत एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला माना गया है। हीगेल ने भी राज्य को ही साध्य माना है। परन्तु आदर्शवादी विचारक ग्रीन ने राज्य को साधन माना है तथा एक दूसरे आदर्शवादी विचारक काण्ट ने व्यक्ति को ही साध्य माना है।

गान्धीजी की कल्पना का आदर्श समाज अहिंसक समाज है जिसमें सर्वोदय की भूमिका है। ऐसे समाज में राज्य का अस्तित्व नहीं होता; क्योंकि राज्य किसी न किसी रूप में हिंसा और शोषण पर आश्रित है। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपने ऊपर इस तरह शासन करता है कि वह अपने पड़ोसी के रास्ते

---

1. सर्वोदय : पृ० 67
2. यंग इण्डिया : 27-10-1927

में कभी बाधा नहीं डालता। आदर्श समाज में कोई राजनैतिक सत्ता नहीं होती क्योंकि कोई राज्य नहीं होता।[1]

आदर्श समाज का यह स्वरूप वर्तमान समाज के स्वरूप से भिन्न प्रतीत होता है। गान्धी ने वर्तमान समाज की अनेक बुराइयों की ओर संकेत किया है। यदि हम इन बुराइयों पर दृष्टिपात करना चाहें तो पाते हैं कि इसकी मूल दुर्बलता इसके केन्द्रीकरण, आर्थिक विषमता, असमान वितरण, सामाजिक शोषण आदि की है। किन्तु आदर्श समाज में इन दुर्गुणों को कोई स्थान नहीं है। यह अहिंसा एवं सत्य पर अवलम्बित सिद्धान्त है। गान्धीजी ने अपने आदर्श समाज के विषय में अत्याधिक भविष्यवाणी नहीं किया है, परन्तु उनके विचारों एवं संकेतों के आधार पर ही उनके आदर्श समाज की कल्पना प्रतिरूपित हो सकती है। उन्होंने लिखा है- "मैंने जानबूझ कर अहिंसा पर आधारित समाज में सरकार की दशा का वर्णन नहीं किया है। जान-बूझकर समाज की रचना अहिंसा के नियमों के अनुसार होगी तो उसका संगठन महत्वपूर्ण बातों में उससे भिन्न होगा, जैसा आज है।"[2]

आदर्श समाज में केन्द्रीकरण नहीं होगा, क्योंकि इससे सत्ता एवं शक्ति कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जायगी। इस अवस्था में सबकी सुख-सुविधा का ध्यान नहीं दिया जायगा बल्कि कुछ लोगों के स्वार्थ के लिये सामाजिक हित का हनन भी सम्भव है। इसलिये विकेन्द्रित समाज व्यवस्था के पक्ष में रहते हुए गान्धीजी ने कहाकि "केन्द्रीकरण समाज की अहिंसक व्यवस्था से मेल नहीं रखता।"[3]

विकेन्द्रित एवं अहिंसक समाज ही सर्वोदय समाज है जिसमें सब के सर्वांगीण विकास की सम्भावना है। प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था सर्वोदय समाज की कल्पना से साम्य रखती है। गान्धीजी ने उसके विषय में विशद रूप में वर्णन करते हुए लिखा है- "हमारे पुरखों ने हमें भोग-विलास से और ऐश आराम से दूर रहने का उपदेश दिया। हमने हजारों वर्ष पहले के हल से ही काम चलाया है। हमारी झोपड़ियों अब भी उस किस्म की है जैसी पुराने जमाने में थीं और हमारी देशी-शिक्षा अभी भी पहले के ही समान है। हमारे यहां जीवन नाशक स्पर्धा की प्रणाली नहीं रही। प्रत्येक व्यक्ति अपना धन्धा या व्यवसाय करता था और नियमित मजदूरी लेता था। यह बात नहीं थी कि हमें यन्त्रों का आविष्कार करने नहीं आता था, परन्तु हमारे बाप-दादा जानते थे कि यदि हमने इन चीजों में अपना दिल लगाया तो हम गुलाम बन जायेंगे और अपनी नैतिक शक्ति खो बैठेंगे। इसलिये उन्होने काफी विचार करने के बाद निश्चय किया कि हमें केवल वही करना चाहिये जो हम अपने हाथ-पैरों से कर सकते हैं। उन्होंने देखा कि हमारा सच्चा सुख और स्वास्थ्य अपने हाथ-पैरों से ठीक तरह काम करने में ही है। उन्होंने यह भी कहा कि बड़े बड़े शहर, फंदा और व्यर्थ का भार हैं

1. यंग इण्डिया : 2-7-1931
2. हरिजन : 11-2-1939
3. हरिजन : 18-1-1942

और लोग उनमें सुखी नहीं रहेंगे, वहां चोर-डाकुओं की टोलियां लोगों को सतायेंगी व्यभिचार व वदी का बाजार गर्म रहेगा और गरीब लोग अमीरों द्वारा लूटे जायेंगे। इसलिये वे छोटे-छोटे गांवों से संतुष्ट थे। उन्होंने देखा कि राजा और उनकी तलवारें नीति की तलवार से घटिया है और इसलिये वे पृथ्वी के सम्राटों को ऋषियों और फकीरों से नीचा मानते थे। इस प्रकार के विधान वाला राष्ट्र दूसरों से सीखने के बजाय उन्हें सिखाने के लिये अधिक योग्य है। इस राष्ट्र के पास अदालतें वकील और डाक्टर थे, परन्तु वे सब मर्यादाओं के भीतर रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि ये पेशे खास तौर पर श्रेष्ठ नहीं है। साथ ही ये वकील और वैद्य लोगों को लूटते नहीं थे। वे लोगों के आश्रित माने जाते थे, न कि उनके मालिक। न्याय काफी निष्पक्ष था। साधारण नियम तो अदालतों से दूर ही रहने का था। लोगों को फुसलाकर अदालतों में ले जाने वाले कोई दलाल नहीं थे यह बुराई भी राजधानियों के भीतर और आस-पास दिखाई देती थी। साधारण लोग स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते और अपना खेती का धन्धा करते थे। वे सच्चे स्वराज का उपभोग करते थे।'[1]

प्राचीन भारत का सुपुष्ट सामाजिक व्यवस्था की अच्छाइयों की ओर ध्यान करते हुए गान्धीजी वैसी ही सामाजिक व्यवस्था को अपनाने के पक्ष में थे। निरपवाद रूप से ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आधार सर्वव्यापी प्रेम या अहिंसा है। फलतः जिस समाज का संयोजित स्वरूप सामने आयेगा उसमें समता होगी। कद और पंद की समता नहीं, बल्कि धर्म और जाति तथा वर्ग के आधार पर उठने वाली विषमताओं की असमानता का अन्त। सबको सर्वांगीण विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा। इसमें व्यक्ति या किसी वर्ग विशेष का शोषण या दमन नहीं होगा। इसके कल्याण की चिन्ता रहेगी। सेवा, संयम एवं कष्टसहन व्यक्ति के लिये सामाजिकता की प्रधान शर्त होगी। त्याग प्रधान जीवन द्वारा समाज व्यक्तिगत स्वार्थों की टकराहट का केन्द्र नहीं बनेगा। उसकी बुनियाद आध्यात्मिक होगी। इस प्रकार के आदर्श समाज की सिद्धि का साधन भी आध्यात्मिक एवं नैतिक होगा। साम्यवाद की तरह साधन हिंसा एवं पशुवत नहीं होगा बल्कि अहिंसा एवं आध्यात्म बल होगा। समाज के अत्याचार एवं व्यभिचार का प्रतिरोध व्यापक प्रेम द्वारा करके हृदय एवं बुद्धि को प्रभावित करना अहिंसक तरीका है जिसमें अहिंसक समाज व्यवस्था का आदर्श स्थापित किया जा सकता है।

भविष्य के लिये चित्र बनाने की चिन्ता में गान्धीजी नहीं पड़ते थे। उनके लिये साध्य एवं साधन ही सब कुछ थे। साध्य को ध्यान में रखते हुए साधनों का तात्कालिक प्रयोग और तदनुसार सफलता की प्रप्ति की प्रणाली को ही वे मानते थे। व्यर्थ की योजनाओं को बनाते रहने का उनका प्रयास नहीं होता था। वे तो कर्डिनल न्यू मैन के विचार को मानते थे- ''मैं यह नहीं मांगता कि सुदूरवर्ती दृश्य देख सकूं', मेरे लिये पग भर पर्याप्त है।''[2] इससे उनकी नेतृत्व क्षमता में कोई अविश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि

1. हिन्द स्वराज : अध्याय 13से सर्वोदय में पृ० 45-46 पर उद्धृत
2. सर्वोदय तत्व दर्शन, पृ० 299 पर उद्धृत

उनका अपना एक तरीका था। डा० एस० राधाकृष्णन ने सामाजिक विकास पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है- "सामाजिक प्रगति में तीन अवस्थायें है- प्रथम जंगलों की अवस्था जहां पर हिंसा और स्वार्थ व्याप्त था। द्वितीय वह जहां कानून का शासन, न्यायालयों का निष्पक्ष न्याय, पुलिस और बन्दीगृह है। तृतीय वह जहां हम लोगों में अहिंसा और निःस्वार्थ भावना एक होंगे। यह अन्तिम ही सभ्य मानवता का लक्ष्य है और यह गान्धी जी जैसे लोगों के जीवन और कार्यों से लाया जा सकता है।"[1] सभ्य मानव समाज जिसका आधार अहिंसा हो, उसी को गान्धीजी आदर्श समाज मानते थे और वैसे ही समाज ही स्थापना के लिये उनका अनवरत प्रयास था।

सर्वोदय :

गान्धीजी भारत के माध्यम से विश्व की अधिकाधिक सेवा करना चाहते थे तथा वे भारत के अस्तित्व का आधार 'सर्वजन हिताय' के दर्शन में निहित मानते थे। इसलिये उन्होंने कहा था, "मैं ऐसे भारत के लिये कोशिश करूंगा जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्व है। मैं ऐसे भारत के लिये कोशिश करूंगा जिसमें ऊंचे और नीचे वर्गों का भेद नहीं होगा और जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेल-जोल होगा। ऐसे भारत में अस्पृश्यता के या शराब और दूसरी नशीली चीजों के अभिशाप के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। उसमें स्त्रियों को वही अधिकार होंगे जो पुरुष को। चूंकि शेष सारी दुनिया के साथ हमारा सम्बन्ध शान्ति का होगा, यानि न तो हम किसी का शोषण करेंगे और न किसी के द्वारा अपना शोषण होने देंगे।"[2]

गान्धीजी ने उपर्युक्त विचारों को स्वराज्य के साथ मिला दिया था। जिसका अर्थ 'सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिये लगातार प्रयत्न करना, फिर यह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का।'[3] नियंत्रण मुक्ति की आशा में पल्लवित होने वाला समाज सभी स्वराज्य के आदर्श निहित कर पायेगा जबकि विभेद और विषमता की सभी रेखायें मिट जायें।' वह जितना किसी राजा के लिये होगा उतना ही किसानों के लिये, जितना किसी धनवान जमींदार के लिये होगा, उतना ही भूमिहीन खेतिहर के लिये, जितना हिन्दुओं के लिये, उतना ही मुसलमानों के लिये, जितना जैन, यहूदी और सिक्ख लोगों के लिये होगा उतना ही पारसियों और इसाइयों के लिये। उसमें जाति-पांत, धर्म या दरजे के भेदभाव के लिये कोई स्थान नहीं होगा।'[4] इन्हीं विचारों को गान्धीजी 'सर्वोदय' की संज्ञा दिया है; क्योंकि इसकी पूर्णता 'सर्वोदय' में निहित है।

द माइण्ड आफ महात्मा गाँधी : प्रस्तावना
यंग इण्डिया : 11-8-1920
यंग इण्डिया : 6-8-1925
यंग इण्डिया : 5-3-1931

सर्वोदय उपयोगितावाद से भिन्न दर्शन है :

सर्वोदय दर्शन 'सर्वभूत हिताय' को अंगीकृत करने के कारण पश्चिम के उपयोगितावाद से भिन्न है। उपयोगितावाद 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' की मान्यता को स्वीकार करता है। सुखवाद उसका आधार है। प्रकृति ने सारी मानव जाति को सुख और दुःख इन दो प्रभुशक्तियों के बीच रख छोड़ा है। यह कार्य इन्हीं दो शक्तियों का है कि वह बतलाये कि हमें क्या करना चाहिये ?'[1] इस अनुभूति के आधार पर उपयोगितावाद मंगल कामना के क्षेत्र को सीमित कर देता है। 'पश्चिम के लोगों ने हमारे सामने यह ध्येय रखा कि अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख हो। वास्तव में इसी में बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के झगड़ों का बीज निहित है लेकिन सर्वोदय की दृष्टि जैसा कि गीता में कहा है, सर्वभूतों के हितों में रत होने की है।'[2] इस प्रकार सर्वोदय को एक स्वस्थ नैतिक आधार भी स्वतः उपलब्ध है।

समाजवाद, साम्यवाद से भिन्न है :

सर्वोदय में जिसे शत-प्रतिशत कल्याण की भावना को अभिव्यक्त किया गया है, कुछ लोगों की दृष्टि में वह भावना तो समाजवाद और साम्यवाद में भी निहित है। श्रम की निष्ठा बढ़ाने वाले यह दोनों ही विचार साधनों की पवित्रता के आग्रह को स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि दोनों ही विचार सर्वोदय की मूल दृष्टि से अलग हो गये हैं। वर्गहीन तथा शोषणविहीन समाज की रचना में दोनों ही प्रकार के विचारकों की रुचि है किन्तु उस लक्ष्य सामीप्य का प्रभाव इन दोनों को समीप नहीं ला पा रहा है; क्योंकि पगडण्डी पर चलने के लिये दोनों के सहारे साधन अलग-अलग है। 'नैतिकता के लिये समाजवाद में कत्तई कहीं भी कोई जगह है ही नहीं।'[3]

जीवन का वास्तविक सुख भोग में न होकर त्याग में होता है, इसलिये सर्वोदय के भावी समाज संयोजन की व्यवस्था प्रचलित पूंजीवादी और समाजवादी अथवा साम्यवादी संयोजन व्यवस्था से भिन्न है। पूंजीवाद में समर्थ और जीवित रहने के अधिकार की मान्यता को अंगीकृत करने के कारण 'उत्पादन के लिये नियोजन' की व्यवस्था रहती है, इसमें औद्योगिकरण और केन्द्रियकरण की प्रवृत्ति ही मुखरित होगी। समाजवादी संयोजन में 'जियो और जीने दो' के आदर्श को लेकर 'उपयोग के संयोजन' की बात कही गयी है। किन्तु यह तथ्य सर्वथा ग्राह्य है कि समाजवाद भी अत्यधिक केन्द्रियकरण की ओर प्रवृत्त है। 'पश्चिम में समाजवाद का अर्थ है अत्यधिक केन्द्रित उद्योग। इन पर स्वामित्व राष्ट्र का होता है।'[4]

---

1. वेथम, जेः प्रिंसपिल्स आफ मोरर्ल्स एण्ड लैपिसलेशन, पृ० 1
2. विनोबा : सर्वोदय विचार और स्वराज्य भाषण, पृ० 15
3. शर्मा, विचित्र नारायणः लेख गान्धीवाद और समाजवाद, पुस्तक गाँधीवाद समाजवाद (सम्पादित), पृ० 224
4. अग्रवाल, श्री मन्ना नारायण : गाँधीवादी संयोजन के सिद्धान्त, पृ० 1959

समाज को आज हमें 'जियो और जीने दो' के आदर्श से आगे चलने के लिये तत्पर और उत्सुक रखना आवश्यक है। सर्वोदय संयोजन 'दूसरों को खिलाने के लिये जिओ' के आदर्श को अंगीकृत करता है। सर्वोदय समाज की मूल और मौलिक इच्छा विकेन्द्रीयकरण में निहित है जो आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से प्रतिस्थापित होती है। इसका लक्ष्य शासनमुक्त और शोषणमुक्त समाज की रचना करना है।

सर्वोदय के सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि यह एक समन्वयात्मक तत्वज्ञान है। इसका लक्ष्य शोषण-विहीन, वर्ग-विहीन, शासनमुक्त, अहिंसामूलक तथा ग्रामोद्योग प्रधान ग्राम स्वराज्य की स्थापना करना है। महात्मा गांधी ने सर्वोदय के सिद्धान्त की मात्र रचना की थी। आचार्य विनोबा भावे ने अपने साथी सहयोगियों के साथ इस सिद्धान्त की साकार व्याख्या की और इस विचार को आन्दोलन का रूप दिया। बुद्धिदान, श्रमदान, सम्पत्तिदान, जीवनदान मनुष्य में सात्विक वृत्तियों को जागृत करने के मापदण्ड हैं। चम्बलधारी का दस्यु पीड़ित जनजीवन जिनके आह्वान पर शान्ति और प्रेम से परिपूर्ण हो गया है, उस महान सन्त ने हृदय परिवर्तन के क्षेत्र का विस्तार करना अपना धर्म समझा है। हृदय परिवर्तन से ही सामाजिक क्रान्ति और सर्वोदय की प्राप्ति होगी, इस सत्य को गान्धीजी ने स्वीकार किया था। विनोबाजी ने उसे हृदय में धारण करके भूदान, ग्रामदान के माध्यम से समाज को प्रस्तुत किया।

रामराज्य का विचार :

आदर्शवादी विचारक हीगल राज्य को अपरिधर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, ग्रीन महोदय उसे नैतिकता का प्रतिनिधि मानते हैं तथा अरस्तु उसे सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता के रूप में स्वीकार करते है। समाजवादियों के अगुआ मार्क्स ने राज्य को पूंजीपति अथवा बुर्जुआ वर्ग का शुभ चिन्तक बताया है। अतः उसके विनाश की आवश्यकता पर बल देते हैं। प्रिंस क्रोपटीन भी राज्य की उपादेयता में सन्देह प्रगट किये हैं, इस प्रकार उनका अराजकतावादी दर्शन राज्यविहीन व्यवस्था के पक्ष में है।

गान्धीजी की दृष्टि में राज्य व्यक्ति की अपूर्णता का द्योतक है तथा हिंसा और शक्ति पर आधारित है। इस प्रकार गान्धीजी इस तरह की व्यवस्था की कल्पना करते हैं, राज्य (जो शक्ति और हिंसा का प्रतीक है) स्वयंमेव समाप्त हो जायेगा। गाँधीजी का विचार है कि यह व्यवस्था तबतक सम्भव नहीं है जब तक मनुष्य अपनी आत्मा को पूर्णरूपेण विकसित नहीं कर लेता और आत्मानुशासन में दीक्षित नहीं हो जाता।

गान्धीजी हिंसा पर आधारित राज्य को हिंसा से नहीं मिटाना चाहते, इसीकारण वे अराजकतावादियों की श्रेणी में नहीं पहुँच पाते। गान्धीजी की राज्य सम्बन्धी धारणाओं का अध्ययन करने वाले बहुत से विचारक उन्हें अराजकतावादी कहते हैं। मूलतः वे यह भूल जाते हैं कि अराजकतावाद के अधिकांश विचारक गान्धीजी के आत्मानुशासन के चिन्तन से भिन्न दृष्टि रखते है और कुछ लोग तो हिंसा से राज्य को समाप्त करने के पक्ष में रहते हैं।

महात्मा गांधी मनुष्य की आत्मा को इतना अनुशासित बनाने की कल्पना करते हैं कि व्यक्ति को राज्य की आवश्यकता ही अनुभव न हो; क्योंकि राज्य अपनी उपादेयता समाप्त हो जाने पर स्वयं भी समाप्त हो जायेगा। इसलिये गान्धीजी परम्परागत अराजकतावादियों से भिन्न रह जाते हैं। गान्धी जी ने इस प्रकार के राज्य की व्यवस्था का आदर्श प्रस्तुत किया है जिसमें शक्ति, सत्ता और हिंसा को कोई स्थान न प्राप्त हो। गान्धीजी 'रामराज्य' को राज्य का आदर्श मानते है। वे परमुखापेक्षी नागरिकों के लिये स्वराज्य को अर्थहीन मानते हैं इसलिये उनके आदर्श 'रामराज्य' में कचित् मात्र भी आश्रित रहने की प्रवृत्ति विकसित होनी सम्भव नहीं है। इस तरह के आदर्श रामराज्य में तो वे नियंत्रण से मुक्त होने की अधिक से अधिक चेष्टा करते है। नियंत्रण से मुक्त होने की लालसा का विकास तभी हो सकता है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति राज्य को अपना समझने लगेगा। यह इच्छा तभी जागृत हो सकती है जबकि मानवता के उच्च आदर्शों की स्थपना हो जाय। 'रामराज्य में एक ओर अथाह सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक फाकेकशी नहीं हो सकती, उसमें कोई भूखा मरने वाला नहीं हो सकता है।'[1]

रामराज्य का आधार अहिंसा :

गान्धीजी के रामराज्य की कल्पना अहिंसा के बिना नहीं की जा सकती। उनका कथन है कि- "मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाये कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के युद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है।"[2] इस प्रकार के अहिंसक समाज में किसी प्रकार के विद्वेष की कल्पना भी सहज नहीं हो सकती। बोधराज शर्मा के अनुसार- "यदि मनुष्य अहिंसक है तब किसी भी रूप में पोषण नहीं हो सकेगा तथा सभी सामाजिक कार्य सहयोग के सिद्धान्त पर आश्रित रहेंगे। यदि मनुष्य स्वेच्छा से सहयोग करना सीख ले तब राज्य का बाह्यकारी तत्व स्वयं तिरोहित हो जायेगा।"[3]

गान्धीजी का यह राज्य कुछ लोगों के हित साधन की उपेक्षा करोड़ों लोगों के हित साधन में व्यग्र रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि बहुसंख्यक वर्ग की इच्छाओं के अनुकूल व्यवस्था रहेगी। किन्तु बहुसंख्यक वर्ग वर्तमान युग के बहुमत से भिन्न होगा। 'बहुसंख्यक दल का शासक अमुक हद तक जरूर माना जाना चाहिये यानि, ब्यौरे की बातों में हमें बहुसंख्यक दल का निर्माण स्वीकार कर लेना चाहिये। लेकिन उसके निर्णय

1. मशरूवाला, किशोरीलाल धवनः गाँधी विचार दोहन, पृ० 64
2. हरिजन : 26 मई 1939
3. शर्मा, बोधराज : लेख - स्टेट इन गाँधीयन फिलासाफी (पुस्तक) गाँधीयन कनसैप्ट ऑफ स्टेट, पृ० 11

कुछ भी क्यों न हो, उन्हें हमेशा स्वीकार कर लेना गुलामी का चिह्न है ।''[1] यदि बहुसंख्यक के नाम पर इक्यावन प्रतिशत लोग उनचास प्रतिशत लोगों के विरुद्ध कार्य करने के लिये तैयार हों तो गान्धीजी इसे स्वीकार नहीं करते, वह तो इसे अत्याचार की अनुभव करते हैं। वर्तमान शासन व्यवस्थाओं में अधिकांशतः ऐसा ही होता है। धीरेन्द्र मजूमदार के शब्दों में - ''अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक भला, एक असद् विचार है।''[2]

गान्धीजी के अनुसार ऐसे समाज का अर्थ है कम से कम हिंसा का या न्यूनतम राज्य। एस० हुसैन आविद अली के अनुसार- ''गान्धीजी के आदर्श में, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति समान प्रेरक या चेतनामय मान्यतायें रखता है, राजनैतिक समानता में स्वभावतः सामाजिक समानता जुड़ जायेगी। वहां जाति अथवा वर्ग में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होगा।''[3] ऐसे राज्य में धर्म को निरपेक्ष दृष्टि से देखा जायेगा। राज्य का कोई विशेष धर्म नहीं होगा। इसका अभिप्राय यह है कि सभी धर्मों को समान महत्व प्राप्त होगा। ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं शासक होगा। इस प्रकार गान्धीजी आत्मानुशासन पर सर्वाधिक बल देते हैं। कृष्ण दास के शब्दों में- ''ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं शासक होगा। वह अपना शासन इस प्रकार से करेगा कि अपने पड़ोसी के लिये वह किसी प्रकार भी बाधक नहीं होगा।''[4]

स्वदेशी :

स्वदेशी शुद्ध परमार्थ पर आधारित है। परमार्थ की भावना से अपने पड़ोसी या अपने देश की सेवा करने वाला मूलतः विश्व सेवा के सम्पूर्ण योग में वृद्धि करता है। स्वदेशी का पालन करते हुए मानव समाज के हित का ध्यान रखा जाना चाहिये। यदि मानवता को स्वदेशी के पालन से कोई ठेस पहुंचता है तो इसका त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार इसका आधार राजनैतिक न होकर आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक होने के कारण यह आत्मा का धर्म है जिससे आन्तरिक एकता की स्थापना होती है। इस प्रकरण में देह बाधक है, आत्मा के लिये वह परदेशी है। गान्धीजी ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है- ''स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिये स्वदेशी का अन्तिम अर्थ सारे स्थूल सम्बन्धों से आत्यन्तिक मुक्ति है। देह भी उसके लिये परदेशी है, क्योंकि देह अन्य जीवात्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्न रूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालन करने वाला देह का भी त्याग करता है। यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते हैं कि अपने पास रहने वालों की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है।

---

1. यंग इण्डिया : 2-3-1932
2. मजूमदार, धीरेन्द्र : शासनमुक्त समाज की ओर, पृ० 6
3. हुसैन, एस आबिद अली : दि वे ऑफ गाँधी एण्ड नेहरू, पृ० 40
4. कृष्णदास : (लेख) सर्वोदय एण्ड दि वेलफेयर स्टेट, (पत्रिका), गाँधी मार्ग, जुलाई, 1958 पृ० 249

यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना सम्भव है कि दूर वाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है, पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा बिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।[1]

महात्मा गांधी ने 'स्वदेशी' प्रत्यय को भगवद्गीता के 'स्वधर्म' के प्रत्यय से निकालते हुए प्रतीत होते हैं। गीता में 'स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मोभयावह' कहा गया। गान्धीजी के अनुसार इसका अर्थ है कि स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है। स्वधर्म अर्थात स्वदेशी[2] अपने पड़ोसी की उचित सेवा करने की सीख ईसा ने भी दिया है। गान्धीजी ने कहा है कि हमें निकटतम पड़ोसी की सच्ची सेवा करनी चाहिये। 'स्वदेशी हमारे अन्दर वह भावना है जो हम पर यह प्रतिबन्ध लगाती है कि हम अपेक्षाकृत अधिक दूर के वातावरण को छोड़कर पास के वातावरण का उपयोग करें और उसकी सेवा करें।'[3]

'स्वदेशी' शब्द की व्याख्या करते हुए गान्धी ने एक महत्वपूर्ण जानकारी यह दी है कि इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि हमें केवल अपने से ही प्रेम करना चाहिए, अपने का ही चयन या वरण करना चाहिए। स्वदेशी की भावना को पड़ोसियों के प्रति प्रेम की भावना के विरुद्ध नहीं मानते। उनके अनुसार पड़ोसी के प्रति प्रेम अहिंसा का व्यावहारिक प्रयोग है।

गान्धीजी के इन विचारों से नई चेतना जागृत हुई। अपने निकटवर्ती की सेवा और साथ ही पवित्र देशभक्ति तथा सम्बन्धित संस्थाओं की उन्नति के विषय में चिन्तन का स्रोत फूट चला। विवेक शक्ति का विनाश हुआ एवं हानि-लाभ के विषय में लोग सोचने लगे। पड़ोस और देश की सेवा पर सबका समान अधिकार है। गान्धीजी ने इस विचार को जन-जन तक पहुंचाया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि स्वदेशी का पालन करते समय स्वार्थों की टकराहट नहीं होती। उन्होंने कहाकि स्वदेशी को न समझ पाने से ही गड़बड़ी होती है। कुटुम्ब पर मोह रखकर मैं उसे पासूं, उसके लिये धन चुरायें, दूसरे प्रपंच रचूं तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालन करना है। उस धर्म की खोज करते हुए और पालन करते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालन से स्वधर्मी को या परधर्म को कभी हानि नहीं पहुंच सकती, न पहुंचनी चाहिये। पहुंचे तो माना हुआ धर्म, स्वधर्म नहीं बल्कि स्वाभिमान है, अतः वह त्याज्य है। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ यानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।[4]

इस विचारधारा के आधार पर गान्धीजी ने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक और औद्योगिक संस्थाओं तथा समुदायों को दोषमुक्त करने का अथक प्रयास किया। उन्होंने प्राचीन मान्यताओं को आधुनिकतम ढंग से व्यवहार के योग्य

---

1. मंगल प्रभात : पृ० 58
2. मंगल प्रभात : पृ० 59
3. स्पीचेज : पृ० 275
4. मंगल प्रभात : पृ० 59-60

बनाने और स्वदेश से मेल बैठाने का पूर्ण प्रयत्न किया। खादी को केन्द्र बिन्दु मानते हुए उन्होंने कहा- "स्वदेशी आत्मा है, खादी इस युग के लिये उसका शरीर है।"[1] युग और देश के अनुरूप खादी या चरखा प्रतीक स्वरूप स्वदेशी- धर्म बना। इससे स्वावलम्बन की भावना, धार्मिक दृढ़ता और राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। गान्धी ने इसका उत्तर दिया है कि खादी स्वदेशी धर्म क्यों होनी चाहिये ? उन्होंने स्पष्ट लिखा है-

"मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालन की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालन से भी हिन्दुस्तान के करोड़ो की रक्षा हो सकती है, ऐसा कौन सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चरखा अथवा खादी मिली। कोई यह न माने कि इस धर्म को पालन से परदेशी मिल वालों को नुकसान होता है।"[2]

स्पष्ट है कि स्वदेशी के शुद्ध पालन से किसी अन्य को या परदेशी को किसी प्रकार की हानि नहीं होती। गान्धीजी स्वदेश की बनी हुई वस्तुओं के उपयोग पर ही जोर देते थे पर उनका कभी यह मन्तव्य न रहा कि स्वदेशी के पालन से प्रतिद्वन्द्वतापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न की जाय। साथ ही उनका यह भी निश्चित मत था कि जिन वस्तुओं की स्वदेश को आवश्यकता नहीं है या स्वदेश में नहीं बन सकती, उन्हें परदेश में द्वेष के कारण स्वदेश में बनाना धर्म नहीं है। स्वदेशी में द्वेष, हिंसा, असत्य, स्वार्थ आदि की कोई गुंजाइश नहीं है। गान्धी जी के अनुसार स्वदेशी की व्यापक व्याख्या यह है कि विदेशी वस्तुओं को छोड़ कर सारी वस्तुयें देश की बनी हुई इस्तेमाल की जाय। देशी वस्तुओं का उपयोग देश के उद्योगों की रक्षा के लिये हो, जिनके बिना भारत दरिद्र हो जायगा। इसलिये मेरी राय में जो स्वदेशी धर्म, प्रत्येक विदेशी वस्तु का, भले ही वह कितनी ही उपकारक क्यों न हो और किसी को दरिद्र भी न बनाती हो, बहिष्कार करता है वह संकुचित स्वदेशी धर्म है।'[3]

विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार गान्धीजी ने किया लेकिन केवल उन्हीं वस्तुओं का जो स्वदेश के लिये हानिकारक थी और स्वदेश को दरिद्र बनाने वाली थी। इससे यह स्पष्ट है कि वे सभी प्रकार की विदेशी वस्तुओं के विरोधी न थे। प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रायः सभी वस्तुयें स्वदेश में जलवायु के अनुकूल उत्पन्न की जा सकती है, इसलिये खाने और पहनने के मामले में आर्थिक दृष्टिकोण से भी विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना उन्हें पसन्द था। लेकिन गान्धी ने स्वयं देखा कि बहुत से लोग खादी पहनते है पर उनके अन्य उपयोगी सामान विदेशी हैं। ऐसे लोगों का मार्ग निश्चय करने के लिये गान्धीजी ने लिखा- "पर जो चरखे द्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर खादी पहन पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं, वे

---

1. हिन्दी नवजीवन : 23-6-1927
2. मंगल प्रभात : पृ० 60
3. यंग इण्डिया : 17-6-1926

महामोह में डूबे हुए हैं। खादी, सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है। इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधार देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहने वाले हैं। स्वदेशी का पालन करने वाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहा वहां पर दूसरा छोड़कर उसे लेगा। फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो। इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे परदेशी काम में नहीं लाने लग जायेगा।'[1]

गान्धीजी के इन विचारों से स्पष्ट निर्देश होता है कि स्वदेशी का पालन तो करना ही चाहिये। उसके दोषों से ऊबकर उसे त्यागना नहीं चाहिये, बल्कि आने वाले दोषों को सुधारना चाहिये। स्वदेशी को गान्धीजी ने शाश्वत धर्म कहा है।[2] यह सेवा की शुद्धता पर आधारित अपने पड़ोसियों के प्रति पवित्र एवं उचित कर्तव्यों के पालनार्थ आवश्यक व्रत है। इसमें संकीर्णता, स्वार्थ और मानव हित की उपेक्षा का भाव नहीं है। इसके विपरीत स्वदेशी के पालन से मानव हित की रक्षा होती है, सच्ची विश्व सेवा होती है। स्वदेशी में सेवा के आधार पर विकासोन्मुख होने की प्रणाली है, पर यह विकास किसी के ह्रास पर आधारित नहीं है। वे हिन्दुस्तान की आर्थिक आध्यात्मिक, औद्योगिक, राजनैतिक, शैक्षणिक और सामाजिक उन्नति चाहते थे पर वह उन्नति किसी देश या जाति के पतन के आधार पर नहीं। हिन्दुस्तान की उन्नति में वे विश्व-कल्याण देखते थे। गान्धी जी का तो निश्चित विचार था कि 'स्वदेशी धर्म जानने वाला अपने कूएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म का पालन करने वाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसी का द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से अहिंसा में से पैदा हुआ सुन्दर धर्म है।'[3]

स्वदेशी की व्याख्या करने पर विश्व प्रेम और विश्वसेवा की झलक इसमें मिलती है। वास्तव में यदि सभी लोग स्वदेशी का पालन करने लगे तो सब का कल्याण सम्भव हो जाय। इसका आधार ही प्रेम और सेवा है। प्रेम और सेवा का पालन करने वाला किसी से किसी भी रूप में किसी भी समय द्वेष और घृणा करेगा ही नहीं। वह तो प्रारम्भ में अपने प्रेम और सेवा का क्षेत्र पास-पड़ोस में ही बनायेगा; क्योंकि जिस स्थान पर परिस्थिति की जानकारी उसे अच्छी तरह होगी, वहीं प्रेम और सेवा की सम्भावना अधिक होगी। धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढ़ता जायगा। प्रारम्भ से ही विश्व कल्याण और मानवहित की भावना का ध्यान रहेगा। स्वार्थ को परमार्थ में बदलता जायेगा या स्वार्थ

---

1. मंगल प्रभात : पृ० 61
2. हिन्दी नवजीवन : 23-6-1927
3. मंगल प्रभात : पृ० 62

को व्यापक बनाता जायेगा। गान्धीजी ने कहा- "स्वदेशी यह नहीं है कि अपने गढ़े में डूब मरे, किन्तु स्वदेशी की मानी है कि कि अपने गढ़े को सार्वजनिक समुद्र में होम करना।"[1]

राष्ट्रीयता :

आधुनिक युग इतना अधिक गतिशील हो गया है कि प्रत्येक देश की घटना का प्रभाव दूसरे देश पर अवश्य ही पड़ता है। सभी देश एक दूसरे के इतने अधिक निकट आ गये हैं कि वर्तमान युग को विचारकों ने अन्तर्राष्ट्रीयता का युग कहा है। इसका अर्थ यही है कि अब कोई संकीर्ण राष्ट्रीयता में बंधा नहीं रह सकता। विज्ञान ने यदि स्थलीय अन्तर कम दिया है तो विचारकों ने संसार को बौद्धिक और वैचारिक दृष्टि से निकट लाने की प्रक्रिया को सहज किया है। गत दो महायुद्ध संकीर्ण और उग्र राष्ट्रवाद की प्रतिक्रिया थे। इस दृष्टिकोण से गान्धीजी के विचारों का चिन्तन करने वाले विचारकों को उनके दर्शन में राष्ट्रवाद ही दिखाई दिया। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीयता का शुभचिन्तक स्वरूप दिखाई नहीं दिया, क्योंकि इस श्रेणी के विचारकों के अनुसार गान्धीजी केवल भारत के अभ्युत्थान की बातें करते हैं। विदेशी भाषा और विदेशी वस्तुओं को वह आवश्यक मानते हैं। ऐसे विचारकों के अनुसार गान्धीजी के विचार अन्तर्राष्ट्रीयता के पोषक नहीं हो सकते, एतदर्थ इस चिन्तन की श्रृंखला में गान्धीजी के विचारों का अध्ययन करना भी आवश्यक है।

यह एक पूर्णरूपेण स्पष्ट तथ्य है कि गान्धीजी ने अपने चिन्तन में राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया। उनके सपनों में कल्पना में और व्यवहार में भारत ही केन्द्रित था। "भारत मेरे लिये दुनिया का सबसे प्यारा देश है, इसलिये नहीं कि वह मेरा देश है, लेकिन इसलिये कि मैंने इसमें उत्कृष्ट अच्छाई का दर्शन किया है। भारत की हर चीज मुझे आकर्षित करती है। सर्वोच्च आकांक्षायें रखने वाले किसी व्यक्ति को अपने विकास के लिये जो कुछ चाहिये, वह सब उसे भारत में मिल सकता है। भारत अपने मूल स्वरूप में कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं है।"[2]

भारत के गौरवपूर्ण ऐतिहासिक सन्दर्भों, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों से गान्धीजी का जीवन सदैव अनुप्रेरित रहा। इस प्रेरणा ने उन्हें उत्साहित किया। गान्धीजी इसी आधार पर कहते थे कि भारत ने आत्मशान्ति के लिये सहजभाव से जितने प्रयत्न किये हैं उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण कठिनाई से ही मिल सकता है। स्वदेश के लिये उनमें विशेष प्रेम था। उन्होंने इस महान राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिये एक जागरूक नागरिक के समान महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की थी।

भारत के लिये उनके हृदय में एक विशेष श्रद्धा थी। उस श्रद्धा के आधार को अभिव्यक्ति देते हुए गान्धीजी ने अभिव्यक्ति किया है। "मैं भारत में उसी तरह बंधा हुआ

---

1. हिन्दी नवजीवन : 2-2-1928
2. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ०-1

हूं जिस तरह कोई बालक अपनी माँ की छाती से चिपटा रहता है, क्योंकि मैं महसूस करता हूं कि वह मुझे मेरा आवश्यक आध्यात्मिक पोषण देता है।"[1] इस पृष्ठभूमि में भारत की स्वतंत्रता के लिये उनका प्रयत्न करना एक नागरिक, एक देशभक्त, एक नेता और पथ प्रदर्शक के नाते आवश्यक ही नहीं था, वरन् यह मानवीय आत्मा की पुकार का आग्रह भी था।

यदि उन्होंने भारतकी स्वतंत्रता के लिये प्रयत्न किया है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने किसी से घृणा अथवा द्वेष के कारण ऐसा किया। यह उन्होंने इसलिये किया कि वह अपनी प्रत्येक वस्तु को, उपलब्धि को भारत की देन के रूप में स्वीकार करते थे तथा यह अनुभव करते थे कि भारत के पास दुनिया को देने के लिये एक सन्देश है, जिसमें विश्व का कल्याण निहित है। "मैं भारत की भक्ति करता हूं कि क्योंकि मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब उसी का दिया हुआ है। मेरा पूरा विश्वास है कि उसके पास सारी दुनियां के लिये एक सन्देश है। उसे यूरोप का अन्धानुकरण नहीं करना है। मेरा विश्वास है कि भारत का ध्येय दूसरे देशों के ध्येय से कुछ अलग है। भारत में ऐसी योग्यता है कि वह धर्म के क्षेत्र में दुनिया में सबसे बड़ा हो सकता है। भारत में आत्म शुद्धि के लिये स्वेच्छापूर्वक जैसा प्रयत्न किया है, उसका दुनिया में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। भारत को फौलाद के हथियारों की उतनी आवश्यकता नहीं है, वह देवीय हथियारों से लड़ा है और आज भी वह उन्ही हथियारों से लड़ सकता है।"[2]

इस राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये उनके प्रयासों की आकांक्षा का आधार उनके अपने शब्दों में यह था "यदि मैं अपने देश की आजादी की मांग करता हूं तो आप विश्वास कीजिये कि मैं यह आजादी इसलिये नहीं चाहता कि मेरा बड़ा देश जिसकी आबादी समूची मानवजाति का पांचवा हिस्सा है, दुनिया की किसी जाति या, किसी भी व्यक्ति का शोषण करे, मैं शक्ति पर अपने देश को ऐसा नहीं करने दूंगा।"[3] भारत के लिये पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करने का अभिप्रायः संकीर्ण राष्ट्रवाद को जन्म नहीं देता। भारत स्वतंत्र होकर निश्चित रूप से अपने पड़ोसी राष्ट्रों को उनकी कठिनाइयों को समाप्त करने में सहायक होगा। 'पूर्णरूपेण स्वतंत्र भारत अपने पड़ोसी की कठिनाइयों में सहायता के लिये जागरूक रहेगा।"[4]

सात्विकता के परिवेश में जिस स्वतंत्रता की कल्पना अथवा कामना गान्धीजी करते हैं, उसमें शोषण और प्रतिकार की भावना को स्थान नहीं है। "मेरे लिये देश प्रेम और मानव प्रेम में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। मैं देशप्रेमी हूं क्योंकि मैं मानवप्रेमी हूं। मेरा देश प्रेम वर्णनशील नहीं है। मैं भारत के हित की सेवा के लिये इंग्लैण्ड या जर्मन का नुकसान नहीं करूंगा। जीवन की मेरी योजना में साम्राज्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं है।"[5]

---

1. यंग इण्डिया : 21-2-1929
2. यंग इण्डिया : 11-8-1920
3. यंग इण्डिया : 1-10-1931
4. लाल, प्यारे : दि लास्ट फेज, (प्रथम भाग), पृ० 548
5. यंग इण्डिया : 16-3-1921

राष्ट्रप्रेम में निहित मानव जाति की सेवा का लक्ष्य गान्धीजी के लिये राष्ट्रीय स्वतंत्रता से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। "मेरी राष्ट्रीयता में किसी जाति के घृणा के लिये कोई स्थान ही नहीं है।"[1] उनका राष्ट्रवाद उनकी नैतिक इच्छाओं का प्रतिफल है। इसे अहिंसा का अमृत मिला है। अहिंसात्मक राष्ट्रवाद इस प्रकार आवश्यक रूप से नैतिक है। केवल अकस्मात उसका स्वरूप राजनैतिक हो गया है। यह केवल एक छोटा सा साधक है, साध्य नहीं, ऐसा साधन मात्र नहीं जिसका लक्ष्य केवल कुछ मनुष्यों की भलाई हो लेकिन मानवता की सेवा है। गान्धीजी के राष्ट्रवाद को हम अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी स्वीकार नहीं कर सकते। वह सत्य और अहिंसा से अनुप्रेरित है तथा लोकमंगलकारी भावना उसका आधार है। 'उन्होंने अपने देश के लिये स्वराज्य पर बल दिया, लेकिन यह भी अन्तर्राष्ट्रीय के हित में ही था। अन्यथा उन्होंने कभी भी उन भौगोलिक सीमाओं को महत्व नहीं दिया जो कि राज्य द्वारा निर्मित थी।'[2]

गान्धीजी की स्वतंत्रता की इच्छा का आधार भी यही था "मैं भारत का उत्थान इसलिये चाहता हूं कि सारी दुनिया उससे लाभ उठा सके। मैं यह नहीं चाहता कि भारत का उत्थान दूसरे देशों की नींव पर हो।"[3] गान्धी जी के दर्शन का आधार भी इसलिये दृढ़ है: क्योंकि उसमें कहीं भी किंचितमात्र संकीर्णता नहीं दिखाई देती। विश्वनाथ वर्मा के शब्दों में 'गान्धीजी विश्वबन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के पैगम्बर (मसीहा) थे। वह स्थानीय, वर्गीय, जातीय, प्रान्तीय तथा देशभक्ति से ऊपर थे। उनकी सत्य और अहिंसा की शिक्षा किसी एक समूह अथवा वर्ग के लिये नहीं थी।'[4] उनके राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों में विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता के तत्व समाहित हुए हैं। आविदहसन के शब्दों में, "गान्धीजी का अन्तर्राष्ट्रीयता सम्बन्धी दृष्टिकोण, उनके अन्य राजनैतिक विचारों के समान आधारभूत धार्मिक सिद्धान्तों की देन है। इसलिये उनका अन्तर्राष्ट्रीयवाद राजनीतियों और राजनैतिक विचारकों से आगे बढ़ गया है। वह विश्व-बन्धुत्व एवं विश्वप्रेम की सीमाओं का स्पर्श करता है।"[5]

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार का पोषण तब तक निरर्थक और अपूर्ण है जब तक सच्चा राष्ट्र प्रेम उसमें निहित नहीं है। एक मानव प्रेमी का सच्चा राष्ट्र प्रेम उसे सौहार्द प्रदान करता है। इससे अनुप्रेरित होकर वह सबकी सेवा का संकल्प लेता है। गान्धीजी की धारणा थी, 'मेरे लिये देशप्रेम और मानवप्रेम में कोई भेद नहीं है; दोनों एक ही हैं। यही राष्ट्रीयता की भावना सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय मनोवृत्ति का विकास कर सकता है।"

---

1. देसाई, महादेव : गाँधीजी इन इण्डियन विलेजेज, पृ० 160
2. गोयल, ओ०पी०: दि स्टडीज इन मार्डन इण्डियन पोलिटिकल थाट, पृ० 55
3. यंग इण्डिया : 12-3-1925
4. वर्मा, विश्वनाथ: दि पालिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी एण्ड सर्वोदय, पृ० 250
5. हसन, एस० आविद : दि वे ऑफ गाँधी एण्ड नेहरू, पृ० 54

कायिक श्रम :

कायिक श्रम का तात्पर्य शरीर-श्रम से है। अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सभी लोग स्वेच्छा से शरीर-श्रम करें। यह विचार रूसी विचारक 'बुनोह' का था जिसको टालस्टाय ने अपनाया और उसका प्रचार किया। गान्धीजी ने इस विचार को टालस्टाय से ही प्राप्त किया। गीता में वर्णित तीसरे अध्याय में यथार्थ कर्म कायिक-श्रम के ही अर्थ में है। वस्तुतः अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड लेवर' (Bread labour) का अनुवाद कायिक श्रम के रूप में किया गया है जिसका अर्थ होता है रोटी के लिये श्रम। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता रोटी है, इसलिये रोटी के लिये श्रम करना नैतिक या ईश्वरीय नियम है। ऐसे श्रम से अस्तेय और अपरिग्रह की सिद्धि होती है। यश किये बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है, कायिका-श्रम यज्ञ-कर्म है इसलिये इसमें पूर्ण अस्तेय है। अपरिग्रह की सिद्धि इसलिये होती है कि क्योंकि आवश्यकतानुसार उनकी पूर्ति के लिये होने वाले श्रम की महत्ता को समझकर आवश्यकताओं को सीमित करने का स्वभाव बनता जाता है।

रोटी प्राथमिक आवश्यकता है इसलिये उससे सम्बन्धित कार्य खेती करना सबके लिये यज्ञार्थ कर्म है। काम न करने वाले को खाने का क्या अधिकार ? यों देखा यह जाता है कि प्रत्येक लोग किसी न किसी रूप में हाथ पैर अवश्य हिलाते हैं पर गान्धीजी का मन्तव्य यह था कि उत्पादन को दृष्टि में रखकर श्रम किया जाय। ऐसे श्रम या यज्ञ के विषय में गान्धीजी का विचार है 'यश कई प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से एक शरीर-श्रम भी हो सकता है। यदि सब अपने ही श्रम की रोटी खायें, तो सबके लिये पर्याप्त भोजन और पर्याप्त अवकाश उपलब्ध हो जायेगा। तब न तो अत्याधिक आबादी की चिल्लाहट मचेगी, न कोई रोग फैलेगा, न तो आज जो हम चारो तरफ देखते हैं वैसी कोई विपत्ति सतायेगी। ऐसा श्रम ऊंचे से ऊंचे प्रकार का यज्ञ होगा। बेशक लोग अपने शरीर या बुद्धि से और बहुत सी बातें करेंगे, परन्तु वह सारा परिश्रम लोक कल्याण के प्रेम से करेंगे। तब कोई अमीर-गरीब नहीं होगा, कोई ऊंच-नीच नहीं होगा और कोई छूत-अछूत नहीं रहेगा।'[1] निश्चित ही आवश्यकतायें कम होगी, जीवन में सादगी आयेगी, विलासिता से घृणा होगी, शारीरिक बौद्धिक एवं नैतिक स्वास्थ्य बनेगा। इसी दृष्टि से बाइबिल में भी कहा गया है 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।' यही सभी विशिष्ट धर्मों एवं धर्मियों की आवाज है।

इसका यह भी मतलब नहीं कि आज जो अधिकतम संख्या खेती करने में ही संलग्न है वह कायिक-श्रम कहलायेगा। कायिक-श्रम में स्वेच्छा का अधिक स्थान है। आज की खेती मजदूरी मानी जाती है। गरीब खेती करते हैं और धनवान आराम। इसमें शोषण की गन्ध है, ऊंच-नीच की बू है। इसे कायिक-श्रम कहना ठीक नहीं। कायिक श्रम की कल्पना में सब अपनी रोटी के लिये स्वेच्छा से मेहनत करेंगे तथा सारे भेद

1. हरिजन : 29-6-1935

अनायास दूर हो जायेंगे। अहिंसा और सत्य पालन में सहायता मिलेगी। जो तब भी धनी बच जायेंगे वे अपने को मालिक न मान कर रक्षक या ट्रस्टी मानेंगे । लेकिन यह भी अत्यन्त कठिन है कि सभी केवल खेती ही करें, इसलिये गान्धीजी ने कहा है कि खेती का आदर्श मानकर अन्य सहायक एवं उत्पादक धन्धों को करना ठीक होगा। खेती की ओर संकेत करते हुए गान्धी जी ने आज की मान्यताओं से समन्वय करते हुए लिखा है- पर आज की जो स्थित है उसमें सब उसे (खेती को) नहीं कर सकते। इसलिये खेती का ध्यान आदर्श में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ई गिरी, लोहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिये। जो खाता है उसे मल त्याग तो करना ही पड़ता है। मल त्याग करने वाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्तव्य पालन करें। हम सभी भंगी है यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिये और इसे करने का सहज से सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक-श्रम का आरम्भ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञान पूर्वक ऐसा करेगा, वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रूप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न मानें। बालक का समावेश माता में ही हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोग होने की बात ही क्या है ?[1]

असन्तोष दरिद्रता और रोग कायिक-श्रम की भावना से विमुख होने के कारण व्याप्त है। इसमें स्वेच्छा से किये जाने का विशेष हाथ है। दबाव के कारण असन्तोष होना स्वाभाविक है। गान्धीजी का स्पष्ट मत है कि 'शरीर श्रम के नियम का विवश होकर पालन करने से दरिद्रता, रोग और असन्तोष उत्पन्न होते हैं, यह दासत्वता की देश है। शरीर श्रम के नियम का स्वेच्छापूर्वक पालन करने से सन्तोष और स्वास्थ्य मिलता है।'[2] ऐसा होने से शान्ति और सुख सर्वत्र व्याप्त हो जायगा। समाज की नैतिक आर्थिक तथा आध्यात्मिक स्थिति प्रगतिशील होगी। इसलिये आज की वैज्ञानिक मान्यताओं और मशीन की गुलामी से ऊबकर गान्धीजी ने मनुष्य के श्रम का सांकेतिक गौरव चरखा को मान्यता दिया। इससे श्रम निष्ठा बढ़ाने और वर्ग-निराकरण की दिशा में बढ़ाने का अवसर मिलता है।

लेकिन बौद्धिक कार्यों का क्या स्थान है ? बहुत से बुद्धिवादी ऐसे हैं जो शरीर श्रम नहीं कर सकते। साथ ही, यदि उन्हें बौद्धिक कार्यों के अतिरिक्त शरीर-श्रम ही करना पड़े तो क्या बौद्धिक शक्ति की बेकार बरबादी नहीं होगा।'[3] गान्धीजी ने इन प्रश्नों के उत्तर में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है। उनका कहना है यदि खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय तो महत्ता को वे ठुकरा नहीं सकते थे, लेकिन उसका सही उपयोग वे शरीर श्रम के साथ करना चाहते थे। उनका मत है कि 'बौद्धिक कार्य

1. मंगल प्रभात : पृ० 43-44
2. हरिजन : 29-6-1935
3. मंगल प्रभात : पृ० 43.

महत्वपूर्ण है और जीवन की योजना में उसका निश्चित स्थान है, परन्तु मेरा आग्रह शरीर-श्रम की आवश्यकता पर है। मेरा दावा है कि किसी भी मनुष्य को इस दायित्व से मुक्त नहीं होना चाहिये। इससे उसके बौद्धिक कार्य की श्रेष्ठता बढ़ जायेगी।'[1] इसी विचार से उन्होंने नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा का नया दृष्टिकोण उपस्थित किया जिसमें बौद्धिक और शारीरिक शिक्षणों और कार्यों का मेल बैठे।

आजीविका के लिये गान्धीजी शरीर श्रम को ही प्रधान स्थान देते थे, बौद्धिक श्रम को गौड़ । उनकी दृढ़ धारणा है कि 'शरीर की आवश्यकतायें शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिये। केवल मानसिक अर्थात बौद्धिक श्रम आत्मा के लिये और स्वयं अपने ही सन्तोष के लिये है। उसका पुरस्कार कभी नहीं मांगा जाना चाहिये। आदर्श राज्य में डाक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिये काम करेंगे, अपने लिये नहीं। शारीरिक-श्रम के धर्म का पालन करने से समाज की रचना में एक शान्त क्रान्ति हो जायेगी। मनुष्य की विजय इसमें होगी कि उसने जीवन संग्राम के बजाय परस्पर सेवा के संग्राम की स्थापना कर दी। पशुधर्म के स्थान पर मानव धर्म कायम हो जायेगा।'[2]

इस आदर्श को अत्यन्त कठिन माना जा सकता है। गान्धीजी ने माना भी है पर आशावादी होने के कारण उनका मत है कि 'यह अप्राप्य आदर्श हो सकता है। परन्तु इस कारण हमें इसके लिये अपनी कोशिश छोड़ देने की जरूरत नहीं। यदि यज्ञ के सम्पूर्ण नियम का अर्थात् हमारे जीवन नियम का पालन किये बिना हम अपनी जीविका के लिये भी काफी शरीर श्रम कर लें, तो हम उस आदर्श की दिशा में बहुत आगे बढ़ जायेंगे।'[3] स्वावलम्बन और निष्ठा बढ़े तो शान्ति, क्रान्ति द्वारा अच्छे सुखी स्वस्थ समाज की स्थापना पूर्णसम्भव है।

ट्रस्टीशिप :

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त गान्धीजी की एक नई देन है। इसके मूल में अपरिग्रह की भावना है। व्यक्ति का अर्जित धन उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त समाज का है। उस पर उसका व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं। इस व्यवस्था से आर्थिक समानता पूर्ण सम्भव है। गान्धीजी ने इसे समता का अहिंसक उपाय बतलाया। उनकी मान्यता थी कि 'सब कुछ ईश्वर का है, उसी ने उसे बनाया है। इसलिये वह उसकी सारी प्रजा के लिये है। किसी खास व्यक्ति के लिये नहीं। जब किसी व्यक्ति के पास अपने वाजिब हिस्से से ज्यादा हो तो वह ईश्वर की प्रजा के लिये उस हिस्से का संरक्षक बन जाता है।

---

1. हरिजन : 23-2-1947
2. हरिजन : 29-6-1935
3. हरिजन : 29-6-1935

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इसलिये उसे संग्रह करके रखने को आवश्यकता नही है। वह रोज पैदा करता है। इसलिये मनुष्य का भी सिद्धान्त होना चाहिये कि वह उतना ही अपने पास रखे, जिससे आज का काम चल जाय, कल के लिये वह चीजें जमा करके न रखे। अगर आमतौर पर लोग इस सत्य को अपने जीवन में उतार लें तो वह कानून सम्मत बन जायेगा और संरक्षकता एक वैध संस्था हो जायेगी।'[1] इस विचार का धार्मिक आधार है। इसमें गान्धीजी की निश्चयात्मक प्रवृत्ति है और उनका विश्वास है कि 'मेरा संरक्षकता का सिद्धान्त कोई क्षणिक वस्तु नहीं है, धोखाधड़ी तो हरगिज नहीं है। मुझे भरोसा है कि वह और सब सिद्धान्तों के बाद भी जिन्दा रहेगा। इसके पीछे धर्म और दर्शन का बल है। धनवानों ने इस सिद्धान्त पर अमल नहीं किया है, इससे वह सिद्धान्त झूठा साबित नहीं हो जाता। इससे धनवानों की कमजोरी साबित नहीं होती। अहिंसा के साथ और किसी सिद्धान्त का मेल नहीं बैठता।'[2]

इस सिद्धान्त का धार्मिक आधार होते हुए भी धार्मिक महत्व अत्यधिक है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की हानियां को ध्यान में रखते हुए इस सिद्धान्त के कार्यान्वयन से समता की स्थिति लायी जा सकती है। सबको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन अर्जित करने का अधिकार है। लेकिन साथ ही अतिरिक्त धन समाज का है और अर्जित करने वाला उसका संरक्षक है। इस सिद्धान्त की मान्यताओं पर प्रकाश डालते हुए प्यारेलालजी ने लिखा है- जेल से छूटने पर हम लोगों ने इस प्रश्न को आगाखां महल की नजरबन्दी छावनी में छोड़ा था, वहां से फिर हाथ में ले लिया। किशोर लाल भाई और नरहरि भाई की संरक्षता का एक ही सीधा-सादा और व्यावहारिक फार्मूला तैयार करने में शरीक हो गये। वह बापू के सामने रखा गया। उन्होंने उसमें थोड़े से फेर-बदल किये। अन्तिम मसौदा इस प्रकार है।

संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) ऐसा साधन प्रदान करती है, जिससे समाज की मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्था में बदल जाती है। इसमें पूंजीवाद की तो गुंजाइश नहीं है, मगर वह वर्तमान पूंजीपति वर्ग को अपना सुधार करने का मौका देती है। इसका आधार यह श्रद्धा है कि मानव स्वभाव ऐसा नहीं है जिसका कभी उद्धार न हो सके।

वह सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई हक मंजूर नहीं करती, हां उसमें समाज स्वयं अपनी भलाई के लिये किसी हद तक इसकी इजाजत दे सकता है।

उसमें धन के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी नियमन की मनाही नहीं है।

इस प्रकार राज्य द्वारा नियंत्रित संरक्षकता में कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये या समाज के हित के विरुद्ध सम्पत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपयोग करने के लिये स्वतंत्र नहीं होगा।

---

1. हरिजन : 23-2-1947
2. हरिजन :16-12-1939

जैसे अच्छा न्यूनतम जीवन, वेतन स्थिर करने की बात कहीं गयी है, ठीक उसी तरह यह भी तय कर दिया जाना चाहिये कि समाज में किसी भी व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा कितनी आमदनी हो। न्यूनतम और अधिकतम आमदनियों के बीच का फर्क उचित, न्यायपूर्ण और समय-समय पर इस प्रकार बदलते रहने वाला होना चाहिये कि उसका झुकाव उस फर्क को मिटाने की तरफ हो।

'गान्धीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप समाज की जरूरत से निश्चित होगा, न कि व्यक्ति की सनक या लालच से।'[1]

गान्धीजी व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय के विरुद्ध थे क्योंकि वे जानते थे कि शोषण, अन्याय और आर्थिक असमानता इसी के परिणाम हैं। ऐसी सम्पत्ति लोककल्याण की उपेक्षा करती है इसलिये सम्पत्ति का सदुपयोग करने की दृष्टि से उन्होंने संरक्षकता का सिद्धान्त अपनाया। अतिरिक्त सम्पत्ति का संरक्षक सम्पत्तिवान ही होगा, राज्य इस व्यवस्था में योग देगा। उत्तराधिकारी का चुनाव संरक्षक की इच्छा से होगा, पर अन्तिम निर्णय राज्य देगा। गान्धीजी की मान्यता है-उत्तराधिकारी का चुनाव उस मूल मालिक के हाथ में रहना चाहिये, जो पहले पहल संरक्षक बना। परन्तु अन्तिम चुनाव राज्य द्वारा करना चाहियें। इस व्यवस्था से राज्य और व्यक्ति दोनों पर अंकुश रहता है। बदली हुई सामाजिक स्थिति में कानून स्वामित्व ट्रस्टी के पास होना चाहिए न कि राज्य के पास। राज्य सम्पत्ति को जब्त न करे। और समाज की सेवा के लिये पूंजी या जायदाद के मूलस्वामी की योग्यता समाज के हितार्थ काम में आये। इसलिये ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त काम में लाया जाता है। मेरी यह राय भी नहीं है कि राज्य का आधार सदा हिंसा पर ही हो, मगर व्यवहार में इस सिद्धान्त का तकाजा है कि राज्य की बुनियाद अधिकतर अहिंसा पर हो।'[2]

व्यक्तिगत स्वामित्व का अहिंसक विसर्जन ट्रस्टीशिप से ही सम्भव है। इसके लिये जागरूक जनमत की आवश्यकता पड़ेगी यदि यह व्यवस्था अपना ली गयी तो आर्थिक असमानता का अन्त हो जायेगा। आर्थिक असमानता सम्पत्ति संचय से होती है। बिना हिंसात्मक तरीकों के सम्पत्ति संचय सम्भव नहीं है। अहिंसक अर्थ व्यवस्था में हिंसात्मक तरीके से संचित सम्पत्ति टिक नहीं सकती। उसे समाजहित की दृष्टि से संरक्षण में रखकर लगाना होगा।

दरिद्रनारायण की सेवा :

आर्थिक विषमता, धनी और निर्धन का भेदभाव, समाज के विकासोन्मुख होने में सदैव बाधक रहा है। धनी और निर्धन दो वर्ग सदैव समाज में बना रहता है। महात्मा गांधी ने निर्धन व्यक्ति को दरिद्रनारायण की संज्ञा प्रदान किया है। गान्धीजी के अनुसार

---

1. हरिजन : 25-1-1952
2. हरिजन : 16-2-1947

'मनुष्य जाति, ईश्वर को जो वैसे नाम हीन है और मनुष्य की बुद्धि की पहुंच के परे है, जिन अनन्त नामों से पहचानती है, उनमें से एक नाम दरिद्रनारायण है। उसका अर्थ है गरीबों का या उनके हृदय में प्रकट होने वाला ईश्वर।'[1]

गान्धीजी सर्वात्मवाद के समर्थक हैं। उनका कहना है कि अब आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तो दरिद्रों में भी उसे होना चाहिये। इसलिये दरिद्रनारायण की सेवा करना ईश्वर की सेवा करना है। उनका कथन है कि-

'हमारे लाखों मूक देशवासियों के हृदय में जो ईश्वर निवास करता है, उसके सिवा मैं किसी दूसरे ईश्वर को नहीं जानता, मैं सत्यरूप ईश्वर या ईश्वर रूप सत्य की पूजा इन मूक देशवासियों की सेवा के द्वारा ही करता हूं।'[2]

महात्मा गांधी का विचार है कि निर्धन व्यक्तियों की सेवा करना ईश्वर की सेवा करना होता है। इसीलिये निर्धन जो दरिद्रनारायण के वेश में है कि सेवा के द्वारा ही परमसत्य से साक्षात्कार किया जा सकता है।

निर्धनों की सेवा करने के लिये सेवक को स्वयं अपनी वृत्ति से निर्धन बनना होगा। अपने पास अतुल सम्पत्ति होने पर भी जो उसका उपयोग अपने स्वार्थ के लिये न करके उसे दूसरे की सेवा में लगावे तो वह वृत्ति से निर्धन ही बन जाता है। ऐसी निर्धनता में हृदय में अभाव नहीं खटकता।

गरीबी में धर्म का दर्शन करने वाले और मिलने पर भी धन का त्याग करने वाले लोग दुनिया में इने-गिने ही पाये जाते हैं। असल में धर्म के रूप में स्वीकार की गयी गरीबी सच्ची सम्पत्ति है।'[3]

अपरिग्रह धर्म का अंग है उसके अनुसार धन संचय नहीं किया जा सकता। साधक अपनी आवश्यकताओं का संयमन करता है और अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं का ही आवश्यकतानुसार उपभोग करता है। उसे सदैव यह ध्यान बनाये रखना होता है कि इन वस्तुओं पर भगवान का अधिकार है और इसलिये त्याग बुद्धि के साथ ही इनका कम से कम उपभोग किया जाय जिससे अन्य लोगों को पदार्थ मिल सके। साधक किसी भी ऐसे पदार्थ को अपने पास नहीं रखेगा जिसकी उसे आवश्यकता नहीं है, वरन उस पदार्थ को वह दूसरों के लिये समर्पित कर देगा। धन के प्रति उसकी आशक्ति का लोप हो जायेगा और वह निरासक्त अवस्था का आनन्द भोगेगा। गान्धीजी ने गरीबी धारण किया और दरिद्रनारायण की सेवा में आनन्द की अनुभूति किया। गान्धीजी ने कहा है-

"मैं भगवान की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर मैं गरीबों के लिये गरीबों की ही तरह परिश्रम करूं।"[4]

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ० 56
2. हरिजन : 11-3-1939
3. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ० 62
4. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ० 122

निर्धन व्यक्ति शरीर-श्रम का परित्याग कर जब शरीरतः बेकार हो जाता है, तब वह भिक्षावृत्ति पर जीवित रहने लगता है। वह दर-दर की ठोकर खाता फिरता है, द्वार-द्वार जाकर अपमानित होता है। गान्धीजी इस भिक्षावृत्ति के विरुद्ध हैं। वे बिना परिश्रम के किसी पदार्थ के उपभोग को निन्दनीय समझते हैं।

'जो मजदूरी नहीं करता, उसे खाने का भी क्या अधिकार है?'[1]

भिक्षा मांगकर पेट भरने वालों को चाहिये कि वे जी-तोड़ मेहनत करें और अपने पैसे की कमाई का उपभोग करें।

'ईश्वर ने मनुष्य को पसीने की कमाई खाने के लिये ही बनाया है।'[2]

किसी दूसरे के उपर भारस्वरूप रहकर जीवन यापन करना अधर्म है और ईश्वर के नियम के विपरीत है-

'रोटी के लिये प्रत्येक मनुष्य को मजदूरी करनी चाहिये। शरीर से मेहनत करनी चाहिये। यह ईश्वरीय नियम है।'[3]

इस प्रकार महात्मा गान्धी ने धन की विषमता को दूर करने का अथक परिश्रम किया। उन्होंने अपना आदर्श ही दरिद्रनारायण की सेवा करने को बना लिया था। वास्तव में महात्मा गान्धी जीवन के किसी क्षेत्र में असमानता, विषमता को उचित नहीं समझते थे। उनका उद्‌देश्य वर्गविहीन समाज की रचना करना था।

गांधी की ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना :

15 अगस्त 1947 को भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता मिली। किन्तु जहां तक स्वराज्य की बात है, यह कुछ गिने चुने लोगों के ही हिस्से में रहा। अन्य साधारण जन, जिनके स्वराज्य की परिकल्पना महात्मा गांधी ने की थी, इसकी सीमा को नहीं छू पाये। दीवाली तो उसी की, जिसके घर में गुड़, गेहूं की व्यवस्था हो। यह व्यवस्था तो दिल्ली और प्रदेश की राजधानियों में बैठे कुछ राजनीतिक महन्थों, उद्योग पतियों, भूमि पतियों और पूंजीपतियों तक ही सिकुड़ी रही। घुरहू, घिसियावन और छेदी मियां की बिलबिलाहट पूर्ववत बनी रही। इस व्यवस्था पर चिन्ता व्यक्त करते हुए गांधी जी ने हरिजन के 18-1-48 के अंक में लिखा था- 'सच्ची लोक शाही केन्द्र में बैठे हुये दस बीस आदमी नहीं चला सकते। यह तो नीचे से हर गांव के लोगों द्वारा बनायी जानी चाहिये' उन्होंने अपने इस विचार को 29 जनवरी 1948 के एक महत्वपूर्ण मसविदे में जो उनकी आखिरी वसीयत के नाम से मशहूर हुआ, दोहराया। उन्होंने कहा- भारत को अपने चन्द शहरों कस्बों से भिन्न सात लाख गांवों के सन्दर्भ में सामाजिक आर्थिक और नैतिक आजादी अभी हासिल करनी है।

1. यर्वदा मन्दिर : पृ० 79.
2. खादी : पृ० 32
3. यर्वदा मन्दिर : पृ० 70

गांधी की ग्राम स्वराज्य की रूपरेखा :

गांधी जी के नजर में राजनीतिक आजादी अधूरी आजादी थी। पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति का काम वे शेष मानते थे। उसकी प्राप्ति के लिये ग्राम स्वराज्य की अपनी परिकल्पना को आकार देने में, मानते थे, जो निम्नांकित है :

यह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिये अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों की परस्पर सहयोग से पूरा कर लेगा। इस तरह हर गांव का पहला कार्य यह होगा कि वह अपनी जरूरतों का तमाम अनाज और कपड़े के लिये कपास खुद पैदा कर लें। इसके अलावा उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिये, जिसमें भेड़ चर सकें और गांव के बड़ों और बच्चों के लिये मन बहलाव के साधन और खेलकूद के मैदान वगैरह का बन्दोबस्त हो सके। इसके बाद भी जमीन बची तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सकें। हर गांव में अपनी पाठशाला, नाटकशाला और सभा भवन रहेगा। पानी के लिये उसका अपना इन्तजाम होगा, वाटर वर्क्स होंगे, जिससे गांव के सभी लोगों को शुद्ध पेयजल मिला करेगा। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा अनिवार्य होगी। जहां तक हो सकेगा, गांव के सारे कार्य सहयोग के आधार पर किये जायेंगे। जात-पात और क्रमागत अस्पृश्यता के लिये जैसे भेद आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम स्वराज्य में बिल्कुल नहीं रहेंगे।

सत्याग्रह और असहयोग अस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी। ग्राम की रक्षा के लिये ग्राम सैनिकों- का एक ऐसा दल रहेगा जिसे तालीमी तौर पर बारी-बारी से गांव के चौकी पहरे का काम करना होगा। इसके लिये गांव में ऐसे लोगों का एक रजिस्टर रक्खा जायेगा। गांव का शासन चलाने के लिये हर गांव के पांच आदमियों की पंचायत चुनी जायेगी। इसके लिये नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गांव के बालिग स्त्री-पुरुष को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को हर प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूंकि उस ग्राम स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा। इसलिये यह पंचायत अपना एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारा सभा, न्यास सभा और कार्यकारिणी का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी।

यहां मैने इस बात का विचार नहीं किया है कि इस तरह के गांव का अपने पास पड़ोस के गांवों के साथ या केन्द्रीय सरकार के साथ, यदि वैसी कोई सरकार हुई, क्या सम्बन्ध रहेगा। मेरा हेतु तो ग्राम शासन की एक रूपरेखा पेश करने का ही है। इस ग्राम शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखने वाला सम्पूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपने इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह, दोनों अहिंसा के नियम के वश होकर चलेंगे। अपने गांव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा, क्योंकि हर ग्रामीण के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गांव की इज्जत की रक्षा के लिये मर मिटे ।

गांधीजी का समाजिक दर्पण :

गांधीजी व्यक्तिगत और विश्व के विस्तृत फैलाव के बीच समाज को इस रूप में देखना चाहते थे, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या इसे यों कहा जा सकता है कि न कोई पहला होगा न कोई आखिरी। 25-8-40 के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा था कि सच्चा समाजवाद तो हमें अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था, जो हमें यह सिखा गये हैं कि 'सब भूमि गोपाल की है। इसमें कही मेरी और तेरी की सीमायें नहीं है। ये सीमायें तो आदमियों ने बनायी है। वे इसे तोड़ भी सकते हैं। गोपाल यानी भगवान। आधुनिक भाषा में गोपाल यानी राज्य यानी जनता। आज जमीन जनता की नहीं है, यह बात सही है। पर इसमें दोष उस सिखवन का नहीं है। दोष तो हमारा है, जिन्होंने उस शिक्षा के अनुसार आचरण नहीं किया। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आदेश के जिस हद तक रूस या और कोई देश पहुंच सकता है, उसी हद तक हम भी पहुंच सकते हैं, और वह भी हिंसा का आश्रय लिये बिना।

ऐसे समाज का स्वरूप क्या होगा, इस सम्बन्ध में गांधी जी ने 28-7-46 के हरिजन में लिखा था- ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के उपर एक के ढंग से नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक ही शक्ल में होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहां से समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक धेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्य बिन्दु होगा। वह व्यक्ति हमेशा अपने गांव के खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गांव अपने इर्द गिर्द के गांवों के लिये मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर समाज ऐसे लोगों का बन जायेगा, जो उदृत होकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक जरूरी अंग हैं। इसलिये सबसे बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का उपयोग भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो ख्याली तस्वीर है, इसके बारे में सोचने में क्यों समय बर्बाद किया जाय। युक्लिड की परिभाषा वाला बिन्दु कोई मनुष्य खींच नहीं सकता। फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तस्वीर की भी कीमत है। इसके लिये मनुष्य जिन्दा रह सकता है। अगर वे इस तस्वीर को पूरी तरह बनाना या बना पाना सम्भव नहीं है, फिर भी इस सही तस्वीर को पाना या इस तक पहुंचाना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिये। जिस चीज को हम चाहते हैं, उसकी सही-सही तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिये। तभी हम उससे मिलती जुलती कोई चीज पाने की आशा रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के हर एक गांव में कभी पंचायती राज कायम हुआ तो मैं अपनी इस तस्वीर की सच्चाई साबित कर सकूंगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिये कि न कोई पहला होगा न आखिरी। गांधीजी की समाज की संरचना की यह तस्वीर उनके अभाव में जनता के बीच उभर

न सकी। भारत सरकार ने अपनी कल्पित तस्वीर पर पंचायत राज की गांवों में जो स्थापना की, वह दलगत राजनीति में उलझकर गांधी की कल्पना को धुंधले से स्याह कर डाला। गांधी जी के ग्राम स्वराज्य का लक्ष्य सत्ता का अपने हाथ में करने का नहीं था। उनका लक्ष्य था जनता की शक्ति विकसित करने का। लोक शक्ति क्रमिक विकास का अर्थ है, सरकार शक्ति का क्रमिक ह्रास। उनके 'स्वराज्य' में स्वायत ग्राम व्यवस्था और दल मुक्त राज्य व्यवस्था ये दो प्रमुख पहलू थे। वे स्वाश्रयी, स्वायत, ग्राम तथा नगर इकाइयों के प्रतिनिधित्व के आधार पर राज्य और राष्ट्र की सरकारों की रचना की कल्पना करते थे। उनके इस स्वप्न को आगे चलकर उनके शिष्य सन्त विनोबा भावे ने ग्रामदान के माध्यम से आकार देने का प्रयास किया।

आचार्य विनोबा भावे- द्वितीय विश्व युद्ध का प्रारंभ था। कांग्रेस के नेताओं को आशा बंधी कि ब्रिटिश शासक संकट की घड़ियों में सद्भावना प्रदर्शित करेंगे। देश को स्वतंत्रता का जयहार पहिनावेंगे। तत्कालीन वायसराय ने यह स्वीकारा कि भारतीयों को अपना नया संविधान बनाने का अधिकार मिलना है किन्तु यह तभी सम्भव हो पायेगा जब सरकार युद्ध से उबर कर पुनः स्वास्थ्य लाभ करेगी। इससे कांग्रेस के नेताओं को बड़ी निराशा हुई। गांधी जी ने भी इस सरकारी उद्घोषणा को मक्कारी से अधिक कुछ नहीं माना। उन्होंने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध युद्ध विरोधी अभियान शुरू कर दिया। इस अभियान में उन्होंने शान्ति और अहिंसा में पूर्ण विश्वास को आधार बनाया। जनता में उत्तेजना न पैदा किया जाय, इस पर बल दिया। इसके लिये उन्होंने कुछ शर्त रखी। उनके पालन के लिये प्रतिज्ञा का प्रारूप बनाया और 17 अक्टूबर 1940 के दिन अभियान का श्रीगणेश कराया। प्रथम सत्याग्रही के रूप में एक अज्ञात व्यक्ति विनोबा भावे ने सत्याग्रह की शर्तों के पालन की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किया। देश और स्वयं कांग्रेस के नेताओं ने भी यह सोचा था कि प्रथम सत्याग्रही कांग्रेस का कोई भारी भरकम नेता नामांकित किया जायेगा। किन्तु विनोबा, जिसको, कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य भी नहीं जानते थे, एक कौतूहल वाला नाम बन गया। बहुतों को आश्चर्य हुआ। कुछ ने विनोबा का मजाक भी उड़ाया किन्तु गाँधी की पैनी दृष्टि में नेताओं को अविश्वास नहीं था। गांधीजी ने पूरे 40 करोड़ भारतीयों में विनोबा के रूप में सर्वश्रेष्ठ नर-रत्न को चुन लिया था। उनकी दूरदृष्टि में प्रथम सत्याग्रही के रूप में विनोबा से बढ़कर दूसरा उपयुक्त व्यक्ति नहीं था। गांधी का कहना था 'कि विनोबा अहिंसा की प्रति-मूर्ति है। राजनीति से दूर है 'किन्तु रचना के शिल्पी है और अपने सेवा भावना से भारत मां की अर्चना में निरन्तर लगे हुये हैं। उन्हें प्रदर्शन और प्रसिद्धि में रुचि नहीं है। ऐसे ही लोगों से मानवता पल्लवित होती है।' यही विनोबा आगे चलकर सन्त के नाम से सुविख्यात हुए। अपने विचारों और कार्यों से इन्होंने सारे विश्व को चकित कर दिया। भूदान यज्ञ का अनुष्ठान करके इन्होंने भूमिपतियों और भूमिहीनों, दोनों को समानरूप में आकर्षित किया। एक ने सहकार और त्याग की गरिमा पहिचानी और दूसरे की आशायें इनके आन्दोलन में केन्द्रित हुईं।

गांधी के देहावसान के बाद उनके ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना को आकार देने की चिन्तन प्रक्रिया के तेंलगाना का कम्युनिस्टों द्वारा संचालित भूस्वामियों और भूमिहीनों का हिंसक आन्दोलन आ खड़ा हुआ। गांधी के भारत में उनके शरीरान्त होते ही उनके अहिंशा के सिद्धान्त का तेलंगाना में हिंसा गर्दन पकड़ लें, यह उनके लिये सह्य नहीं था। वे तेलंगाना गये। कम्युनिस्टों की हिंसक वृत्ति की आलोचना की, और भूस्वामियों से भूमिहीनों के प्रति उदार, सहानुभूतिपूर्ण, न्यायोचित रुख अपनाने की अपील की। तेलंगाना की पोचमपल्ली गांव के हरिजन, जब विनोबा से अपने गरीबी और उत्पीड़न का दुखड़ा रो रहे थे तो आचार्य ने उनसे समस्या का निदान पूछा। हरिजनों ने बताया कि वे 40 परिवार है और उन्हे यदि 80 एकड़ भूमि मिल जाय तो वे अपना गुजर बशर कर लेंगे। यद्यपि विनोबा जी ने उन्हें सरकारी सहायता दिलाने का आश्वासन दिया, किन्तु वहां उपस्थित सज्ञनों से अनायास पूछ लिया- कि क्या आप में से कोई सज्ञन ऐसे हैं जो इन भाइयों की कुछ सहायता कर सकते हैं और तुरन्त उत्तर में उसी गांव के श्री रामचन्द्र रेड्डी ने अपनी भूसम्पत्ति का 100 एकड़ भाग विनोबा को समर्पित किया और उनके नाम एक दान पत्र लिख दिया। अपने आप में वह घटना साधारण थी। किन्तु भारत की ही नहीं, समस्त एशिया की सबसे बड़ी समस्या- भूमि वितरण के अहिंसक हल की खोज में व्याकुल विनोबा के लिये यह घटना एक ईश्वरीय संकेत बन गई। इस तरह भूदान-यज्ञ आन्दोलन अप्रैल 1951 से प्रारम्भ हुआ।

भारत के सभी भूमिहीनों को भूमि देने के लिये गणित के अनुसार पाँच करोड़ एकड़ भूमि की आवश्यकता थी। यह देश की कुल खेती योग्य भूमि का छठवां भाग होता है। अतः विनोबा ने छठा हिस्सा जमीन की भाग से भूदान यज्ञ का अभियान प्रारम्भ किया। 7 अप्रैल 1952 के सेवापुरी सम्मेलन में अखिल भारत सर्वसेवा संघ ने विनोबा जी के नेतृत्व में आन्दोलन के संयोजन का जिम्मा स्वीकार किया और पहले कदम के तौर पर देश भर से पच्चीस लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का सामूहिक संकल्प किया।

भूदान-यज्ञ आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में आंकड़ों और लक्ष्यों का महत्व था। किन्तु आन्दोलन का वास्तविक उद्देश्य तो भूमि का न्यायोचित पुनर्वितरण तथा अन्ततः भूमि पर से व्यक्तिगत मिल्कियत के विसर्जन का था और इसी लक्ष्य के अनुरूप आन्दोलन के चरण आगे बढ़ते रहे। विनोबा ने इस आन्दोलन के माध्यम से गांधी के ग्राम स्वराज्य की परिकल्पना को आकार देने को सोची। आन्दोलन के बीच में उनसे इसकी सफलता और असफलता के सम्बन्ध में तरह-तरह की शंकायें उठायी जाती रही। अपनी विचार धारा को गति देते हुये उन्होंने स्पष्ट कहा था हमारा मुख्य विचार यह नहीं है कि जमीन हासिल करें। मुख्य विचार तो लोक-संग्रह का है। जो हमें जमीन देते हैं, वे ही हमारे प्रचारक बन जाते हैं। जो आज मोह के कारण नहीं देंगे वे कल कानून से देंगे अगर उन्हें आज विचार मान्य हो जाता है तो कल जो कानून बनेगा उसमें उनकी सम्पत्ति मानी जायेगी। अगर हमारा विचार समझ कर लोग जमीन देते हैं, तो हमने पूरा पाया, लेकिन इच्छा से प्रतीक के रूप में भी कुछ देते हैं तो बची हुई फिर दे देंगे। इसलिये हमें सबकी सहानुभूति का संग्रह करना है।

मेरा यह काम साम्यवाद का विरोधी नहीं है। सम्य योग की स्थापना करने का है। मैं कोई नकरात्मक काम नहीं करता। मैं तो रचनात्मक काम ही करता हूँ। मेरा

समाज रचना का एक स्वतंत्र विचार है। मैं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में, ग्राम की रचना में, शिक्षा के सम्बन्ध में-सभी में परिवर्तन चाहता हूं। मेरे इस विचार का नाम सर्वोदय है। यह एक नया सुव्यवस्थित विचार है, जिसके आधार पर और आधुनिक विज्ञान का सहारा लेकर मैं एक नई समाज-रचना करना चाहता हूं।

यह भूदान-यज्ञ आन्दोलन न सिर्फ भूमिहीनों को भूमि देगा, बल्कि सारे समाज के ढांचे में परिवर्तन करेगा।

मैं सबका सहयोग केवल इसलिये नहीं चाहता हूं कि भूमि का मसला हल हो, बल्कि सारी समाज रचना बदलने में भी सहायता चाहता हूं। हम शोषण व्यवस्था को नहीं चाहते हैं। हम चाहते हैं कि गांव की जमीन गांव को ही जाय। अगर गांव की जमीन किसी एक की हाथ में हो तो वह मुझे दे दें और बहुत से लोगों के हाथ में हो तो वे मिलकर मुझे दे दें। मेरा काम करने का अपना एक तरीका है। यह तरीका सर्वोदय विचार को लहरायेगा। आज की समाज व्यवस्था खत्म हो जायेगी। मैं तो चाहता हूं कि राष्ट्रपति और बढ़ई की मजदूरी समान हो।

मैं लोगों को एक सही रास्ते से ले जाना चाहता हूँ और इसलिये आज की परिस्थिति जल्द से जल्द बदल देना चाहता हूं। मैं शान्ति तो चाहता हूँ, लेकिन सच्ची क्रान्ति के लिये शान्ति चाहता हूं। शमशान की शान्ति नहीं चाहता हूँ। शमशान की जगह मैं दूसरी कोई भी स्थिति बर्दाश्त कर लूंगा। किसी ने यह भी कह डाला कि मैं क्रान्ति की बातें करता हूँ, इसलिये खतरनाक हूँ। हां मैं अवश्य खतरनाक हूँ, उन लोगों के लिये जो आज की स्थिति कायम रखना चाहते हैं, जो अपनी जिम्मेदारियां महसूस नहीं करते। जब करने का समय है तब कुछ नहीं करते और अपनी थैलियों का मुंह बन्द रखना चाहते हैं। जो इस समाज रचना को बदलना नहीं चाहते। उनके लिये खतरनाक अवश्य हूँ। मैं क्रान्ति को रोकना नहीं चाहता, बल्कि सही रास्ते से क्रान्ति करना चाहता हूँ। गांधी जी ने एक साल में स्वराज्य की बात कही थी। फिर भी उन्होंने अहिंसा के रास्ते में ही लोगों को चलाया, चाहे उसमें थोडा अरसा भले ही लग गया हो। मैं हिंसा नहीं चाहता। हिंसा को रोकने के लिये ही मेरा यह आन्दोलन है।

भूदान-यज्ञ में कुछ जमीन श्रद्धा से मिली कुछ बेकाम परती-ऊसर वाली जमीन मिली और कुछ लोगों ने झगड़े वाली जमीन दी। इस सम्बन्ध में प्रश्नों का उत्तर देते हुये। विनोबा ने कहा था कि समुद्र किसी भी पानी को अपने भीतर प्रवेश के लिये इन्कार नहीं कर सकता, चाहे गंगा हो या नाला हो। मैंने तो कहा है कि सारी जमीन मेरी है। खराब होगी तो हम उसका उद्धार करेंगे। अगर झगड़े की जमीन मिलती है तो इसका अर्थ यह तो हुआ ही न कि एक तरफ से झगड़ा मिट गया। अब दूसरे पक्ष वाले से हम बात करेंगे। उसको जरूरत हुई तो यह जमीन उसको ही दे देंगे, नहीं तो उससे भी मागेंगे। झगड़े कम होते हैं, यह क्या कम लाभ है?

इसके अलावा जो जमीने बेकार है, उन्हें हम कारगर बनायेंगे। इसलिये तो हम भूदान के साथ और भूदान के लिये ही श्रमदान, बैलदान, कूपदान, खाददान भी ले रहे है। परन्तु खास बात तो और है। हमें तो हर तरह की जमीने चाहिये। खेती के लिये, चारागाह के लिये, जैसी जमीन होगी वैसा उसका उपयोग होगा, परन्तु इससे भी

बड़ी बात तो भूदान यज्ञ के सैद्धान्तिक पीठिका की है। हमें हर एक से उसकी सारी जमीन लेकर सारी जमीन को सबकी बना देना है। इसमें फिर अच्छी बुरी का फर्क ही कहां रह जाता है। कुल में तो अच्छी और बुरी दोनों ही आयेंगी।

भूदान- यज्ञ से जो हवा बन रही है, नैतिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा लोगों के ध्यान में आ रही है, सामाजिक अन्याय न सहन करने की और मुक्त होने की जो तीव्र भावना पैदा हो रही है, जो सबसे पिछड़े हुए है, उनकी ओर सबको और ध्यान देना चाहिये, यह बात जो लोगों के समझ में आ रही है, जिसे मैंने प्रजासूय यज्ञ कहा, धर्म प्रवर्तन चक्र कहा, बेजबान मजदूरों का उत्तर कहा। इसके मुकाबले भूमि का मसला हल होने की बात में विशेष महत्व की नहीं मानता। यह जो आबोहवा फैली है, और इसमें जो प्राण है उसका स्पर्श सबको होगा तो न सिर्फ भूमि का ही मसला हल होगा, बल्कि सारे मसले हल होंगे। क्योंकि मानव समाज में जो मसले पैदा हुए हैं, उनके सबके मूल में कुप्रवृत्ति और उद्‌बुद्धि है, उसी पर इससे प्रहार होता है।

विनोबा जी के विचार में भूदान-यज्ञ आन्दोलन नये समाज की रचना-का साधन था, जो मुख्यतः ग्रामाभिमुख था। आन्दोलन का लक्ष्य शुरू से ही स्पष्ट था इसका उद्‌देश्य शोषण-विहीन, शान्ति-मय समाज की स्थापना था। भूदान से ग्रामदान, और ग्रामदान तथा ग्राम संकल्प से ग्रामराज तक की अहिंसक प्रक्रिया भी स्पष्ट होती जा रही थी। इस तरह आन्दोलन का प्रथम चरण सन् 1956 तक पूरा हुआ समझा जाने लगा।

उत्तर प्रदेश भूदान यज्ञ अधिनियम 1952 प्रदेशीय सरकारी असाधारण गजट में 5 मार्च 1953 को प्रकाशित हुआ था। इसका उद्‌देश्य था विनोबा भावे द्वारा प्रारंभ भूदान यज्ञ के सम्बन्ध में भूमि की दान-प्रथा तथा उसके बन्दोबस्त को नियमित बनाना। यह अधिनियम प्रकाशन की तिथि से ही लागू हो गया। कौन सी भूमि दान में दी और ली जा सकती है, तथा इसकी वितरण व्यवस्था कैसी होगी, इस पर स्पष्ट विवेचन किया गया है। इस तरह इस आन्दोलन को शासन द्वारा मान्यता दी गई।

जिन गांवों में भूमिहीनों को जमीन दी गई, उनमें बहुतेरे गांव में अमीर गरीब बहुत से लोगों ने हल, बैल, बीज, खाद आदि खेती के साधन को स्वेच्छा से जुटाया किन्तु उनका सही आंकड़ा नहीं रक्खा गया। अतः उसकी प्राप्ति का उल्लेख बिल्कुल सम्भव नहीं है। हां विनोबा जी के सम्पत्ति दान की अपील कर जो धन रुपये की शक्ल में मिला, इसका हिसाब रक्खा गया था। आन्दोलन ग्राम स्वराज्य की परिधि में प्रवेश का एक सुदृढ़ साधन बना। साधन तो निरन्तर लोक स्वराज्य ही रहा वास्तविक लोक स्वराज्य की झांकी ग्रामदान की पद्धति में देखी जाने लगी जिसमें गांव के सब लोग मिलकर अपने ही संकल्पसे उसका अधिष्ठान करते हैं। देश का सबसे पहला ग्राम उत्तर प्रदेश का मगरौठ ग्राम, दानी घोषित हुआ। इसने आन्दोलन में लगे हुये कार्यकर्ताओं तथा आन्दोलन की गति पर दृष्टि रखने वाले राजनेताओं और जन नेताओं के ध्यान अपनी ओर खींचा। अनुभव हुआ कि ग्रामदान की सुखद क्रान्ति में स्वामित्व का उन्मूलन किसी प्रकार के दबाव से नहीं किया गया, बल्कि स्वेच्छया लोगों ने उसे गांव को अर्पण कर दियां है। वाह्य सामाजिक परिवर्तन के साथ ही साथ आन्तरिक मानवीय परिवर्तन भी हो गया। सामाजिक तनाव, संघर्ष और अत्याचारों के बंदले स्वतंत्रता, पारस्परिक

सद्भावना और मेल मोहब्बत का वातावरण बना। इस कारण स्वेच्छा से, अपूर्व सामूहिक प्रेरणा और सामूहिक प्रयास की निष्पत्ति सम्भव हो सकी।

मगरौठ के ग्रामदान घोषित होने के कुछ दिनों बाद लोकनायक जय प्रकाश नारायण वहां स्थिति का अध्ययन करने गये थे। उन्हीं के शब्दों में 'मैंने जो कुछ देखा, उसमें भविष्य की एक सुन्दर झांकी थी। इस कल्पना से ही रोमांच हो जाता है कि यदि प्रत्येक गांव में मगरौठ की पुनरावृत्ति हुई तो सारे देश में महान नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति फैल जायेगी। मुझे यह मानने का कोई कारण नहीं था कि जो कुछ मगरौठ में हुआ है, वह भारत वर्ष के समस्त ग्रामों में नहीं हो सकता। मगरौठ के लोग कोई देवता नहीं है। विनोबा जी के आन्दोलन ने, इस प्रकार बहुत दिनों से जो प्रश्न मैं पूछ रहा था उसका जवाब मुहैया कर दिया। प्रश्न था- क्या गान्धी जी के तत्वावधान में सामाजिक क्रान्ति को पूरा करने के लिये कोई व्यवहारिक तरीका उपलब्ध है? गांधी जी के कार्य को असाधारण प्रतिभा के साथ फैलाकर और विकसित करके बिनोवा जी ने प्रमाणित कर दिया कि गांधी जी के तत्वावधान में ऐसा तरीका है। विनोबा जी के क्रान्तिकारी आन्दोलन की अपने तौर पर समीक्षा करते हुए जय प्रकाश बाबू ने कहा था- 'विनोबा जी अपने आन्दोलन के द्वारा इस विचार का प्रचार कर रहे हैं कि हम अपने सम्पत्ति के ट्रस्टी मात्र है। इसलिये समाज हमारे हिस्से के रूप में हमें जो कुछ देता है, उससे कुछ अधिक पाने के हकदार हम नहीं है। इसलिये वह हमें ट्रस्टी की तरह रहने और हमारे पास जो कुछ है, उसे सब में बांट लेने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में हमें यह एक अति दुर्गम मार्ग दिखलाई देता है। विनोबा जी ने इसलिये इस यात्रा को और सुगम बनाने के लिए पहले पूर्ण सम्पत्ति के छोटे-छोटे अंश का बंटवारा करने की मांग की है। किसी एक व्यक्ति से यदि अकेले ही ऐसा करने को कहा जाता तो इतना भी करना कठिन होता है। इसके लिये अधिक सबल-प्रयत्नों और उच्च नैतिक साधनों की आवश्यकता होती है, किन्तु जब किसी व्यक्ति के चारों ओर अन्य सभी लोग उसी काम में लगे हों तो दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति के लिये भी ऊँचा उठाना सहज हो जाता है। इसलिये परिवर्तन का यह कार्यक्रम, यद्यपि लक्ष्य तो इसका व्यक्ति ही रहता है, जनव्यापी होता है।

इस तरीके का दूसरा पहलू स्वावलम्बन और स्वशासन का ऐसा कार्यक्रम तैयार करना है, जिनके द्वारा लोग, पहले वे जो छोटी बस्तियों में रहते हैं, अपनी व्यवस्था करना स्वयं सीखें। नये विचारों और मूल्यों से प्रभावित होकर सामाजिक जीवन के नये स्वरूप और नयी संस्थायें खड़ी करने में एक दूसरे के साथ सहकार करें। उदाहरण के लिये, भूदान के साथ-साथ व्यक्तिगत और क्षेत्रीय स्वावलम्बन की दृष्टि से उत्पादन की योजना है, ग्रामदान का कार्यक्रम है। जो एक नवीन कृषि व्यवस्था है और ग्राम स्वराज्य है, जो गांव-गांव में गांव का राज्य कायम करने का कार्यक्रम है। भूदान-सम्पत्तिदान और ग्रामदान के द्वारा अभिव्यक्त वैचारिक क्रान्ति और भूमि के ग्रामीकरण तथा स्वराज्य के द्वारा स्थापित गांव के वाह्य संगठन में क्रान्ति, दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण क्रान्ति का कार्यक्रम बन जाता है, जो हिंसक और वैधानिक दोनों प्रकार की क्रान्तियों से भिन्न है।

स्वराज्य की इमारत की नींव ग्राम स्वराज्य है, गांधी के इस कथन की प्रमाणिकता की पुष्टि में स्वराज्य की ऊंचाई छूने के लिय विनोबाजी ने जो सीढ़ी बनाई थी, ग्रामदान उसका दूसरा सुदृढ़ डण्डा था। अतः विनोबा और उनके आन्दोलन के कार्यकर्ताओं ने इस पर बड़ा विशेष बल दिया। परिणामस्वरूप अल्पावधि में ही सन् 1957 ईसवी के अन्त तक देश में 3541 ग्रामदानी गांव अस्तित्व में आ गये।

ग्राम सभा का निर्माण :

आपस में तय करके ग्राम सभा की पहली बैठक के लिये दिन, स्थान और समय तय किया जाता है। ग्रामदान कानून में अक्सर यह नियम होता है कि प्रथमवार ग्राम सभा की रचना किसी बड़े कर्मचारी के सामन हो। इसलिये गांव को सरकारी मान्यता मिल जाने के बाद किसी समय ऐसे अधिकारी की ओर से गांव को सूचना दी जाती है और उसके सामने ही निर्वाचन की प्रक्रिया पूरी की जाती है। अध्यक्ष मंत्री आदि पदाधिकारी सर्व सम्मति से या ध्वनिमत से चुने जाते हैं। जिस चुनाव में सब एक राय हो वह सर्वसम्मति माना जाता है। किन्तु जिसमें सब एक राय न हो, पर अवरोध न करें, उसे सर्वानुमति माना जाता है।

ग्रामसभा के पदाधिकारियों का कार्यकाल अधिकतर राज्यों में तीन साल का रक्खा गया है।

ग्राम बहुत बड़ा हो और इस कारण से ग्राम सभा में बहुत अधिक सदस्य हों तो संचालन की सहूलियत के लिये ग्राम एक कार्यकारिणी समिति बना सकती है। इसका चुनाव भी सर्वानुमति से होगा। इसके अलावा अलग-अलग कार्य के लिये ऐसी ग्राम सभा को अलग-अलग समितियां बनाने का अधिकार होता है।

ग्राम सभा का संचालन :

ग्राम सभा की बैठक सामान्यतः महीने में एक बार हो। उनके लिये महीने की कोई तिथि तयकर ली जाती है। ग्रामदान अधिनियम में निश्चित किये गये कोरम को पूरा होने पर ही कार्यवाही की जाती है। सभा के निर्णय सर्व सम्मति या सर्वानुमति से होते हैं। सभा में जो निर्णय लिये जाते हैं उन्हें मंत्री तुरन्त लिख देते हैं और पढ़कर सुनाते हैं। सभा में में जितने सदस्य उपस्थित रहते हैं सबकी हाजिरी ली जाती है। निर्णय लेने में मत के कारण यदि किसी विषय पर कठिनाई आ पड़े और बार-बार कोशिशों के बाद भी समाधान न होता हो उस विषय के निपटाने के लिये पंचों की मदद ली जाती है। दोनों पक्षों को मान्य एक या अधिक सम्मानित व्यक्तियों को पंच नियुक्त किया जाता है। पंचों के निर्णय को मानने का दोनों पक्ष बचन देते हैं।

जमीन का बंटवारा :

गांव के सब लोग गांव सभा में बैठते हैं। बंटने वाली जमीन तथा भूमिहीनों की जानकारी उनके सामने रक्खी जाती है। दाताओं का यह सुझाव कि वह किस को जमीन देना चाहते हैं, भी सबके सामने रक्खा जाता है। किस परिवार को कितनी जमीन दी जाय, गांव सभा तय करती है। वितरण की सहूलियत, समानता या अन्य कारणों से बाधा न हो तो सामान्यतया दाताओं के सुझाव मान लिये जाते हैं। भूमिहीनों को जमीन का पर्चा ग्राम सभा की ओर से दिया जाता है। जमीन के भूतपूर्व मालिकों को भी ग्राम सभा की ओर से उनके कब्जे में रहने वाली जमीन के लिये पर्चा दिया जाता है। इन पर्चों में उल्लेख रहता है कि अमुक को जमीन (जमीन का ब्योरा) खेती के लिये दी जा रही है और ग्रामदान कानून की अमुक धाराओं के अनुसार उस जमीन का भोग करने का अधिकार उस किसान को रहेगा तथा उसको उस जमीन से या उसके किसी हिस्से से उसकी सम्पत्ति के बिना बेदखल नहीं किया जा सकेगा।

ग्राम कोष : ग्राम- कोष की स्थापना ग्रामदान की शर्तों में एक शर्त है। इसके लिये किसान अपनी कुल उपज का चालीसवां हिस्सा दे, यह भी उसी शर्त में है। जिनके यहां खेती न हो वे अपनी आमदनी का तीसवां हिस्सा कोष में हर साल देंगे। दुकानदार आदि धन्धा करने वाले अपनी आमदनी में से अपने परिवार के लिये जितना माहवार लेते हैं, उसका तीसवां हिस्सा देंगे।

ये नियम परिवर्तनीय है। ग्राम सभा सोचकर इससे कम या अधिक मर्यादा भी तय कर सकती है।

ग्राम कोष में अपना देय सालाना, छमाही या माहवारी निश्चित समय पर जमा किया जाना चाहिये। इसके लिये जमाकर्ता को छपी रसीद दी जायेगी, जिस पर मंत्री या कोषाध्यक्ष के हस्ताक्षर होंगे।

ग्राम कोष का हिसाब नियमतः रक्खा जाना चाहिये। नकदी और अनाज की अलग-अलग बही होनी चाहिये।

ग्राम- कोष का उपयोग सामान्यतः कर्ज देना, खेती सुधार, सिंचाई आदि की व्यवस्था, नये धन्धें खड़ा करना, स्कूल, वाचनालय, औषधि की व्यवस्था, अनाथ, विधवा आदि की मदद तथा दान के रूप में किया जाना चाहिये। ग्राम कोष के खर्च की मंजूरी ग्राम सभा देगी।

ग्राम-कोष से दिये जाने वाले कर्ज पर छीजन व्यवस्था आदि के लिये थोड़ा सा ब्याज लिया जा सकता है।

खेती सुधार, सिंचाई या इसी प्रकार के काम में ग्राम कोष की पूंजी लगेगी और इससे जिनको लाभ होगा वे अपनी बढ़ी हुई आमदनी का निश्चित अंश ग्राम कोष में जमा करेंगे।

जिस धन्धे में ग्राम कोष की पूंजी लगेगी, उसकी आमदनी का एक निश्चित हिस्सा ग्राम कोष में जमा होगा।

सरकार से, किसी संस्था से अथवा अन्य किसी स्रोत से गांव की मदद के लिये जो धन मिलेगा, उसे ग्राम कोष में जमा किया जायेगा। यह रकम जिस काम के लिये मिली हो, उसी पर खर्च की जायेगी।

अनाथ, विधवा, अपाहिज आदि की मदद के लिये ग्राम कोष का एक हिस्सा संचित रक्खा जाना चाहिये तथा ऐसे लोगों को यथोचित सहायता दी जानी चाहिये।

ग्राम कोष के जमा-खर्च के हिसाब हर माह ग्राम सभा के सामने रक्खा जाना चाहिये। हर साल हिसाब की जांच, कोठारी में रक्खे अनाज तथा अन्य सामानों की जांच पड़ताल होनी चाहिये तथा लाभ हानि का लेखा जोखा बनाकर ग्राम सभा में रखना चाहिये।

ग्राम योजना के तत्व :

किसी भी काम को व्यवस्थित रूप से करनेके लिये योजना बनाना आवश्यक है। ग्राम - योजना का बुनियादी तत्व 'सबका भला' ही होना चाहिये। सबका भला, यानी सबसे पहले सबसे नीचे वाले का भला। इसके लिये यह देखना होगा :

1- गांव में कोई भूखा न रहे।

2- गांव में कोई बेकार न रहे।

3- गांव में कोई अनपढ़ न रहे।

4- प्रत्येक बीमार का उपचार हो।

5- हर एक को पर्याप्त कपड़ा मिले।

जब गांव की आमदनी बढ़ जाय, तब गांव की योजना का ध्येय इस प्रकार होगा :

1- गांव में हरएक को संतुलित पौष्टिक भोजन मिले।

2- गांव के हरएक व्यक्ति को अपनी क्षमता तथा विशेषता के अनुसार उच्चतम तथा योग्यतम शिक्षण मिले।

3- ग्राम में रोग का प्रवेश न हो, ऐसी योजना बनें। यदि रोग आ ही जाय तो बीमारों को पर्याप्त सेवा उपलब्ध हो।

योजना बनाने के लिये पहले दो चीजों का पता लगाना होगा- (1) गांव की आवश्यकतायें तथा (2) गांव में उपलब्ध और बाहर से मिल सकने वाले साधन।

आवश्यकतायें मुख्यत : तीन प्रकार की होती है :

1- तुरन्त निवारण के लिये।

2- उत्पादन बढ़ाने के लिये

3- सुविधायें प्राप्त करने के लिये।

तुरन्त निवारण के काम है- (1) गांव में भूखा किसी को न रहने दिया जाय (2) बीमार का उपचार हो (3) जरूरतमन्द को कर्ज की व्यवस्था की जाय, (4) खेती में आने वाली बाधा दूर की जाय तथा (5) बच्चों की पढ़ाई न रुकने दी जाय।

उत्पादन बढ़ाने के लिये :

1- सिंचाई की व्यवस्था होनी चाहिये।

2- पर्याप्त खाद की व्यवस्था होनी चाहिये।

3- नये उद्योग धन्धे खड़े होने चाहिये।

4- पैदावार को अच्छी कीमत पर बेचने की दृष्टि से अन्य भण्डारण की व्यवस्था होनी चाहिये।

5- आसानी से कर्ज देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

सुविधायें बढ़ाने वाले काम :

1- पीने के स्वच्छ पानी की व्यवस्था।

2- आवागमन- सड़क-मार्ग की व्यवस्था।

3- पाठशालाओं के स्तरोन्नयन की व्यवस्था।

4- डाकघर, दवाखाना, बाजार आदि की व्यवस्था।

गांव के संपदा- साधन पांच प्रकार के होंगे :

1- प्राकृतिक

2- मानवीय

3- व्यक्तियों की आर्थिक सम्पदा जैसे गाय, पशु, औजार, यंत्र आदि।

4- ग्राम सभा की पूंजी तथा

5- व्यसन और आडम्बर के खर्च में कटौती करने पर बचा धन।

प्राकृतिक साधन में गांव की जमीन, कुएं, तालाब, नदी, नाले, पानी के सोते, जंगल, बगीचे, पहाड़, पठार और जमीन के नीचे पाये जाने वाले पत्थर, धातु, वारिश, मौसमी हवा के प्रवाह, धूप आदि आते हैं।

मानवीय साधन में आते हैं ग्राम वासियों की मेहनत करने की शक्ति और उनकी बुद्धि शक्ति।

उपरोक्त सारे साधनों को देखते हुए गांव के लिये योजनायें बनायी जाती है। पहले ऐसे काम हाथ में लिये जाते हैं, जो न बहुत छोटे होते हैं और न बहुत बड़े। योजना को कार्यान्वित करने के लिये अवधि नियत की जानी चाहिये और उसे पूरा करने के लिए [illegible] लगायी जानी चाहिए। 'ग्राम स्वराज्य' आन्दोलन से सम्बन्धित चिन्तकों ने ग्रामदानी गांवों के लोगों में जो गुण-विकास देखा है तथा ग्राम विकास के लिये कल्पनायें और योजनायें उनकें मस्तिष्क में रही है उनका अधिकांश सरकारी विकास योजनाओं द्वारा क्रिंयान्वयन की ओर अग्रसर है। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे

ऐसे हैं, जिन पर मनन, मन्थन और कार्यान्वयन अभी अपेक्षित है। अतः उनका संक्षिप्त उल्लेख औचित्य की परिधि में ही समझा जायेगा।

ग्राम वालों ने मिलकर ग्रामदान किया उनमें नयापन आया, एकता, एकरसता बढ़ी। जब दूसरे अनेक गांव आनाकानी कर रहे थे, उन्होंने हिम्मत करके यह काम किया। बहुतों ने उन्हें कराया, मना किया, धमकी- दी। फिर भी उन्होंने यह किया। इससे उनमें निर्भयता का एक गुण बढ़ा। अपनी जमीन के टुकड़े उन्होंने भूमिहीनों को दी। इनसे-मिलबाट कर खाने के सदगुण का संचार हुआ। ग्रामदान के बारे में उन्होंने सोच विचार किया। भूदान कार्यकर्ताओं से तर्क-वितर्क किये, अनेक नये विषयों के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। इस तरह उनकी जानकारी में वृद्धि हुई। अन्ततः कुल मिलाकर उनका ग्रामदान करना बड़े पराक्रम का काम रहा। इस प्रकार उनमें पांच गुणों के दर्शन हुये: 1- एकता, 2- निर्भयता, 3 बांटकर खाना, 4 ज्ञान की भूख और 5- पराक्रम

ग्रामदानी गांव के लोग एकता को निरन्तर मजबूत बनाते जायेंगे। जात-पात, ऊंच नीच के भेद और झगड़े मिटायेंगे। दूसरों के धर्मों को समझेंगे। राजनीतिक दल बन्दी के चक्कर में नहीं फसेंगे। नियमित इकट्ठे बैठने की आदत डालेंगे। एक दूसरों के विचारों को समझेंगे। गलत-फहमियों को आगे रखकर दूर करेंगे।

ईश्वर के अतिरिक्त और किसी से डरेंगे नहीं। अपना सिर ऊंचा रखेंगे। किसी से न डरेंगे न किसी को डरायेंगे। पुराने रूढ़िवादी बहमों से अपने को दूर रखेंगे।

बांट कर खाने की वृत्ति बढ़ाते जायेंगे। गांव में कोई भूखा न रहे, इसका ख्याल रखेंगे, बीमारों की सेवा, बूढ़े, अपाहिज तथा बच्चों का ध्यान रखेंगे। उनमें जो असमानता है वह धीरे-धीरे घटती जाय, इसका प्रयत्न करेंगे।

अपना ज्ञान बढ़ाने का निरन्तर प्रयत्न करेंगे। सर्वोदय का साहित्य पढ़ेंगे। गांधी, विनोबा, जय प्रकाश आदि सर्वोदय के नेताओं के विचार के सम्पर्क में आयेंगे। आपस में उनके बारे में चर्चा करेंगे और अनपढ़ लोगों को भी जानकारी देंगे। नियमित अखबार पढ़ेंगे। देश विदेश के समाचार को जानते रहेंगे, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, धर्म, अध्यात्म आदि विभिन्न उपयोगी विषयों में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करेंगे। सारे व्यस्क साक्षर हों, धार्मिक ग्रन्थ पढ़ सकें, हस्ताक्षर कर सकें, इसका प्रयास करेंगे। ज्ञानी, जानकार लोगों को गांव में बुलायेंगे, उनसे ज्ञान वृद्धि करेंगे।

सब मिलजुल कर हमेशा कुछ न कुछ नया पराक्रम करते रहेंगे। हर महीने कुछ छोटे छोटे काम, दस-बीस लोग मिलकर करेंगे। हर साल कुछ बड़े काम सबके सहयोग से करेंगे। अपने खेतों में, उद्योग में हर व्यक्ति अधिक लगन, मेहनत, बुद्धिपूर्वक काम करेगा। कुछ काम ऐसे होंगे, जिससे अभावग्रस्त पीड़ित लोगों का लाभ होगा। ऐसे सब पराक्रम उन्हें करने होंगे। ग्रामदान सभा सर्वोदय का विचार आसपास के गांव में फैले, इसके लिये भी बीच-बीच में प्रयास करेंगे।

ग्रामदानी गांव के लोगों में ऐसी रौनक होगी कि जहां भी जाय उनकी विशेषता दीख पड़ेगी। गांव के वातावरण में कुछ ऐसी चीज होगी कि राह चलते हुए अनजान मनुष्य को भी उसकी खुशबू उसकी गर्मी का अनुभव होगा।

ग्राम शक्ति का स्रोत श्रम है :

मानवीय सम्पदा के मुख्य स्वरूप, श्रम शक्ति तथा वृद्धि शक्ति है। देश की श्रम शक्ति सबसे बड़ी सम्पदा है। गांवों में श्रम शक्ति की भारी बरबादी है। हर किसान साल में कही दो, कहीं चार तो कहीं छः महीने बेकार बैठा रहता है। मजदूरों की हालत और बदतर है। किसी भी राज्य में मजदूरों को साल में छः महीने से अधिक काम नहीं मिलता है। कई उच्च कहलाने वाली जातियों के लोग परम्परा से श्रम न करने के आदी हैं। कई जातियों की औरतें उत्पादक काम नहीं करती। पढ़े-लिखे नौजवान नौकरी न मिलने पर बेकार बैठे रहते हैं। कोई काम-काज नहीं करते। सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले पूरे समय काम नही करते। देश के अनुपात से हिसाब बैठाने पर 500 की आबादी वाले गांव में सालाना 35000 रुपये का श्रम बर्बाद होता है। इस श्रम का सदुपयोग ग्रामदानी गांव में उपयोग हो सकता है। नये उद्योग-धन्धे खड़ा करके सार्वजनिक उपयोग के कामों को हाथ में लेकर, जमीन सुधार और सिंचाई आदि की व्यवस्था बढ़ाकर तथा सार्वजनिक विकास के कार्यों को अपनाकर गांव की श्रम शक्ति को बर्बाद होने से बचाया जा सकता है। ग्रामदानी गांव इस प्रकार श्रमदान को कल्याणकारी प्रयोग के रूप में प्रोत्साहित कर सकते हैं।

बुद्धि शक्ति का गांव के विकास के लिये उपयोग (बुद्धि दान):

गांव के लोगों की बुद्धि और ज्ञान, गांव की साधारण पूँजी नही है। उसका पूरा-पूरा उपयोग गांव के विकास के लिये होना चाहिये। किसान तथा मजदूरों के अलावा व्यापारी, दुकानदार, शिक्षक, पंडित, वैद्य, हकीम, ज्योतिषी, पुजारी, कारीगर आदि वर्ग गांव में होते हैं। इनके पास विशेष प्रकार का ज्ञान होता है। विशेष योग्यता होती है। इन योग्यताओं का उपयोग पुराने समाज में शोषण के लिये होता है, ग्रामदानी समाज में उनका उपयोग समाजहित में सम्भव है। नये समाज में, समाज तथा व्यक्ति के हित परस्पर पूरक होंगे। गांव में नये धन्धे खड़े होंगे। व्यापारी इन धन्धों को संगठित करने में मदद करेंगे। इसके लिये उनको कुछ मेहनताना दिया जायेगा और कुछ उनके बुद्धिदान का अंश रहेगा। ग्राम कोष के हिसाब को नही रखने में भी इनकी मदद ली जा सकती है। शिक्षक-पण्डित आदि पढ़े-लिखे लोग व्यस्क स्त्री-पुरुषों के लिये रात्रि पाठशालायें चलायें। लोगों को अखबार साहित्य आदि पढ़कर सुनाने की जिम्मेदारी निभायें, ये काम प्रायः बुद्धिदान के रूप में हो। गांव के छात्र छुट्टियों में घर आयें तो उनका उपयोग भी इस प्रकार के ज्ञान प्रसार में किया जाय। गांव के झगड़ों को सुलझाने के लिये भी विशेष योग्यता रखने वाले लोग अपने समय और बुद्धि का उपयोग करें। गांव में अच्छे गाने-बजाने वाले, चित्रकार, मूर्तिकार आदि हों उनको संगठित किया जाय तथा उत्सव, सभा, कीर्तन, मनोरंजन आदि में उनका उपयोग किया जाय। चित्रकार, मूर्तिकार गांव को सुन्दर, शोभनीय बनाने में सहायक हों। इस तरह गांव की बुद्धि शक्ति का कुछ मेहनताना देकर और कुछ बुद्धिदान के माध्यम से सदुपयोग किया जा सकता है।

भूमि :

अपने देश में खेती में जितनी पैदावार होती है, उससे अधिक जापान, इजराइल आदि देशों में होती है। अपने देश में भी पंजाब, मद्रास, गुजरात के किसान जितना पैदा करते हैं, उतना आसाम, उड़ीसा या बंगाल के लोग नहीं कर पाते। खेती की उपज बढ़ाने के लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। इसके लिये जमीन की दुरूस्ती, सिंचाई का प्रबंध आदि होना चाहिए। इन दिशाओं में प्रयत्न करना ग्राम सभा का मुख्य काम है। गांव के तालाब, कुएं, बंधे आदि नष्ट होने से बचाये जांये। इसके लिये श्रमदान को प्रोत्साहन दिया जाय। पशुओं के मल-मूत्र, कूड़े-कचरे को खाद के काम में लाया जाय। मनुष्यों के मल-मूत्र, कूड़े-कचरे को खाद के काम में लाया जाय। मनुष्यों के मलमूत्र से भी अच्छी खाद बनती है। यह पांच सौ आबादी वाले गांव में सालाना तीन हजार रुपये के मूल्य की होती है। बाहर से जाने वाली रासायनिक खादों का उपयोग सावधानी से होना चाहिये। गलत उपयोग से खेत और फसल दोनों को नुकसान पहुंचता है। गांव की आवश्यकता की दृष्टि से सारे गांव की खेती की योजना बनायी जानी चाहिये।

शुरू में गांव की फसलों की पैदावार का हिसाब लिया जाय। किस किस्म की जमीन से औसत आमदनी कितनी होती है इसका हिसाब रखा जाय। गांव की पैदावार के कितने अंश की उपयोग गांव में होता है कितना बाहर भेजा जाता है बाहर से क्या-क्या लाना पड़ता है इनका सबका हिसाब एकत्र किया जाय तो आगे के लिये रास्ता साफ होता जायेगा-ऐसा विशेषज्ञों का मत है।

ग्राम शान्ति सेना :

ग्राम स्वराज्य के भवन की आधार शिला जहां ग्रामदान है, वहां शान्ति सेना उसका स्तम्भ है। अतः प्रत्येक ग्रामदानी गांव में ग्राम सभा के अन्तर्गत ग्राम शान्ति सेना का संगठन आवश्यक माना गया। शान्ति-सेना का उद्देश्य रखा गया है :

1. गांवों में आपस के झगड़े न हों और यदि हो जाय तो शान्तिपूर्ण ढंग से उन्हें सुलझाने का प्रयास करना।
2. गांवों की सुरक्षा का प्रबंध करना।
3. गांव में चल रहे सामाजिक, आर्थिक अन्याय और उत्पीड़न आदि की शान्तिपूर्ण उपायों से अन्त करना।
4 गांव की सामाजिक कुरीतियों को लोक शिक्षण तथा अन्य शान्तिमय उपायों में दूर करने का प्रयास करना।

गांव में हर जाति, धर्म, पंथ तथा पक्ष वालों के बीच सद्‌भावना एवम् सहकार हो, इसका प्रयत्न करना।

पड़ोस के गांव के साथ सद्‌भावना और भाई चारे का संबंध स्थापित करना। गांव के युवकों का संगठन तथा रचनात्मक दिशा में उनका प्रशिक्षण करना। ग्राम सभा

के आदेशानुसार ऐसे सभी कार्य करना, जिससे गांव की ग्राम स्वराज्य की दिशा में प्रगति हो सकें। देश में अहिंसक लोकशक्ति का निर्माण करना।

संगठन :

ग्राम शान्ति सेना ग्राम सभा का एक अंग होगी। उसके मातहत काम करेगी, ग्राम शान्ति सेना के संगठन तथा कार्य संचालन के लिये ग्राम सभा एक उप समिति गठित करेगी। यह उप समिति एक नायक की नियुक्ति करेगी। 18 वर्ष से 35 वर्ष के बीच का कोई भी युवक युवती जो ग्राम शान्ति सेना का प्रतिभा पत्र भरे, ग्राम शान्ति सेना का सदस्य बन सकता है इसका हर सदस्य शान्ति सेवक कहलायेगा।

ग्राम शान्ति सेना की सबसे छोटी इकाई पांच शान्ति सेवक से प्रारम्भ होगी। उसे 'पंजा' कहा जायेगा। इसका एक पंजा नायक होगा,दस शान्ति सेवकों का एक 'दस्ता' बनेगा, जिसका एक दस्ता नायक होगा, तीन या अधिक दस्तों को मिलाकर जत्था बनेगा, जिसका एक जत्था नायक होगा।

विशेष समय पर ड्यूटी करते समय भाइयों एवं बहनों दोनों को सफेद वस्त्र, गले में केसरिया रंग की खादी का स्कार्फ तथा बाँह पर केसरिया रंग की पट्टी बांधनी होगी, जिस पर 'शान्ति सेवक' लिखा होगा।

कार्यक्रम :

ग्राम शान्ति सेना के मुख्य तीन कार्य रहेंगे- श्रम, स्वाध्याय तथा सेवा।

श्रम द्वारा सुलभ स्वच्छ शौचालयका निर्माण, कम्पोस्ट खाद बनाना, गांव की सफाई करना, सड़क, भवन आदि का निर्माण और मरम्मत, खेती में सुधार, सिंचाई व्यवस्था आदि।

स्वाध्याय के लिये अध्ययन केन्द्र आरम्भ करना, पुस्तकालय गठित करना, पत्र पत्रिकायें पढ़कर ग्रामवासियों को सुनना. भजन, नाटक, कीर्तन आदि मनोरंजन कार्यो का आयोजन, ग्राम विकास सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर गोष्ठियां आयोजित करना।

सेवा के कार्य होंगे आकस्मिक विपत्ति में राहत कार्य, प्राथमिक उपचार तथा चिकित्सा के अन्य साधन उपलब्ध करना, पर्व व त्योहारों को सौहार्दपूर्ण ढंग से मनाने का आयोजन, पुलिस अदालत से मुक्ति का प्रयास, व्यसन मुक्ति के लिये लोक शिक्षण, विवाह, त्योहार, सभा, मेला आदि में सेवा कार्य तथा गांव का निपटारा करना।

यह आन्दोलन भूदान यज्ञ से प्रारम्भ होकर, ग्रामदान, प्रखण्डदान, जिलादान और अनन्तः राज्यदान तक पहुंचा। देश में सबसे पहले विचार बिहार प्रदेश राज्य-दान की मंजिलतक पहुंचा था।

स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी गांधी जी नें चर्खे को आजादी की लड़ाई एक सशक्त अस्त्र माना था। आज भी देश के लिये यहां की उतनी की प्रासंगिकता है, जितनी

आजादी की लड़ाई के दिनों में थी। गांव के सधन आर्थिक कार्यक्रम में कपास चर्खा, सूत और खादी का एक विशिष्ट स्थान होना चाहिये था। सर्वोदय के चिन्तकों का इस दिशा में भी प्रयास रहा। उनका विचार रहा कि खादी ग्रामोद्योग का विकास ग्राम सभा और प्रखण्ड सभा के माध्मय से किया जाय। योजना ग्राम सभा की हो। संस्था; सेवा, साधन और प्रशिक्षण की व्यवस्था करें और जो माल गांव में जरूरत से ज्यादा तैयार हो उसे निकालने की जिम्मेदारी ले। ग्राम सभा यह निर्णय करें कि वह खादी ग्रामोद्योग से होने वाले उत्पादन को किस अनुपात में खपायेगी ताकि गांव क्रमशः पूर्ण स्वालम्बन की स्थिति में पहुंच सके। रोजगार देने की दृष्टि के अनुकूल गांवों में खादी ग्रामोद्योग के श्रम-केन्द्र खोलने का भी सुझाव रहा है।

शहर और गांव :

सर्वोदय चिन्तकों की दृष्टि में शहर और गांव दोनों की वर्तमान रचना सही नहीं है। इन दोनों के आपसी सम्बन्ध में ठीक समन्वय नहीं कहा जा सकता। गांव की कृषि औद्योगिक सहकारी जीवन पद्धति समाप्त हो गई है। आज की अतिकेन्द्रित उद्योगवादी, विज्ञापन-प्रधान शहरी सभ्यता गांव के जीवन पर हावी हो गयी है। ग्राम जीवन के जो अच्छे मूल्य थे, प्रायः नष्ट हो चुके हैं। शहर के बड़े-बड़े उद्योग गांव के छोटे उद्योग धन्धों को समाप्त कर चुके हैं। गांव के आर्थिक जीवन को पूरी तरह आपने नियंत्रण में ले चुके हैं। राजनीति के लिए गांव वाला मात्र वोटर है। व्यवसाय के लिये मात्र 'कस्टमर' है और कच्चे माल का 'सप्लायर' है।

यह मान्यता मान्य होनी चाहिये कि गांव अपने में साध्य है, मात्र साधन नहीं इसके लिये बुनियादी समाज परिवर्तन आवश्यक है। नये यंत्र चाहिये, नयी पद्धति चाहिये, नये सम्बन्ध चाहिये, नयी संस्कृति चाहिये। आज के ढांचे में पैबन्द लगाने से काम नहीं चल सकता।

शहरों की अपेक्षा गांवों पर अधिक ध्यान अपेक्षित है। विनोबा के शब्दों में- संसार की भावी व्यवस्था में दो ही चीज रहेंगे- ग्राम और विश्व। सुविधा के लिये दुनिया के नक्शे पर विभिन्न देशों के नाम भले ही बने रहें, परन्तु विश्व और ग्राम के बीच अन्य किसी तंत्र का अस्तित्व नहीं रहेगा। जीवन के भौतिक पहलू से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण सत्ता गांव में रहेगी। गांव में अपने जीवन की व्यवस्था स्वयं करने की शक्ति रहेगी। सम्पूर्ण जगत के नैतिक विकास और प्रगति की सत्ता विश्व केन्द्र के हाथों में होगी। राज्य अथवा जिले केवल ग्राम समाज के प्रतिनिधि रहेंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार गांव होगा। उसके केन्द्र में विश्व-सत्ता होगी। मानव समाज का संगठन छोटी-छोटी ग्राम सभाओं के आधार पर होगा। इस ग्राम समाज में हमें सच्चे मातृ-भाव के और सच्चे सहयोग के दर्शन होंगे। निजी स्वामित्व के लिये उसमें कोई गुंजाइश नही होगी। विनोबा जी ने इसी कल्पना पर आधारित विस्तृत योजना प्रस्तुत की, जिसके व्यवहारिक स्वरूप का नाम है ग्राम-दान, ग्राम-स्वराज्य। इसमें स्वामित्व न निजी है, न सरकार का, यह गांव का है, जो स्वायत्त है। ग्राम स्वामित्व के साथ

जुडा है। सरकार में ग्राम-प्रतिनिधित्व, दल-प्रतिनिधित्व के रूप में नहीं। इस तरह यह क्रान्ति नये तत्त्वों पर आधारित एक नई व्यवस्था देश के सामने प्रस्तुत करने के लिये है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामदान के गांव के लोगों में अपनी समस्या को अपने आप हल करने का संकल्प आता है, जिसके लिये अपनी ही शक्ति से अपने कोष का निर्माण तथा समाज की विषमता के निराकरणँ की दिशा में कदम उठाते हैं। वे अपनी मिल्कियत का त्याग तथा चालू आमदनी के एक अंश के विसर्जन की प्रक्रिया शुरू करते हैं। वस्तुतः ग्रामदान जोड़ने के लिये स्वतंत्र चेतन का प्रतिष्ठान है।

इस प्रक्रिया से जिस ग्राम स्वराज्य की स्थापना होगी वहीं गांधी जी के कल्पना का स्वराज्य होगा। उन्होंने कहा था कि स्वराज्य का अर्थ नियंत्रण से मुक्त होने के लिये लगातार प्रयत्न करना- फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का। ग्रामदान इस प्रयत्न की दिशा में एक साकार कदम है।

आज संसार दो खेमों में बटा हुआ है। जहां लोकतंत्र है वहां 'लोक' पूंजीवादी शोषण से त्रस्त हैं और जहां समाजवाद है वहां का समाज सैनिक तंत्र के नीचे दबा पड़ा है। जिस मुक्ति की खोज में गांधी ने लोकतंत्र और समाजवाद की कल्पना की- वह आज दूर की वस्तु है। ग्रामदान, लोकतांत्रिक समाजवाद लाने की दिशा में बढ़ता चरण है।

ग्रामदान से जब सारी भूमि ग्राम सभा की हो जाती है तो पहले का मालिक और पहले के मजदूर दोनों मालिक हो जाते हैं, केवल कागज ही पर नहीं, बल्कि बीसवां हिस्सा जमीन, भूमिहीनों को मिल जाने से हर व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से मालिक बन जाता है। इससे कम से कम वर्गभेद का निराकरण तुरंत सम्भव है। शेष रहती है विषमता। विषमता अवांछनीय होते हुये भी वर्ग संघर्ष की निर्माण करती है परिस्तिथि में शिथिलता आते ही, इसके लिये पूरा समाज ही विषमता निराकरण के काम में लग सकता है।

ग्रामदान भविष्य का संकेत है कि बन्धन टूटेगें, सम्बन्ध बदलेंगे, आज जो है, जैसा है आगे नही चलेगा। ग्रामदानों की संख्या कितनी भी थोड़ी हो उनकी शक्ति भले ही अभी प्रकट न हुई हो, फिर भी जिसने ग्रामदान को कुछ समझा है, उसने यह माना है कि ग्रामदान कुछ नया करना चाहता है, आज जो है उसे रहने नहीं देना चाहता। ग्रामदान में कुछ बात ही निराली है तथा तरीके निराले हैं।

ग्रामदान के प्रति गांव के लोगों में जो उत्साह रहा है, उसमें उनकी तीन भावनायें जुड़ी हुई थी, जो कहीं-कहीं अकेले या सम्मिलित रूप से काम करती है। ये भावनायें है स्वामित्व, नेतृत्व और आधिपत्य। नेतृत्व और आधिपत्य कायम रखने की सम्भावना उन्हे इस आन्दोलन में दिखायी देता है। इसलिये सम्भवतः ग्रामदान उन्हें आकर्षित करता है। इस कार्य में कुछ तो ह्रदय परिवर्तन की गतिशक्ति (डाइनेमिक्स) कार्य करती है। अतः इस गतिशक्ति को बनाये रखने के लिये ग्राम स्वराज्य की दिशा में इस शक्ति को मोड़ने का कार्य शुरू किया जाना आवश्यक होगा।

ग्रामदान से कुनबा बनेगा, ऐसा विनोबा जी ने लिखा है 'जमीन बंट के रहेगी' यह नारा लगता है, लेकिन जब कोई जमीन दान नहीं देगा, तो ऐसे नारे बुलन्द करने से क्या होगा। जब तक जमीन की मालकियत रहेगी, तब तक कशमकश, जद्धोजहद, जारी रहेगी। इसलिये सिर्फ जमीन ही नहीं, भगवान ने जो कुछ दिया है, वह बांटना होगा।' 'जकात' देना होगा। लोग कहेंगे कि इनमें जरा तकलीफ होती है। लेकिन जरा दूर निगाह से देखो, तो कोई तकलीफ नहीं है। दूसरे को दिल खोलकर दोगे भी, तो कितने हाथों से,दोगे । उसके बदले में हजारों हाथों से पाओगे। यह सौदा घाटे का नहीं। मुनाफे का है। खेद है एक सेर बीज बोया, तो कितना लौटा है। (जवाब मिला डेढ़ मन) यह है अल्लाह की कुदरत। वह बनिया नहीं है। वह बेहिसाब देता है। एक बीज बोओ, सौ पाओ। यह खैरात, जकात और दान देने की बात है। ग्रामदान से सारा गांव का गांव, कुनबा बनेगा। सबको समाज का प्यार मिलेगा।

ग्राम स्वराज्य और पंचायती राज :

गांधीजी की ग्राम स्वराज्य की कल्पना को साकार करने के लिए प्रदेशों की सरकारों ने अपने-अपने यहा पंचायती राज की स्थापना की है। इसका गुण दोष का विवेचन यहां ध्येय नहीं है। सर्वोदय के एक प्रमुख स्तम्भ जय प्रकाश नारायण के तद् सम्बन्धी विचारों का वर्णन मात्र पर्याप्त है :

गम्भीर अध्ययन के बाद इन निर्णय पर आया हूं कि जब तक गांव की सारी काश्त योग्य भूमि का भूमिकरण नहीं हो जाता, तब तक न केवल भूमि समस्या हमारी हद से बाहर रहेगी, बल्कि गांव की सारी समस्यायें आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। भूमि व्यवस्था का मौजूदा तरीका अपने आप ही अकेली एक ऐसी बात है कि जो गांव में वर्ग-भेद, जाति-भेद, शोषण और मुकदमें बाजी का, तथा गांव समाज में सम्पत्ति, सुरक्षा व शिक्षा की दृष्टि के अनुपात में देश में भूमि इतनी कम है कि वह अब व्यक्तिगत मुनाफे का जरिया नहीं रहनी चाहिये। उसको अब सामूहिक हित का साधन बनाना ही होगा, ताकि समस्त गांव को भोजन मिल सके। यह सामुदायिक दायित्व और व्यवस्था से ही सम्भव है। ग्रामदान की बड़ी देन यह है कि उसके द्वारा यह चीज अधिकांश मात्रा में सम्पन्न हो सकी है। इस प्रकार कुछ ग्रामदानी गांवों में न केवल जीवन के भौतिक पहलू से, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक दृष्टि से भी बड़ा उल्लेखनीय विकास हुआ है।

लोक नीति हमारे तत्व ज्ञान को बतलाना चाहिये कि इसका उत्तर है लोगों में आत्म विश्वास पैदा करना, अपनी व्यवस्था अपने आप संभालने के अवसर और उपकरण उन्हें देना, सामने जो काम है, उन्हें पूरा करने की क्षमता उनमें पैदा करना और इस प्रकार लोकतंत्र की बुनियाद डालना और उन्हें मजबूत करना। मुझे ऐसा लगता है कि हमें इस काम के सब पहलुओं का ज्ञान नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि हम ग्राम स्वराज्य की स्थापना के लिये प्रयत्नशील है, किन्तु इसके लिये थोड़े से गांवों में प्रयत्न करना पर्याप्त नहीं। यदि निकट भविष्य में हम ग्राम स्वराज्य के लिये एक व्यापक आन्दोलन

खड़ा करने में सफल नही होते हैं तो आखिर इस चुनौती का उत्तर हम किस प्रकार देंगे।

सौभाग्य से एक ऐसा कार्यक्रम हमारे सामने है। कई राज्यों में पंचायत राज की स्थापना हो चुकी है। शीघ्र ही दूसरे राज्यों में भी होने वाली है। मैं यह नहीं कहता कि इस पंचायतीराज का आज का स्वरूप वैसा ही है, जैसा हम चाहते हैं। किन्तु तीन बातों के बारे में मेरी राय निश्चित है :

1. राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के नाम पर सरकार और नौकरशाही की ताकत बढ़ाने के लिये लोगों को झूठा विश्वास दिलाने अथवा उनकी आंखों में धूल झोंकने का यह प्रयत्न नहीं है।
2. इसमें सुधार की काफी गुंजाइश है।
3. यदि यह असफल होता है तो हमारा अपना ग्राम स्वराज्य का कार्यक्रम भी नष्ट हो जायेगा।

सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं के लिये जय प्रकाश बाबू की तीसरी बात उपेक्षणीय नहीं।

यह बात आज छिपी नहीं रह गई है कि उद्देश्य विहीन और दिशाशून्य मानव एवं समाज अनेक अन्तर्विरोधों के शिकार बन गये हैं। विपुलता के मध्य दरिद्रता, आजादी की छाया में गुलामी, क्षण-क्षण लोगों को दबाने वाली केन्द्रित सत्ता और शान्ति के लिये युद्ध की तैयारी, ऐसे कितने ही अन्तर्विरोध आधुनिक सभ्यता का विश्वरूप खोलकर रख देते हैं।

मानव समाज एक भातृ समाज है, यह तो कितने ही धर्मो ने कहा है। सम्पूर्ण मानव जाति का समग्र विकास और उत्थान अविभाजित एवं एकात्मक स्वरूप का है। समता एवं न्याय की स्थापना समाजवाद का लक्ष्य है। सर्वोदय के अन्तर्गत निहित स्वार्थो का झगड़ा मिट जायेगा। वहां आवश्यकतानुसार वस्तु और शक्ति के अनुरूप काम रहेगा। राज्य सत्ता का अंकुश क्रमशः विलीन होगा किन्तु इस तरफ उन्मुख होने का साम्यवादी रास्ता वर्ग संघर्ष पर आधारित है। मानव समाज को दो गुटों में बांटकर उनमें से एक को समाप्त कर किसानों, मजदूरों और गुलामों का राज्य कायम करने की मान्यता है। अमीरों की कोई अलग जाति नहीं होती। शोषण की वृत्ति समुचित और आत्म केन्द्रित सभी मानव में पाई जाती है। इसका इलाज ढूढ़ना होगा। अमीरों को नष्ट कर यह वृत्ति समाप्त नहीं होगी। राज्य सत्ता के संदर्भ में गांधी की यह उचित सर्वग्राह्य है। जो कम से कम शासन चलाये, वही सर्वोत्तम राज्य व्यवस्था है तथा इसी को कहते हैं लोक- सत्ता।

गांधी जी ने सत्याग्रह का जो दर्शन विश्व को दिया, आजादी के बाद विनोबा ने उसी सत्याग्रह के आगे का कदम विकसित किया। विनम्रपूर्वक शान्ति से अत्याचारी की सत्ता का अस्तित्व ही अस्वीकार कर देना और बदले में जो भुगतना पड़े और सहना पड़े उसे हंसते-हंसते सहना। न्याय की भी मांग करना लेकिन वह भी अत्याचारी के विचार परिवर्तन और हृदय परिवर्तन के माध्यम से ही।

गांधी जी के सत्याग्रह और उसकी सफलता की विशेष परिस्थितियों को, विनोबा ने समझा। अंग्रेज तो वापस अपने देश जाने वाले थे, लेकिन जमीन्दार, उच्च वर्गीय अमीर, पुलिस या गुंडे इसी देश के निवासी हैं। उनके साथ रहकर, उन्हे समझाकर, उनका ह्रदय खोलकर, उन्हे अपने में शामिल करने की कुशलता नये सत्याग्रह में होनी चाहिये। इस प्रकार विनोबा का नया आविष्कार था भूदान यज्ञ।

विनोबा कहते हैं,मैं मिट्टी मांगता हूं और ज्ञान देता हूं। कितना सस्ता सौदा है,यह अमीरों के लिये। उनके उद्धार में सहायता के रूप में ही भूदान प्रकट हुआ है। भूदान का अगला कदम है,ग्रामदान। भूमिहीनता, दरिद्रता, झगड़ालूपन, संकुचितता आदि व्याधियों पर इकट्ठा हमला करके ग्राम स्वराज्य की नीव डालना ही सत्याग्रह है।

ग्रामदान से सम्पूर्ण गांव में कर्मशक्ति एवं कर्मसत्ता निर्मित होगी। हरएक गांव को हक होगा कि कौन सी चीज़ गांव में आये, कौन सी चीज न आये। यदि कोई गांव चाहता है कि उसके गांव में कोल्हू चले और मिल का तेल न आये तो उसे ऐसा करने का हक होना चाहिये। विनोबा जी ने कहा है कि जब हम ग्रामराज्य का उद्घोष करते हैं तो चाहते हैं गांव वाले नियंत्रण की सत्ता अपने हाथ में लें। इसके लिये नेशनल प्लानिंग (राष्ट्रीय नियोजन) के बजाय विलेज प्लानिंग (ग्राम नियोजन) होना चाहिये।

ग्रामदान की कल्पना से प्रखण्डदान का अवतरण कैसे हुआ के सम्बन्ध में विनोबा जी ने अपनी पुस्तिका 'प्रखण्डदान' में लिखा है कि भूदान आन्दोलन के प्रारंभ में छठे अंश की भूमि का सम्पूर्ण दान देने की बात चली थी। उसमें से फिर काश्तवाली भूमि में से बीधे में कट्ठा दानवाली बात निकली, किन्तु इस प्रकार केवल भूमि के दान से भूदान आन्दोलन के पीछे जो दृष्टि थी, वह पूरी नहीं हो पा रही थी।

पूरे गांव की भूमि का दान प्राप्त हो जाता है, तो संयोजन आसान होता है। यह ध्यान में आते ही ग्रामदान की बात निकली। लेकिन सबकी सब भूमि का पुर्नवितरण कठिन प्रतीत हुआ तो ग्रामदानों की संख्या और रफ्तार बढ़ाने की दृष्टि से भूमि के स्वामित्व-विसर्जन की मूल बात कायम रखते हुये, बीसवें दिन की भूमि, ग्राम सभा को समर्पित करके, शेष भूमि उन्हीं किसानों के पास काश्त केलिये रहे,यह सहूलियत की गई। इसी को सुलभ ग्रामदान कहा गया। लेकिन अक्सर देखा गया है कि आदिवासी क्षेत्रों में, पिछले वर्षों में बिल्कूल छोटे गांवों में और छोटे टोलों में ग्रामदान प्राप्त हो रहे है लेकिन ग्राम स्वराज्य की शक्ति प्रगट होने के लिये तो सघन और सम्पन्न देहात भी ग्रामदान में आने चाहिये-ऐसा प्रतीत हुआ।

सारे भारत में ग्रामदान की संख्या बहुत धीमी गति से बढ़ रही थी तथा बड़े गांव इससे अछूते रह रहे थे। ग्रामदान को गतिप्रदान करने के लिये 10000 गांवों का ग्रामदान 6 महीनों में कराने का संकल्प लेकर विनोबाजी 11 सितम्बर, 1965 को बिहार पहुंचे। वहां पर बिंनोवा जी को एक विचार सूझा कि पूरे प्रखण्ड का ग्रामदान क्यों न हो। इस प्रकार प्रखण्डदान प्रकट हुआ।

विनोबा जी की कल्पना थी कि यदि पूरा प्रखण्ड का दान हो जाता है अर्थात यदि प्रखण्ड के सभी ग्रामों का ग्रामदान हो जाता है तो आदिवासी, गैर आदिवासी पिछड़े हुये और प्रगतिशील, सम्पन्न और विपन्न आदि सब भेद खत्म होंगे और पूरे प्रखण्ड की समाज रचना, स्वालम्बन की और परस्पर सहकार बनेगी। चूंकि प्रखण्ड कई तरह के योजनाओं की इकाई मानी जाती है, जैसे खादी के कार्य, विकास कार्य, राज्यतंत्र आदि। यदि इस प्रकार सटे हुये प्रखण्ड ग्रामदान में आ जाते तो तालुका (तहसील) और जिला भी ग्रामदान में आ जायेगा।

विनोबा जी का तो यहां तक मानना था कि भारत का कल्याण सम्पूर्ण भारत के ग्रामदान में निहित है। उससे लोक कल्याण के लिये सरकार की ताकत भी बढ़ेगी। उत्तरोतर इस दिशा में बढ़ने के लिये विनोबा जी ने ग्रामदान की बात हटाकर प्रखण्ड दान की बात सामने रखी। उनकी अवधारणा थी कि एक प्रखण्ड में लगभग 100 गांव होते हैं किन्तु एक प्रखण्ड में जो कार्य सम्पादन हो सकता है वह अलग-अलग सैकड़ों ग्रामदानी गांवों में नहीं हो सकता है। क्योंकि ये सैकड़ों आसान गांव है जो ग्रामदान में मिल गयेहैं। लेकिन पूरा प्रखण्ड प्राप्त करना, आसान नहीं होगा। इसके अन्दर आसान गांव भी होगे और कठिन भी। अतः यह कार्य चुनौतीपूर्ण होगा और इसके नतीजे भी अच्छे निकलेंगे।

विनोबा जी ने भारत में अन्नोत्पादन की शोचनीय दशा का जिक्र करते हुये कहाकि देश के नीचे के तबके के लोगों में दारिद्रय बढ़ रहा है तथा उनके जीवन में नीरसता आ रही है। उन्होंने गुरुदेव रविन्द्र की एक पंक्ति याद करते हुए कहाकि-

जीवन जखन शुकाये जाय। करुणाधाराय एशो। ।

अर्थात जब जीवन सूखा जा रहा है तो करुणा की धारा बहाते हुये आओ।

करुणाधारा की व्याख्या करते हुये उन्होंने कहाकि ग्रामदान तो करुणा है और प्रखण्डदान,करुणाधारा है। करुणा की अजस्त्र धारा की कल्पना ने ही विनोबा को प्रखण्डदान की प्रेरणा दी थी।

विनोबा जी ने कहाकि जहां सारा गांव एक हो गया और केवल एक गांव नहीं, पूरा प्रखण्ड का प्रखण्ड- क्योंकि सरकार की योजना बनती है प्रखण्ड के तौर पर, खादी कमीशन की योजना बनती है प्रखण्ड के तौर पर, तो आपकी योजना होगी और सरकार की मदद होगी। सरकार का दखल नहीं होगा। गांव-गांव में स्वराज्य आयेगा और सलाह देने के लिये सेवक आपके पास मौजूद होंगें।

आप ग्रामदान के द्वारा अपनी योजना बनाईयेगा और गांव की दौलत कैसे बढ़े- यह सारा काम आप करियेगा तो आनन्दमय विश्व होगा- इसमें हमें कोई शंका नहीं। इससे गांव-गांव में स्वराज्य का सच्चा उदय होगा।

सम्पत्तिदान :

यद्यपि भूदान आन्दोलन सम्यक विवेचन करते समय श्रमदान, बुद्धिदान, सम्पत्तिदान, आदि का निरुपण किया जा चुका है फिर भी सम्पत्तिदान के सम्बन्ध में विशद विवेचन इसलिए समीचीन होगा क्योंकि इस प्रक्रिया में अधिकांशतः शहर के लोग जो गावों के आजीवन ऋृणी है अपनी क्षमता का उपयोग गांवों की भलाई में स्वंयम उत्रृणी होने की प्रक्रिया के अन्तर्गत कर सकते है ।[1]

महात्मा गांधी ने 25 अगस्त सन् 1940 को "हरिजन" में लिखते हुए धनिकों को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी बनने हेतु विचार प्रस्तुत किया था । उन्होने लिखा था कि समान वितरण के सिद्वान्त की जड़ में निःसन्देह धनिकों के पास जो अधिक सम्पति है उसमे ट्रस्टीपन का विचार निहित है, क्योंकि इस सिद्वान्त के अनुसार उन्हे अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक पैसा न रखना चाहिये । यह कैसे हो सकता है । अहिंसा के मार्ग से या धनिकों की सम्पत्ति छीनकर । दूसरी दशा में स्वभाविकतया हमे हिंसा का सहारा लेना होगा । हिंसक कार्यवाही से समाज का लाभ नहीं हो सकता । उससे समाज दुर्बल होगा क्योंकि जो लोग सम्पत्ति कमाने की शक्ति रखते हैं उनके सदगुणो से समाज को वचिंत रहना पड़ेगा । इसलिए साफ है कि अहिसंक मार्ग बेहतर है । धनिक अपनी सम्पत्ति अपने अधीन रख सकेगा, जिससे वह अपनी जरुरतो के लिए जितना वाजिब हो, उतने का उपयोग कर सकेगा और बाकी की सम्पति के बारे में समाज के हित में ट्रस्टी के तौर पर काम करेगा । इस बहस में ट्रष्टी की ईमानदारी मान ली गई है ।

विनोबा जी ने भूदान एवं ग्रामदान का कार्य करते हुए सम्पत्तिदान का कार्य भी प्रारम्भ किया जिसके मुख्यतः निम्न प्रधान लक्ष्य थे :

1. भूदान वितरण में जिन्हे जमीन मिली हो, ऐसे भूमिहीनों को साधन देने में साधन सामग्री के रुप में ।
2. जो गरीब कार्यकर्ता इन यज्ञों में या ग्राम सेवा में लगेंगे उनका निर्वाह।
3. सद्-साहित्य का प्रचार ।

महात्मा जी कहते थे कि धनिक लोग अपनी ज्यादा सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित में ट्रस्टी के तौर पर करें । सम्पत्तिदान यज्ञ और भूदान यज्ञ का आशय भी यही है । अपने पास आवश्यकता से जो कुछ अधिक है उस पर अपना अधिकार न समझकर उसका उपयोग दूसरों के लिए करें ।

विनोबा जी ने कहा है कि सम्पत्ति दान में जो सम्पत्ति शब्द है वास्तव में भ्रमात्मक है । अतः सम्पत्ति जो श्रम से उत्पन्न होती है वह श्रम ही वास्तविक रूप से दान की श्रेणी में आता है इसलिए विनोबा ने एक धनवान को जो उन्हे सम्पत्ति के रूप

1. विनोबा : प्रखण्डदाब, सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी

में दस -पांच हजार रुपये देने का इच्छुक था को पत्र में लिखा कि आप अपने हाथ की कती हुइ एक गुंडी सूत दे सकते हैं। श्रम-सम्पत्ति के महत्व का यह एक अपूर्व उदाहरण है।

समाज में जो आर्थिक एवं सामाजिक विशेषतायें चल रही हैं शोषण द्वारा अशांति को प्रोत्साहन मिल रहा है उसे मिटाने के लिए संसार में अनेक योजनायें चल रही हैं किन्तु अहिंसा के द्वारा इस प्रश्न को हल करना हो तो गांधी जी के सूत्र पर चलना होगा । पेट भरने के लिए हाथ पैर और ज्ञान प्राप्त करने एवं ज्ञान देने के लिए वृद्वि। ऐसी व्यव्स्था हो कि हरएक को चार धंटे वौद्विक काम करने का मौका मिले और चार धंटो के शरीर श्रम से इतना मिल जाए कि उसका निर्वाह चल सके । यदि यह सिद्वान्त मान भी लिया जाय कि कुछ बौद्विक कार्य करने वालों से श्रम का काम लेना सम्भव नही है फिर भी यह तो निर्विवाद आवश्यक है कि शारीरिक श्रम करने वाले तथा वौद्धिक श्रम करने वालों के वेतन में आज उतने अंतर की गुंजाइश नहीं है ।

शरीर श्रम के बिना सम्पत्ति नहीं बनती अर्थात धनिकों के पास जो सम्पत्ति इकट्ठी होती है वह गरीबों के शरीर श्रम का ही फल है इसके अलावा गरीबों के सहयोग के बिना धनिक लोग सम्पति कमा नहीं सकते । अपने पास रख नहीं सकते और उसका उपयोग भी नहीं कर सकते है। अतः न्याय की दृष्टि से आवश्कता से अधिक चीजे अपने लिए रखना उचित नही है। निजी उपयोग से अधिक,धन धनिक दूसरो की भलाई हेतु ट्रस्टी के रूप में रखे तो यह अहिसंक समाजवादी रूप होगा ।[1]

सम्पत्तिदान में विनोबा जी ने धनिकों तथा गरीबों सबसे दान देने की बात कही थी सम्पत्तिदान यज्ञ में सबकी आहुति (हविर्भाग) अवश्य पड़नी चाहिये ऐसी उनकी मान्यता थी। गरीब का दान प्रतीक स्वरुप भी एक श्रेष्ठ दान है । जो धनिक होने के कारण विशेष बोझ सहन कर सकते है, उनका त्याग बड़ा होगा- लेकिन त्याग तो कमोवेश सभी कर सकते हैं गरीब लोग व्यवसनों तथा चाय, तम्बाकू सिनेमा में जो कुछ खर्च करते हैं उससे धन बचाकर दान दे सकते है। विनोबा जी ने स्कूल कालेज के विद्यार्थियो से भी सम्पत्तिदान में शरीक होने की अपील की थी । विद्यार्थी जीवन से ही नियमित रूप से कुछ त्याग की प्रवृति विद्यार्जन के पश्चात गृहस्थ जीवन में उनके मार्ग को प्रशस्त करेगा तथा भविष्य में समाज सेवा करने का भाव उनके हृदय में पैदा होगा। उन्होने चाहा है कि विद्यार्थी भी अपने खर्च में मितव्ययिता करके एक रुपये में दो पैसा ही सही सम्पत्तिदान यज्ञ में खर्च करने का संकल्प ले तो इस यज्ञ में उनका हविर्भाग प्रशंसनीय होगा । इस क्रम में अखण्ड ज्योति पत्रिका का निम्न उदहारण प्रस्तुत करना समीचीन होगा ।[1]

परमात्मा के अनन्त वैभव से विश्व में कभी किसी बात की परेशानी नहीं । भगवान आपके हैं और उसके राजकुमार के नाते सृष्टि की हर वस्तु पर आपका समग्र अधिकार है, उसमे से जब किसी चीज की जितनी आवश्यकता हो उतनी ले और

1. अखण्ड ज्योति : जनवरी, 1985 अंक 1, वर्ष 48

आवश्यकता निबटते ही अगली बात सोचें । संसार में सुखी और सम्पन्न रहने का यही तरीका है।

बादल अपने, नदी अपनी, पहाड़ अपने,वन उद्यान अपने। इनमे से जब जिसके साथ रहना हो, रहें । जिसका जितना उपयोग करना हो, करें। कोई रोक-टोक नही है। दु:खदायी तो संग्रह है नदी को रोककर यदि अपनी बनाना चाहेंगे और किसी दूसरे के पास न जाने देंगे, उपयोग न करने देंगे तो समस्या उत्पन्न होगी । एक जगह जमा किया हुआ पानी जमा होकर बाढ़ के रूप उफनने लगेगा और आपके निजी खेत खलिहानों को ही डुबो देगा । बहती हुई हवा कितनी सुगंधित हो, पर उसे आप अपने ही पेट में भरना चाहेंगे तो पेट फूलेगा, फटेगा, औचित्य इसी में है कि जितनी जगह फेफड़े में है, उतनी ही सांस ले और बाकी हवा दूसरो के लिए छोड़ दें । मिल बाटंकर खाने की सह नीति ही सुखकर है।

सम्पत्तिदान की मात्रा तथा उसका उद्‌देश्य :

परिवार के व्यक्तियों की संख्या औसतन पांच मानकर यदि परिवार में एक और व्यक्ति को दरिद्रनारायण के रूप में स्थान दिया जाय, तो इस प्रकार सम्पत्ति में छठा हिस्से के दान की बात कही गई थी । इस मापदण्ड को न मानते हुए दूसरा मापदण्ड भी विनोबा जी ने निर्धारित किया तथा पूरे परिवार पर होने वाले खर्च का छठा भाग। सम्पत्तिदान का कार्य इतना लचीला है कि दाता स्वयंम छठा, आठवां या दशवां भाग देने की बात निर्धारित कर सकता है। दान पत्र का प्रारूप भरते हुए भी अपनी अत:करण के प्रेरणा से कार्य करना होता है।

सम्पत्तिदान की रकम किसी दूसरे को सुपुर्द नहीं करनी पड़ती, बल्की उसे स्वयम् खर्च का उसका हिसाब भर देना होता है। इस धनराशि के खर्च के मद भी विनोबा जी ने निर्धारित कर दिया था । जिसका जिक्र किया जा चुका है ।

इन तीन उद्‌देश्यों के अतिरिक्त बेजवाड़ा में दिसम्बर 1955 में, सर्व सेवा संघ की सभा में यह निर्णय किया गया कि जिन क्षेत्रों या जिलो की भूदान समितियां केवल स्थानीय साधनों से अपना खर्च चलाना तय करें और प्रान्तीय समितियो के वजह से अपने खर्च की कोई मांग न करे, वहां उपर्युक्त तीनों मदों के अलावा भूदान कार्यालय के अन्य खर्चों के लिए भी सम्पत्तिदान की रकम का उपयोग किया जा सकता है। उनके अलावा विनोबा जी या सर्व सेवा संघ दूसरे उद्‌देश्यों को भी शामिल कर सकेगे। बाद में यह भी निर्णय लिया गया कि दाता चाहे तो सम्पत्तिदान की रकम में से एक तिहाई तक का हिस्सा, अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे समाज हित के कामो में खर्च करें।

सम्पत्तिदान के कुछ विषेष उपयोगों के सम्बन्ध में भी विचार किया गया और निर्णय लिया गया कि यदि कोई स्वर्ण किसी हरिजन बालक को अपने घर में अपने परिवार का मानकर उनकी जिम्मेदारी उठाये तो उस हद तक उस पर होने वाला खर्च सम्पत्तिदान माना जाय ।

इसके अलावा जहां संस्थाओं में कार्यकर्ता या शिक्षक एकत्र रहते हैं और उनके वेतन आदि में निश्चित ग्रेडो के हिसाब से एक दूसरे में काफी अंतर रहता है।वहा अगर वे सभी अपनी आय एक ज़गह इकट्ठी कर लें और फिर प्रत्येक सदस्य की परिवार संस्था के हिसाब से बांट ले तो यह सम्पतिदान का उत्तम स्वरुप होगा ।

गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम :

समग्र ग्रामीण विकास के कल्पना की आधारशिला गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में निहित है। यदि हम उन पर विचार कर उनके माध्यम से ग्रामीण विकास की योजनाओं का कार्यक्रम चलायें तो निश्चित रूप से गांवो का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकेगा । भारत के गांवों के विकास से ही देश का विकास हो सकेगा। भारत गांवो का देश है। गांधी जी की धारणा रही है कि गांवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी । अन्य सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होगे । गांवविहीन भारत का कोई अस्तित्व नहीं हैं। गांधी जी का स्पष्ट विचार था कि अगर गांव नष्ट हो जांय तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायेगा । यह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायेगा । सच तो यह है कि हमें गांव वाला भारत और शहर वाला भारत इन दो में से एक को चुन लेना है, देहात उतने ही पुराने हैं जितना कि यह भारत पुराना है। लेकिन आज तो शहरों का बोल बाला है जो गांवों की सारी दौलत खीच लेते हैं जिससे गांव का ह्रास और नाश हो रहा हैं।गांवो का शोषण खुद एक संगठित हिंसा है। अगर हमें स्वराज्य की रचना अहिंसा के पाये पर करनी है तो गांवों को उनका उचित स्थान देना ही होगा । शहर वासियो का ख्याल है कि भारत शहरों में ही है और गांवो का निर्माण शहरों की जरूरते पूरी करने के लिए ही हुआ है। हमने यह भी सोचने की तकलीफ नहीं उठायी कि उन गरीबों को पेट भरने जितना अन्न और शरीर ढकने जितना कपड़ा मिलता है या नहीं, धूप तथा वर्षा से बचने के लिए उनके सिर पर छप्पर है या नहीं । रोटी, कपड़ा व मकान जैसी तीन मूलभूत आवश्यकतायें प्रत्येक मनुष्य की है इनकी पूर्ति तो होनी ही चाहिये । लेकिन इसके विपरीत सभी ने स्वीकार किया है कि काफी आबादी लगभग भुखमरी की हालत में रहती है, दस प्रतिशत अधभूखी रहती है और लाखो लोग चुटकी भर नमक और मिर्चा के साथ मशीनों का पालिस किया हुआ निःसत्व चावल या रुखा सूखा अनाज खाकर अपना गुजारा चलाते हैं ।

हमारी आबादी का लगभग पचहत्तर प्रतिशत कृषिजीवी हैं, लेकिन यदि हम उनसे उनकी मेहनत का सारा फल खुद छीन ले या दूसरों को छीन लेने दें, तो यह नहीं कहा जा सकता कि हममें स्वराज्य की भावना काफी मात्रा में है।[1]

गांधी जी की कल्पना थी कि भारत का गांव ऐसा होगा कि अपनी अहम जरुरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नही करेगा और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतो के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिर्वाय होगा, वह परस्पर सहयोग से काम लेगा।[2]

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत , पृ० 27-28
2. गाँधी : हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण

गांव निम्न बातो के अनुरूप होगा :

1. तमाम अनाज व कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर सकें ।
2. बच्चो के मन बहलाव के साधन व खेल-कूद के मैदान वगैरह का बन्दोबस्त हो सके ।
3. फाजिल भूमि में जानवर चर सके ।
4. गांव, गांजा, तम्बाकू, अफीम, की खेती से बचें ।
5. उपयोगी फसलों को बोकर आर्थिक लाभ प्राप्त करें ।
6. गांव में नाटकशाला, पाठशाला व सभा भवन होगा ।
7- पानी का उसका इन्तजाम होगा वाटर वर्क्स होगा ।
8. बुनियादी तालीम की आखरी दर्जे तक की शिक्षा सबके लिये लाजिमी होगी।
9. जात-पात, अस्पृश्यता जैसे भेदभाव बिल्कुल न होगे ।
10. पंचायत होगी ।
11. प्रत्येक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गांव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटेगा ।

गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में ही उनके सपनों के भारत की रूपरेखा विद्यमान है। चूंकि गांवों से हटकर भारत का कोई अस्तित्व ही उनके नजरों में नहीं था अतः उनके रचनात्मक कार्यक्रम भारत के सर्वांगीण विकास के लिए है जिनमें गांवोका स्वतः विकास निहित है।गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमो के बिना आज की परिस्थितियों में भी गांवो का वास्तविक विकास सम्भव नही हैं ।

कौमी एकता :

कौमी एकता का मतलब सिर्फ राजनीतिक एकता नहीं है। सच्चे माने में तो वह एक दिली दोस्ती है, जो तोड़े न टूटे। इसके लिये यह जरूरी है कि हम अपने आपको हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी सभी कौमों का नुमाइन्दा समझें । हम सभी धर्म वालो से निजी दोस्ती बढ़ाये और सभी धर्मो का वैसा ही आदर करें जैसा अपने धर्म का करते है ।

बिना कौमी एकता के किसी गांव, राष्ट्र का विकास हो ही नहीं सकता है इसलिए गांधी जी ने इस बात को अपने रचनात्मक कार्यक्रम में प्रथम स्थान दिया है

मुसलमान अगर समझे कि हम हिन्दुओ को मिटा देगे और हिन्दू समझे कि हम मुसलमानों को मिटा देंगे तो उसका नतीजा आखिर क्या होगा । आपसी मतभेद चाहे वह कौम के नाम हो, जाति के नाम पर हो, किसी प्रकार का भी संघर्ष होता है

तो गांव का विकास नहीं हो सकेगा । आपस की लड़ाई ने गांव व देश का बहुत बड़ा नुकसान किया है ।

गांधी जी की धारणा रही है कि कोई गाली दे तो गाली जवाब में न दें । इससे वातावरण बिगड़ता है हिंसा तो अहिंसा से ही शान्ति होती है। इस बात में कोई भी बहादुरी नही है कि हिंसा का जवाब हिंसा से दें। संस्कृत में कहावत है -

"क्षमा-वीरस्य-भूषणम्" अर्थात क्षमा करना वीरो का आभूषण है ।

साम्प्रादायिक द्वेष के कारण हिंसा के फलस्वरुप हिन्दुस्तान जलेगा, तो नुकसान किसका होगा ।

इस सभी बातों से स्पष्ट होता है कि बिना कौमी एकता के गांवों का विकास नहीं हो सकता है यदि गांवो का विकास होना है तो कौमी एकता प्रथम मूलभूत आवश्यकता है।

"शास्त्रों में कहा गया है कि जो दूसरे धर्म की निन्दा करता है वह अपने धर्म की निन्दा करता है।"

जरूरत इस बात की है कि अपने धर्म के प्रति अपने मन में जितना प्रेम है ठीक वैसा ही प्रेम आप दूसरे धर्म से करे ।

गांधी जी ने अपने इस रचनात्मक कार्यक्रम में स्पष्ट किया है कि हमारे स्कूलों में और कालेजों में न हिन्दुओं और गैर हिन्दुओं के लिए पानी पीने के अलग-अलग बरतन होगे और न कौमी कालेज या कौमी अस्पताल होंगे ।

अतः गांवों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामवासी सभी धर्मों का सम्मान करे, आपस में भाई चारे का बरताव करें । एक कौम दूसरे कौम की भलाई की बात सोचे और करे । पूरे ग्रामवासी आपस में मिलजुलकर गांव के कल्याण के लिए कार्य करे तभी उनका, उनके गांव का तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास होगा । जब देश गुलाम था तो अंग्रेजों ने भारत की जनता में विभिन्न कौमों का, धर्मो के नाम उठाया, लेकिन इसमें गावों का बहुत बड़ा नुकसान हुआ । गांवों की तरक्की में काफी रुकावट आयी । आज भी भारत में साम्प्रदायिकता के नाम पर जगह-जगह तोड़-फोड़, आगजनी, संघर्ष होता है जिससे वहां के लोगों की जान-माल की क्षति उठानी पड़ती है तथा साथ ही इनका प्रभाव भारत के अन्य क्षेत्रों के निवासियों पर भी पड़ता है जिसे देखते-देखते वहां भी आग की तरह हिंसा भड़क उठती है ।[1]

अतः सही माने में गांवों का विकास करना हो तो पहली कार्यवाही करनी होगी कि गांवो के लोग इस कौमी एकता की बात समझें। इसके बाद तो निश्चित रुप से गांव के विकास के लिए जो भी कार्य किया जायेगा, उसका लाभ उन्हें मिलेगा, वे खुशहाल होगे, एक दूसरे के दुख सुख में भाग लेंगे । एक दूसरे के जान-माल की रक्षा करने में अपनी जान देने के लिए तैयार रहेगे ।[2]

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृ० 9-11
2. बेन, मनु : बिहार कौमी आग में

अस्पृश्यता निवारण:

गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में अस्पृश्यता निवारण दूसरे स्थान पर है। अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम एक संगठित समाज के निर्माण के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है।

आजकल हिन्दू धर्म में तो अस्पृश्यता देखने में आती है, वह उसका एक अमिट कलंक है, मै यह मानने से इन्कार करता हूँ कि यह हमारे समाज में स्मरणतीतकाल से चली आयी है कि अस्पृश्यता की यह घृणित भावना हमलोगों में तब आयी होगी, जब हम अपने पतन की चरम सीमा पर रहें होंगे और तब से बुराई हमारे साथ लग गयी और आज भी लगी है। मैं मानता हूँ कि यह भयंकर अभिशाप है और यह अभिशाप जब तक हमारे साथ रहेगा तब तक मुझे लगता है इस पावन भूमि में हमें जब भी तकलीफ सहना पड़ेगा, वह हमारे इस अपराध का, जिसे हम आज भी कर रहे हैं, उचित दण्ड होगा।

मेरी राय में हिन्दू धर्म में दिखायी पड़ने वाला अस्पृश्यता का वर्तमान रूप ईश्वर और मनुष्य के खिलाफ किया गया भयंकर अपराध है और इसलिये वह एक ऐसा विष है जो धीरे धीरे हिन्दू धर्म के प्राण को ही निःशेष किये दे रहा है।

भारत में हम आज जैसी अस्पृश्यता देख रहे हैं, वह एक भयंकर चीज है और उसके हर एक प्रान्त में, यहाँ तक कि हर एक जिले में अलग-अलग कितने रूप है। उसमें अस्पृश्यता और स्पृश्यों दोनों को नीचे गिराया है। उसने करोड़ों मनुष्यों का विकास रोक रक्खा है। उन्हें जीवन की सामान्य सुविधायें भी नहीं दी जाती। इसलिये इस बुराई का जितनी जल्दी निर्मूल कर दिया जाय उतना ही हिन्दू, धर्म, भारत और शायद समग्र मानव जाति के लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा

अस्पृश्यता पुरानी भले ही हो वह अनिष्ट है। इस बात से कभी किसी ने इन्कार नहीं किया है कि अस्पृश्यता एक पुरानी प्रथा है। लेकिन यदि वह एक अनिष्ट वस्तु है तो उसकी प्राचीनता के आधार पर उसका बचाव नहीं किया जा सकता है। यदि अस्पृश्य लोग आर्यो के समाज से बाहर हैं तो इसमें उस समाज की ही हानि है।

यदि अस्पृश्यों को अस्पृश्य इसलिये माना जाता है कि वे जानवरों को मारते हैं और मांस, रक्त, हड्डियां और मैला आदि छूते हैं तब तो हर एक नर्स और डाक्टर को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिये और इसी तरह मुसलमानों, इसाईयों और तथा कथित ऊँचे वर्गों के उन हिन्दुओं को भी अस्पृश्य माना जाना चाहिये जो आहार अथवा बलि के लिये जानवरों की हत्या करते हैं। कसाईखानो, शराब की दुकानें, वेश्यालय आदि बस्ती से अलग होते हैं या होने चाहिये। कसाईखाने और ताड़ी शराब की दुकानें आदि जरूर बस्ती से दूर तथा अलग होते हैं और होने चाहिये लेकिन कसाईयों और ताड़ी अथवा शराब के विक्रेताओं को शेष समाज से अलग नहीं रखा जाता है।

हम आन्तरिक प्रलोभनों तथा मोह में लिप्त हैं और अत्यन्त निकृष्ट और पापपूर्ण विचारों के प्रवाह हमारे मन में चलते हैं और उसे कलुषित करते हैं। भगवान के दरबार

में हमारी अच्छाई - बुराई का निर्णय इस बात से नहीं किया जायेगा कि हम क्या खाते पीते रहे हैं, या कि हमें किस-किसने छुआ है, उनका निर्णय तो इस आधार पर किया जायेगा कि हमने किन- किन की सेवा की है और यदि हमने एक भी दीन दु:खी आदमी की सेवा की होगी तो हमें भगवान की कृपा दृष्टि प्राप्त होगी। अमुक वस्तुएं न खाने की बात का उपयोग हम कपट, जाल, पाखण्ड और उससे भी अधिक पापपूर्ण कार्यो को छिपाने के लिये नहीं कर सकते। इस आशंका से कि कहीं उनका स्पर्श हमारी अध्यात्मिक उन्नति में बाधक न हो हम किसी पतित अथवा गन्दी रहन-सहन वाले भाई बहन की सेवा से इन्कार नही कर सकते।

जिस समाज में भंगी का अलग पेशा माना गया है वहां कोई बड़ा दोष पैठ गया है, ऐसा मुझे वर्षो से लगता रहा है कि इस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढ़ाने वाले काम को सबसे नीच काम पहले किसने माना, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने भी माना उसने हम पर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी है, यह भावना हमारे मन में बचपन से ही जग जानी चाहिये और उसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो समझ गये हैं वे शरीर श्रम का आरम्भ पाखाना सफाई से करें।[1]

हर हिन्दू को समझना चाहिये कि छुआ छूत निवारण और हरिजनों का काम हमारा अपना ही काम है। हर हिन्दू को चाहिये कि वह हरिजनों को अपनाये, उनके साथ दोस्ती बढ़ाये और उनकी सुख दु:ख में भाग लें।[2]

इसी क्रम में गांधी जी ने स्पष्ट किया है कि मैं जात-पात को नहीं मानता। यह समाज का फालतू वर्गीकरण है और तरक्की के रास्ते में रुकावट जैसा है। इसी तरह आदमी के बीच; ऊँच-नीच का भेद भी नहीं मानता। हम सब पूरी तरह बराबर हैं लेकिन बराबरी आत्मा की है शरीर की नहीं। इसलिये यह मानसिक अव्यवस्था की बात है।[3]

हरिजनो के मामले में तो हर एक हिन्दू को यह समझना चाहिये कि हरिजनों का काम उसका अपना काम है और उसमें उसकी मदद करनी चाहिये और जिस अकुलाने वाली व भयानक अलहदगी में उन्हें रहना पड़ता है, उसमें उनके साथ शामिल होना चाहिये। ऐसा कौन है जो इस बात से इनकार करेगा कि हमारे हरिजन भाई बहनों को शेष हिन्दू अपने से दूर रखते हैं और इनकी वजह से हरिजनों को जिन्हें भयावनी व राक्षसी अलहदगी का सामना करना पड़ता है, उसकी मिशाल तो दुनिया में कहीं ढूढें भी नहीं मिलेगी।

इस प्रकार गांधी जी के इस रचनात्मक कार्यक्रम से स्पष्ट है कि अस्पृश्यतारूपी अभिशाप को समाज से बिलकुल हटाना होगा तभी सही माने में गांव में आपस में प्रेम का सृजन होगा। सभी लोग मिल-जुल कर काम करेंगे।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 12-14
2. गाँधी : मेरे सपनों का भारत , पृष्ठ 115- 118
3. सम्पूर्ण गांधी वाङमय : खंड 7

गांधी जी इस रचनात्मक कार्यक्रम के तहत, भारत सरकार भी कार्य कर रही है। उसके कार्य प्रणाली में अस्पृश्यता के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त है लेकिन समाज में अभी भी यह बुराई विद्यमान है जिसे और जबरदस्ती से नहीं बल्कि इसके लाभ व हानि को बताकर लोगों की गलत मानसिकता को दूर करके समाप्त किया जाय। बिना अस्पृश्यता निवारण के ग्रामीण विकास को सही दिशा देना सम्भव न हो सकेगा और सभी प्रयास निरर्थक सिद्ध होंगे।[1]

शराब बन्दी :

शराब बन्दी भी गांधी जी का रचानात्मक कार्यक्रम है।

अफीम, शराब वगैरह चीजों के व्यसन में फंसे हुये अपने करोड़ो भाई बहनों के भविष्य को हम सरकार की मेहरबानी या मरजी पर झूलता नहीं छोड़ सकते। हमें इन व्यसनों के पंजे में फसे हुये लोगों को छुड़ाने के उपाय निकालने होगें।[2]

गांधी जी शराब व नशीली चीजो के सेवन जैसे भयानक व्यसन को समाप्त करने के लिये बराबर अपने विचार व्यक्त करते रहे, जो इस प्रकार है।

'शराब और नशीली चीजों से, जो उनका उपयोग करता है और जो उनका व्यापार करता है, दोनों का पतन होता है। शराबी माता-पिता, बहन और पत्नी का भेद भूल जाता है और वह ऐसे गुनाह कर बैठता है जिसके लिये यदि वह होश में हो तो उसे बड़ी शरम मालूम हो ।[3] शराब और अफीम आदि दूसरी नशीली चीजें शैतान के दो हथियार हैं। उनसे वह अपने असहाय गुलामों को मारकर उनकी वृद्धि हर लेता है और उन्हें नशे में चूर कर देता है।[4] शराब और मादक द्रव्यों से होने वाली हानि अनेक दृष्टियों से मलेरिया आदि बीमारियों के कारण होने वाली हानि की अपेक्षा भी असंख्य गुनी ज्यादा है। कारण बीमारियों से तो केवल शरीर को ही हानि पहुँचती है जबकि शराब आदि से शरीर और आत्मा दोनों का नाश हो जाता है।[5]

"मैं भारत का कंगाल हो जाना पसंद करूंगा लेकिन यह बरदास्त नहीं कर सकता कि हमारे हजारों लोग शराबी हो।"

"जो राष्ट्र शराब की आदत का शिकार है कहना चाहिये कि उसके सामने विनाश मुंह बाये खड़ा है।"[6]

---

1. गाँधी : रचानात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 13, एवं मेरे सपनो का भारत, पृष्ठ 119
2- गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ -14
3 हिन्दी नवजीवन : 4- 2- 1926
4. हिन्दी नवजीवन : 22 -4- 1926
5. यंग इण्डिया : 2- 3- 1926
6. यंग इण्डिया : 11- 4- 1929

"छोटी मोटी चोरी की अपेक्षा मद्यपान ज्यादा बड़ा अपराध है।"

"शराब पी लाल पानी में जा पड़ना, धधकती भट्टी या बाढ में जा पड़ने से भी ज्यादा खतरनाक है। शराब शरीर व आत्मा दोनों का नाश करती है।"

"शराब व नशीली चीजें अपने व्यवसायिओं के नैतिक कल्याण को जड़ से खोद देती है। जिनके पति शराबी हैं वे स्त्रिया ही जानती है कि जो घर और परिवार सुव्यवस्थित और शान्तिदायक थे उनकी शराब के व्यसन ने कैसी भयंकर बरबादी कर दी है।"[1]

"शराब पैसा छीन लेती है उनकी बुद्धि हर लेती है।"[2] शराब खोरी के प्रति उपरोक्त विचार महात्मा जी के हैं। जिससे स्पष्ट है कि इस एक के विनाशकारी प्रभाव से बचने के लिये पूर्ण शराब बन्दी की आवश्यकता है तभी इसके भयंकर परिणाम से बचा जा सकता है और गांव का विकास हो सकेगा।

आस्ट्रेलिया के डॉ० जान बिरेल का कहना है कि यदि कुछ देशों में पूर्णतः मद्य निषेध लागू कर दिया जाय तो अपराधों की संख्या इतनी कम हो जायेगी कि पुलिस को हाथ पर हाथ धरें बैठे रहना पड़ेगा। पचहत्तर प्रतिशत कार दुर्घटनायें ड्राईवरों के नशे में धुत होने के कारण होती है। पच्चीस प्रतिशत हत्याये शराब पीने के बाद हुए झगड़ो में की जाती है। डॉ० बिरेल का मत है कि विक्टोरिया राज्य में शराब ही अधिंकाश अपराधों की जड़ है।[3]

गांधी जी का कहना है कि यदि मुझे एक घंटे के लिये भारत का डिक्टेटर बना दिया जाय तो मेरा पहला काम यह होगा कि शराब की दुकानों को बिना मुआवजा दिये बन्द करवा दिया जाय और कारखानों के मालिकों को अपने मजदूरों के लिये मनुष्योचित परिस्थितियां निर्माण करने तथा उनके हित में ऐसे उपहार गृह और मनोरंजन गृह खोलने के लिये मजबूर किया जाय, जहां मजदूरों को ताजगी देने वाले निर्दोष पेय और उतने ही निर्दोष मनोरंजन प्राप्त हो सके।[4]

आपको ऊपर से ठीक दिखायी देने वाली इस दलील के भुलावे में नहीं आना चाहिये कि शराब बन्दी और जबरदस्ती के आधार पर उन्हें इनकी सुविधायें मिलनी ही चाहिये। राज्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है कि वह अपनी प्रजा की कमियों के लिये अपनी ओर से सुविधाये दे। हम वेश्यालयों को अपना व्यापार चलाने के लिये अनुमति पत्र नहीं दे इसी तरह हम चोरों को अपनी चोरी की प्रवृत्ति पूरी करने की सुविधायें नहीं देते। मैं शराब को चोरी और व्यभिचार दोनों से ज्यादा निकृष्ट मानता हूँ। क्या वह अकसर इन दोनों बुराइयों की जननी नहीं होती ?[5]

---

1. यंग इण्डिया : 10 -4-1930
2. कादम्बनि : जनवरी, 1985
3. कादम्बनी : जनवरी, 1985
4- गाँधी : मेरे सपनो का भारत, पृष्ठ 113
5. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 114

शराब बन्दी के फलस्वरुप यह कहा जाता है कि शासन को इससे प्राप्त होने वाली आय में कमी होगी। इस प्रकार की आय या कर नीचे गिराने वाला कर है। यह धंधा नैतिक, मानसिक, शारीरिक पतन और भ्रष्टता के लिये कर देने को मजबूर करता है। शराब बन्दी से राष्ट्र को फायदा होगा व आर्थिक लाभ भी होगा।[1]

ग्राम्य विकास कि लिये जरुरी है कि ग्रामवासी इस प्रकार के दोष से मुक्त रहें। यदि सही माने में गांव का उत्थान करना है तो शराब बन्दी जैसे कार्यक्रमो को लागू करना होगा लेकिन दुःख की बात है कि आज देश को स्वतंत्र हुये 48 वर्ष हो गये हैं फिर भी गांधी जी के इस रचनात्मक कार्यक्रम को हमारी लोकप्रिय सरकार क्रियान्वित करने में विफल रही है। जिसका कुफल ग्रामवासियों व देशवासियों को भुगतना पड़ रहा है।

बीड़ी सिगरेट :

गांधी जी ने हरिजन में लिखते हुये कहा कि शराब की तरह बीड़ी और सिगरेट के लिये भी और उनके मन में गहरा तिरस्कार है। यह मनुष्य के विवेक बुद्धि को जड़ बना देती है और अक्सर शराब से भी ज्यादा विनाशकारी सिद्ध होती है क्योंकि उसका परिणाम अप्रत्यक्ष रूप से होता है। इसके सिवा वह खर्चीली भी है। वह मुंह को दुर्गन्धयुक्त बनाती है, दातों का रंग बिगाड़ती है और कभी-कभी कैंसर जैसी भयानक बीमारियों को जन्म देती है। इस प्रकार की बुराई को भी ग्रामवासियों को छोड़ना है क्योंकि इनसे उनका कोई भी लाभ नहीं हो सकेगा।

जरूरत इस बात की है कि गांवों में आनन्द - विनोद के ऐसे केन्द्र या विश्राम गृह खोले, जहां थके मादे मजदूर अपने अंगो को आराम दे सकें। साफ और तन्दुरुस्ती बढ़ाने वाले पेय या नाश्ते की सस्ती चीजें पा सकें और अपनी पसन्द व पहुंच के खेल तमाशों में शरीक हो सकें। यह सारा काम मन को बहुत आकर्षित करने वाला है। आज आजादी तो मिल गई है लेकिन देखा जाय तो नागरिकों की स्थाई, निर्दोष और सच्ची मुक्ति नहीं मिली है। यह तो तभी होगा, जब दिल से मद्यपान जैसी बुराई को छोड़ दिया जाय। इस प्रकार के कार्य से ही सही माने में आत्म शुद्धि मिलेगी। यदि इस प्रकार का कार्य शासन व स्वयं सेवी संस्थाओं एवं वुद्धिजिवियों द्वारा किया जाता है तो शराब के प्रति नागरिकों में नफरत पैदा होगी और वे इनसे दूर रहने के लिये तैयार होगें।

खादी :

गांधी जी के चौथे रचनात्मक कार्यक्रम में खादी का स्थान है। खादी का मतलब है देश के सभी लोगों की आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का आरम्भ। लेकिन कोई

1. गाँधी : शराब बन्दी होनी चाहिये

चीज कैसी है, तो उसको परखने से जाना जा सकता है। पेड़ की पहचान उसके फल से होती है। इसलिये मैं जो कुछ कहता हूँ उसमें कितनी सच्चाई है यह हर एक स्त्री - पुरुष अमल करके जान लें। साथ ही खादी में जो चीजें समाई हुई हैं उन सबके साथ खादी को अपनाना चाहिये। खादी का एक मतलब है कि हममें से हर एक को सम्पूर्ण स्वदेशी की भावना बढ़ानी और टिकानी चाहिए। यानि हमें अपने जीवन की सभी जरुरतों को हिन्दुस्तान की बनी चीजों से और उनमें भी हमारे गांव में रहने वाली आम जनता की मेहनत और अकल से बनी चीजों के जरिये पूरा करेंगे ऐसा सोचना चाहिये। इससे हमारा गांव स्वावलम्बी और स्वयं पूर्ण बनेगा और अपनी राजी खुशी से हिन्दुस्तान के शहरों और बाहर की दुनिया के लिये हम इस तरह उपयोगी बनेगें कि दोनों पक्षों को फायदा पहुंचेगा।

मेरे विचार में खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता की और समानता की प्रतीक है इसके लिये जवाहर लाल के काव्यमय शब्दों में कहूँ तो वह हिन्दुस्तान की आजादी की पोषक है।

फिर खादी वृत्ति का अर्थ है जीवन के लिये जरूरी चीजों की उत्पत्ति और बटवारे का विकेन्द्रीकरण । इसलिये अबतक जो सिद्धान्त बना है वह यह है कि हर एक गांव को अपनी जरूरतो की सब चीजे खुद पैदा कर लेनी चाहिये तथा शहरों की जरूरतें पूरी करने के लिये कुछ अधिक उत्पत्ति करनी चाहिये।

खादी के काम को आगे कैसे बढ़ाया जाय :

खादी के उत्पादन में ये काम शामिल है। कपास बोना, कपास चुनना, उसे झाड़ फटक कर साफ करना और रुई ओटना, रुई पींजना, पूनी बनाना, सूत कातना, सूत को माड़ लगाना, सूत रंगना, उसका ताना भरना और बाना तैयार करना सूत बुनना और कपड़ा धोना। इनमें से रंग-साजी को छोड़कर बाकी के सारे काम खादी के सिलसिले में जरुरी और महत्व के हैं। उन्हें किये बिना काम नहीं चल सकता है।

इनमें हर एक काम गांवो में अच्छी तरह हो सकता है और सच तो यह है कि अखिल भारत चरखा संघ समूचे हिन्दुस्तान कि जिन कई गांवों में काम कर रहा है वहां ये सारे काम आज हो रहे है। संघ के दिलचस्प आंकड़े इस प्रकार हैं:

सन् 1940 में 13,451 से भी, अधिक गांवों में फैले हुये 2,75,146 देहातियों को कताई, पिजाई, बुनाई वगैरह मिलाकर कुल 34, 85, 609 रुपये मिलाकर बतौर मजदूरी के मिले थे। इनमें 19, 645 हरिजन और 57, 378 मुसलमान थे और कातने वालों में ज्यादा तादाद औरतों की थी।[1]

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 16-18

गांधी जी ने अपने भाषणो में लोगों को अवगत कराया कि एक नौसिखिये द्वारा 30 मिनट में 100 गज सूत काता जा सकता है जबकि अभ्यस्त, 30 मिनट में 200 गज सूत कात सकता है। यदि प्रति वर्ष 20 गज कपड़े की जरूरत है तो उस हालत में उसे प्रतिदिन अधिक से अधिक एक घंटा कातने की जरूरत पड़ेगी।

पूरे भारत के लोगों को कपड़ा जुटाना है तो उसके लिये देश की आबादी के पंचमांश को प्रतिदिन अधिक से अधिक पांच घण्टे कातना होगा। गांधी जी कहा करते थे कि चरखा अमर है। जिस प्रकार आक्सीजन व हाइड्रोजन मिलकर पानी बनता है उसी प्रकार चरखा व भाईचारा मिलकर अहिंसा का शर्त व चिन्ह बनाता है।[1]

गाँधी जी के विचार से खादी ही क्यों :

क्योंकि खादी केन्द्र में स्थिति सूर्य है और दूसरे ग्रामोद्योग ग्रहों की तरह उसके चारो तरफ घूमते हैं। उनकी कोई स्वतंत्र-हस्ती नहीं है। साथ ही वे खादी भी दूसरे ग्रामोद्योग के बिना जी नही सकती। ये सब पूरी तरह एक दूसरे पर निर्भर हैं। सच तो यह है कि हमें गांव वाला भारत या शहरों वाला भारत इनमें से एक चुनना है। गांव यहां उसी समय से है जब से देश है। शहरों को विदेशी अधिपत्य से बनाया है। आज गांव पर शहरों का प्रभुत्व कायम है और वे उनका शोषण कर रहें हैं। नतीजा यह है कि गांव नष्ट होते जा रहे हैं। मेरी खादी वृत्ति मुझसे कहती है कि विदेशी सत्ता की समाप्ति के साथ शहर भी गांवों के सेवा के साधन बनने चाहिये। गांवो का शोषण खुद संगठित हिंसा है। खादी गांवो की मुख्य दस्तकारी है।[2]

गांधी जी के उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि यदि गांव को बचाना है तो खादी के प्रचार व प्रसार पर विकास कार्यक्रम में विशेष, बल देना होगा और इसे गावों में तेजी से प्रभावकारी तरीके से लोगों को अपनाने के लिये प्रेरित करना होगा व आवश्यक सुविधा उपलब्ध करानी होगी।

खादी के लिये गांधी जी द्वारा धन की मांग :

यदि खादी में आप का सचमुच विश्वास है और आप ने चरखे का सन्देश समझ लिया है तब और केवल तभी मैं आप से चाहूँगा कि आप अपने विशाल धन कोष से थोड़ा नहीं, बल्कि काफी अंश निकाल कर दें।[3]

खादी लाखों क्षुधाग्रस्त लोगों का प्रतिनिधित्व करती है और जिन लोगों के पास धन या सत्ता है वे अपने धन या शक्ति के मद में इन लाखों उदार लोगों को भूल न

1. हरिजनः 9 -12 - 1939
2. हरिजनः 20- 1- 1940
3. सम्पूर्ण गांधी, वांङमय : खंड 5

जाय, इसलिये इनके हित करने से आप स्वयं विदेशी वस्त्रों को त्याग देगें तब आप चाहेगें तो अच्छी खादी मिल सकेगी । मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप खादी की प्रगति के लिए जो एक रुपया भी देते हैं। उसका अर्थ है 16 स्त्रियों को एक जून का भोजन जिसे कि उन्होनें मेहनत करके कमाया है। अच्छादान वही है जो सुपात्र को दिया जाय। जो कार्य कर सके उसे मुफ्त में भोजन देना उचित नहीं है।[1]

गांधी जी की स्पष्ट धारणा रही है कि यदि आप खादी नहीं पहनते हैं तो गरीबों से खादी तैयार करवाना बेकार है।

खादी जोड़ने वाली कड़ी है:

गांधी जी ने चरखा व खादी को स्वराज्य के आन्दोलन से तो जोड़ा ही, उसे समस्त रचनात्मक कार्यक्रमों के केन्द्र में स्थान दिया। समाज की नवरचना के लिये बापू ने अस्पृश्यता निवारण, चिकित्सा, एकता, नशाबन्दी, कुष्ठसेवा, प्राकृतिक चिकित्सा आदि जितने भी रचनात्मक कार्यक्रम खड़े किये, खादी इन सबको जोड़ने वाली कड़ी के रुप में विकसित होती गयी।

स्वतंत्रोत्तर खादी आन्दोलन :

स्वतंत्रता के पश्चात हमारी राष्ट्रीय सरकार ने पांच वर्षीय योजनायें बनायी। नियोजित विकास का सिलसिला देश में शुरू हुआ। गरीबी व बेरोजगारी मिटाना, विषमता हटाना और स्वावलम्बी- भारत का निर्माण करना, योजनाओं का लक्ष्य बनाया गया। योजनाकारों को ऐसा प्रतीत हुआ कि ग्रामीण क्षेत्र में फैली आशिंक बेरोजगारी के निवारण में खादी ग्रामोद्योग का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। इसलिये अखिल भारत खादी ग्रामोद्योग बोर्ड तथा बाद में अखिल खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग बनाया गया। राज्यों ने राज्य खादी ग्रामोद्योग बोर्ड बनाये । इस प्रकार खादी आन्दोलन में शासन के आर्थिक सहयोग का नया तत्व स्वराज्य के पश्चात आया जो अंग्रेजी राज्य में नहीं था। इसके फलस्वरूप देश में खादी का उत्पादन नही होता था वहां भी अम्बर चर्खा आदि नये साधनों के पहुंचने से उत्पादन होने लगा । नये-नये क्षेत्रों में खादी बिक्री भंण्डार खोले गये हैं।[2]

कार्य एवं क्षेत्र विस्तार :

आज देश भर में 1500 प्रामाणित खादी संस्थायें है जो प्रति वर्ष 110 करोड़ की लगभग 9 करोड़ मीटर सूती, ऊनी तथा रेशमी खादी का उत्पादन कर रही है और लाख तकली बुनकर तथा अन्य कारीगरों को पूर्ण कालिक या अंशकालिक रोजगार

1. गांधी जी का भाषणः अमरावती में, 22 सितम्बर, 1927
2. साधक, शरद कुमार : राजनीतिक का विकल्प, पृ० 327

प्रदान कर रही है । खादी उद्योग में आज लगभग 200 करोड़ की पूंजी लगी है और शासन से प्रतिवर्ष 25 करोड़ रुपये अनुदान के रूप में मिल रहे है । यह अनुदान मुख्यतः खादी खरीदने वालों को "रिवेट" के रूप में दिया जाता है ।[1]

खादी का भविष्य भारत का भविष्य :

अक्सर लोग सवाल उठाते हैं कि खादी का भविष्य क्या है? वस्तुतः भारत का भविष्य व खादी का भविष्य जुड़ा हुआ है । भारत का भविष्य ही नही ,वर्तमान भी खादी से जुड़ा हुआ है।

यदि हम अपने गांव के लिए कोई भी योजना करेगे तो उसमे ऐसा उद्योग सामने आयेगा ।

1- जो कम से कम पूंजी से चल सके ।

2- जो कम से कम तकनीकी कुशलता से चल सके ।

3- जिसे सब जाति, धर्म, पंथ के लोग बिना भेदभाव के चला सके ।

4- जो ऐसा उत्पादन करे, जिसकी खपत गांव में हो सके ।

5- जो खेती का पूरक उद्योग हो, जब खेती में काम न हो तब उसमे काम किया जा सके ।

6- जिसका कच्चा माल उपलब्ध हो सके ।

7- जिसे गांव के बूढ़े, बच्चे,बेवा आदी सब चला सकें।

8- जिसे गांव के लोग अपने घरों में या, घर की नजदीक चला सकें और भूमि भवन की भी कम से कम आवश्यकता हो ।

9 जिसे चलाने में मानवीय प्रतिष्ठा को कोई क्षति न पहुचे तथा

10 जिसमे कमसे कम उर्जा की जरुरत हो ।

गांव मे चलाये जा सकने वाले ऐसे उद्योगो के बारे में विचार करने पर खादी के अतिरिक्त अन्य दूसरे किसी उद्योग का ध्यान भी नहीं आ सकता । सूत-कताई और खादी भी एक मात्र ऐसा उद्योग है, जो हमारी ग्रामीण आवश्कताओ की पूर्ति कर सकता है ।[2]

दूसरे ग्रामोद्योग :

खादी के अलावा दूसरे ग्रामोद्योग को भी गांधीजी ने महत्वपूर्ण समझकर अपने रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल किया। इस प्रकार के धन्धे खादी के मुख्य काम में

---

1. साधक, शरद कुमारः राजनीति का विकल्प, पृ० 327
2. साधक, शरद कुमारः राजनीति का विकल्प, पृ० 329-330

सहायक हो सकते है । खादी के अभाव में उनकी कोई हस्ती नहीं है और उनके बिना खादी का गौरव या शोभा नही है । हाथ से पीसना, हाथ से कूटना और पछोरना, साबून बनाना, कागज बनाना, चमड़ा बनाना, तेल पेरना और इस तरह के सामाजिक जीवन के लिए जरूरी और महत्व के दूसरे धन्धे के बिना गांव की आर्थिक रचना सम्पूर्ण नही हो सकती है, यानि गांव स्वंय पूर्ण घटक नही बन सकते । हर हिन्दुस्तानी को इसे अपना धर्म समझना चाहिये कि हमेशा गांव की बनी चीजो को ही इस्तमाल मे लें। जब हमे गांव की बनी चीजें पसन्द आने लगेगी तो पश्चिम की नकल के रुप में यत्रों की बनी चीजें हमें नहीं जचेंगी और हम ऐसे राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेगे । जो गरीबी, भूखमरी और आलस या बेकारी से मुक्त नये हिन्दुस्तान के आर्दश के साथ मेल खाती होगी ।[1]

ग्रामीण विकास में गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम का आज भी उतना ही महत्व है जितना पहले था ।

गांवो की अर्थ रचना :

शहरों द्वारा ग्रामीणों का शोषण और उनकी सम्पति का हरण हो रहा है। गांधी जी के योजना के अन्तर्गत ऐसी कोई चीज शहरो द्वारा नहीं बनाने दी जायेगी, जो उतनी अच्छी तरह गांव में बनायी जा सकती है ।

गांव में फिर से जान तभी आ सकती है, जब वहां लूट-खसोट रुक जाये। गांव हर हाल में स्वावलंबी और स्वयंपूर्ण हो जाय, जिसके लिये हम सभी को प्रमाण करना चाहिए । गांवो को अपनी जरुरतें पूरी करने के लिए चीजें तैयार करनी चाहिये। ग्रामउद्योग के इस अंग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाये, तो फिर भले ही देहाती लोग आज कल के उन यन्त्रो और औजारो से भी काम ले सकते है, जिन्हे वे बना व खरीद सकते है । शर्त सिर्फ यही है कि दूसरो को लूटने के लिए उनका उपयोग नही होना चाहिये।

ग्रामोद्योग के योजना के पीछे गांधी जी की कल्पना तो यह रही है कि हमे अपने रोजमर्रा की आवश्कताएँ गांवो की बनी चीज से ही पूरी करनी चाहिये और जहां मालूम हो कि अमुख चीजे गांवो में मिलती ही नहीं, वहां हमे यह देखना चाहिये कि उन चीजो को थोड़े परिश्रम व लगन से बनाकर गांव वाले उनसे कुछ मुनाफा उठा सकते है या नही। मुनाफे का अंदाज लगाने में हमें अपना (निजी) नहीं, किन्तु पूरे गांव का ख्याल रखना चाहिये। सम्भव है कि शुरु में हमे साधारण भाव से कुछ अधिक देना पड़े और चीज हल्की मिले। पर अगर हम उन चीजो के बनाने वाले के काम में रस ले और यह आग्रह रखे की वे बढ़िया से बढ़िया चीजे तैयार करे और सिर्फ आग्रह ही न रखे, बल्कि उन लोगो की पूरी मदद भी दे, यह हो नही सकता की गांव की बनी चीजो में दिन

1. गाँधी : राजनीतिक कार्यक्रम विकल्प, पृ० 23

दुनी तरक्की न होती जाय। ग्रामोद्योग का यदि लोप हो गया तो भारत के सात लाख गांव का सर्वानाश ही समझे । गांव में बेकारी दूर करने के लिए ग्रामोद्योग का बहुत बड़ा योगदान सिद्ध हो सकता है।[1]

गांधी जी की स्पष्ट धारणा रही है कि यदि ग्रामवासियों को कुछ काम देना है, तो वह यंत्रो के द्वारा सम्भव नहीं है। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग धंधो को वे अब तक किसी तरह करते चले आ रहे हैं उन्ही को भली भांति जीवित किया जाय। उनका मानना था कि ग्रामोद्योग विरोधी नीति से ग्रामीण विकास संभव नहीं है। आज स्थिति यह है कि गांव की लक्ष्मी गांव से निकल कर शहरों में पहुँच रही है। सस्ता खरीदना और महंगा बेचना, इसको व्यापार कहा जाता है। इसी व्यापार का गांव शिकार हो रहा है। पिछले 35 वर्षो में शहरी उद्योगों ने जिनकी बड़ी-बड़ी कम्पनियां हैं गांव के बचे - खुचे उद्योगों का भी सफाया कर दिया है। चावल, दाल, तेल, चीनी, जूता, कपड़ा, थाली, लोटा, बच्चो का दूध, खिलौने जैसे बुनियादी आवश्यकता की चीजें भी शहरों से गांवों में जाती है जब कि हर चीज के लिये कच्चा माल गांवों में पैदा होता है। बड़े केन्द्रित उद्योगो की यह ग्राम विरोधी शोषण नीति स्वतंत्र भारत की हमारी सरकार चला रही है जिनसे ग्रामीण विकास में रुकावट उत्पन्न हो रहा है।[1] गांवो से व्यापारी फसल के समय अनाज, आलू, प्याज, मिर्चा आदि सस्ता खरीद लेते हैं और कुछ महीनों तक भंडार या कोल्ड स्टोरेज में रखकर बाद में महगें भाव पर बेचते हैं। सरकार जनता के प्रतिनिधियों की है, लेकिन जनता का शोषण नहीं रोक पा रही है। जिनके हाथ में बाजार है उनके हाथ में सरकार है।[2]

गांधी जी ने अपने जीवन काल में हमेशा इन शोषण की अर्थनीति के विरुद्ध आवाज उठायी थी। उन्होनें बार- बार कहा था कि भारत के शहरों ने गांवो का खून चूस लिया है। इसलिये ग्रामीण भारत के निर्माण के लिये खेती, पशुपालन, ग्रामोद्योग की मिली-जुली अर्थ नीति अपनायी जानी चाहिये। लेकिन गांधी जी की बात नही सुनी गयी। 1951 में जब पहली पंच वर्षीय योजना शुरु हुई तो गांधी जी के बताये रास्ते से बिल्कुल भिन्न रास्ता अपना लिया गया। अंग्रेजों की उपनिवेशवादी अर्थ- नीति कायम रखी गयी। बस इतना हुआ कि विदेशी उपनिवेशवाद का स्थान देशी उपनिवेशवाद ने ले लिया। वास्तव में आज की शहरी सभ्यता अपने बैभव के लिये हमारी हजारो वर्षो पुरानी ग्रामीण सभ्यता को तथा मानव जीवन के ऊँचे मूल्यों को, जो सदियों - सदियों में विकसित हुये थे, जड़ से नष्ट करने पर उतारू है। शहरी सभ्यता किसकी है अनुत्पादको की हमारे देश में अनुत्पादकों की सभ्यता को बढ़ावा दिया जा रहा है क्योंकि उनके हाथ में सत्ता है, सम्पत्ति है। इस प्रकार की प्रक्रिया को बन्द करना पड़ेगा तभी ग्रामीण भारत का विकास हो सकेगा।[3]

गांधी जी ने कहा है कि कारखानों की सभ्यता पर हम अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते स्वावलम्बी गांवों की बुनियाद पर ही वह किया जा सकता है। ग्रामीण आर्थिक

---

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 34- 35
2. राममूर्ति, आचार्य : किस ओर, पृष्ठ 9-11
3. राममूर्ति, आचार्य :किस ओर गाँव की लक्ष्मी, गांव की सरस्वती, गांव की शक्ति, पृष्ठ 15-16

रचना की जैसी मेरी कल्पना है उसमें शोषण बिल्कुल समाप्त हो जाता है और शोषण तो हिंसा का सार है। इसलिये अगर हमें अहिंसक बनना हो तो पहले ग्रामीण वृत्ति वाला बनना होगा। अहिंसा पर आधारित समाज गांवो में बसे हुए समुदायों का ही हो सकता है जहां स्वैच्छिक सहयोग का प्रतिष्ठित और शान्तमय जीवन, जीवन की अनिवार्य शर्त है।[1]

गांवों की सफाई :

श्रम और बुद्धि के बीच जो अलगाव हो गया है उसके कारण हम अपने गांवो के प्रति इतने लापरवाह हो गये है ।५ एक गुनाह तथा सामाजिक बुराई ही माना जा सकता है। नतीजा यह हुआ कि देश में जगह- जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गांवो के बदले हमें घूरे जैसे गांव देखने को मिलते हैं। बहुत से या कहिये कि करीब - करीब सभी गांवों में घुसते समय जो अनुभव होता है उससे दिल को खुशी नहीं होती और वहां इतना बदबू आती है कि अक्सर गांव में जाने वाले को आंख मूंदकर और नाक दबाकर जाना पड़ता है। हमने राष्ट्रीय या सामाजिक सफाई को न तो जरूरी गुण माना है और न उसका विकास ही किया। यों रिवाज के कारण हम अपने ढ़ग से वहा भर लेते हैं, मगर जिस नदी, तालाब या कुएं के किनारे हम श्राद्ध या वैसी ही दूसरी कोई धार्मिक क्रिया करते हैं और जिन जलाशयों में पवित्र होने के विचार से हम नहाते हैं, उनके पानी बिगड़ने या गन्दा करने में हमें कोई हिचक नहीं होती। हमारी इस कमजोरी को मैं एक बड़ा दुर्गुण मानता हूं। दुर्गुण का ही नतीजा है कि हमारे गांव की ओर हमारी पवित्र नदियों के पवित्र तटों की लज्ञा जनक दुर्दशा और गन्दगी से पैदा होने वाली बीमारियां हमें भोगनी पड़ती है। किसी भी गांव के विकास में उसकी स्वच्छता का विशेष महत्व है । गांधी जी के इस कार्यक्रम को और तेजी से चलाने की आवश्यकता है।

कूड़ा-करकटों को इक्ट्ठा कर देने से सफाई तो होती ही है साथ ही साथ इन कूड़ा का सदुपयोग किया जा सकता है ।

कूड़ो का वर्गीकरण :

1. कुछ को खाद बनावें ।
2. कुछ को जमीन में गाड़ दें ।
3. कपड़े के फटे पुराने चिथड़ों से तथा रद्दी कागजों से कागज बनाये जा सकते हैं ।
4. मूल-मूत्र खेतों के लिये खाद का कार्य करते हैं । अतः उसे एक फुट गहरा गड्ढा खोदकर जमीन में गाड़ देना चाहिये । इससे इधर-उधर की गंदगी समाप्त होगी तथा वायु प्रदूषण भी नहीं होने पायेगा ।

---

1. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 38

गाँव के कार्यकर्ता को सबसे पहले गाँव की सफाई और आरोग्य के सवाल को अपने हाथों में लेना चाहिये । अगर ग्राम सेवक स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाये तो वे प्रतिदिन मैला उठाकर उसकी खाद बना सकते हैं और गाँव का रास्ता बहार सकते हैं। ग्राम सेवक लोगों से कहें कि उन्हें पाखाना-पेशाब कहाँ करना चाहिये, किस तरह सफाई रखनी चाहिये, उसके क्या लाभ हैं और उसके न रखने से क्या -क्या नुकसान होते हैं ? गाँव के लोग उनकी बात सुनें या न सुनें वे अपना काम बराबर करते रहें ।

अगर कार्यकर्ता लोग नौकर रखे हुये भंगियों की भाँति खुद सफाई का कार्य करना शुरू कर दें और साथ ही गाँव वालों को यह भी बतलाते रहें कि उनसे सफाई के कार्य में शरीक होने की आशा रखी जाती है ताकि आगे चलकर अन्त में सारा काम गाँव वाले स्वंय करने लग जाय तो यह निश्चित है कि आगे या पीछे गाँव वाले इस कार्य में अवश्य सहयोग देने लगेगें ।

कोई भी ग्रामवासी कम से कम इतना काम तो खुद भी कर ही सकता हैं कि मल-मूत्र को एकत्र करके, उसको अपने लिये सम्पति में परिवर्तन कर दें । आजकल तो यह सारी कीमती खाद, जो लाखों रुपये कीमत की है प्रतिदिन व्यर्थ जाती है और बदले में हवा को गन्दी करती है और बीमारियाँ फैलाती हैं ।

गांधी जी के केवल इस कार्यक्रम को ग्रामवासी अपना लें तो गाँव स्वच्छ तो रहेगा ही, खाद की वर्तमान समस्या का निराकरण होगा और खेत को स्वतः करोडों रुपये की खाद मिल जायेगी जिससे कृषि उत्पादन में क्रान्तिकारी वृद्धि होगी । इससे गाँव तो खुशहाल होगा ही साथ ही साथ देश भी समृद्धिशाली बनेगा ।

जरूरत इस बात की है कि गाँव के तालाबों, कुओं, नदियों आदि के जल को भी स्वच्छ रखा जाय क्योंकि इनका प्रयोग मानव के इस्तेमाल के लिये तो आता ही है साथ ही साथ पशुओं के प्रयोग में भी आता है । इससे गाँव वाले बीमारियों से बचे रहेंगे ।[1]

नयी या बुनियादी तालीम :

वर्धा के शिक्षा सम्मेलन में गांधी जी के निर्देशानुसार डाक्टर जाकिर हुसैन की समिति को शिक्षण योजना बनाने की जिम्मेदारी सौंपी । इस काम में समिति को एक कठिन समस्या का सामना करना पड़ा ।

पुरानी तालीम की अनुपयोगिता स्पष्ट थी । नये समाज के लिये नयी तालीम की पद्धति भी लोगों को समझ में आ रही थी, लेकिन मार्ग किसी को मालूम नहीं था। डा० जाकिर हुसैन की समिति के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि प्रारम्भ कहां से किया जाय ।

1 गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 24 एवं हमारे गाँव का पुर्ननिर्माण

गांधी जी ने शिक्षा के लक्ष्य को बहुत व्यापक बना दिया था । भावी समाज के नवनिर्माण की पद्धति तलाश करनी थी । अब प्रश्न विदेशी साम्राज्य के अन्तर्गत एक सामान्य नागरिक बनाने का नहीं और न यही था कि बीच के समय के लिये एक काम चलाऊ योजना चला देनी थी । वास्तव में कमेटी के सामने भावी के सफल नागरिकों के निर्माण का प्रश्न था । अतएव जो शिक्षा-पद्धति स्कूल और कालेजों में चलती थी, उससे उन्हें कोई मदद मिलने की संम्भावना नहीं थी । शायद इस वैज्ञानिक युग में शिक्षाशास्त्रियों के सामने हमेशा यह प्रश्न रहेगा कि तेजी से बदलती हुई दुनिया के लिये नई तालीम कैसी हो ।

आज के शिक्षक को हमेशा क्रान्तिदर्शी बना रहना पड़ेगा, क्योंकि उसके हाथ में जब छोटा बच्चा पहुँचेगा, तो शिक्षक को कल्पना कर लेनी पड़ेगी कि बच्चे के बालिग होते-होते समाज में उत्पादन की प्रक्रिया का क्या स्वरुप होगा । उस भावी कल्पना के अनुसार योग्य नागरिक बनाने की जिम्मेदारी शिक्षक की होगी ।[1]

इस तालिम में मंशा यही है कि गाँव के बच्चों को सुधार-संवार कर उन्हें गाँव का आदर्श वाशिन्दा बनाया जाय । इसकी योजना खासकर उन्ही को ध्यान में रखकर बनाई गई हैं । बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के तमाम बच्चों को, वे गाँवों के रहने वाले हों या शहरों के, हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थाई तत्वों के साथ जोड़ देती है। यह तालीम बालक के शरीर व मन दोनों का विकास करती है । बालक को अपने वतन के साथ जोड़े रखती है । भारत का निर्माण करने में बालक या बालिका अपने स्कूल जाने के दिन से ही हाथ बंटाने लगें।

शिक्षा की इस योजना में हाथ से अक्षर लिखने सीखने के पहले औजार चलाना सीखेंगे । आँखे जिस तरह दूसरी चीजों को तस्वीर के रूप में देखती और उन्हें पहचानना सीखाती है, उसी तरह वे अक्षरों और शब्दों को तस्वीरों की तरह देखकर उन्हें पढ़ना सिखायेंगी और काम के चीजों के नाम और वाक्यों का आशय पढ़ना वे सीखेंगे । गरज यह है कि सारी तालीम स्वभाविक होगी । बालकों पर वह लादी नहीं जायेगी, बल्कि वे दूसरी तमाम शिक्षा पद्धितियों से जल्दी फल देने वाली और सस्ती होगी ।

गांधी जी के इस प्रकार के तालीम में हाथ का काम सारी योजनाओं का केन्द्र बिन्दु हैं । बच्चों को ऐसी वस्तुयें बनाना चाहिये जो बाजार में बेची जा सकें । कारखानों के प्रारम्भिक काल में जिस तरह बच्चे मार के भय से काम करते थे उस तरह हमारे बच्चे यह काम नहीं करेंगे । वे इसलिये करेंगे कि इससे उन्हे आनन्द मिलता है और उनकी बुद्धि को स्फूर्ति मिलती है ।

हमारे यहां जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है वह एक मजाक है उसमें गाँव में बसने वाले हिन्दुस्तान की जरूरतों और मांगों का जरा भी विचार नहीं किया गया है ।

---

1. पाण्डेय, नरेन्द्र भाई : लोक-क्रान्ति, पृष्ठ- 17-18

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य दस्तकारी के माध्यम से बालकों का शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास करना है । गांधी जी का विचार है कि बच्चों को मिट्टी का खिलौने बनाना भी सिखाया जा सकता हैं । इससे भी उनके बुद्धि का विकास तो होगा ही, लेकिन इसमें इस महत्वपुर्ण नैतिक सिद्धान्त की उपेक्षा होती है कि मनुष्य के श्रम और साधन सामग्री का अपव्यय कदापि नहीं होना चाहिये ।

गांधी जी का विचार था कि हमारे जैसे गरीब देश में हाथ की तालीम जारी करने से दो प्रयोजन सिद्ध होंगे । उससे हमारे बालकों की शिक्षा का खर्च निकल आयेगा और वे ऐसा धंधा सीख लेंगे जिसका अगर वे चाहें तो उत्तर-जीवन में अपनी जीविका के लिये सहारा ले सकते हैं । इस पद्धति से हमारे बालक आत्म निर्भर अवश्य हो जायेंगे, लेकिन दुःख की बात है कि गांधी जी के इस बुनियादी तालीम का देश की आजादी के बाद शिक्षा पद्धति में न शामिल करके, देश का बहुत बड़ा अहित किया गया है । आज केवल बच्चों को किताबी शिक्षा दी जा रही हैं जिसके कारण उनमें सर्वांगीण विकास नहीं हो पा रहा है, वे हाथ से कार्य करने के लिये सर्वथा अयोग्य सिद्ध हो रहे हैं और बेकारी के बोझ के तले उनका जीवन दूभर होता जा रहा है । गांधी जी ने कहा है कि शिक्षा को निरा साहित्यक बना देना तथा लड़कों और लड़कियों को उत्तर-जीवन में काम के अयोग्य बना देना गुनाह है।

गांधी जी चाहते थे कि प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क हो । इस दिशा में राष्ट्रीय व प्रदेशीय सरकारों ने प्रशंसनीय कदम उठाया है और प्राथमिक स्तर तक शिक्षा निःशुल्क दी जा रही है, लेकिन गांधी जी इसके साथ-साथ चाहते थे कि बच्चों को कोई उपयोगी उद्योग सिखाया जाय जिससे उनके शारीरिक, मानसिक तथा अध्यात्मिक शक्तियों का विकास हो सके । अतः शिक्षा पद्धति में इस प्रकार के कार्यक्रमों को तत्काल शामिल करने की जरुरत है, तभी गाँव के लगातार बढ़ रहे नाश की प्रक्रिया रूकेगी और ऐसे न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की नींव पड़ेगी जिसमें अमीरों और गरीबों के अस्वभाविक विभेद की गुंजाइश नहीं होगी और हर एक को जीवन, मजदूरी और स्वतंत्रता के अधिकारों का आश्वासन दिया जा सकेगा ।

बड़ों की तालीम :

इस कार्यक्रम के बारे में गांधी जी ने कहा कि अगर बड़ी उमर के स्त्री-पुरुषों को तालीम देने या पढ़ाने का काम मेरे जिम्मे हो तो मैं अपने विधार्थियों को अपने देश के विस्तार व उसकी महत्ता का बोध कराकर उनकी पढ़ाई शुरु करुँ । हमारे देहातियों के ख्याल में उनका गाँव ही उनका समूचा देश होता है, जब वे किसी दूसरे गाँव को जाते हैं तो इस तरह बात करते हैं मानो उनका अपना गाँव ही उनका समूचा देश या वतन है । हिन्दुस्तानी तो उनके ख्याल से भूगोल की किताबों में बरता जाने वाला एक शब्द मात्र हैं । हमारें गाँवों में किंतना घोर अज्ञान घुसा है इसका हमें अंदाज तक नही हैं । हमारे देहाती भाई और बहन नहीं जानते कि इस देश में विदेशी हुकूमत के चलते देश पर कितना बुरा प्रभाव पड़ा है ।

बड़ों को सच्ची राजनीतिक तालीम दी जाय जो स्वराज्य दिलाने में मददगार होगी । यह तालीम भले ही मौखिक हो । इस जबानी तालीम के साथ लिखने-पढ़ने की तालीम भी चलेगी ।

जन साधारण में फैली हुई व्यापक निरक्षरता भारत का कलंक है । वह मिटना ही चाहिये । बेशक साक्षरता की मुहिम का आरम्भ और अन्त,वर्णमाला के ज्ञान के साथ ही नहीं होना चाहिये । वह उपयोगी ज्ञान के साथ प्रचार के साथ-साथ चलनी चाहिये। लिखने, पढ़ने और अंकगणित का शुष्क ज्ञान देहातियों के जीवन का स्थायी अंग न आज है और न कभी हो सकता है । उन्हें ऐसा ज्ञान देना चाहिये जिसका उन्हें रोज उपयोग करना पड़े । वह उन पर थोपा नहीं जाना चाहिये । उसकी उन्हें भूख होनी चाहिये, आजकल उन्हें जो कुछ मिलता है वह ऐसा है जिसकी न तो उन्हें आवश्यकता है और न कदर है ।

ग्रामवासियों को गाँव का गणित, गाँव का भूगोल, गाँव का इतिहास और साहित्य का ज्ञान सिखाइये, जिसे उन्हें रोज काम में लाना पड़े अर्थात चिट्ठी पत्ती लिखना और पढ़ना सिखाइये । जिस पुस्तकों से ग्रामवासियों को दैनिक उपयोग की कोई सामग्री नहीं मिलती है वे उनके लिये किसी काम की नहीं ।

प्रसन्नता की बात है कि गांधी जी के इस रचनात्मक कार्यक्रम पर पिछले कई वर्षों से शासन जागरुक है और इस समय अनेक गाँवों में प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चलाया जा रहा है जिसके 'तहत उन्हें लिखने-पढ़ने के सामान्य ज्ञान कराने के अलावा खेती, पशुपालन, ग्रामाद्योग आदि की नवीनतम जानकारी उन्हें करायी जा रही है जिसका लाभ उन्हें मिल रहा है । आज इस प्रयास के कारण ही साक्षरता गाँवों में बढ़ी है और बड़े लोगों को इसका लाभ मिल रहा है । जरुरत इस बात की है कि गांधी जी के इस कार्यक्रम पर और बल दिया जाय जिससे कि अधिक से अधिक लोग लाभाविन्त हो और गाँव के नव निर्माण में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दें ।

स्त्रियाँ :

गांधी जी ने स्त्री जाति की सेवा के काम को अपने रचनात्मक कार्यक्रम में जगह दिया है । इस बात को समझना है कि सेवा के धार्मिक काम में स्त्री ही पुरुष की सच्ची सहायक और साथिन है । जिस रूढ़ि और कानून के बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं था और जिसके लिये सिर्फ पुरुष ही जिम्मेदार हैं, उस कानून और रूढ़ि के जुल्मों ने स्त्री को लगातार कुचला है ।[1]

पुरुषों को चाहिये कि स्त्री को अपना मित्र व साथी समझें । स्त्री का स्वंय को स्वामी बनाना ठीक नहीं है । जरूरत इस बात की है कि स्त्रियों को उनकी मौलिक स्थिति का पूरा बोध कराया जाय और उन्हें इस तरह का तालीम दिया जाय जिससे कि वे जीवन में पुरुष के साथ बराबरी के दरजे से हाथ बटाने लायक बनें ।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 29

पत्नियों को मन बहलाने की गुड़िया या भोग विलास का साधन मानने के बदले उनको सेवा के समान कार्य में अपना समान साथी समझे । इसके लिये जिन स्त्रियोंको स्कूल या कालेज की शिक्षा नहीं मिली है, वे अपने पत्तियों से जितनी बन पड़े सीखें । यही बात माताओं और बेटियों के लिये भी समझानी चाहिये ।[1]

समाज में स्त्री का स्थान और कार्य :

स्त्री अहिंसा की जीती जागती मूर्ति है । अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम और असीम प्रेम का अर्थ है कष्ट सहने की अपार शक्ति । पुरुष की जननी स्त्री के सिवा और किसमें यह शक्ति है ।[2]

गांधी जी के विचार से लड़का व लड़की में बरावरी का बर्ताव होना चाहिये । प्रकृति ने सभी स्त्री-पुरुष को एक दूसरे का पूरक बनाया है ।

स्त्री अबला नहीं है :

इसके बारे में गांधी जी के विचार इस प्रकार है:

"स्त्री को मैं देवी समझता हूँ,अबला नहीं । स्त्री बलिदान, कष्ट सहन, नम्रता और ज्ञान की प्रतिमा है, इसलिये स्त्री-पुरुष दोनों में एक मात्र स्त्री ही अधिक उच्च व श्रेष्ठ है"।

"अगर मैं स्त्री का जन्म पाऊँ तो पुरुष की इस झूठी धारणा के खिलाफ बगावत कर दूँ कि स्त्री उसका खिलौना बनने को पैदा हुई है"।[3]

"स्त्री को अबला कहना उसकी मान हानि करना है। यह पुरुष का स्त्री के प्रति घोर अन्याय है। यदि बल का अर्थ पशुबल है तो बेशक स्त्री-पुरुष से कमजोर है क्योंकि उसमें पशुता कम है, लेकिन अगर बल का अर्थनैतिक बल है तो स्त्री-पुरुष से अनन्त गुनी ऊँची है।"

"क्या उसकी सहज बोध की शक्ति पुरुष से अधिक नहीं है? क्या उसकी त्याग शक्ति पुरुष में ज्यादा नहीं है? क्या उसकी सहिष्णुता और उसका साहस पुरुष को पीछे नही छोड़ देता? उसके बिना पुरुष की हस्ती ही सम्भव नहीं हो सकती थी। अगर अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है तो भविष्य स्त्री के हाथ में है"।[4]

स्त्री के कार्य क्षेत्र और शिक्षा :

1- बालकों का पालन पोषण।

2- घर-गृहस्थी की व्यवस्था।

---

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 121 एवं रचनात्मक कार्यक्रम, पृ० 30
2. गाँधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृ० 13
3. हिन्दी नवजीवन : 9-9-1921
4. यंग इन्डिया : 8-12-1926

भीतरी कार्यों में स्त्री की प्रधानता है, इसीलिये गृह-व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, उनकी शिक्षा वगैरह के बारे में स्त्री को विशेष ज्ञान देना चाहिये। मैं स्त्रियों की समुचित शिक्षा का हिमायती हूँ, लेकिन मैं यह भी मानता हूं कि स्त्री दुनिया की प्रगति में अपना योग पुरुष की नकल करके या उसकी प्रतिस्पर्धा करके नहीं दे सकती। वह चाहे तो प्रतिस्पर्धा कर सकती है, लेकिन पुरूष की नकल करके वह उस ऊंचाई तक नहीं उठ सकती जिस ऊंचाई तक उठना उसके लिये सम्भव है। उसे पुरुष का पूरक बनना चाहिये।[1]

नयी व्यवस्था :

नयी व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्रियां थोडे समय के लिये श्रम करेंगी क्योंकि उनका मुख्य काम घर की देखभाल करना होगा। स्त्रियों का समय अपने पति के अहंकार पूर्ण सुख और अपने मिथ्याभिमान की पूर्ति में ही खर्च होता है, ऐसा न हो। गांधी जी के इसी रचनात्मक कार्यक्रम के तहत आज शासन द्वारा नारी कल्याण के लिये अनेक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं :

जैसे-

1- कृषक महिला चर्चा मंडल

2- महिला मंडल

3- आंगनवाड़ी

4- पौष्टिक आहार कार्यक्रम के तहत प्रशिक्षण

स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार दिये गये हैं। सरकार के विभिन्न विभागों में भी उन्हें बिना भेदभाव के कार्य करने का अवसर उपलब्ध कराये जा रहे हैं। फिर भी अभी पुरुषों द्वारा उनका अपमान एवं शोषण जारी है जिसको तत्काल बन्द करने की आवश्यकता है। अगर गांवों का सही माने में विकास करना है तो स्त्रियों का उत्थान करना होगा। दहेज प्रथा को खत्म करना होगा, उनकी निरक्षरता को दूर करना होगा तथा उन्हें अबला, भोग-विलास की चीज न समझकर एक दूसरे का पूरक समझना होगा।

आरोग्य के नियम की शिक्षा :

ग्रामवासी स्वस्थ्य रहें, बीमारियों से दूर रहें, प्राकृतिक दवाओं का सेवन करें। इसके लिये आवश्यक है कि उन्हें गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम, 'आरोग्य के नियमों की जानकारी करायी जाय। इसका महत्व पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। ग्रामवासियों के लाभार्थ इसका प्रचार और प्रसार करने के लिये गांधी जी की उस सम्बन्ध में क्या विचारधारा रही उसको जानना अतिआवश्यक है।

---

1. हरिजन : 26-2-1937

गांधीजी ने इसे गांव की सफाई से हटकर अलग कार्यक्रम के रूप में अपने रचनात्मक कार्यक्रम शामिल किया। वह इसलिये कि गांव की सफाई का जिक्र करने से उसमें तन्दुरूस्ती के नियमों की तालीम का जिक्र नहीं आता। अपने शरीर की हिफाजत करना और तन्दरूस्ती के नियमों को जानना एक अलग ही विषय है जिसका सम्बन्ध अभ्यास से और अभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञान के आचरण से है। जो समाज सुव्यवस्थित है, उसमें रहने वाले सभी नागरिक तन्दरूस्ती के नियमों को जानते हैं और उन नियमों के पालन में लापरवाही रहने से मनुष्य जाति का जिन-जिन रोगों से परिचय हुआ है, उनमें से ज्यादातर रोग उसे होते हैं। गांवों में रहने वालों की ज्यादा मृत्यु संख्या का कारण गरीबी है, लेकिन अगर उनकों तन्दुरस्ती के नियमों की ठीक-ठाक तालीम दी जाय, तो इसमें बहुत कमी आ सकती है।

अस्वस्थ्य व्यक्तियों से न तो गांव का ही भला होगा और न देश का ही। मनुष्य जाति के लिए साधारणतः स्वास्थ्य का पहला नियम यह है कि मन चंगा है तो शरीर भी चंगा है। निरोग शरीर में निर्विकार मन का बास होता है। मन और शरीर के बीच अटूट सम्बन्ध है। अगर हमारे मन निर्विकार यानी निरोग हों, तो वे हर तरह के हिंसा से मुक्त हो जाय। फिर हमारे हाथों तन्दुरुस्ती के नियमों का सहज भाव से पालन होने लगे और किसी तरह की खास कोशिश के बिना ही हमारे शरीर तन्दुरुस्त रहने लगे!

गांधी जी के अनुसार तन्दुरूस्ती के कायदे और अरोग्य शास्त्र के नियम बिल्कुल सरल और सीधे है और वे आसानी से सीखे जा सकते हैं। मगर उन पर अमल करना मुश्किल है। गांधी जी ने इस सम्बन्ध में कुछ नियम बतायें है जिनका पालन करना चाहिए जो इस प्रकार हैः

1- हमेशा शुद्ध विचार करो और तमाम गन्दे व निकम्में विचारों को मन से निकाल दो।

2- दिन-रात ताजी से ताजी हवा का सेवन करो।

3- शरीर और मन के काम का तौल बनाये रखों, यानी दोनों को बेमेल न होने दो।

4- तनकर खड़े रहों, तनकर बैठों और अपने हर काम में साफ सुथरे रहो और न इन सब आदतों को अपनी आन्तरिक स्वस्थता का प्रतिविम्ब बनने दो।

5- खाना इसलिए खाओ कि अपने जैसे अपने मानव बन्धुओं की सेवा के लिए ही जिया जा सके। भोग भोगने के लिए जीने और खाने का विचार छोड़ दो। अतएव उतना ही खाओं जितने से आप का मन और आप का शरीर अच्छी हालत में रहे और ठीक से काम कर सकें। आदमी जैसा खाना खाता है वैसा बन जाता है।

6- आप जो पानी पियें, जो खाना खायें और जिस हवा में सांस लें, वे सब बिल्कुल साफ होने चाहिए। आप सिर्फ अपनी निज की सफाई से सन्तोष न करे, बल्कि हवा, पानी और खुराक की जितनी सफाई आप अपने लिए रखें, उतनी ही सफाई का शौक आप अपने आस-पास के वातावरण में भी फैलायें।

आज स्थिति यह है कि गांधी जी के इस रचनात्मक कार्यक्रम के बारे में गांवों में उदासिनता है, अज्ञानता है और इस पर अमल नहीं हो रहा है जिसका परिणाम यह है कि गलत खान-पान, अशुद्ध हवा, पानी आदि के सेवन से न तो शरीर ही ग्राम वासियों का स्वस्थ है, न तो मन ही निर्विकार है। इस स्थित में सुधार आने की आवश्यकता है। यदि आरोग्य के नियमों का पालन किया जाय तो ग्रामवासी स्वस्थ्य रहकर अपने कार्यो का अच्छी प्रकार सम्पादन कर सकते हैं। गांवों के विकास में शरीर व मन से स्वस्थ्य लोगों का योगदान महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

गांधी जी अधिक दवाओं के बांटने या उसके प्रयोग के पक्ष में नही थे। उनका यह कहना था कि लोगों को स्वच्छता का महत्व समझाया जाय, स्वास्थ्य के नियमों को बताया जाय तथा उनका पालन कराया जाय।

गांधी जी का विश्वास था कि सफाई के नियमों के पालन से ज्यादातर बीमारियों बिना ज्यादा प्रयत्न के व खर्चे के दूर हो सकती है। ग्रामवासियों को रहस्यमयी दवाओं के गोलियों से दूर रखा जाय।

गांधी जी के मतानुसार अंडी का तेल, कुनैन, उबला पानी, सबसे अच्छी दवाइयां है। सभी ज्वरों में कुनैन देना जरूरी नहीं है। अधिकांश ज्वर पूर्ण अर्द्ध उपवास से ही शान्त हो जाते हैं।

अन्न और दूध को छोड़ देना और फलों का रस व मुनक्के का उबला हुआ पानी लेना, नीबू के ताजे रस लेना, अर्द्ध उपवास है। उबला पानी राम बाण औषधि है। यह पसीना लाता है, बुखार कम होता है। यह रोगाणु नाशक औषधि है।

राम नाम का जप, सूर्यस्नान, बदन को जोर से रगड़ना या घिसना, कटि स्नान, छाछ, फल, फलों का रस, साफ पानी का प्रयोग को गान्धी जी कुदरती इलाज कहते थे। शरीर सफाई, घर सफाई, ग्राम सफाई, पुष्टाहार, नियमित व्यायाम से कम से कम बीमारी होती है। हरी सब्जियों का सेवन भी लाभदायक है।

आज की हालत पर विचार करें तो आरोग्य के नियम का पालन जहां नही हो रहा है वहां नाना प्रकार की बीमारियां अपना धर बना लें रही हैं और लोग इसके इलाज में कीमती से कीमती दवा पर काफी पैसा खर्च कर रहे हैं। गरीब ग्रामवासियों को इससे बहुत बड़ा नुकसान हो रहा है। जो धन उनके परिवार व ग्राम उत्थान में लगता, वह इलाज में जा रहा है। शरीर भी असक्त है जिससे कार्य सम्पादन में भी रुकावट उत्पन्न होती है। अतः ऐसी दशा में ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में काफी रूकावट उत्पन्न होती है। यदि ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करके गांवों का उत्थान करना है तो पहले आवश्यकता यह होगी कि गांधीजी के आरोग्य के नियमों की शिक्षा के क्रियान्वयन पर बल दिया जाय, जिससे ग्रामवासी तन्दुरुस्त रहकर भरपूर कार्य कर सकें।[1]

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 31-32 एवं आरोग्य की कुंजी

प्रान्तीय भाषायें :

प्रान्तीय भाषाओं को भी गांधी जी ने महत्वपूर्ण समझकर अपने रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया। इस सम्बन्ध में गांधी जी के विचार इसप्रकार हैं :-

हमने अपनी मातृ भाषाओं के मुकाबले अंग्रेजी से ज्यादा मुहब्बत रखी, जिसका नतीजा यह हुआ कि पढ़े लिखे और राजनैतिक दृष्टि से जागे हुए ऊंचे तबके के लोगों के साथ आम लोगों का रिस्ता बिल्कुल टूट गया और उन लोगों के बीच एक गहरी खाई बन गयी। यही वजह है कि हिन्दुस्तान को जो बेहद नुकसान पहुंचा है, उसका कोई अन्दाजा या माप आज हम निकाल नही सकते। मगर इतनी बात तो आसानी से समझी जा सकती है कि अगर आज तक हुए नुकसान का इलाज नही किया गया। यानी जो हानि हो चुकी है उसकी भरपायी करने की कोशिश हमने न की, तो हमारी आम जनता को मानसिक मुक्ति नही मिलेगी, वह रूढ़ियों व वहमों से घिरी रहेगी। नतीजा यह होगा कि आम जनता स्वराज्य के निर्माण में कोई ठोस मदद न्ही पहुंचा सकेगी।[1]

जरूरत इस बात की है कि सर्व साधारण को उनकी बोली में गांव की समस्या, उनके लाभ की बातें, उनके गांव के लिए शासन द्वारा चलाई जा रही विकास की योजनाओं के बारे में जब तक नही समझाया जायेगा तब तक यह उम्मीद कैसे की जाय कि गांव की समस्याओं के निकराकरण में वे अपना हाथ बटा पायेंगे।

इस दिशा में गांधी जी के विचारों के अनुरूप विभिन्न राज्यों में शिक्षा का माध्यम बुनियादी स्तर पर प्रान्तीय भाषाओं में चलाया जा रहा है लेकिन उच्च शिक्षा में अभी भी अंग्रेजी का बोल बाला है। जो किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

गांवों में साहित्य भी जो वितरित किये जाते रहे है वे उन्ही की बोल चाल की भाषा में हो तो उसे ग्रामवासी अच्छी तरह पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। लेकिन प्रान्तीय भाषायें राष्ट्र भाषा का स्थान नहीं ले सकती।

राष्ट्र भाषा :

समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा की जरूरत है, जिसे आज ज्यादा से ज्यादा तादात में लोग जानते और समझते हों और बाकी लोग जिसे झट सीख सकें। इसमें शक नहीं कि हिन्दी ही ऐसी भाषा है। आज राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी को भारत सरकार द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है।

---
1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ- 33

इस भाषा को उत्तर के हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं व समझते हैं। वही भाषा जब उर्दू लिपि में लिखी जाती है तो उर्दू कहलाती है। गांधी जी ने राष्ट्र भाषा को सीखने के लिए बल दिये थे जिससे इसे अधिक से अधिक लोग समझ व बोल सकें।

गांधी जी इस बात से दुःखी थे कि इस भाषा को सीखने के प्रति जितनी जागरुकता होनी चाहिए, नही रही तथा बहुत से लोग अंग्रेजी को बोलने में प्रयोग करते रहे।

अंग्रेजी भाषा ने हम पर जो मोहिनी डाली है, उसके ऊपर से हम अभी तक छूटे नही है। इस मोहिनी के बस में होकर हम लोग हिन्दुस्तान को अपने ध्येय की ओर आगे बढ़ने से रोक रहे हैं। जितने माह हम अंग्रेजी सीखने में बरबाद करते है उतने महीने भी अगर हिन्दुस्तानी सीखने की तकलीफ न उठायें तो सचमुच कहना होगा कि जन साधारण के प्रति अपनी प्रेम की जो डींगे हम हाका करते है ये निरा डींगें ही है। गांधी जी कहते है कि हिन्दी भारत की राष्ट्र भाषा होगी लेकिन प्रान्तीय भाषाओं का स्थान नही ले सकती। वह प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम नहीं हो सकती। राष्ट्र भाषा का काम हमें हिन्दुस्तान के साथ अपना जीता जागता सम्बन्ध महसूस कराना है।

राष्ट्र भाषा के क्या लक्षण होने चाहिए ? :-

1- वह भाषा सरकारी नौकरी के लिए आसान होनी चाहिए।

2- उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक काम काज हो सकना चाहिए।

3- उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हो।

4- वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।

5- उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहने वाली स्थिति पर जोर न दिया जाय।

उपरोक्त पांचो लक्षणों वाली यदि कोई भाषा है तो वह हिन्दी ही है। इन्हीं सब कारणों से यह राष्ट्र भाषा बन चुकी है।

गांधी जी की मान्यता है कि किसी भी प्रान्तीय भाषा को मिटाया न जाय। उनका मतलब तो सिर्फ यह रहा है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हमें हिन्दी भाषा सीखना चाहिए। हिन्दी को गांधी जी राष्ट्र भाषा, बिना किसी पक्षपात के मानते थे।

गांधी जी के विचार से उचित और सम्भव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्त में उस प्रान्त की भाषा सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिन्दी और अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिए अंग्रेजी का व्यवहार हो। हिन्दी बोलने वालों की संख्या करोड़ों की रहेगी, किन्तु अंग्रेजी बोलने वालो की संख्या कुछ लाख से आगे कभी नही बढ़ सकेगी।

राष्ट्र भाषा के प्रचलन से आम जनता का भला होगा क्योंकि इस भाषा को अधिकतर गांव के लोग जानते हैं, बोलते है, सिख व पढ़ सकते है।[1]

आर्थिक समानता :

रचनात्मक कार्य का यह अंग अहिंसा पूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाभी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूँजी और मजदूरी के बीच के झगड़ो को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसे वाले लोगों के साथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ो लोग आधा पेट खाते व नंगे रहते है, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच बे-इन्तहा अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज्य व्यवस्था कायम नही हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े से बड़े धनवानों के हाथ में हुकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबों के हाथ में भी होगा। तब नयी-दिल्ली के महलों और उनके बगल में बसी हुई गरीब मजदूर बस्तियों से टूटे-फूटे झोपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन भी नही मिटेगा। अगर धनवान लोग अपने धन के और उसके कारण मिलने वाली सत्ता को खुद राजी खुशी से छोड़ कर और सबके कल्याण के लिए सबके साथ मिलकर रहने को तैयार न होंगे तो यह तय समझियें कि हमारे देश में हिंसक और खूंखार क्रान्ति हुए बिना नही रहेगी।[2]

आर्थिक समानता का अर्थ :

मेरी कल्पना की आर्थिक समानता का अर्थ यह नही है कि हर एक को अक्षरशः उसी मात्रा में कोई चीज मिले। इसका मतलब इतना ही है कि हर एक को अपनी आवश्यकता के लिए काफी मिल जाना चाहिए।

उदाहरण- चींटी को हाथी से हजार गुनी ज्यादा खुराक चाहिए, परन्तु यह असमानता का चिन्ह नही है। इसलिए आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है कि सबको अपनी जरूरत के अनुसार मिले, मार्क्स की व्यवस्था भी यही है। अगर अकेला आदमी भी उतना मांगे जितना एक स्त्री व चार बच्चों वाला व्यक्ति तो यहाँ आर्थिक समानता का सिद्धान्त भंग होगा किन्तु राजा व रंक के भारी अन्तर को उचित न बताया जाय। जरूरत इस बात की है कि आर्थिक विषमता के कारण नगर-वासियों द्वारा ग्रामिणों का

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 34-35 एवं मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 102-103
2. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 51-52 एवं रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 35-36

जो शोषण हो रहा हैं उसे रोका जाय। वे अन्न पैदा करते हैं और भूखों मरते हैं। वे दूध उत्पन्न करते हैं और उनके बच्चे दूध के बिना रहते हैं, यह लज्जा जनक बात है।[1]

इस हालत में गांवों का विकास नहीं हो सकेगा। अतः आर्थिक समानता का मार्ग ही गांवों के विकास में सहायक सिद्ध होगा।

गांधीजी के आर्थिक समानता के चित्र के अनुसार प्रत्येक को संतुलित भोजन, रहने को अच्छा मकान, बच्चों की शिक्षा की सुविधायें और दवा-दारू की काफी मदद मिलनी चाहिए।

प्रारम्भिक आवश्यकताओं से अधिक हर चीज का नम्बर तभी आता है जब पहले गरीबों की मुख्य आवश्यकताएँ पूरी हो जाय। पहले करने लायक काम पहले होना चाहिए।

ग्रामीण विकास में आर्थिक समानता आवश्यक है जिसके लिए गांधी जी ने कहा था कि- "फर्ज कीजिये कि विरासत या उद्योग व्यवसाय के द्वारा मुझे प्रचुर संपत्ति मिल गई। तब मुझे जानना चाहिये कि वह सब सम्पत्ति मेरी नहीं है। मेरा तो उस पर इतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखों आदमी अपना गुजर करते हैं, उसी तरह मैं भी इज्जत के साथ अपना गुजर करूँ। मेरी शेष सम्पत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है और उसी के हितार्थ उसका प्रयोग होना चाहिये"।[2]

इस प्रकार का विचार यदि सम्पन्न ग्रामवासी रखें, तो अपने आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का इस्तेमाल अपने गांव के उत्थान में कर सकते है। कोई ग्रामोद्योग चला सकते है जिससे बेरोजगारी की समस्या का समाधान होगा तो गरीबों को काम के साथ-साथ रोटी भी प्राप्त हो सकेगी।

यह दूसरी बात है कि इस तरह के सच्चे ट्रस्टी कितने लोग हो सकते हैं। अगर सिद्धान्त ठीक है तो यह बात गौण है कि उसका पालन अनेक लोग कर सकते हैं या केवल एक ही आदमी कर सकता है। प्रश्न आत्मविश्वास का है। अगर आप अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करें तो आपको उसके अनुसार आचरण करने की कोशिश करनी चाहिये, चाहे उसमें आपको सफलता मिले या असफलता।

आर्थिक समानता कैसे लायी जाय :

चरखा और चरखो के साथ सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों को अगर हम सफलता के साथ चला सकें तो उससे हम लगभग सारी आर्थिक और सामाजिक असामनतायें मिटा सकते हैं।

गांधी जी के उपरोक्त सुझाव को गांव-गांव में लोग अपनावें तो कोई कारण नही है कि गरीबों व अमीरों के बीच बढ़ती खाई को कम न किया जा सके।

---

1. हरिजन : 31-3-1946
2 हरिजन सेवक : 25-1-1942

'मैं घृणा से नही परन्तु प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊंगा और अहिंसा के द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूंगा तथा स्वयं पर लागू करूंगा गरीब बनकर''।[1]

आज के धनवानों को वर्ग-संघर्ष और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बन जाने के दो रास्तों में से एक रास्ता चुन लेना होगा। उन्हें जायदाद की रक्षा का हक होगा। उन्हें भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि देश के भले के लिये दूसरों का शोषण न करके धन को बढ़ाने में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाले समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर राज्य उन्हें निश्चित कमीशन भी देगा। उनके बच्चे योग्य हुए तो वे ही उस जायदाद के संरक्षक बन सकेगें। गांधी जी के आर्थिक विषमता के कार्यक्रम के महत्व के बारे में किसी को शक नही होना चाहिये। पर महत्व जान लेने से ही गांव का, देश का, कल्याण नहीं होगा उसके लिये प्रत्येक गांववासी को अपने से यह प्रश्न पूछना चाहिये कि उसने इस आर्थिक समानता की स्थापना के लिये क्या किया? यदि कुछ किया है तो इसमें गांव का निश्चित रूप से भला होगा। यदि नही किया है तो अभी से कुछ करने का फैसला करें।

यदि गांव का प्रत्येक सदस्य अपनी शक्तियों का उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ साधन के लिये नहीं बल्कि इसके कल्याण के लिये करें, तो क्या इससे समाज या गांव के सुख-समृद्धि में वृद्धि नही होगी?

गांधी जी ऐसी जड़ समानता का निर्माण करना नही चाहते, जिसमें कोई आदमी, योग्यताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अन्त में नष्ट हुये बिना नही रह सकता।

इसलिये गांधी जी की यह सलाह बिल्कुल ठीक है कि धनवान लोग चाहे करोड़ों रुपये (बेशक इमानदारी से) जोड़े, लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा सबके कल्याण में समर्पित कर लेने का होना चाहिये।' तेन त्यात्तेन भुंजीथाः इस मंत्र में जनसाधारण का ज्ञान भरा है। मौजूदा पद्धति की जगह जिसमें हर एक आदमी पड़ोसी की परवाह किये बिना केवल अपने ही लिए जीता है के बदले सर्व कल्याणकारी नयी जीवन पद्धति का विकास करना हो तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।[2]

किसान :

किसान के महत्व को गांधी जी ने समझा व इन्हें भी अपने रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बनाया। देश की 80 प्रतिशत (तत्कालीन) आबादी गांवों में रहती है और इनका मुख्य धन्धा खेती किसानी है। अतः किसानों की हालत सुधारने से ही गांव एवं देश का कल्याण है।

---

1. हरिजन सेवक : 31-3-1946
2. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 35-36 एवं मेरे स्पनों का भारत, पृष्ठ 51-53

गांधी जी ने कहा है कि किसानों को जब अपनी अहिंसक ताक्त का ख्याल हो जायेगा, तब दुनिया की कोई हुकूमत उनके सामने टिक नही सकेगी।

किसान संगठन ही सफलता का रहस्य इस बात में है कि किसानों की अपनी जो तकलीफे है, जिन्हें वे समझते और पूरी तरह महसूस करते हैं। उन्हें पूरा कराने के सिवा दूसरे किसी भी राजनीतिक सेतु से उनके संगठन का दुरुपयोग न किया जाय। किसी एक निश्चित अन्याय या शिकायत के कारणों को दूर करने के लिये संगठित होने की बात वे झट समझ लेते हैं। उनको अहिंसा का उपदेश बताना नही पड़ता।

किसानों और मजदूरों को अखिल भारतीय पैमाने पर संगठित करने की जो होड़ सी लगी हुई है उससे गांधी जी दूर रहना चाहते थे। गांधी जी चाहते थे कि हम सब मिलकर एक ही दिशा में आगे बढ़ें तो कितना अच्छा हो।

गांधी जी चाहते थे कि 'ऐसा विभाग खोला जाय, जिसके देख-रेख में मजदूरों की तरह किसानों या खेतिहरों के भी सवालों को हल करने का काम किया जाय।'[1]

गांव में ऐसे लोग बहुत कम है जो अपने खाने से फाजिल अनाज बेचते हैं या जो अनाज को बाजार भाव के चढ़ने तक घर में रोक कर रख सकें। जो रोक लेते हैं उन्हें बाजार में अधिक पैसे मिल जाते हैं। अधिकांश खेतिहर तो अनाज तैयार होते ही यहां तक कि खलिहान से बेच देते हैं। क्या करें- अनाज न बेचे, तो पैसे की जरूरत कैसे पूरी होगी।

खेतिहर पूँजी लगाता है, पसीना बहाता है, फसल मारी जाने का जोखिम उठाता है, लेकिन उसका माल किस भाव बिकेगा इस बारे में वह एक शब्द भी बोल नहीं सकता। भाव तय होता है, बाजार में। वहां इस बात की चिन्ता भी नही होती कि किसानों को उपज की बिक्री के रूप में कम से कम इतना तो मिले कि उसका लागत खर्च निकल आये। उद्योग और व्यापार वालों को सरकार की ओर से मुनाफे की ग़ारंन्टी दी जाती है लेकिन खेती में भी कुछ बचत होनी चाहिये, यह कोई नहीं सोचता।

कितनी दर्दनाक स्थिति है। किसान को उपज का उचित मूल्य नही मिलता, मजदूर को उचित मजदूरी नहीं मिलती, कारीगर को काम नहीं मिलता। ये तीनों उत्पादक है। इन्ही से गाँव है। जब ये ही तबाह हैं, तब गाँव तबाह है। अगर खेतिहर को उपज का उचित मूल्य मिलने लगे तो उसकी कमाई बढ़ेगी जिसमें वह खुशी से खेती में पूँजी लगायेगा और खेती के अलावा नये धन्धे भी खोलेगा। हरित क्रान्ति के फल स्वरूप देश खाद्यान्न के मामले में आत्म निर्भर हुआ है इसके बावजूद किसानों की हालत में सुधार संतोषजनक नहीं हुआ। इस समय अपने देश से अनेक चीजे जैसे चाय, चीनी, सब्जी, फल, मांस, चमड़े का सामान आदि बाहर भेजी जा रही है। जबकि करोड़ों देशवासी उन्हें खरीद नही सकते क्योंकि उनकी जेबों में पैसा नही है। एक ओर सरकार ये चीजें बाहर भेज रही है और विदेशी मुद्रा प्राप्त कर रही है, दूसरी ओर देश के करोड़ों लोग तरस रहे हैं। यह कैसा उल्टा विकास।

1. गाँधी : रचनात्मक संख्या 38-41

मजदूर की भलाई:

इस कार्यक्रम के बारे मे गाँधी जी का विचार निम्न है :

"अहमदाबाद के मजदूर संघ का नमूना समूचे हिन्दुस्तान के लिये अनुकरणीय है। वह शुद्ध अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा किया गया है। अपने अब तक कार्यकाल में उसे कभी पीछे हटने का मौका नहीं आया, बिना किसी तरह का शोर गुल, धाधली या दिखावा किये ही उसकी ताकत बराबर बढ़ती गई है। उसका अपना अस्पताल है, मिल मजदूरो के बच्चों के लिए उसके अपने मदरसे हैं, बड़ी उमर के मजदूरों को पढ़ाने के क्लास है, उसका अपना छापाखाना, खादी भंडार है और मजदूरों के रहने के लिये घर भी बनवाये हैं। अहमदाबाद के करीब-करीब सभी मजदूरों के नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज है और चुनाव में वे पुरअसर तरीके से हाथ बटाते है। यह मजदूर संघ दलबन्दी वाली राजनीति में कभी शरीक नहीं हुआ। संघ अब तक अनेक हड़तालों को चला चुका है और ये सब हड़तालें पूरी तरह अहिंसक रही हैं। यहां के मजदूरों और मालिकों ने अपने आपसी झगड़े मिटाने के लिये ज्यादातर अपनी राजी खुशी से पंच की नीति स्वीकार किया है। मेरा बस चले तो मैं हिन्दुस्तान की तमाम मजदूर संस्थाओं का संचालन अहमदाबाद के मजदूर संघ की नीति पर करूँ"।[1]

गाँधी जी के उपरोक्त विचार से स्पष्ट हैकि मालिकों को, मजदूरों को कैसी सुविधा देनी चाहिये तथा मजदूरों को भी अपने समस्या के समाधान में अहिंसक रास्ता अपनाते हुये पंच की नीति को स्वीकार करनी चाहिये। यदि यह समन्वय रहे तो आज जो मजदूरों द्वारा मांग-पूर्ति हेतु हिंसात्मक हड़तालें हो रही हैं और उनसे जो मजदूरों मालिकों तथा देश का नुकसान हो रहा है उसे रोका जा सकता है।

"किसान, मजदूर व कारीगर इन तीनों उत्पादक वर्गों से ही गांव है। इन्हें उचित लाभ मिलना चाहिये। मजदूरों को उचित मजदूरी व सुविधायें मिले तो वे खुशी-खुशी अच्छा और अधिक लाभ कर के उत्पादन बढ़ाने में सफल हो सकेंगे।"[2]

मजदूरों की हालत के संतोषजनक सुधार में निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होना चाहिये

1- श्रम का समय इतना ही होना चाहिये कि मजदूरों को आराम करने के लिये भी काफी समय बचा रहे।

2- उन्हें अपने शिक्षण की सुविधाये मिलनी चाहिये।

3- उनके बच्चों की आवश्यक शिक्षा के लिये तथा वस्तु और पर्याप्त दूध के लिये व्यवस्था की जानी चाहिये।

4- मजदूरों के लिये साफ सुथरे घर होने चाहिये ।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 41-42
2. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ127-128

5- उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिये कि वे बुढापे में अपने जीवन निर्वाह के लिये काफी रकम बना सकें।

मालिक व मजदूर के बीच स्वार्थ पूर्ति हेतु राजनीतिक लोग भी बीच-बचाव करने लगते है। विशेषकर वे मजदूरों का पथ प्रदर्शक बन जाते है। राजनीतिक लाभ के लिए मजदूरों के हड़ताल का उपयोग करना गांधी जी के राय मे अत्यन्त गंभीर भूल होगी।

गांवों में ग्रामद्योग को बढ़ावा देकर गांव के लोगों को काम का अवसर उपलब्ध कराया जाय, जिससे लोग शहरों में आकर रोजगार की तलाश में इधर-उधर न भटकें और न उनका शहरों द्वारा शोषण किया जाय। इसी लिये गाँधी जी ने ग्रामोद्योग पर बल दिया था।[1]

आदिवासियों की सेवा :

आदिवासियों की सेवा भी गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग है। हमारा देश इतना विशाल है और उसमें बसने वाली जातियां इतनी ज्यादा और विचित्र हैं कि अपने से देश के सभी निवासियों से और उनकी दशा के बारे में हममें से अच्छे -अच्छे लोग भी जितना उन्हें जान लेना चाहिये उतना सब जान नहीं पाते। अगर हमारे राष्ट्र में रहने वाली हर एक इकाई को इस बात का सहज भान न हो कि बाकी के दूसरे सब घटकों या इकाइयों के सुख दुःख उसके अपने सुख-दुःख है और हम सब एक हैं, तो देशकी विशालता और विविधता की यह बात ज्यों-ज्यों हमारी समझ में आती जाती है त्यो-त्यों अपनी एक राष्ट्रीयता के दावे को साबित करने का काम कितना कठिन है, इसका ख्याल हमें होता जाता है।

आदिवासियों की सेवा ठोस राष्ट्र सेवा है। आदिवासियों की तरक्की होनी चाहिये। उन्हें भी प्रगति का लाभ मिलना चाहिये । ये पिछड़े हुए है, इनके उत्थान का प्रयास आवश्यक है।

कोढ़ी:

कोढ़ी एक बदनाम शब्द है। कोढ़ियों की सबसे अधिक जनसंख्या मध्य अफ्रीका, में है, उसके बाद दूसरा नम्बर हिन्दुस्तान का आता है । फिर भी हममे जो सबसे श्रेष्ठ या पढ़े-लिखे हैं उन्ही की तरह ये कोढ़ी भी हमारे समाज के अंग है। पर हकीकत यह है कि कोढ़ी के उन कुछ लोगों पर ही हम सबका ध्यान बना हुआ है। जबकि उन्हें हमारे ध्यान की कम से कम जरूरत है। जिन कोढ़ियों को मान-सम्मान की सबसे ज्यादा जरूरत है उन्ही की हमारे यहां जानबूझ कर उपेक्षा की जाती है। दिल होता है कि इस उपेक्षा को हृदयहीनता के नाम से पुकारूं और अहिंसा की दृष्टि से सचमुच

1. गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 42-43

ही इसके लिये दूसरा कोई विशेषण नही है। हिन्दुस्तान में कार्य करने वाले अकेले ईसाई मिशनरी ही हमारे कोढ़ियों की चिन्ता करते है और इसके लिए वे अवश्य ही धन्यवाद के पात्र है। कोढ़ियों के मान-सम्मान के लिये हिन्दुस्तानियों की ओर से चलने वाली एक मात्र संस्था वर्धा के पास काम कर रही है।

अगर हिन्दुस्तान मे सचमुच नवजीवन का संचार हुआ है और हम सब सत्य अहिंसा के मार्ग से कम से कम समय में पूर्ण स्वराज्य पाने के लिये दिल से बेचैन हैं तो हिन्दुस्तान मे भी कोढ़ी या एक भी भिखारी ऐसा न होना चाहिये जिसका नाम हमारे पास दर्ज न हो और जिसकी मान-सम्मान हमने की न हो।

रचनात्मक कार्यक्रम की इस सुधरी हुई आवृत्ति में हमारे रचना - कार्य की जंजीर की एक कड़ी के नाते कोढ़ी को और उसकी सेवा के काम को मैं खास तौर से बढ़ा रहा हूँ। क्योंकि आज हमारे देश में कोढ़ियों की जो दशा है। वही दशा आजकल की सुधरी हुई दुनिया में हमारी है। बशर्ते कि हम अपने आस-पास ठीक से गौर करके देखें। समुद्र पार के अपने देशबन्धुओं की दशा का विचार करने से सबको मेरी इस बात की सच्चाई का विश्वास हो जायेगा ।[1]

कोढ़ियों के बाबत उपरोक्त विचार गाँधी जी के थे। गाँधी जी ने कोढ़ी को समाज का अंग माना है अतः इनके प्रति प्रेम, देख-रेख सेवा की भावना से करनी चाहिये। वैसे अब देश में कई स्वयंसेवी संस्थाये इनके सुधार के लिये कार्य कर रही है। इसी तरह की एक समाजसेवी संस्था ''कुष्ट सेवा आश्रम'' की स्थापना अघोरेश्वर भगवान राम जी ने कोढ़ियों की चिकित्सा एवं सेवा के लिए पड़ाव, वाराणसी में किया था। जिसकी देख-रेख एवं संचालन वर्तमान समय में उनके दो प्रमुख दीक्षित शिष्य गुरुपद संभव राम जी एवं सिद्धार्थ गौतम राम जी सुचारू रूप से कर रहे हैं।

विद्यार्थी :

अपने रचनात्मक कार्यक्रम में विद्यार्थी को गाँधी जी ने सबसे आखिर में रखा। लेकिन इन्हें महत्वपूर्ण माना । विद्यार्थियों के बारे में गाँधी जी के विचार इस प्रकर है:

मैंने हमेशा विद्यार्थियों के साथ गाढ़ा सम्बन्ध रखा और बढ़ाया है । विद्यार्थी मुझे पहचानते है और मैं उन्हें पहचानता हूँ । उन्होंने मेरा बहुत काम किया है । कालेजों से निकले हुये बहुतेरे विद्यार्थी आज मेरे माने हुये साथी हैं। साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि विद्यार्थी भविष्य की आशा है।

वर्तमान शिक्षा का मोह यद्यपि झूठा और अस्वाभाविक है, देश के नौजवानों पर कुछ ऐसा हावी हुआ है कि वे उससे छूट नही सकते । ज्ञान की भूख को, जो स्वाभाविक और क्षम्य कही जायेगी, तृप्त करने के लिये जो रास्ता बना हुआ है उस पर चले बिना चारा नही।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ 44

मातृभाषा :

मातृभाषा के स्थान को पचाकर बैठी हुई बिल्कुल पराई भाषा को सिखाने में वे अपने कितने कीमती वर्ष बिगाड़ देते हैं, इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं और इसमें जो गम्भीर द्रोह या पाप होता है उसका तो उन्हें पता तक नहीं। इन विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों के मन में कोई ऐसा भूत भर गया है जिससे उनके ख्याल में आज के जमाने के विचारों और आधुनिक विज्ञान का ज्ञान पाने के लिए अपने घर की भाषायें बिल्कुल निकम्मी है। मगर हमारे ये विद्यार्थी जैसे हैं वैसे हैं, और इन्ही नौजवान स्त्रियों और पुरुषों में से राष्ट्र के भावी नेता तैयार होने वाले हैं, दुर्भाग्य यह है कि उन पर जिस हवा का असर हो जाता है । अहिंसा के तरफ उनका कोई खास खिचाव नहीं है। घूसे के बदले घूसा या एक के बदले दो घूसों की बात उन्हें आसानी से पटती और पसन्द पड़ जाती है। उसका परिणाम, फिर वह क्षणजीवी ही क्यों न हो, तत्काल दिखाई देता है।

अहिंसा को उनकी तरह पहचानने के लिये धीरज के साथ शोध और उसमे भी ज्यादा धोर और कठोर आचरण की जरूरत होती है।

अगर विद्यार्थी शब्द का अधिक व्यापक अर्थ किया जाय तो मैं भी उसका सहपाठी विद्यार्थी हूँ, जो कि मेरी यूनिवर्सिटी दूसरी है। मै शोध या अनुसंधान का जो काम कर रहा हूं उसमें शामिल होने के लिये यानी इस युनिवर्सिटी में भरती होने का स्थाई निमंत्रण मैं देता हूँ। उसमें भर्ती होने के नियम इसप्रकार है[1]

1- विद्यार्थियों को दल बन्दी वाली राजनीति में कभी शामिल न होना चाहिये। विद्यार्थी विद्या के खोजी और ज्ञान की शोध करने वाले हैं, राजनीति के खिलाड़ी नही।

2- उन्हें राजनीतिक हडतालें नही करनी चाहिये । संस्था के अधिकारी, विद्यार्थियों की बात न सुने उन्हें छूट है कि वे उचित रीति से, सभ्यतापूर्वक, अपनी-अपनी संस्थाओं से बाहर निकल आयें और तब तक वापस न जाये जब तक संस्था के व्यवस्थापक उन्हें वापस न बुलावें। किसी भी हालत में और किसी भी विचार से उन्हें अपने से भिन्न मत रखने वाले विद्यार्थियों या स्कूल कालेजके अधिकारियों के साथ जबरदस्ती नही करनी चाहिये। उन्हें यह विश्वास होना चाहिये कि अगर वे अपनी मर्यादा के अनुरूप व्यवहार करें और मिलकर रहेंगे तो जीत उन्हीं की होगी।

3- सब विद्यार्थियों की सेवा के खातिर शास्त्रीय तरीके से चलना चाहिये । कताई सम्बन्धी, सारे साहित्य का और उसमें दिये आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक सब रहस्यों का उन्हें अध्ययन करना चाहिये।

4- अपने पहनने-ओढ़ने के लिये वे हमेशा खादी का ही उपयोग करें। गांवों में बनी चीजों के बदले परदेश की या यंत्रों की बनी वैसी चीजों को कभी न इस्तेमाल करे।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ-46

5- बन्दे मातरम गाने या राष्ट्रीय झण्डा फहराने के मामले में दूसरों पर जबरदस्ती न करें।

6- तिरंगे झण्डे के सन्देश को अपने जीवन में उतार कर दिल में साम्प्रदायिकता या अपृश्यता को घुसने न दें। धर्म वाले विद्यार्थियों और हरिजनों को अपना भाई समझ कर उनके साथ सच्ची दोस्ती कायम करें।

7- अपने दुःखी पड़ोसियों के सहायता के लिए तुरन्त दौड़ जाय। आस-पास के गांवों में सफाई और भंगी का काम करें और गांव के बड़ी उमर वाले स्त्री पुरुषों को व बच्चो को पढ़ावें।

8- राष्ट्र भाषा हिन्दुस्तानी सीख लें ताकि जब हिन्दी या उर्दू बोली जाय अथवा नागरी या उर्दू लिपि लिखी जाय तब उन्हे वह कमी न मालूम हो।

9- विद्यार्थी जो भी कुछ नया सीखे उन सबकों अपनी मातृ भाषा में लिख लें और जब वे हर हफ्ते अपने आस-पास के गांवों मे दौरा करने निकले तो उसे अपने साथ ले जायं और लोगों तक पहुंचावें।

10- वे लुक-छिप कर कुछ न करें जो करें खुल्लम-खुल्ला करें। वे अपने जीवन को संयमी और निर्मल बनाये। किसी चीज से न डरें और निडर रह कर अपने कमजोर साथियों की रक्षा करने में मुस्तैद रहें और दंगों के अवसर पर अपनी जान की परवाह न करके अहिंसक रीति से उन्हें मिटाने को तैयार रहें।

11- अपने साथ पढ़ने वाले विद्यार्थिनी बहनों के प्रति अपना व्यवहार बिल्कुल शुद्ध और सभ्यता पूर्वक रखें ।

विद्यार्थियों के सम्बन्ध में गाँधी जी के द्वारा दिये गये उपरोक्त नियमों व कार्यक्रमों को यदि विद्यार्थियों द्वारा अपनाया जाता है तो आज जो स्कूलों मे अशान्ति है, विद्यार्थी गुमराह होकर भटक रहें है, स्थिति को सुधारने में मदद मिलेगी। इससे विद्यार्थियों को नयी दिशा मिलेगी।

अधिकांश विद्यार्थियों का समूह गांव से आता है। यदि उन्हें सही शिक्षा मिली, हाथ से काम करने के उद्योग प्रबन्धों की जानकारी प्राप्त करके उसे गांवो मे अपनाने के प्रति सचेत हुए तो निश्चत रूप से गांव के विकास में वे सहायक होंगे।[1]

गांधी जी सचेष्ठ विद्यार्थियों को गांवों मे अपने अध्ययन के साथ बीच में दौरा करने का भी सलाह दिया । यदि वे किसानों, मजदूरों, कारीगरों के भलाई की जानकारी देते है तो गाँवों में कृषि उत्पादन में बढ़ोत्तरी व ग्रामोद्योग के विकास में आशातीत सफलता मिलेगी, जिससे गाँव का विकास होगा।

आज जरूरत उस बात की है कि विद्यार्थी गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाये तभी राष्ट्र के इस भावी पीढ़ी का सही रूप से निर्माण हो सकेगा और वे अपने गांवों व राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ- 45-47

हरिजन सेवा :

हिरजन सेवा के वाले गांधी जी के विचार इस प्रकार है:

"हरिजनों के मामले में तो हर एक् हिन्दू को यह समझना चाहिये कि हरिजनों का काम उसका अपना काम है और् उसमें उसे उनकी मदद् करनी चाहिये और जिस अकुलाने वाली व भायनक अलहदगी में उन्हें रहना पड़ता है, उसमें उनके साथ शामिल होना चाहिये"।[1]

"आज जरूरत हरिजनो को मन्दिर में प्रवेश दिलाने की उतनी नहीं है, जितनी सनातनियों को यह विश्वास कराने की है कि हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश करने में रोकना गलत है"।[2]

"एक प्रथम दर्जे के हरिजन सेवक को अपने धर्म का अभिमान होना चाहिये, प्रेम होना चाहिये, उसके लिये मरने की तैयारी होनी चाहिये"।[3]

गाँधी जी हरिजनों को समाज का अभिन्न एवं महत्वपूर्ण अंग मानते हैं, और उनके उत्थान की बात बराबर सोचते थे। हरिजनों की सेवा को अपना कर्तव्य समझते थे तथा वह चाहते थे कि हरिजनों के काम में लोग मदद करें।

विनोबा जी के विचार :

सम्पत्ति दान से प्राप्त धन के मदों का अनुमोदन करते हुये इस बात की छूट दी है कि कोई परिवार किसी हरिजन बालक को ग्रहण कर उसे अपने परिवार के सदस्य के रूप मे लालन-पालन व शिक्षा-दिक्षा की व्यवस्था करता है तो इस तरह से खर्च होने वाला दान सम्पत्ति दान के रूप में मान्य है। हरिजन सेवकों के लिये जो कार्यक्रम गाँधी जी निर्धारित किये थे वे निम्न है:

1- हरिजनों में सफाई और स्वतन्त्रता की भावना बढ़ाना।

2- झाड़ू लगाना, पाखाना सफाई, चमड़ा पकाना जैसे गन्दे माने जाने वाले धंधो के लिये सुधारे हुये तरीके निकालना और उन पर अमल करना।

3- अगर हर तरह का मांस नहीं, तो कम से कम गो मांस और मुर्दा जानवर का मांस हरिजनो से जरूर छुड़वाना।

4- शराब छुड़वाना।

5- जहाँ सुविधा हो वहाँ माता-पिता को अपने बालकों को दिन की पाठशालाओं में भेजने के लिये समझाना और राजी करना और खुद माता पिता को जहां रात्रि पाठशालाये चलते हों, वहां उनमे जाने के लिये तैयार करना ।

---

1. गाँधी : रचनात्मक कार्यक्रम, पृष्ठ-13
2. हरिजन : 15-5-1933
3. गाँधी : हरिजन सेवकों के लिये

अपने बीच अस्पृश्यता का अन्त करना।[1] हरिजनों के लिये कुओं का निर्माण अलग से कराने के लिये भी गाँधी जी जोर देते थे। उनका इस सम्बन्ध मे विचार इस प्रकार का रहाः

"मैं नहीं मानता कि अस्पृश्यों के लिये अलग कुयें खुदवाने से अस्पृश्यता की बुराई चालू रहेगी। अस्पृश्यता के परिणामों को जड़ से मिटाने में बहुत समय लगेगा। इस डर से कि दूसरे हिन्दू अस्पृश्यों को कभी सार्वजनिक कुओं से पानी नही भरने देंगे अन्य कुयें बनवा देना उचित होगा। मेरा तो यह विश्वास है कि अगर अस्पृश्यों के लिये उन्हें कुयें बनवा दिये जाय तो दूसरे कई लोग भी इसका उपयोग करेंगे ।[2]

हरिजन सेवा के सम्बन्ध में गाँधी जी के उपरोक्त विचारों को देश की सरकार ने मान्यता प्रदान करके ही इनके उत्थान के लिये अनेक कार्यक्रम स्वतंत्रता के बाद के वर्षों मे क्रियान्वित किया है जिसका लाभ उन्हे मिला है। इसमें मुख्य रूप से उन्हें शिक्षा की सुविधा उपलब्ध करना, रोजगार उपलब्ध कराने में प्राथमिकता देना, हरिजन बस्तियों में पेय जल कूप का निर्माण करवाना, कमजोर वर्ग के हरिजनों के लिये घरो का निर्माण करवाना आदि प्रमुख है। हरिजनों के कल्याण के लिये देश के अनेक विकास खण्डो में "स्पेशल कम्पोनेन्ट प्लान" नाम से अलग से एक योजना ही चलाई जा रही है जिसके तहत उन्हे आत्मनिर्भर बनाने के लिये अनेक सुविधायें उपलब्ध कराई जा रही है। इसके अतिरिक्त एकीकृत विकास के आर्थिक कार्यक्रमों मे अन्य के लिये 33 प्रतिशत अधिकतम अनुदान के अपेक्षा हरिजन गरीबों को 50 प्रतिशत का अनुदान उपलब्ध कराया जा रहा है।

सर्वधर्म सम्भाव :

गाँधी जी सभी धर्मों को समान रूप से ही मानते थे। सभी धर्मों के प्रति उनके दिल मे बराबर का सम्मान था । गाँधी जी की धारणा रही कि हम सभी धर्मों का वैसा ही आदर करें जैसा हम अपने धर्म का करते है।

"शास्त्रों मे कहा गया है, जो दूसरे धर्म की निन्दा करता है वह अपने ही धर्म की निन्दा करता है"।[3]

सभी धर्मों का सम्मान करने से ही देश में आपस में प्रेम की बढ़ोत्तरी होगी, साम्प्रदायिक वैमन्यस्यता दूर होगी और सभी लोग मिल-जुल कर समाज व देश की प्रगति के लिये कार्य करने में सफल होंगे।

ईशावास्यमिदं सर्व यात्कि जगत्यांजगत।

तेन त्यक्तेन भुंजीथाःमायुधः कस्यस्विदनम्।।

---

1. गाँधी : हरिजन सेवकों के लिये
2. यंग इन्डिया :19-2-1925
3. बेन, मनु : बिहार कौमी आग में

"ईश का आवास यह सारा जगत।

जीवन यहां जो कुछ, उसी से व्याप्त है।

अतएव करके त्यांग उसके नाम से

तूभोग कर उसका, तुझे जो प्राप्त है।

धन की किसी के भी न रख तू वासना ।"

गाँधी जी ने इस श्लोक के विषय में कहा था कि भारत का सब धर्मग्रंथ यदि समुद्र में डूब जाय और यह श्लोक ही बच जाय तो भी मानवता का उद्वार करने की क्षमता इसमे है।[1]

गाँधी जी की प्रार्थना :

व्यक्ति और समाज का जीवन उत्तरोत्तर विकसित और समृद्धि हो इस दृष्टि से सभी धर्मों ने अपना-अपना नीति शास्त्र बनाया है और नैतिक मूल्यों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह आदि ग्यारह व्रतों के रूप में प्रस्तुत किया है और उसको नित्य की प्रार्थना का अंग बनाया है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्रभय वर्जन,

सर्व धर्म समानत्व, स्वदेशी। विनम्र व्रत निष्ठा से, ये एकादश सेव्य है।

इन ग्यारह व्रतों मे सभी धर्मों का सार आ गया है और उन्हें समाज व्यवहार के मूल तत्व कहा जा सकता है। इनकी एक विशेषता यह भी है कि एक को छोड़ कर दूसरे को अपनाना कठिन है। वस्तुतः सारे तत्व परस्पर निर्भर और एक दूसरे के पोषक हैं।[2]

गाँधी जी ने नये समाज के स्वतः निर्माण के लिये प्रत्येक व्यक्ति के वास्ते दैनिक तीन व्रत करने की संस्तुति की है। इसका पालन करने से ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमे न तो शोषण होगा, न वर्ग होगा, अभाव, अत्याचार और अज्ञान न होगा।

सामूहिक प्रार्थना

सभी धर्म सम्प्रदाय के लोग एक स्थान पर बैठ कर सभी धर्मों की एक साथ प्रार्थना करेंगे। अपने को एक भगवान का पुत्र समझकर कार्य करेंगे। इससे धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, जो संघर्ष और विवाद है, वे समाप्त होंगे । सभी मे उपभोग, को उत्पादन को, भगवान में समर्पित करके बन्धुत्व की भावना उत्पन्न होगी।

---

1. साधक, शरद कुमार : राजनीतिक का विकल्प, पृष्ठ 273-274
2. साधक, शरद कुमार : राजनीतिक का विकल्प, पृष्ठ 275

सामूहिक सफाई

परमात्मा के बाद पाखाना से लेकर सभी प्रकार की गन्दगी को स्वच्छ करने का कार्य सभी करेंगे। इससे गन्दी चीजें जमीन के अन्दर जायेगी और अच्छी खाद बन कर अच्छे अन्न और फल के उत्पादन में वृद्धि करेंगे। साथ ही साथ जितना भी बाहर और भीतर की व्यक्ति की गन्दगी है उसे स्वच्छ करने का अभ्यास बढ़ेगा। आज भंगी का जो स्वच्छता का कार्य है और उसके कारण जो अस्पृश्यता की और गन्दी जाति की भावना उत्पन्न होती है। वह समाप्त हो जायेगी। यह कार्य पवित्र माना जायेगा। इससे छोटी बड़ी जाति की भावना समाप्त हो जायेगी।

सामूहिक कताई

यह उत्पादक श्रम का प्रतीक है। इससे हम स्वावलम्बी होंगे। श्रम करने से हमारा शरीर पुष्ट होगा। सभी को उत्पादक शारीरिक श्रम करके ही उपभोग करने का अधिकार है। हम किसी का शोषण नही करेंगे । आज शारीरिक श्रम करने वाला किसान और मजदूर छोटा माना जाता है, यह भेद समाप्त होगा क्योंकि शरीर श्रम करना पवित्र माना जायेगा, श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। हम दूसरे की पसीने की रोटी न खाकर अपने श्रम की रोटी खायेंगे और अच्छा होगा कि हम अपने श्रम की रोटी दूसरों को खिलायें या यदि हम दूसरे के श्रम की रोटी खाते हैं तो बिना उसकी मर्जी के न खायें। इससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन परावलम्बी न होकर स्वावलम्बी होगी।

इस कार्यक्रम से वर्ग विहीन, शोषण विहीन, समाज का गाँधी जी का सपना पूरा होगा। गाँधी जी इसीलिये श्रम को, आर्थिक [illegible] न मानकर सांस्कृतिक आवश्यकता मानते थे। इस विचार धारा से देशवासी बंटते रहे है जो ठीक नहीं है।[1]

अतः यदि सही माने में गांव को आत्मनिर्भर बनाना है तो ग्रामीण विकास का कार्यक्रम गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों को सम्मिलित कर के ही क्रियान्वित किया जाय।

नारी समाज की समस्याएं और समाधान :

गाँधी जी ने अपने समाज-सुधार आन्दोलन में स्त्रियों की दशा सुधारने पर बहुत अधिक बल दिया है। भारतीय -समाज जीवन के मंच पर उनके अवतरण के पूर्व भी छिटपुट कार्य स्त्रियों के उत्थान की दिशा में हो रहे थे किन्तु गाँधी ने जैसे उनकी आत्मा को छू दिया। भारतीय नारी-जागरण के इतिहास में गाँधी-युग स्वर्ण-युग है। उन्होंने नारी के मूल में छिपी महती मातृशक्ति के दर्शन किये, उन्होंने देखा कि नारी त्याग की प्रतिमा है, उसके स्वभाव में ही दान है, प्रेम है, अहिंसा है। इसलिये अहिंसात्मक जागरण की दिशा में वास्तविक रूप से कोई कार्य कर सकना तब तक सम्भव नहीं जब तक मूर्छित नारी शक्ति को उसकी पूर्ण गरिमा तक जागृत न कर दिया जाय। गाँधी जी ने

1. चतुर्वेदी, डी०एन० : गाँधी अर्थनीति, पृष्ठ 313-314

भारतीय नारी के अन्दर छिपी त्याग वृत्ति और उसकी महती दान परम्परा को गृह की चहरदीवारी के बाहर निकाला और समाज तथा देश के व्यापक हितों में उसका प्रयोग किया।

जहाँ उन्होंने नारी को जगाया और सब प्रकार के बलात आरोपित बन्धनों से उसे बाहर निकाला, सब प्रकार की अनीतियों और भय वर्जनाओं के बीच आश्वस्त किया, उसे वन्दिनी से विद्रोहिणी बनाया, वहीं उन्होंने उसकी मर्यादा भी स्थापित की। उन्होंने उससे एक ही आश्वासन की मांग की कि वह अपने को निम्न भोग वृत्तियों की पुतली न बनने देगी, वह वासनाओं की झंझा में अपनी आत्मा का दीपक बुझने न देगी, क्योंकि इसी भोग वृत्ति से उसकी दासता की श्रृंखला का निर्माण होता है। सार्वजनिक जीवन में, गृहजीवन में, सामाजिक जीवन में, सर्वत्र उन्होंने नारी को मुक्ति की दीक्षा दी। उसे दासी नहीं, अर्द्धांगिनी माना, उसे दिल बहलाव की वस्तु नहीं, जीवन की निरन्तर साधना में प्रेम और साहचर्य की दीपशिखा समझा। इस प्रकार गाँधी जी ने नारी को उसके पूर्ण गौरव तक उठाया।

कन्या के रूप में, भगिनी के रूप में, पत्नी के रूप में, माता के रूप में, सर्वत्र उसका एक ही नियुक्त कार्य स्वीकार किया- पुरूष की सद्वृत्तियों का जागरण, उसे निरन्तर धर्म-पथ पर, संस्कार के मार्ग पर ले चलना-उपदेश से नहीं, प्रेमल धमकियां देते हुए, सेवा और त्याग के द्वारा। इसीलिये जहां उन्होंने नारीको जगाया और उसे निर्बन्ध किया, वहीं उसे पाश्चात्य सभ्यता की भोगवृत्ति की ओर जाने से रोका। उनकी आदर्शनारी आज श्रृंगार-विलास में बह रही, प्रत्येक दिशा में विद्रोहिणी, किसी भी नियम-बंधन को न मानने वाली नारी नहीं थी, वह गृह को संभालनेवाली, बच्चों का निर्माण करने वाली, दामपत्य में स्नेह का सिंचन करने वाली, समाज के हित के लिये निजी हितों और स्वार्थों का त्याग करने वाली थी। वह पुरुष का बन्धन नहीं, मुक्ति थी। उसको सही दिशा में ले जाने वाली सहचरी थी। गाँधी जी नारी को समस्त कुरीतियों और अनिष्ट परम्पराओं के बन्धन से मुक्त कर उसे उच्चादर्शों की ओर प्रेरित करते थे। वह उसे परम्परावादिनी और गतानुगतिकताओं की अनुगामिनी नहीं बनाना चाहते थे । यद्यपि उसे पुरातन उच्चादर्शो और परम्पराओं से विरहित देखने को भी वे तैयार नहीं थे।

स्त्री-पुरुष की अर्धांगिनी मानी जाती है। यदि हमारा आधा शरीर मुर्दा हो जाय तो हम मानते हैं कि हमें लकवा मार गया है और हम बहुत से कामों के अयोग्य हो जाते हैं। यदि स्त्री की उपेक्षा की जायेगी तो समाज को लकवा मार जायेगा। समाज के सर्वांगीण विकास और प्रगति के लिये स्त्री को सम्मान और बराबरी का दर्जा देना अत्यावश्यक है। गाँधी जी ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा था, स्त्री पुरुष की सहचरी है। उसकी मानसिक शक्तियां पुरुष से जरा भी कम नही है। उस पुरुष के छोटे-छोटे कामों में हाथ बटाने का अधिकार है और आजादी का उसे उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को। अपने क्षेत्र मे उसकी सर्वोच्चता उसी प्रकार स्वीकार की जानी चाहिये जिस प्रकार पुरूष की उसके क्षेत्र में।... स्त्री और पुरुष का दर्जा समान

है पर वे एक नहीं हैं वे ऐसी अनुमप जोड़ी हैं जिसमें प्रत्येक दूसरे का पूरक है। वे एक दूसरे के लिये आश्रय- रूप हैं-यहां तक कि एक के बिना दूसरे की हस्ती की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इस तथ्यों से यह आवश्यक निष्कर्ष निकलता है कि जिस बात से एक का भी दर्जा घटेगा उससे दोनों की बराबर बरबादी होगी ।[1]

नारी पुरुष की दासी नहीं, बल्कि बहुत सी बातों में पुरुष से श्रेष्ठ है । उनके विचारानुसार स्त्रियों में नवीन भावनाओं के सृजन की तथा उनको व्यवहार में लाने की जो शक्ति विद्यमान है वह पुरुषों में नहीं है। पुरूष अपेक्षाकृत अविचारी, उतावला और सदैव नवीनता की खोज में लगा रहने वाला होता है। स्त्री गम्भीर धैर्यवान और अधिकतर पुरानी वस्तुओं से चिपक कर रहने वाली होती है। इसलिये जब भी कोई नई वस्तु सूझ पड़ती है तब उसकी उत्पत्ति स्त्री के हृदय कमल से होती है। इस प्रकार के उद्भूत वस्तु के प्रति उसकी अचल श्रद्धा होती है और इस कारण उसका प्रचार शीघ्र हो सकता है। अतएव मेरी मान्यता है कि यदि शिक्षित स्त्रियां पुरूषों की नकल करना छोड़ दें और स्त्रियों सम्बन्धी महान् प्रश्नों पर स्वतंत्र रुप से विचार करें तो हम उनकी उलझनों को आसानी से सुलझा सकते हैं।[2]

आधुनिक भारतीय इतिहास में गाँधी जी पहले व्यक्ति हुए जिन्होंने बड़ी निर्भीकता और साहस से समाज के सामने यह बात रखी कि शताब्दियों से शोषित और उत्पीड़ित नारी अब पुरुष के अनैतिक प्रभुत्व को किसी प्रकार स्वीकार नहीं करेगी। गाँधी जी का यह दृढ़मत था कि समाज के आधे भाग की उपेक्षा कर हम किसी भी प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रगति नहीं कर सकते थे।

श्रीमती रेणुका के विचार से सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन स्त्रियों की स्थिति में उस समय हुआ जब गाँधी जी ने आजादीं के सन्घर्ष में महिलाओं का आह्वान किया। पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं की उपेक्षा कर स्त्रियों ने गाँधी जी के अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन में सहर्ष और सक्रिय भाग लिया। उनके असाधारण चुम्बकीय व्यक्तित्व का प्रभाव था कि घरों की चहरदीवारियों से बाहर निकल कर महिलाओं ने पुरुषों के समान राजनीतिक और सामाजिक आन्दोलन में भाग लेना शुरू कर दिया ।[3] वास्तव में गाँधी के आगमन के साथ ही सामाजिक क्षेत्र में एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। बुरका और परदा में रहने वाली अभिजात वर्ग की स्त्रियां भी उनके आन्दोलनों मे सक्रिय भाग लेने लगी। इस प्रकार समाज का वह आधा भाग जो सुषुप्त था जाग उठा। स्वयं गाँधी जी ने इसके सम्बन्ध मे कहा था, भारतीय पुरूषों ने भारतीय स्त्रियों को बहुत पिछड़ा हुआ

1. गाँधीः स्त्रियां और उनकी समस्यायें,पृष्ठ 4,5
2. स०गा०वा० : भाग 4,पृ 85
3. उन्नीयन , टी०के०एन० : गाँधी एण्ड सोशल चेंज, पृष्ठ 138

रखा है। आजकल सुधार का दम्भ करने वाले अथवा खा-पीकर सुखी रहने वाले बहुतेरे भारतीय भले ही वे हिन्दू हों या मुसलमान, पारसी हों या इसाई -स्त्रियों को या तो खिलौने के समान रहने देते हैं या अपने विषय-भोग के लिये मनमाने ढंग से रखते हैं... यदि भारत में पचास प्रतिशत मानव प्राणी हमेशा अज्ञान की दशा में और खिलौने बन कर रहें तो इससे भारत की पूँजी में कितना घाटा होगा यह सहज ही समझा जा सकता हैं ।[1]

गाँधी ने स्त्रियों से पुरुषों के द्वारा छीने गये अधिकारों को मागने का आग्रह किया । स्त्री - पुरुष के पारस्परिक सहयोग और सदभाव से ही समाज का संतुलित और सर्वतोमुखी विकास सम्भव है। स्त्री-पुरुष के अधिकारों में जब तक संतुलन नहीं रहेगा, विकास की प्रक्रिया एकांगी होगी। इसको स्पष्ट करते हुए अपने अहमदाबाद में दिये गये एक भाषण मे उन्होंने कहा था । "मैं 1915 से भारत के विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर रहा हूँ और इस बीच यह कहता आया हूं, जब तक स्त्री-पुरुष के साथ खड़ी होकर अपना हक नहीं मांगती तब तक उसकी उन्नति नहीं हो सकती और तब तक हमारी उन्नति भी होना असम्भव है। यदि गाड़ी का एक पहिया चालू रहे और दूसरा टूट जाय तो वह गाड़ी ठीक-ठीक नहीं चल सकती।"[2]

गाँधी जी स्त्रियों की मर्यादा और सम्मान की रक्षा के लिये बराबर पुरुषो को भी प्रेरित करते रहे। उन्होंने स्त्रियों को अबला कहने वाले पुरुषों को बार-बार चेतावनी दी कि स्त्री को आदर और सम्मान का स्थान दिये बिना भारतीय समाज का उत्थान नहीं हो सकता है। स्त्रियों को भी पुरुषों की स्वेच्छाचारिता और स्वामित्व की भावना के विरुद्ध संघर्ष करने को प्रेरित किया।

पुरुष अपने कर्त्तव्य का पालन करे अथवा न करें स्त्रियाँ अपने अधिकारों को क्यों नहीं सिद्ध करती? स्त्रियों को मताधिकार अवश्य मिलना चाहिये लेकिन जो स्त्रियाँ अपने सामान्य अधिकारों को नहीं समझती अथवा समझते हुए भी उन अधिकारों को प्राप्त करने की शक्ति नहीं, उन्हें उनके कर्तव्य के प्रति जागरुक करना अत्यावश्यक है। गाँधी जी स्त्रियों को मतदान का हक और समान कानूनी दर्जा देने के प्रबल समर्थक थे।[3] उन्होंने कहा था मेरी राय मे कानून की तरफ से स्त्री के लिये ऐसी कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये जो पुरुष के लिये नहीं हैं।[4] स्त्रीजाति के प्रति अन्याय पूर्ण भेदभाव, युगधर्म के विरुद्ध है।[5] उसको अबला कहना उसकी मानहानि करना है।[6] गाँधी के

1. सं०गा०वा० : भाग 6,पृष्ठ 299-300
2. सुमन, रामानाथ : समाज सुधार, समस्यायें और समाधान, पृष्ठ 95
3. गाँधीः स्त्रियां और उनकी समस्याएं, पृष्ठ 31
4. गाँधीः स्त्रियां और उनकी समस्याएं, पृष्ठ 5
5. गाँधीः स्त्रियां और उनकी समस्याएं, पृष्ठ 6
6. गाँधीः स्त्रियां और उनकी समस्याएं, पृष्ठ 106

शब्दों मे कानून बनाने वाले की हैसियत से पुरुष ने अबला कहलाने वाली जाति पर जो पतन लादा है, उसके लिये उसे भयंकर दण्ड भोगना पड़ेगा।[1]

गाँधी ने असहयोग आन्दोलन तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सक्रिय् भाग लेने के लिये स्त्रियों को प्रेरित किया। भारतीय नारी का सारा समय घरेलू कार्य करने में व्यतीत होता था। उसके लिये सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेना कठिन था। गाँधी ने स्त्रियों के सामाजिक विकास और प्रगति के लिये घर से बाहर आने का आग्रह किया। उन्होंने कहा था ज्यादातर तो स्त्री का समय घर के जरूरी कामकाज करने में नहीं लगता, बल्कि अपने पति के अंहकार मूलक सुख की और अपने मिथ्याभिमान की पूर्ति में खर्च होता है। मेरे विचार से स्त्रियों की यह घरेलू गुलामी हमारे जंगलीपन की निशानी है।[2] उन्होंने इसी तरह बार-बार पुरुषों के प्रमुत्व के विरुद्ध अहिंसात्मक ढंग से संघर्ष करने के लिये स्त्रियों को प्रेरित किया और कहा मैं स्त्रियों को ऐसी सलाह देता हूँ। कि वे तमान अनचाही और भद्दी पाबन्दियों के खिलाफ सविनय विद्रोह शुरू कर दें। स्वेच्छा से स्वीकार की हुई पाबन्दियां ही लाभ पहुँचा सकती है। ऐसे सविनय विद्रोह से किसी तरह की हानि होने की सम्भावना नहीं है।[3]

पुरुषों के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध स्त्रियों को संघर्ष करने के आवाहन के साथ पुरुषों को स्त्रियों का सम्मान और आदर करने को कहा यदि आत्म शुद्धि द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो नारी को हमें अपनी वासना का शिकार नहीं बनाना चाहिये। अशक्तों की रक्षा का नियम यहां विशेष रूप से लागू होता है। मेरे लिये तो गोरक्षा के अर्थ में हमारी नारी जाति की रक्षा भी शामिल है। जब तक हम अपनी माताओं, बहिनों तथा बेटियों के समान देश की सभी महिलाओं का सम्मान नहीं करेंगे तब तक हम भारत का नवनिर्माण नहीं कर सकेंगे। हमें अपने उन पापों को धो डालना चाहिये जो हमारे भीतर के मनुष्य की हत्या करते और हमें जानवर बना देते हैं।[4] इस प्रकार पुरुषों को स्त्रियों के प्रति परम्परागत हीन भावना का परित्याग करना चाहिये। मध्ययुग में स्त्रियों का सम्मान समाज में गिरा। इस मध्ययुगीन भावना को छोड़कर प्राचीनकाल में स्त्रियों को जो प्रतिष्ठा मिली थी उसे देना चाहिये । जहां स्त्रियों की पूजा होती है वहीं देवता निवास करते हैं। ऐसी ही उनकी भी मान्यता थी।

गाँधी स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार देने के पक्ष में थे। वे इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने से स्त्रियों में दुराचार फैलेगा। इस भ्रामक धारणा का निवारण करते हुए गाँधी ने कहा था मैं इस प्रश्न का उत्तर एक प्रति प्रश्न पूछ कर दूंगाः क्या पुरुष की स्वाधीनता से और उसके हाथ में सम्पत्ति होने से पुरुषों में दुराचार नहीं फैला है? अगर आप का उत्तर हां है तो फिर स्त्रियों में भी ऐसा ही होने दीजिये । और जब स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह मिल्कियत आदि का

1. गाँधीः स्त्रियाँ औरे उनकी समस्यायें, पृ० 106
2. गाँधीः वीमेन एण्ड सोशल इनजस्टिस, पृ० 181
3. गाँधीः स्त्रियाँ औरे उनकी समस्यायें, पृ० 29
4. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 13-4-1921

अधिकार मिल जायेगा, तो पता चल जायेगा कि इन अधिकारों के उपभोग का उनके सदगुणों या दुर्गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

गाँधी स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर थे। वे भारतीय महिलाओं को अबला नहीं समझते थे। अतीत में अपने चरित्रबल द्वारा जो साहसिक कार्य महिलाओं ने सम्पन्न किये थे, गाँधी उनके प्रशंसक थे। आज राष्ट्र को उनके सहयोग की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्हें रचनात्मक कार्यों की ओर उन्मुख होने का आग्रह किया।[2]

गाँधी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1937 ई० में भारतीय विधान सभा ने हिन्दू विमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार हिन्दू विधवाओं को पति के सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार मिला था। बंटवारा कराने का भी अधिकार मिला।[3]

भारतीय नारियों को सीता, सावित्री तथा दमयंती आदि के व्यक्तित्व से प्रेरणा लेनी चाहिये । कोकोनाडा में भाषण देते हुए गाँधी जी ने कहा, हम रावण राज्य को राम राज्य में बदलने का प्रयत्न कर रहें है। और आप जानती हैं उस अशोक वाटिका में सीता देवी ने रावण के भेजे हुए बढ़िया-बढ़िया आभूषणों और चटपटे तथा स्वादिष्ट भोजन अस्वीकार कर दिये थे- आप उन्हीं सीता जी की उत्तराधिकारिणी हैं। आप से मैं उन्ही के पद्चिन्ह पर चलने के लिये कहता हूं। हमारे शास्त्रों ने मुझे विश्वास दिलाया है कि एक सती स्त्री का आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। मैं चाहता हूं आप में भी वही पवित्रता निवास करे जो सीता जी मे थी।[4]

इस प्रकार गाँधी ने स्त्रियों को सीता जी की चारित्रक शुचिता का अनुकरण करने को कहा। आभूषणों, बहुमुल्य वस्त्रों तथा सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रति आधुनिक नारी का जो लगाव था उसे गाँधी जी पसन्द नहीं करते थे। गाँधी का सारा जीवन आत्म-परिष्कार तथा सत्यान्वेषण का था। उन्हें जीवन के व ाह्याडम्बरों तथा आधुनिक सभ्यता के भौतिक चाकचिक्य से घोर घृणा थी। स्त्री समाज को आधुनिक सभ्यता के संक्रामक रोगों से मुक्त रखना चाहते थे । पाश्चात्य नारी जगत भौतिक सुख को ही सब कुछ मान कर आगे बढ़ रहा था।

गाँधी जी आध्यात्मिकता और नीतिपरक समाज के पोषक थे। पश्चिम की कोरी भौतिकवादिता से भारतीय नारी समाज को दूर रखना चाहते थे। गाँधी जी भारत के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण सत्य, अहिंसा, सादगी, सात्विकता आदि के आधार पर ही करना चाहते थे। इसलिये पश्चिमी सभ्यता की भोगवादिता से भारतीय नारी समाज को अलग रखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा श्रेष्ठ चरित्र बल होता है, स्त्री और पुरुष में चारित्रय की दृष्टि से स्त्री का आसन अधिक ऊंचा है

1. गांधी: वीमेन एण्ड सोशल इनजस्टिस, पृ० 186-87
2. गाँधी : वीमेन एव्ड सोशल इनजस्टिस्, पृ० 198
3. हि०क०इ०पी० : खण्ड 11, पृ० 995
4. सं०गा०वा०: भाग 4,पृ० 511-12

क्योंकि आज भी वह त्याग, मृक तपस्या, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान की मूर्ति है। पुरुष भले ही अहंकार पूर्वक यह मान ले कि स्त्री की अपेक्षा उसका ज्ञान अधिक ऊंचा है लेकिन प्रायः उसकी स्वाभाविक सूझ पुरुष के इस ज्ञान से अधिक सही सिद्ध हुई है। राम के पहिले सीता और कृष्ण के पहिले राधा के नाम का उल्लेख अकारण नहीं है, उसका उचित कारण है।[1] उन्होंने आगे लिखा है कि स्त्री को मैं देवी समझता हूं अबला नहीं। स्त्री आज भी बलिदान, कष्ट सहन, नम्रता, श्रद्धा और ज्ञान की प्रतिमा है और इसलिये स्त्री- पुरुष दोनों मे एक मात्र, स्त्री ही अधिक उच्च और श्रेष्ठ है।[2]

महात्मागाँधी नारी की शील रक्षा को बड़ा महत्व देते थे और ऐसे लोगो के प्रति जो उनके शील हरण के लिए उत्तरदायी थे उन्हें नर पिशाच मानते थे। वे यह भली भाँति जान गये थे कि भारतीय समाज ने स्त्री को इतना कमजोर बना दिया है कि जब कोई नर-पशु वासना भरी उस पर दृष्टि डालता है और बलात्कार करना चाहता है तो वह भय से कांप उठती है। पुरुष के दुष्कर्म की नीचता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है, मैं पुरुष होने में लज्जा का अनुभव करता हूं। जिस पुरुष को स्त्री ने जन्म दिया है, जिसे उसने नौ महीने तक अपने गर्भ मे रखा है जिसके लिये उसने कष्ट सहन किये, जिसे सुलाकर ही वह सोई है और जिसका पेट भरने के बाद ही उसने भोजन किया है, क्या वह पुरुष अपनी माता की जाति का ऐसा जन्मजात शत्रु है कि उससे स्त्रियां भय खाती रहें? स्त्री शेर को देखकर नहीं भागती किन्तु वह पुरुष, की वासना से अवश्य भाग खड़ी होती है।[3] पुरुष के इस जघन्य अपराध की प्रवृत्ति की गाँधी जी ने कटु निन्दा की और यहां तक कहा कि यदि किसी देश के लोग स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकते तो वे कतई मनुष्य नहीं है और दास बने रहने के योग्य हैं।

गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन मे तथा समाज -सुधार सम्बन्धी अनेक आन्दोलनों में स्त्रियों को भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया। राजकुमारी अमृत कौर तथा सरोजिनी नायडू जैसी बहुत सी महिलाओं ने सार्वजनिक जीवन मे देश का नेतृत्व किया और सिद्ध किया कि वे पुरुषों से देश का नेतृत्व करने की क्षमता मे कम नहीं हैं। गाँधी का विश्वास था कि जब तक पवित्र चरित्रवाली महिलायें सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग नहीं लेगी आजादी की लड़ाई सफलतापूर्वक संचालित नहीं की जा सकती । वे जानते थे कि जब तक स्त्रियां सार्वजनिक जीवन मे भाग न लेगी तब तक देश का उद्धार नहीं हो सकेगा। सार्वजनिक जीवन में वही स्त्रियां भाग ले सकती थीं जो तन और मन से पवित्र थी। उनकी यह भी मान्यता थी कि जब तक ऐसी स्त्रियां हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन को पवित्र न करेगी तब तक रामराज्य अथवा स्वराज्य का मिलना असम्भव होगा।[4]

---

1. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 15-9-1921
2. हिन्दी नवजीवन : 23-9- 1921
3. हिन्दी नवजीवन : 15-11-1922
4. हिन्दी नवजीवन : 5-2-1925

उन्होंने सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाली महिलाओं को शुद्ध नैतिक जीवन व्यतीत करने पर बल दिया। वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्रियों को पुरुषों के बराबर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समान सुविधा देने के कट्टर पक्षपाती थे। उनका विचार था कि आजादी मिलने के बाद यदि महिलायें अपना जीवन सुखी और सम्पन्न नहीं बना पाती हैं। तो स्वतंत्रता की प्राप्ति निरर्थक होगी।

राजाराम मोहन राय के समय से ही पाश्चात्य सभ्यता की श्रेष्ठता को भारत के बुद्धिजीवियों तथा अभिजातवर्ग के लोगों ने स्वीकार कर लिया था। प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मूल्यों और आदर्शों को नकारना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में गाँधी ने सुशिक्षित महिलाओं को चेतावनी देते हुए कहा था कि पाश्चात्य रीति-रिवाजों की, जो देश की परिस्थिति के प्रतिकूल थे, नकल करने से हम समस्या को हल नहीं कर सकेंगे। हमें भारत की परिस्थिति और अपने राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल उपायों की योजना करनी चाहिये। बहिनों का कर्तव्य है कि वे वातावरण शुद्ध रखें, अपने निश्चय को दृढ़ और अटल बनाये। दिग्मुढ़ता के दोष से बचें, अपनी सभ्यता और संस्कृति के सर्वोत्तम तत्व का पोषण करें और उसके दोषों को दूर करें। यह काम सीता, द्रौपदी, सावित्री, दमयंती आदि के समान प्रायः स्मरणीय सतियों के जन्म धारण करने से ही हो सकता है। घबलेबाजी से या अधिकाधिक आकर्षक बनने से कदापि नहीं हो सकता ।[1]

स्त्रियों को सतर्क करते हुए गाँधी जी ने कहा कि श्रृंगार प्रियता से दूर रहना चाहिये सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रति नारियों का झुकाव उनके स्वस्थ विकास मे बाधक है। चमकते आभूषण वास्तव में नारी की शोभा नहीं बढ़ाते बल्कि सादगी और चरित्र की शुचिता उसके आंतरिक सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। वही सौन्दर्य वास्तविक सौन्दर्य है। हृदय तथा मन की शुद्धता का विकास होना चाहिये । समाज सेवा के प्रति निवेदित हो स्त्रियों को उच्च आदर्शों और विचारों से प्रेरित होकर समाज और राष्ट्र के सही विकास में महत्त्पूर्ण भूमिका अदा करनी चाहिये। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि शिक्षित स्त्रियों को रचनात्मक कार्य करना चाहिये। अस्पृश्यता निवारण, अछूतोद्धार तथा नशाबन्दी आदि रचनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेना चाहिये । उन्होंने कहा भारत में मुट्ठी भर पढ़ी लिखी स्त्रियां हैं उन्हें अपने पश्चिमी सिंहासन से नीचे उतर कर हिन्दुस्तानी मैदान में आना होगा? पुरुषों नें स्त्रियों की उपेक्षा की, इतना ही नहीं उन्होंने स्त्रियों के साथ बुरा व्यवहार भी किया। इसके लिये वे अवश्य अपराधी हैं और इसके लिये उन्हें पूरा प्रायश्चित करना होगा। लेकिन जिन स्त्रियों ने अघंविश्वास त्याग दिया है और जिन्हें इस अन्याय का ज्ञान है उन्हें सुधार का रचनात्मक कार्य करना होगा ।स्त्रियों का उद्धार, अछूतोंद्धार, आम लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार और इसी तरह की अन्य सब समस्यायें समान महत्व की हैं और उस सबका सार यह है कि गांवों में घुसना चाहिये और देहाती जीवन को पुनः बनाना या सुधारना चाहिये।[2]

1. हिन्दी नवजीवन :7-1-1929
2. यंग इण्डिया : 23-5-1929

गाँधी जी चाहते थे कि ग्राम्य जीवन के उत्थान और विकास में स्त्रियों को खुलकर भाग लेना चाहिये ।वे ग्रामों को अपने रचनात्मक कार्यक्रमो की इकाई बनाना चाहते थे । उनका यह विश्वास था कि ग्रामों के विकास के माध्यम से ही भारत का वास्तविक विकास हो सकता था । नगरीय सभ्यता और संस्कृति जो आधुनिक युग में तीव्र-गति से विकसित हो रही थी उससे वास्तविक विकास सम्पूर्ण समाज का नहीं हो सकता था।

आभूषणों के प्रति स्त्रियों के उत्क ट प्रेम की निन्दा करते हुए गाँधी ने कहा, स्त्रियां हाथों और पैरों में जो गहने पहनती है वे उनकी दासता के चिन्ह है। पैर के कुछ गहने तो इतने भारी होते है कि उन्हेपहिन कर स्त्री दौड़ना तो दूर तेजी से चल भी नहीं सकती । कितनी स्त्रियां हाथों में इतने अधिक गहने पहन लेती हैं कि उन्हें पहिन कर हाथ से ठीक तरह से काम नहीं किया जा सकता । इसलिये मैं ऐसे गहनों को हाथ पैर की बेड़िया समझता हूं। नाक-कान बिधांकर छिदाकर जो गहने पहने जाते है उनकी उपयोगिता मेरी नजर में यही साबित हुई है कि उनके द्वारा आदमी औरत को जैसा नाच नचाता है उसे नाचना पड़ता है।[1] इस प्रकार गाँधी जी के विचार से स्त्रियों का आभूषण मोह उनकी सामाजिक स्थिति को दयनीय बना देता है। उनकी इस दुर्बलता के कारण पुरूष उनको अपना दासी बनाने में सफल हो जाता है यदि स्त्रियां अपनी सामाजिक स्थिति को सम्मानित बनाना चाहती हैं तो उन्हें आभूषणों के मोह का परित्याग करना होगा ।उन्होंने यहां तक कहा कि सोने की ईटों को दरिया में फेकना और स्त्रियों के गहने बनवाने में पैसा खर्च करना लगभग एक ही बात है।[2] आभूषण के लोभ और उससे जनित स्वार्थपरता में नारी की स्वाभाविक शक्ति के विकसित होने में अवरोध उत्पन्न किया है। स्त्री भोगों के सामने झुक न जाती तो वह दुनिया के सामने अपने भीतर की अपार शक्ति प्रकट कर सकी होती।[3] उन्हें भोग की प्रवृत्ति को छोड़कर सद्गुणों के विकास पर बल देना चाहिये। उनकी राय में स्त्री का सच्चा आभूषण उसका चरित्र है, उसकी पवित्रता है। सोना-चांदी और हीरे मोती सच्चे गहने नहीं हो सकते। सीता और दमयंती के नाम हमारे लिये क्यों इतने पवित्र हो गये हैं? उनके रत्नाभूषणों के कारण नही बल्कि उनके सद्गुणों के कारण ही आज हम श्रद्धा भक्ति के साथ उनकी याद करते है। भारत की देवियों से मैं यही कहूंगा कि शरीर को सोने चांदी और रत्नों से लाद लेना कोई सच्चा श्रृंगार नहीं है। सच्चा श्रृंगार तो हृदय को शुद्ध बनाने और आत्मा के सौन्दर्य को विकसित करने में है।[4] वे मानते थे कि सुन्दरता सौन्दर्य प्रसाधनो में नहीं है। सुन्दर वही है जो सुन्दर कार्य करता है। स्त्रियों को पुरुषों के समान समझना चाहिये। स्त्री जाति के प्रति अन्यायपूर्ण भेदभाव युग-धर्म के विरुद्ध है। लड़के के जन्म पर खुशियां मनाने और लड़की के जन्म पर शोक करने का मुझे कोई कारण नहीं

---

1. हिन्दी नवजीवन : 9-1-1930
2. हिन्दी नवजीवन : 9-1-1930
3. यंग इण्डिया : 7-5-1-931
4. हरिजन सेवक : 19-1-1934

दीखता । दोनों ही भगवान की देन है । दोनों को जीवन का समान अधिकार है। संसार का प्रवाह जारी रखने के लिये दोनों की एकसी आवश्यकता है।[1] इस प्रकार लड़के और लड़की में सामाजिक तथा आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से भी कोई अन्तर नहीं है। इसलिये इन दोनों में अन्तर बरतना समाज को पंगु बनाना है।

गाँधी जी आधुनिक लड़कियों में बढ़ते हुए फैशन की भावना की कटु आलोचना की है। आधुनिकता के प्रवाह में प्राचीन शाश्वत सामाजिक मूल्यों के परित्याग के कारण आधुनिक युवतियां किस प्रकार पथ भ्रष्ट हो रही थी, इसका उन्होंने मार्मिक चित्रण इस प्रकार किया: आधुनिक लड़की एक से अधिक मजनुओं की लैला बनना पसन्द करती है। एडवेंचर-दुस्साहसिकता-उसे प्रिय है। वह वायु, वर्षा, धूप से अपने बचाने के लिये नहीं बल्कि लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिये वस्त्र धारण करती है। वह अपने को रंग कर प्रकृतिदत्त रूप को मात करना और इस प्रकार असाधारण दिखाना चाहती है। अहिंसा का मार्ग ऐसे लड़कियों के लिये नहीं है।[2] शिक्षित युवतियों में व्याप्त दुर्बलताओं पर प्रहार करने में गाँधी जी ने जरा भी संकोच नहीं किया। नारी समाज का यथार्थवादी चित्रण जैसा गाँधी ने किया है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। वे छोटी से छोटी सामाजिक बुराई को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते थे और उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूरगामी परिणामो का बड़ा ही सही आकलन करते थे। युगद्रष्टा की व्यापक दृष्टि उन्हें प्राप्त थी और उस दृष्टि के अनुसार समाज को सत्य, अहिंसा, निर्भीकता, साहस, समानता और बंधुता के आधार पर विकसित करना चाहते थे। उनकी विचारधारा के अनुसार मूल में स्त्री पुरुष एक हैं, ठीक उसी तरह उनकी समस्या भी मूल में एक होनी चाहिये। दोनो एक ही प्रकार का जीवन बिताते हैं, दोनो की एक ही भावनायें हैं, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक की सक्रिय सहायता के बिना दूसरा जी ही नहीं सकता ।[3]

पुरुष की माता, उसकी निर्मात्री और उसकी मूक पथ-प्रदर्शिका स्त्री को यदि समाज सम्मान नहीं देगा तो वह समाज जीवंत नहीं रह सकता। गाँधी जी स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरव का विस्तार समानता के स्तर पर ही करना चाहते थे। अतीत की उज्ज्वल परम्परा को जाग्रत रखते हुए उन्होंने स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए मद्रास यात्रा के अवसर पर कहा था, मैं तो चाहता हूं कि स्त्रियों में सीता की सी पवित्रता का वह तेज हो कि जिसके सामने रावण जैसे समर्थ पुरुष को भी हार माननी पड़ी। अगर आप में ऐसा तेज हो तो हिन्दुस्तान में आप ही का डंका बजे और दुनियां को आप स्वर्ग सा बना दे। यही नही कि आप एक कस्तूरबा टस्ट का काम चलायें बल्कि मैं तो चाहता हूं कि आप राष्ट्र के दूसरे सारे कामों में भी ज्यादा से ज्यादा हाथ बटायें।[4]

उन्होंने यह सीख दी कि स्त्रियों को अपनी रक्षा के लिये पुरूषों पर आश्रित नहीं रहना चाहिये। औरतों को भी मर्दों की तरह आजादी महसूस करनी चाहिये।

---

1. हरिजन, (अंग्रेजी) : 18-5-1938
2. हरिजनः 13-12-1938
3. हरिजनः 24-2-1940
4. हरिजन सेवकः 5-5-1946

बहादुरी मर्दों की बपौती नहीं है। अपने में अधिक साहस तथा आत्म विश्वास पैदा करना चाहिये। यदि स्त्रियां भीरु बनी रहेगी तो असमाजिक तत्व उन पर हावी रहेंगे। हिन्दुस्तान की औरतें कभी अबला नही थी। वे भूतकाल में अपनी वीरता के लिये प्रसिद्धि थी और बहादुरी के काम उन्होंने तलवार से नहीं बल्कि अपने चारित्र्य की शक्ति से किये थे।[1] इसके विपरीत स्त्री को अपना मित्र या साथी मानने के बदले पुरुष ने अपने को उसका स्वामी माना है । स्त्रियों को यह सिखाया गया है कि वे अपने को पुरुषों की दासी समझें। असमानता और अत्याचार पर आधारित इस व्यवस्था का विरोध करने का स्त्रियों को पूर्ण अधिकार है । जिस रुढ़ि और कानून के बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं था और जिसके लिये केवल पुरुष ही जिम्मेदार है, उस कानून और रुढि के जुल्मों ने स्त्री को लगातार कुचला है । अहिंसा की नींव पर रचे गये जीवन की योजना में जितना और जैसा अधिकार पुरुष को अपने भविष्य की रचना का है उतना और वैसा ही अधिकार स्त्री को भी अपना भविष्य तय करने का है । .... इसलिये कांग्रेस वालों का कर्तव्य है कि वे स्त्रियों को उनकी मौलिक स्थिति का बोध करायें और उन्हें इस तरह की शिक्षा दें जिससे जीवन में पुरुषों के साथ बराबरी के दरजे से हाथ बटाने योग्य बनें । गाँधी जी का मत था कि जब तक राष्ट्र की जननी स्वरूप हमारी स्त्रियां ज्ञानवान नहीं होती और उन्हें स्वतंत्रता नही मिलती तथा उनसे सम्बन्धित कानूनों, रिवाजों और पुरानी रुढ़ियों मे अनुकूल परिवर्तन नहीं किये जाते, तब तक राष्ट्र आगे नहीं पढ़ सकता।[2] इस प्रकार सम्पूर्ण समाज सुधार के लिए महात्मा गाँधी स्त्रियों की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे।[3]

पर्दा प्रथाः

पर्दा प्रथा नारी समाज के लिये अभिशाप था। इसके कारण स्त्री को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यों में पुरुष के साथ समानता के स्तर पर कार्य करने का मार्ग बन्द हो जाता था नारी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का मार्ग अवरूद्व हो जाता था। इस कुप्रथा के कारण नारीशिक्षा की सुविधा से संचित हो जाती थी जिसका प्रभाव उसकी संतानों पर भी पड़ता था। आज के युग में यह सोचना कितना भ्रामक है कि स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के लिये पर्दाप्रथा आवश्यक है। गाँधी जी ने इस प्रथा की तीव्र विरोध करते हुए कहा था कि पवित्रता कुछ बंद घर के भीतर नहीं पनपती। वह ऊपर से भी लादी नहीं जा सकती। पर्दे की चहारदीवारी खड़ी करके उसकी रक्षा नहीं की जा सकती । उसे तो भीतर से ही पैदा होना चाहिये । और अगर उसका कुछ मूल्य है तो उसे हर प्रकार के अनियमित प्रलोभन का तिरस्कार कर सकने में समर्थ होना चाहिये । उसे सीता की भाति निडर होना चाहिये । वह पवित्रता ही क्या जो

1. हरिजन: 2-2-1947
2. गांधी: स्त्रिया और उनकी समस्यायें, पृ० 3
3. गाँधी : स्त्रियाँ और उनकी समस्यायें, पृ० 3

पुरुष की दृष्टि के सामने ठहर न सके। पुरुषों को अगर वास्तव में पुरुष बनना है तो उन्हें स्त्रियों पर विश्वास रखना चाहिये जिस प्रकार स्त्रियों को पुरुष पर विश्वास करने के लिये मजबूर किया जाता है। हमें अपना एक अंग आंशिक अथवा पूर्णरुपेण पंगु बनाकर न रखना चाहिये। राम की सीता के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। सीता भी उतनी स्वतंत्र और स्वाधीन थीं जितने राम।[1]

अति प्राचीन काल में भारत में पर्दा प्रथा नहीं थी। सम्भवतः इसका प्रारम्भ हिन्दू समाज के पतन के उस काल में हुआ जब मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति का प्रचार और प्रसार इस देश में हुआ । वह कालभी युद्ध और संघर्ष का काल था जिसमें सामन्त अनावश्यक पारस्परिक युद्धों में रत रहते थे। इस काल में स्त्री समाज में असुरक्षा की भावना बहुत बढ़ गई जिसके परिणाम स्वरूप पर्दा प्रथा का प्रचलन भी बढ़ा । यह प्रथा भी मुख्यरूप से अभिजात वर्ग में या उच्च मध्यम वर्ग में अधिक प्रचलित थी। इन समाजों में स्त्रियां घूंधट निकाल कर पुरुषों के सामने आती थी । गाँधी युग में वर्तमान की अपेक्षा यह प्रथा मध्यकालीन प्रथा के रुप में ही वर्तमान थी। मुस्लिम समाज में स्त्रियां प्रायः बुर्का पहनकर बाहर निकलती थी। पर्दा प्रथा से मुस्लिम समाज ज्यादा आक्रान्त था जो इस सम्प्रदाय के नारी विकास के लिये बहुत ही हानिकर था। यद्यपि प्रायः सभी समाज सुधारकों ने इस प्रथा का विरोध किया है और वर्तमान संदर्भ में उसकी अनुपयोगिता पर सबने अपनी सहमति व्यक्त की है। फिर भी गाँधी जी की तरह मुखर होकर जोर शोर से इस प्रथा के विरुद्ध कम लोगों ने ही साहसपूर्वक अपने विचार व्यक्त किये।

पर्दा प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन करना सर्वथा उचित बताते हुए गांधी जी ने कहा था कि यह कोई अंग्रेजियत फैलाने का आन्दोलन नहीं था। यह एक देशी और पुराने ढ़ग का प्रयत्न था और इसके नेता भी वे लोग थे जो स्वभाव से पुराने लोग थे और फिर भी हिन्दू समाज में घुसी हुई बुराइयों से बेखबर नहीं थे इस लिए भीरु और हिचकिचाने वाले लोगों को यह शंका करने की आवश्यकता नहीं थी कि इस आन्दोलन से किसी भी तरह उन सब बातों के नष्ट हो जाने की संभावना थी जो भारत की सभ्यता में सर्वाधिक मूल्यवान थी। खास तौर से भारतीय स्त्रियों में जो स्त्रियोचित लज्जा और विनय के गुण थे उन पर तो तनिक भी इससे आंच नहीं आने की संभावना थी।[2] इस प्रकार पर्दा प्रथा के विरोध से प्राचीन सामाजिक और धार्मिक मूल्यों का ह्रास नहीं हो सकता था। यह सोचना समीचीन नहीं था कि पर्दा से युक्त स्त्रियों आधुनिकता के प्रभाव में प्राचीन आदर्शो को त्याग देगी। वास्तव में प्राचीन काल में पर्दा प्रथा नहीं थी। मध्ययुग की वर्वरता की प्रतीक थी यह कुत्सित पर्दा प्रथा। गांधी जी ने इस प्रथा के विरुद्ध तर्क देते हुए कहाः पर्दा प्रथा कितनी ही प्राचीन क्यों न हो आज बुद्धि उसे स्वीकार नहीं कर सकती है। पर्दे से होने वाली हानि स्वयं सिद्ध है। बहुत सी बातों का आदर्श अर्थ करके उनका समर्थन किया जा सकता है पर पर्दे के सम्बन्ध में तो ऐसा भी नहीं किया जा सकता। आज हम जिस हालत में पर्दे को पाते हैं उसका समर्थन करना असम्भव है।[3]

---

1. यंग, इण्डिया : 3-2-1927
2. यंग इण्डिया : 26-7-1928
3. यंग इण्डिया : 26-7-1928

पर्दा प्रथा के विरुद्ध गांधी जी का कहना है कि परिवर्तन उन्नति का एक लक्षण है। स्थिरिता अवनति का आरम्भ है। जगत नित्य गतिमान है। स्थिरता शव में है। वह मृत्यु का लक्षण है। योगी की स्थिरता में आत्मा की तीव्रतम जागृति है, यहां जड़ स्थिरता की बात है। उसका दूसरा नाम जड़ता कहा जा सकता है। जड़ता के वश होकर हम सब प्राचीन कुप्रथाओं का समर्थन करने को उत्सुक हो जाते हैं। यह जड़ता हमारी उन्नति रोकती है। उन्होनें इस सन्दर्भ में पर्दे से होने वाली हानियों की ओर इंगित करते हुए कहा है कि पर्दा स्त्रियों की शिक्षा में बाधा डालता है। इससे स्त्रियों में भीरुता बढ़ती है। पर्दे में रहने वाली स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ता है। यह स्त्रियों और पुरुषों के बीच स्वच्छ सम्बन्ध रोकता है। इससे स्त्रियों की नीच वृति का पोषण होता है। यह स्त्रियों को बाहरी दुनियां से दूर रखता है जिससे वे उसके योग्य अनुभव से वंचित रहती है। यह स्त्रियों को अर्धांगिनि होने का धर्म निबाहने में बाधा डालता है। इसके कारण पर्दानशीन स्त्रियां स्वराज्य में अपना पूरा योगदान नहीं दे पाती और पर्दे से बालिकाओं की शिक्षा में रुकावट पड़ती है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी जी के विचार से पर्दा तोड़ने का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं बल्कि संयम था। स्त्रियों को सही रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रयास था। इसलिये वे समाज के आधे भाग को निष्क्रिय और अपंगु बनाने वाली इस कुप्रथा को चाहे कितनी ही पुरानी क्यों न हो स्त्री समाज के स्वस्थ विकास के लिये इसका अन्त चाहते थे। उनके विचारानुसार स्त्री की रक्षा करने के बदले यह स्त्री के शरीर और मन को हानि पहुंचाने वाली थी।

एक अवसर पर पर्दा प्रथा के विरुद्ध अपना विचार व्यक्त करते हुए गांधी जी ने कहा था कि पर्दा वस्त्र ही नहीं है, इसमें मुझे पाप की बू आती है।[2] उनका विचार था कि पवित्रता एक मानसिक बात है इसका सम्बन्ध पर्दा से नही हो सकता इस बुद्धिवादी युग में पर्दा द्वारा स्त्री की रक्षा नहीं हो सकता । यदि स्त्री धर्म का पालन करना है तो महिलाओं को दरिद्रनारायण की सेवा करने के लिये पर्दे से बाहर आना होगा । खादी प्रचार और अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन में सक्रिय रुप में भाग लेना होगा।

हिन्दु-मुस्लिम दंगे के समय गांधी जी ने नोआखाली की यात्रा की थी। नारायणपुर में प्रर्थना सभा के सामने प्रवचन देते हुए गांधी जी ने कहा था आज हिन्दुस्तान आजादी के लिये तड़प रहा है। लेकिन अगर उसकी आधी आवादी को लकवा मार जाय तो हिन्दुस्तान की जनता को मिलने वाली आजादी का नमूना सम्पूर्ण न हो। इसलिये मैं पूरी - पूरी नरमी के साथ यहां आये हुए घर के बड़े बूढ़ों से विनती करता हुँ कि परदे के रिवाज का औरतों पर जो असर होता है उसकी पूरी - पूरी जांच करें और कम से कम समय में उसे मिटा दें। मैं यह बात किसी खास वजह से ही कह रहा हूं। अपनी इस यात्रा (नोआखाली यात्रा) में पर्दे का जो रिवाज मैने देखा वह हजरत

---

1. हिन्दी नवजीवन : 27-6-1929
2. दैनिक विश्वामित्र : 29-10-1933

पैगम्बर साहब के उपदेश से बिल्कुल उल्टा है।[1] इस प्रकार मुस्लिम समाज में प्रचलित पर्दा का विरोध गांधी जी ने किया जो बड़े साहस और जीवट का कार्य था। यह बात उन्होंनें उस समय कही जब भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के अत्यंन्त निकट था और दो सम्प्रदायों में भारी हिंसात्मक वारदातें हो रही थी।

आधुनिक कहे जाने वालों घरों में भी पर्दा प्रथा का होना गांधी जी को बड़ा अप्रिय लगा। उन्होनें शिक्षित वर्ग की आलोचना करते हुए कहा था परदा पढ़े लिखे घरों में भी कायम है और वह इसलिये नहीं है कि खुद शिक्षित लोगों का विश्वास है बल्कि इसलिये कि वे इस हैवानी रिवाज का हिम्मत के साथ विरोध करके इसे एक ही बार में समाप्त नहीं कर देना चाहते।[2]

इस प्रकार गांधी ने उच्च कुलों में प्रचलित पर्दा का उग्र विरोध किया और स्पष्ट शब्दों में कहा, आज हम भारत की नारी जाति के स्वतंत्र विकास में दखल देकर स्वाधीन और स्वतंत्रतापूर्वक पुरुषों की प्रगति में रुकावट डाल रहे है। हम अपने यहां की स्त्रियों के साथ और अपने यहां के अछूतों के साथ जो बरताव कर रहें हैं, उसका फल हमी को हजार गुना भुगतना पड़ता है। हमारी अपनी कमजोरी, अनिश्चय, तंगदिली और लाचारी का एक कारण यह भी है। इसलिए हमें एक जबरदस्त वार करके परदे को फाड़ डालना चाहिए।[3] इस प्रकार महात्मा गांधी पर्दा प्रथा को संकीर्ण मनोवृति का परिचायक मानते थे। इसके विनाश में ही भारतीय समाज का हित समझते थे। उन्होनें कहा- गार्गी परदे में बैठकर शास्त्रार्थ नहीं कर सकती थी।[4] दक्षिण भारत, गुजरात और पंजाब में पर्दा प्रथा के प्रचलन न होने के कारण किसानों में स्त्रियों को आजादी प्राप्त थी उससे हानि नहीं हुई।[5]

गांधी के प्रयत्नों कें परिणाम स्वरुप 1927 ई० में बिहार के प्रमुख व्यक्तियों ने जिनमें 50 उच्च कुलों की स्त्रियां भी थी, पर्दा - प्रथा विरोधी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 8 जुलाई, 1828 को पटना में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें अधिकांश महिलाये थी, एक प्रस्ताव पास कर पर्दा प्रथा को समाप्त करने का निश्चय किया गया।[6] भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में स्त्रियों ने भारी संख्या में भाग लिया था। एच०एन० ब्रेल्सफोर्ड तथा जीस्लोकाम्बे स्त्री समाज में होने वाली जागृति से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने गांधी द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सम्बन्ध में कहा था यदि सविनय अवज्ञा आन्दोलन केवल स्त्रियों को मुक्ति दिलाने में सफल होता तो वह अपने औचित्य को सिद्ध कर दिया होता ।[7] वास्तव में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय हजारों

---

1. हरिजन सेवक : 9-2-1947
2. गांधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृष्ठ 25
3. गांधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृष्ठ 26
4. गांधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृष्ठ 27
5. गांधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृष्ठ 27
6. हि० क० इ० पी० : खण्ड 11, पृष्ठ 998
7. हि० क० इ० पी० : खण्ड 11, पृष्ठ 998

स्त्रियों ने घर की चहारदीवारी से बाहर आकर, इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। इसका बहुत बड़ा कारण स्त्रियों का पर्दे से बाहर आना था। यद्यपि पर्दा प्रथा पूर्णतया समाप्त नहीं हुई लेकिन गांधी के प्रयत्नों का नारी समाज पर अनुकुल प्रभाव पड़ा और पर्दे की चहार दीवारी से बाहर आकर पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर स्वतंत्रता की लड़ाई में कूद पड़ी। यह उनके द्वारा किये गये योगदान का ही महत्व था कि स्वतंत्रता के बाद नवीन भारतीय संविधान में पुरुषों की ही भांति उन्हें भी समान मताधिकार और अन्य सुविधायें प्रदान की गई।

दहेज प्रथा :

हिन्दु समाज में प्रचलित दहेज प्रथा का गांधी जी ने तीव्र विरोध किया था। अविवाहित युवतियों से ऐसे विवाह सम्बन्ध को अस्वीकार करने को कहा जिसमें1. लड़का या लड़की का पिता विवाह के बदले धन की मांग करता था। गांधी ने इस सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा, बाप को कन्या का बेचना तो दुष्ट रिवाज है ही, मगर जब वर, कन्या के पिता से विवाह करने की मेहरबानी के लिए धन लेता है तब नीचता की हद हो जाती है। बाप को ऐसा धन न देने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिये और कन्या को पढ़ने देना चाहिये। सयानी कन्या को लालची जवान की ओर ताकने से भी इन्कार करना चाहिए। विवाह ही जिन्दगी का परम कर्तव्य नहीं है। पैसे के लालच से किया गया विवाह विवाह नहीं है, एक नीच सौदा है। नवयुवकों को ऐसे सौदे से बचना चाहिए।[1]

दहेज प्रथा के कारण गरीब परिवार की लड़कियों का विवाह होना हिन्दु समाज में बड़ा कठिन था । कभी - कभी तो युवतियां अपने मां बाप के कष्ट को देख कर आत्महत्या तक कर लेती थी। हिन्दु समाज में ऐसा भी होता था कि लड़की के पिता के द्वार पर्याप्त दहेज न मिलने पर नवयुवतियों को पति के द्वारा अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती थी । गांधी जी ने समाज के इस रोग को दूर करने का पुरा प्रयास किया। इस सम्बन्ध में युवकों को दहेज लेने के लिये फटकारते हुए गांधी जी ने कहा था जो युवक विवाह के लिये दहेज की शर्त रखता है, वह अपनी शिक्षा और अपने देश को बदनाम करता है और साथ ही स्त्री जाति का अपमान करता है। दहेज के नीचे गिराने वाले रिवाज की निन्दा करने वाला जोरदार लोकमत उत्पन्न होना चाहिये और जो युवक इस तरह के पाप के पैसे से अपने हाथ गन्दे करे उन्हें समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए। लड़कियों के माता - पिता को अंग्रेजी डिग्रियों का मोह छोड़ देना चाहिये।[2] इतना ही नहीं गांधी जी ने छात्र और छात्राओं की सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था यदि मेरी देखरेख में कोई लड़की हो तो उसे मैं जीवन भर कुवांरी रखना मंजूर करुंगा परन्तु किसी ऐसे आदमी को नहीं दूंगा जो उसे पत्नी बनाने के बदले में एक पैसे की आशा रखता हो।[3] इसी प्रकार उन्होनें युवकों को चेतावनी देते हुए कहा था

1. हिन्दी नवजीवन : 6-9-1928
2. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) :21-6-1928
3 यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 14-2-1929

कि जो युवक शादी के लिये दहेज की शर्त रखता है, वह तालीम को और अपने देश को बदनाम करता है और साथ ही स्त्री जाति का अपमान करता हूँ।[1]

विवाह :

गांधी जी के अनुसार विवाह शरीर के माध्यम से दो आत्माओं का मिलन है। विवाह धर्म एवं श्रेय के मार्ग पर चलने वाले स्त्री - पुरुष का सहचर है। वे एक दूसरे को धर्म मार्ग पर अग्रसर करने के लिये सुख- दुःख में साहचर्य की शपथ लेते हैं और इस जीवन तथा मरणान्तर जीवनों के लिये भी एक दूसरे से सम्बंद्व होते हैं।

आजकल विवाह को स्वच्छन्द प्रेम की परिणति के रुप में स्वीकार करने का चलन है। नयी पीढ़ी प्रणय को ही विवाह का मुख्य कारण मानती है । वह पारस्परिक आकर्षण और प्रेम को प्रथम स्थान देती है। गांधी जी उसे अन्तिम स्थान देते है। आध्यात्मिक उन्नति को वह प्रथम स्थान पर रखते हैं। इसके बाद समाज और देश-सेवा, फिर कौटुम्बिक और व्यवहारिक सुविधा । इसका अर्थ यह हुआ कि जहां इन प्रथम तीन शर्तो का अभाव हो, वहां पारस्परिक प्रेम को स्थान नहीं मिल सकता । अगर प्रेम को प्रथम स्थान दिया जाय तो वह सर्वोपरि बनकर दूसरों की अवगणना कर सकता है और करता है। ऐसा आजकल के व्यवहार में देखने में आता है। ...... यह कहना होगा कि उपर्युक्त तीन शर्तो का पालन करते हुए भी जहां पारस्परिक आकर्षण नहीं है वहां विवाह त्याज्य है। सुप्रजनन की क्षमता को शर्त न माना जाय । क्योंकि यही वस्तु विवाह का कारण है, विवाह की शर्त नहीं।[2]

इस प्रकार विवाह के सम्बन्ध में गांधी जी ने प्राचीन एवं नवीन दोनों दृष्टियों के सामंजस्य का प्रत्यन किया । फिर भी उनकी दृष्टि प्राचीन की ओर अधिक झुकी हुई थी । गांधी जी के समग्र विचार नीति और धर्म की प्रमुखता से प्रभावित थे। उनकी दृष्टि से जीवन का परम लक्ष्य था मोक्ष। समस्त कर्म इसी ओर प्रभावित होनें चाहिये। मोक्ष की यात्रा, माया- मोह के वंधन से छुटने पर ही सम्भव था। विवाह से मोह के वंधन तीव्र जटिल होते हैं। इसलिए यदि सम्भव हो तो विवाह से दूर रहने और ब्रह्मचर्य का पालन करने की वे सलाह देते थे। यदि ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन सम्भव न हो तो विवाह करके संयम और धर्म का जीवन बिताने को ही महत्व देते थे। गांधी जी के विचार से विवाह भोग के लिये नही, मर्यादित के लिये है। उसका नैतिक आधार है धर्माचरण, सेवा और त्याग द्वारा श्रेय की निरन्तर साधना, उसका प्रकृतिक और प्रेरक कारण है- संतान की इच्छा। केवल सन्तानेच्छा से स्त्री संग क्षम्य है । उनके विचार से सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ में किया गया सम्भोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के लिये किया हुआ संयोग त्याज्य है।

---

1. गांधी : स्त्रियां और उनकी समस्यायें, पृष्ठ 69
3. हरिजन सेवक : 15-5-1937

विवाह को भोग का लाइसेंस मानने के प्रति उनका घोर विरोध था उसके लिये मानव जीवन का प्रत्येक चरण धर्माचरण का साधन था। वह मानते थे कि असंख्य स्त्री पुरुषों का मिलन भोग के कारण होता है और होता रहेगा । परन्तु वह व्यक्ति एवं जाति दोनों के लिये हानिकारक है। विवाह की समस्या का समाधान करते हुए गांधी जी ने कहा था, जिनका विवाह नहीं हुआ है उन्हें आज के कठिन समय में विवाह करना ही नहीं चाहिये और बिना विवाह किये काम चले ही नहीं तो यथासम्भव बड़ी उम्र में विवाह करना चाहिये पुरुषों को 25 या 30 वर्ष तक विवाह न करने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए।[1]

गांधी जी अल्पायु में विवाह के विरोधी थे तथा विवाह तय करने में वर पक्ष को दहेज के रुप में कुछ भी देने के पक्ष में नही थे। उसके विचार से विवाहोत्सव में कम से कम व्यय होना चाहिये। जो कन्याएं है यदि उनके लिये वरों की तलाश करनी ही पड़े तो जो तुलसी दल स्वीकार कर कन्या ग्रहण करना चाहेंगे, उन्हें देंगे। एक पाई का भी खर्च नहीं करेंगे। जब तक ऐसा वर नहीं मिलता, राह देखेंगे और लड़की को भी धैर्य रखने की सीख देंगे । ऐसा करने में लोगों की चर्चाये सुनंनी पड़ेगी, तिरस्कार भी होगा पर यह सब प्रेमपूर्वक सहन करेंगे। यदि हमारा आचरण दृढ़ रहा तो कोई कठिनाई नही होगी।[2]

पुनर्विवाह के सम्बन्ध में गांधी जी ने संयम का आग्रह करते हुए कहा है कि पति का पत्नी के गुजर जाने पर और पत्नी का पति के गुजर जाने पर दुबारा विवाह करना आवश्यक नहीं है। संयम हिन्दू धर्म का आधार है। यों तो संयम का विधान सभी धर्मो में है परन्तु हिन्दु धर्म में उसे बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ऐसे धर्म में पुनर्विवाह तो अपवाद स्वरुप ही होना चाहिये। मेरे विचार ऐसे होने पर भी जब तक बाल विवाह होता है और पुरुष इच्छानुसार चाहे जितनी बार विवाह करते हैं तब तक यदि कोई बाल-विधवा, पुनर्विवाह करना चाहे तो उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिये[2]। वे विल्कुल बाल-विधवा, के मन में भी पुनर्विवाह करने की इच्छा को जाग्रत करने के पक्षों में नहीं थे किन्तु यदि वह पुनर्विवाह करना चाहेगी तो वे उसके कार्य को पाप नहीं मानेंगे। इस प्रकार गांधी जी बाल - विधवाओं के विवाह के पोषक थे। उन्होने बड़े तर्कपूर्ण शब्दों में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा था कि फिर जो बाल विधवा है उसे विवाह न करने के लिये प्रेरित करना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह भी है कि यदि वह विवाह करना चाहे तो उसके मार्ग में कोई विघ्न उपस्थित न किया जाय। उनके विचार में वैधव्य का पालन करना एक पुण्य कर्म है लेकिन विधवा विवाह भी पाप कर्म तो नही है।[3]

इस प्रकार वे समाज में उपेक्षित तथा तिरस्कृत बाल विधवाओं की समस्या का समाधान प्रस्तुत करना चाहते थे। वैधव्य को भंग करने का प्रयत्न धर्म को हानि पहुंचाने वाला है। विवाह एक धार्मिक क्रिया है। प्रेम केवल एक ही बार परिणय - सूत्र में बाँध

---

1. इण्डियन ओपिनियन : 26-4-1913
2. स० गा० वा० : भाग 12, पृष्ठ 374
3. महादेव भाई की डायरी : खण्ड1, पृष्ठ 42

सकता है। विधवा पुज्य है। उसका तिरस्कार करना पाप है। पवित्र विधवा का दर्शन शुभ शकुन है । उसे अपशकुन मानना पाप है। विवाह यदि धार्मिक क्रिया है अथवा मानी जाती है और यह केवल पवित्र प्रेम का सुचक़ है तो बेमेल और बाल विवाहों को पाप-रुपी माना जाना चाहिये। यदि पच्चास वर्ष की अवस्था में नौं वर्ष की बालिका के साथ विवाह करना दोष नहीं माना जाता और ऐसा करने वाले व्यक्ति का जाति बहिष्कार नहीं किया जा सकता तो ऐसी बालिका यदि विधवा हो जाय या पुनर्विवाह करे तो उसे जाति से बाहर करना तथा इस तरह की अन्य सजाएं देना भी पाप ही है।

गांधी जी का विचार था कि बल पूर्वक किसी विधवा को बैधव्य का जीवन व्यतीत करने के लिये वाध्य नहीं करना चाहिये। यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहती हो तो उसे विवाह करने की अनुमति समाज तथा परिवार से मिलनी ही चाहिए। यदि कोई विधवा स्वेच्छतया बैधव्य का जीवन व्यतीत करना चाहे तो यह प्रशंसनीय होगा। गांधी जी के विचार से यदि समाज नही चाहता है कि विधवाये विवाह करें तो पुरुषों को भी चाहिये कि पुनर्विवाह न करने की प्रतिज्ञा ले। यदि पुरुष नही चाहते है कि विधवा विवाह हो तो निम्नलिखित उपाय करना चाहिये-

(1) बाल विवाह बन्द करना।

(2) जब तक वर - कन्या के विवाह करने की ठीक उम्र नहीं हो जाती तब तक कदापि विवाह न करना।

(3) जो स्त्री अपने पति के साथ बिल्कुल नही रह पायी है उसे विवाह करने की छूट देना । इतना ही नहीं उसे विवाह करने के लिये उत्साहित करना। ऐसी स्त्रियों को विधवा नहीं माना जाना चाहिए।

(4) जो पन्द्रह वर्ष की अवस्था में विधवा हो गई और जो अभी युवा है ऐसी विधवा को पुनर्विवाह की छूट देना।

(5) वैधव्य को अपशकुन का सूचक न मान कर उसे पवित्र समझना और सम्मान देना और विधवाओं के लिये शिक्षण और धंधे का सुन्दर प्रबन्ध करना।[1]

यदि उपरोक्त सुधार कार्यावन्ति कर दिये जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तान विधवाओं के अभिशाप से मुक्त हो जायेगा। ये सुधार प्रत्येक परिवार और विरादरी के लोगो में होनी चाहिये । विधवाओं को उनकी इच्छा के विपरीत विधवा बनाये रखना पाप कर्म है। इस पाप कर्म से हिन्दु समाज को मुक्त होना ही चाहिए ।

वे वैधव्य को हिन्दू धर्म की शोभा मानते थे । अखण्डित पतिव्रत का अर्थ तो यही हो सकता था कि एक बार जिसे ज्ञानपूर्वक पति माना और जाना उसका देहांत होने पर भी उसी का स्मरण करते हुए संतोष करें । इतना ही नहीं बल्कि उस स्मरण में आनन्द का अनुभव करें । तदनुसार आचरण कर भारत की अनेक विधवायें प्रातः

---

1. नवजीवन : 9-5-1920

स्मरणीय बन गई । लेकिन भरतीय समाज में पत्नी - व्रती पुरुष नहीं है । पुरुषों को चाहिये कि स्वयं पत्नी - व्रत का दृढ़तार्पूवक पालन करते हुए पतिव्रता स्त्रियों को सम्मान दें । सामान्यतया हिन्दू समाज में पति -पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह कर लेते हैं । यह उचित नहीं है । जिस स्त्री के साथ वर्षों तक मैत्री रही, जिसके दुःख में दुःखी हुए, सुख में भाग लिया जिसका रात - दिन का साथ रहा, उस स्त्री की मृत्यु होने पर क्या सामान्य मित्र के वियोग में जितना शोक होता है उतना शोक भी नहीं करना चाहिये? यह स्त्री - जाति के प्रति घोर अन्याय है । हिन्दु समाज के कुलीन पुरुष जब पत्नी के देहावसान के बाद शीघ्र विवाह कर लेते हैं तो विधवाओं को भी लज्ञा का परित्याग कर पुर्विवाह कर लेने में कोई हानि नहीं है जो सुविधा पुरुष को मिली है वह स्त्री को भी मिलनी चाहिये । पत्नी जीवन पर्यन्त विधवा का जीवन व्यतीत करने के लिये वाध्य की जाय यह सामाजिक असमानता और अन्याय का ज्वलंत प्रतीक है । इसे समाज के हित में समाप्त करना चाहिये ।

हिन्दू समाज में विधवाओं की ही अवस्था का गांधी जी ने मार्मिक चित्रण किया है । उनकी इस दुर्दशा के प्रति अपना विरोध प्रगट करते हुए कहा है, हिन्दु विधवा दुःख की प्रतिमा है उसने संसार के दुःख का मार अपने सिर ले लिया है । उसने दुःख को सुख बना डाला है । उसने दुःख को धर्म बना डाला है । कितनी ही बहिनों से प्रार्थना करता रहता हूं कि आप अपना श्रृंगार कम कर दीजिये । बहुतेरी बहनों से कहता हूं कि व्यसनों को त्याग दीजिये, परन्तु विरली ही छोड़ती हैं और विधवा ? जिस समय हिन्दू स्त्री विधवा होती है उसी समय उसके व्यसन और श्रृंगार सांप के केंचुल की तरह छुट जाते हैं । उसे न तो किसी के प्रोत्साहन की आवश्यकता पड़ती है और न किसी की सहायता की । वैधव्य हिन्दु र्धम का श्रृंगार है । धर्म का भाषा वैराग्य है, वैभव नहीं। दुनिया भले ही और कुछ कहे तो कहती रहे । परन्तु हिन्दु शास्त्र किस वैधव्य की स्तुति और स्वागत करता है ? पन्द्रह वर्ष की मुग्धा के वैधव्य का नहीं जो कि विवाह का अर्थ भी नहीं जानती । बाल-विधवाओं के लिए वैधव्य धर्म नहीं अर्धम है। .... पन्द्रह वर्षकी बालिका वैधव्य की शोभा को क्या समझ सकती है ? उसके लिये तो वह अत्याचार ही है । बाल - विधवाओं की वृद्धि में मुझे हिन्दु-र्धम की अवनति दिखाई देती है ...... वैधव्य सब जगह, सब समय अनिवार्य सिद्धान्त नहीं है । वह उस स्त्री के लिये धर्म है जो उसकी रक्षा करती है । रिवाज के कुएं में तैरना अच्छा है। उसमें डूबना आत्महत्या है ।[1]

इस प्रकार गांधी जी ने वैधव्य का वही तक समर्थन किया है जहां तक विधवा स्वेच्छया प्रसन्नतापूर्वक वैधव्य र्धमका पालन करती है और उसके पवित्र महत्व को समझती है । जो विधवा इसके पवित्र महत्व को नहीं समझती है उसे विवाह कर लेना ही अच्छा है । समाज को भी उसे स्वीकार कर लेना चाहिये । वलात वैधव्य से विधवायें चरित्र भ्रष्ट होकर वेश्यालय की शरण लेने के लिये वाध्य हो जाती है । हिन्दू समाज

1. हिन्दी नवजीवन : 2-7-1925

के लिये यह कलंक की बात है । हिन्दू समाज को विधवा विवाह के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये । विशेषतया सवर्णों में ही वैधव्य की प्रथा प्रचलित है । कुलीनों की मर्यादा और प्रतिष्ठा को इस प्रथा के कारण प्रायः गहरा आधात पहुंचता है। इसलिये मिथ्याभिमान का परित्याग कर सवर्णों को चाहिये कि जो विधवा पुनर्विवाह करना चाहती है उसे सम्मान के साथ पुनर्विवाह की अनुमति देनी चाहिये । उसकी भावनाओं को कुचलने से स्थिति विस्फोटक हो सकती है ।

गांधी जी ने भी विधवा विवाह की आवश्यकता को स्वीकार कर बाल विधवाओं को बलपूर्वक वैधव्य का जीवन व्यतीत करने की प्रथा का घोर विरोध किया था । दुनिया में बाल-विधवा जैसी कोई प्रकृति-विरुद्ध वस्तु होनी ही न चाहिये । वैधव्य कोई धर्म नहीं, धर्म तो संयम है । वल - प्रयोग और संयम ये दोनों परस्पर - विरुद्ध बाते हैं । एक की बदौलत मनुष्य की अधोगति होती है और दूसरी से उन्नति । बलर्पूवक पालन कराया गया वैधव्य पाप है, स्वेच्छा से पालित वैधव्य धर्म है, आत्मा की शोभा है । समाज की पवित्रता की बल हैं। यह कहना कि वे पन्द्रह वर्ष की बालिका समझ बूझ कर वैधव्य का पालन करती है अपने औद्धत्य और अज्ञान को प्रगट करना है । पन्द्रह वर्ष की बालिका क्या जान सकती है कि वैधव्य की वेदना क्या चीज है । माता-पिता का धर्म है कि उसके विवाह के लिये हर तरह सहूलियते कर दें । कुरीति के अधीन होना कायरता है । उसका विरोध करना पुरुषार्थ है ।[1] वे आगे कहते हैं कि बाल - विधवाओं को चाहिये कि अपनी सारी इच्छाओं को संरक्षकों के सामने रखें, अपनी आकांक्षाओं और भावनाओं का दमन न करें । अपने खाली समय को रचनात्मक कार्यों में लगायें। चर्खे चलाकर, अध्ययन कर अपने समय का सदुपयोग करें। समाज के लोगोंको भी चाहिये कि विधवा को जबर्दस्ती रोकने में न तो उसकी, न कुटुम्ब की, न समाज की और न धर्म की रक्षा हो सकती है ।[2]

गांधी जी को विश्वास था बाल विधवा प्रथा के कारण व्यभिचार बढ़ेगा यदि गुप्त अनीति और व्यभिचार को रोकना है तो माता - पिताओं का यह फर्ज है कि वे विधवा लड़कियों के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन दें । स्वेच्छा से प्रौढ़ महिलायें यदि वैधव्य का पालन करती थीं तो गांधी ने उनका समर्थन किया लेकिन बलपूर्वक बालविधवाओं के वैधव्य का पालन कराना गांधी को असह्य था । ऐसी बाल विधवायें जिन्होंने विवाह संस्कार का अर्थ भी नहीं समझा था उन्हें समाज में विधवा बनाये रखना महान पाप था। इससे समाज मे व्यभिचार की वृद्धि होती थी । उन्होंने इस कुप्रथा का विरोध करते हुए कहा था, धर्म के नाम पर हम गोरक्षा के लिये शोर करते हैं परन्तु मनुष्य में इन बाल - विधवाओं को बलपूर्वक वैधव्य देते है जिन्होंने विवाह संस्कार का अर्थ भी नहीं समझा है । छोटी बच्चियों को जबरन विधवा बना देना ऐसा पाप है जिसका कड़वा फल हम बराबर चख रहें हैं। .... जिस महिला ने अपने पति के प्रेम का अनुभव कर लिया है और तब स्वेच्छा से वैधव्य स्वीकार किया है उसके वैधव्य से उसका जीवन

---

1. हिन्दी नवजीवन : 18-7-1925
2. यंग इण्डिया : 22-10- 1925

पवित्र होता है और चमक उठता है, उसका घर पावन बन जाता है और धर्म की भी उन्नति होती है। धर्म अथवा रिवाज का जबरन दिया हुआ वैधव्य असह्य हो जाता है और तब गुप्त पाप से अपवित्रता फैलती है और धर्म की अवनति होती है।[1] पचास वर्ष या उससे भी अधिक अवस्था वाले व्यक्ति छोटी बच्चियों से विवाह करते हैं। इतना ही नहीं गरीब मां बाप से खरीदते भी हैं। कन्या का क्रय वास्तव में एक बड़ा सामाजिक अपराध है।

गांधी ने इस बात का समर्थन किया कि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार मिलना चाहिये। उनके शब्द में जो वैधव्य बलपूर्वक पलवाया जाता है वह भूषण नहीं, दूषण है। वह गुप्त रोग है जो समयानुसार फट निकलता है। उम्र की पहुंची हुई स्त्री विधवा हो जाने पर यदि फिर विवाह करने की इच्छा न करे तो वह जनबध है, वह धर्म का स्तम्भ है परन्तु जिसे पुनर्विवाह की ईच्छा हुई हो और जो समाज के भय या कानून के अंकुश से रुकती हो वह तो मन से पुनर्विवाह कर चुकी। वह वन्दना करने योग्य नहीं है! वह दया की पात्र है और उसे फिर से विवाह करने की छूट होनी चाहिए। न्याय की दृष्टि से जहां तक विधुर पुरुष को पुनर्विवाह करने का हक है वहां तक विधवा को भी उन्हीं शर्तो पर होना चाहिये । समाज की रक्षा के लिए प्रतिवंध दोनों के संबन्ध में एक समान होनी चाहिए और उनमें सारे समझदार पुरुष वर्ग के जैसा ही समझदार स्त्री वर्ग की सम्मति होनी चीहिये। बाल - विवाह और अन्य विधवाओं के बीच भेद भुलना नही चाहिए। बाल -विधवा का फिर विवाह कर देना माता- पिता और समाज का धर्म है। परन्तु दूसरी विधवाओं के बारे में वह धर्म नहीं है। उनके ऊपर जो आज रुढ़ियां कानून का बलात्कार है उसे ही दूर करने की आवश्यकता है । यानी यह कि वह विधवा यदि दूसरा विवाह करना चाहे तो उसे इसकी छूट होनी चाहिये।[2]

साठ साल का धनिक वृद्ध दस - बारह साल की लड़की से तीसरा विवाह करते शर्माता नहीं और समाज उसे सिर पर धरता है और बीस वर्ष की विधवा संयम का पालन करने की कोशिश करती हुई भी, नहीं कर सकती और इसलिये फिर विवाह करना चाहती है तो समाज तो उसका तिरस्कार करता है। यह धर्म नहीं, किन्तु अधर्म है।[3]

गांधी जी वृद्ध पुरुष को कम उम्र की लड़कियों के विवाह के घोर विरोधी थे। वे समाज में ऐसी चेतना और जागरुकता पैदा करना चाहते थे जिससे ऐसे व्यक्ति समाज से तिरस्कृत किये जांय। इस कुप्रथा के विरुद्ध विचार करते हुए कहा था शुद्ध लोकमत और शुद्ध बहिष्कार के अतिरिक्त मुझे दूसरा रास्ता सूझ नहीं सकता। बहिष्कार का अर्थ केवल अपनी बिरादरी का ही किया बहिष्कार नहीं है बल्कि सारे समाज को बहिष्कार करना चाहिये।[4] लेकिन इस प्रकार के बहिष्कार में हिंसा की गंध नहीं होनी चाहिये। इन सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये गांधी जी ने सत्याग्रह का भी समर्थन

1. यंग इण्डिया : 5-8-1926
2. हिन्दी नवजीवन : 14-7-1927
3. हिन्दी नवजीवन : 14-7-1927
4. हिन्दी नवजीवन 19-7-1928

किया था लेकिन संयम के साथ अहिंसा द्वारा। उन्होनें कहा था सत्याग्रह रुपी सूर्य के सामने बाल - वैधव्य रूपी यह अंधेरा कभी ठहर नहीं सकेगा क्योंकि सत्याग्रह के शब्दकोष में निष्फलता शब्द ही नहीं है।[1]

उनका विश्वास था कि केवल भाषणों से यह सामाजिक कुरीतिं समाप्त नहीं होगी बल्कि इसके लिए सत्याग्रह करना होगा । बाल - विधवा विवाह के पक्ष में आन्दोलन करने के लिये युवकों तथा समाज सुधारकों का आह्वान किया और बड़े सशक्त ढ़ग से इसके समर्थन में लिखा । उनके ही शब्दों मे, "प्रत्येक विधुर को पुनर्विवाह करने का जितना अधिकार है उतना ही अधिकार प्रत्येक विधवा को भी है। हिन्दू धर्म में जहां स्वेच्छा से पाला हुआ वैधव्य व्रत अमूल्य आभूषण रूप है वहां बलात् पलवाया गया वैधव्य अभिशाप रुप है और मुझे तो यह महसूस हो रहा है कि अनेक विधवायें यदि शारीरिक अंकुश के भय से नहीं किन्तु हिन्दू -समाज के लोकोपवाद के भय से मुक्त हो तो बिना किसी संकोच के अपना पुनर्विवाह कर डालें।[2] इस प्रकार गांधी जी ने स्वेच्छया पालित वैधव्य का समर्थन किया था। पर बाल- विधवा- विवाह का जोरदार पक्ष लिया था। बलपूर्वक पलवाये जाने वाले वैधव्य का विरोध करते हुए उन्होंने विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की है। उन्होनें सुझाव दिया कि विधवाओं को समाज में सम्मान मिलना चाहिए। विधवाओं को समाज - सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेकर अपने जीवन को सामाजिक हित में अर्पित कर देना चाहिये।

बाल विवाह :

गांधी जी के अनुसार बाल-विवाह की प्रथा नैतिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक है। यह प्रथा हमारे आचार की जड़ काटती है और हमारे बल का नाश करती हैं। उनका कहना था कि ऐसी प्रथाओं का अनुमोदन कर हम ईश्वर से और साथ ही साथ स्वराज्य से दूर हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को लड़की की छोटी अवस्था का विचार नहीं होगा उसे ईश्वर का क्या विचार होगा। अधकचरे पुरुषों में एक तो स्वराज्य की लड़ाइयां लड़ने की ही योग्यता नहीं होती है और यदि उन्हें स्वाराज्य मिल भी जाय तो इसे वे अपने पास रख भी नहीं सकते। उनके अनुसार स्वराज्य की लड़ाई का अर्थ केवल राजनीतिक जागरण ही नहीं था बल्कि सभी प्रकार का सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक जागरण भी था।

सहवास की स्वीकृति देने की उम्र को कानून से बढ़ने की कोशिश की जा रही है। अल्प संख्या में कुछ लोगों को रास्ते पर लाने के लिये यह ठीक हो सकता है पर इस कानून से यह समाजिक कुप्रथा नहीं दूर होगी वह तो जाग्रत लोकमत से ही दूर होगी। वे ऐसे विषयों में कानून बनाने के विरोधी नहीं थे पर अवश्य ही वे लोकमत तैयार करने पर अधिक जोर देते थे।[3] वे चाहते थे कि बाल - विवाह की प्रथा, सामाजिक

---

1. हरिजन सेवक : 22-8-1929
2. हरिजन सेवक : 5-7-1935
3. यंग इण्डिया : 26-8-1926

हित में समाप्त हो। उनकी राय में इस पाशविक प्रथा को धर्म का आश्रय देना धर्म नहीं अधर्म है, । गांधी जी तथा हर विलास शारदा के प्रयत्नों से 1929 ई० में बाल विवाह को कानूनी दृष्टि से दण्डनीय अपराध घोषित किया गया।

गांधी ने बाल - विवाह रोकने में तथा बाल- विवाह के विरुद्ध जनमत तैयार करने में स्त्रियों को नेतृत्व करने का आह्वान किया । इस पुनीत कार्य में उन्हें प्रेरित करने के लिये उन्होनें यंग इण्डिया में लिखा, स्त्रियों में जो शिक्षित हैं और संस्कार सम्पन्न है, क्या उनका अपनी जाति और पुरुष जाति के प्रति जिसकी वे माता हैं यह कर्तव्य नहीं है कि वे सुधार कार्य का भार वहन करें ? उन्हे जो शिक्षा मिल रही है उसका मूल्य ही क्या है यदि बिना हित होने पर अपने पति की वे गुड़िया बन जाय या उचित अवस्था के पूर्व ही कमजोर बच्चे पैदा करने के काम मे लग जायं। उनकी जब इच्छा होती है तब वे स्त्रियों के मताधिकार के लिये लड़ सकती हैं। इसमें न समय लगता है न कष्ट होता है। इससे उन्हें दिल - बहलाव का निर्दोष साधन मिल जाता है लेकिन वे वीरांगनाये कहां है जो बाल पत्नियों और बाल- विधवाओं में काम करें और जो उस समय तक न तो स्वयं चैन ले और न पुरुषो को चैन लेने दें।[1] वे चाहते थे कि जब तक कि छोटी अवस्था की लड़कियों का विवाह होना असम्भव न हो जाय और हर लड़की अपने में शक्ति महसूस न करने लगे कि जब तक पूरी अवस्था न हो जाय तब तक और जिस आदमी को पसन्द करने का आखिरी अधिकार न हो उससे विवाह करने से इन्कार कर सके तब तक स्त्रियों को इस दिशा में संघर्ष रत रहना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने बाल- विवाह की कुप्रथा को समाप्त करने के लिये शिक्षित स्त्रियों का आह्वान किया और समाज सुधार के इस पुनीत कार्य में नारियों को अग्रणी भूमिका अदा करने पर बल दिया।

एक ब्राह्मण युवक को विवाह के सम्बन्ध मे परामर्श देते हुए गांधी जी ने कहा था कि उसमें काम वासना पर इतना काबू तो होना चाहिये कि वह 16 वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह न करे। अगर उनकी चलती तो विवाह की उम्र कम से कम 20 वर्ष कर देते। वे व्राह्मणत्व की पूजा करते थे। उन्होनें ब्राह्मण धर्म का समर्थन किया था। उनकी दृष्टि में जो ब्राह्मणत्व, अस्पृश्यता, अक्षतयोनि वैधव्य और कुमारियों का बलात्कार सहन कर सकता था उससे उन्हें सख्त नफरत थी। यह व्राह्मणत्व का मजाक है। इसमें कोई ब्रह्म ज्ञान नहीं है। धर्म शास्त्रों का सच्चा अर्थ नही है। यह शुद्ध पाशविकता है। ब्राह्मण धर्म इससे कहीं बड़ी चीज है। मैं चाहता हूँ कि मेरे ये थोड़े से वचन तुम्हारे ह्रदयों में गहरें बैठे।[2] उन्होने देखा था कि प्रायः व्राह्मण कन्यायें 13 वर्ष, के पहले ही विवाहित हो जाती थी। गांधी जी ने ब्राह्मण युवक को परामर्श दिया कि 16 वर्ष की ब्राह्मण कन्याये न मिले तो 16 वर्ष की ऐसी प्रौढ़ लड़कियों को चुने जो बचपन में विधवा हो गई हों। यदि इस आयु की ब्राह्मण विधवाये न मिले तो जाकर उन्हें पसन्द की कोई भी लड़कियों से विवाह करना चाहिये। लेकिन कम उम्र की वालिकाओं से विवाह कर

1. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 7-10-1926
2. यंग इण्डिया : 15-9-1927

अनैतिक कार्य नहीं करना चाहिये। गांधी जी ने आजीवन प्रयास किया कि बाल विवाह के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय ताकि स्थायी रूप से बाल - विवाह की जटिल समस्या का समाधान किया जा सके। .

बाल - विवाह निषेध समिति ने बाल - विवाह पर एक उपयोग और शिक्षा प्रद विवरण पत्रिका प्रकाशित किया था जिसमें उस प्रथा के दुष्परिणामों का उल्लेख किया गया था। गांधी जी ने हरिजन में इसका कुछ प्रमुख अंश प्रकाशित किया था जो इस प्रकार है- बाल- विवाह का दूसरा परिणाम यह हुआ है कि उसकी वजह से जवान जच्चाएं सोहर में ही मर जाती हैं। हिन्दुस्तान में हर साल सोहर में औसतन दो लाख स्त्रियां मरती हैं अर्थात हर घंटे 20 की मृत्यु होती है। इनमें ज्यादातर 10 वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्रियां ही होती है। सर जान मेगना के अनुसार प्रति एक हजार जवान जच्चाओं में सौ तो सोहर सिधार जाती हैं। बाल- विवाह के कारण माता - पिता की ही नहीं बल्कि बालक और समस्त जाति की अपरिमित हानि होती है। भारत में प्रति हजार नवजात शिशुओं में 181 मर जाते हैं। सबसे दुःख की बात तो यह है कि इस विषय में प्रगति इतनी मन्द है कि वह करीब - करीब न होने जैसी कही जा सकती है। उदाहरणार्थ 1921 में कम उम्र की पत्नियों की संख्या 9066 थी, 1931 में यह संख्या 44082 हो गई अर्थात पहले की संख्या से पांच गुनी बढ़ गयी। जबकि जनसंख्या केवल 1/10 ही बढ़ी है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि वे बाल- विवाह से होने वाली हानियों से पूर्णरुपेण अवगत थे और उसके निराकरण के लिए बेचैन थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये गांधी जी ने बाल- विवाह के विरुद्ध कार्य करने के लिये अखिल भारतीय महिला परिषद का आह्वान किया। उनकी राय में यदि परिषद को अपना नाम सार्थक करना है तो उसे शहरों से हट कर गांवों के कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिये। वास्तविक आवश्यकता तो गांव की स्त्रियों के साथ सम्पर्क जोड़ने की है । यह सम्बन्ध अगर कभी जुड़ भी गया तो भी जुड़ने के साथ ही काम सरल नहीं हो जायेगा। पर किसी न किसी दिन इस दिशा में शुरुआत करनी ही पड़ेगी। अखिल भारतीय महिला परिषद, क्या अखिल भारतीय-ग्राम- उद्योग- संघ के साथ- साथ काम करेगी? कोई ग्राम- सेवक या ग्राम सेविका चाहे कितनी ही कुशल हो तो भी उसे मात्र समाज सुधार के लिये गांवों के लोगों के पास जाने का विचार नहीं करना चाहिए। उसे तो ग्राम जीवन के सभी अंगो के सम्पर्क में आना पड़ेगा। मैंने अनेक बार कहा है और फिर कहूंगा कि ग्राम सेवा ही सच्ची जन शिक्षा है। शिक्षा मात्र अक्षर ज्ञान की ही नहीं होती है। बल्कि ग्राम वासियों को सिखाना है कि मनुष्य जो विचार करने वाला प्राणी कहा जाता है, वास्तविक जीवन व्यतीत करने योग्य किस प्रकार बन सकता है।[2]

इस प्रकार वे विधवा -विवाह तथा बाल- विवाह के गुण तथा दोषों से ग्रामवासियों को परिचित कराना चाहते थे। वे बाल - विधवा - विवाह के पक्ष में तथा बाल- विवाह के विपक्ष में जनमत जाग्रत चाहते थे। गांधी जी ने सामाजिक बुराइयों और कुप्रथाओं

---

1. हरिजन सेवक : 30-11-1935
2. हरिजन (अंग्रेजी) : 30-11-1935

के विरुद्ध प्राणपण से संघर्ष किया क्योंकि उनका विश्वास था कि सुदृढ़ और संगठित समाज सुधार को अपने विचार दर्शन में सर्वोपरि स्थान दिया।

वृद्ध बाल विवाह :

हिन्दू - समाज में बहुत से वृद्ध पुरुषों ने बालिकाओं से विवाह किया है। इस गर्हित प्रथा का अन्त होना चाहिये। धनी पुरुष गरीब पिता की पुत्रियों को खरीद लेते थे और उनसे विवाह कर लेते थे। इस प्रकार वह वालिका सधवा होते हुए भी विधवा का जीवन व्यतीत करती थी। कभी सन्तानोत्पत्ति की आड़ में वृद्ध पुरुष अपने विवाह के औचित्य का प्रतिपादन करता था। गांधी जी ने इस प्रथा के विरुद्ध जनमत जाग्रत करने का आग्रह किया था। इस व्यवस्था की निन्दा करते हुए उन्होंने लिखा है, वृद्ध-विवाह तो दुगुना बाल- विवाह है क्योंकि वृद्ध - विवाह में कन्या तो बालिका होती है और वृद्ध पुरुष वृद्ध होने पर भी विवाह करने का विचार करता है वह वालक ही या उससे भी उतरता हुआ गिना जायेगा। कन्या तो वर के जीते हुए भी एक तरह से विधवा गिनी जायेगी। जो बूढ़े पुरुष अपने विकारों को रोकने में असमर्थ हों और इसलिये अथवा किसी दूसरे कारण से विवाह करने को तैयार हों वे अपनी ही जैसी किसी वृद्ध स्त्री से या पुख्ता उम्र की पहुंची हुई किसी ऐसी स्त्री से विवाह करें जो बूढ़े से सम्बन्ध जोड़ने को तैयार हो तो समाज की कम से कम हानि होनी सम्भव है।[1] इस प्रकार वे वृद्ध पुरुषों द्वारा बालिकाओं से विवाह की परिपाटी का विरोध करते हुए इसे सामाजिक ह्रास का प्रमुख कारण मानते थे। यद्यपि बहुत से वृद्ध यह दलील देते हैं कि वृद्धावस्था में सेवा करने के लिए पत्नी की आवश्यकता पड़ती है इसलिए विवाह करना आवश्यक है। ऐसे व्यक्तियों पर कटाक्ष करते हुए गांधी जी ने कहा है यह कितना बड़ा वहम् है कि सेवा के लिये अपना ही आदमी चाहिये। पैसे का लालच देकर किसी बाप से उसकी लड़की को छीन लाने और उसे अपनी समझने में मुझे तो उद्धत स्वभाव की परिसीमा जान पड़ती है। ऐसी लड़की को अपनी मानने के बदले ज्यादा सत्य होगा यह कहना कि एक लौड़ी खरीदी है। सेवा के लिये तो काफी पैसा देने पर अच्छे और वफादार नौकर मिल सकते हैं।[2]

गांधी जी को भारतीय समाज की समस्याओं का इतना गहन ज्ञान था कि छोटी से छोटी बुराई जो समाज के लिए हानिकर थी उनकी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं बच पाती थी। जिन सामाजिक दुर्बलताओं पर किसी सुधारक की दृष्टि भी नहीं जाती थी गांधी जी उनका विशद विवेचन करते थे और इसके साथ ही उसके समाधान का मार्ग निर्देश भी करते थे।

वे वृद्ध बाल-विवाह को व्याभिचार से भी भयंकर रोग समझते थे। उन्होंने कहा है, इसमें शक नहीं कि व्याभिचार में बहुत दोष है, मगर मैं मानता हूं कि वृद्ध - बाल-

---

1. हिन्दी नवजीवन : 29-3-1928
2. हिन्दी नवजीवन : 8-3-1928

विवाह में उससे भी अधिक दोष है। व्यभिचार में दोनो पक्ष सम्मत होते हैं और जब जो पाप से छूटना चाहे छूट सकता है। वृद्ध - बाल विवाह में तो सुधार का, प्रायश्चित का अवकाश ही नहीं है क्योंकि उस अधर्म को तोड़ने में धर्म की ही बाधा पड़ती है। फिर अधर्म जब धर्म का वेश धारण करता है तब वह और अधिक दूषित बनता है क्योंकि उसमें पाखंड का मिश्रण है।[1]

कबीर की भांति गांधी जी ने धार्मिक पाखण्डों और अंधविश्वासों का विरोध किया। सामाजिक प्रगति में बाधक धार्मिक यथास्थितिवाद और रुढ़िवाद के विरुद्ध उन्होनें क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाया । धर्म के आवरण में होने वाले अनाचारों को अनावृत कर सामाजिक विकास में पड़ने वाली वाधाओं को दूर करने में जरा भी संकोच नहीं किया। धर्म के अधार्मिक रुप का समूल विनाश चाहते थे। इस दिशा में गांधी जी के विचार किसी भी क्रांतिकारी से कम परिवर्तनकारी नहीं थे। समाज-सष्टा की दूर दृष्टि उन्हें प्राप्त थी और उसका उपयोग भारतीय समाज के उन्नयन में किया। गांधी जी ने वृद्ध बाल - विवाह को रोकने के लिये सत्याग्रह का भी समर्थन किया इस समस्या के समाधान पर विचार करते हुए कहा वृद्ध बाल विवाह के विरुद्ध वातावरण तैयार करने का कठोर उपाय तो यह है कि किसी नये विवाह के विरुद्व लोकमत संग्रह किया जाय और वृद्ध पति तथा लोभी बाप का अहिंसक वहिष्कार किया जाय। इस प्रकार का एक भी शुद्ध बहिष्कार साधा जासके तो सहज ही दूसरे मां- बाप अपनी बेटी को बेचने में संकोच करेंगे और बूढ़े विवाह नहीं करेंगे बालिकाओं के साथ वृद्धो के विवाह के विरुद्ध सत्याग्रह का मुख्य उद्देश्य लड़की को बिकने से बचाना है। इसलिए सुधारक का काम कन्या विक्रय को रोकना, कन्या के मां बाप पर प्रभाव डालना है।[1]

गांधी जी ने इस बात पर भी जोर दिया कि यदि बेजोड़ विवाह तोड़ने में जाति के लोग जातीय वहिष्कार भी करें तो उससे भयभीत नहीं होना चाहिये। उनका कहना था कि इस स्थिति में लोगों को जाति से बाहर निकाल दिये जाने का भय छोड़ देना चाहिये। कई बार तो जाति से बाहर निकाला जाना स्वागत करने की चीज होगी। जिस जाति के पंच अन्याय करके अपना बड़प्पन खो बैठते हैं । उस जाति में रहना तो एक अत्याचारी राजा के राज्य में रहने के बराबर होगा। ऐसी जातियां किसी को जातिच्युत करें उसके पहिले उसे जाति से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिये।[2] उन्होनें सुझाव दिया कि इस प्रकार वृद्ध वाल-विवाह या बेजोड़ विवाह को भंग करने में जाति - वहिष्कार का भी सामना करना पड़े तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। बदलते हुए समाज में पुरानी जातीय रुढ़ियों को तोड़ने से ही सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता था।

गांधी जी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने कि लिये सत्याग्रहियों से लोकमत जाग्रत करने पर सबसे अधिक जोर देते थे। वृद्ध-बाल विवाह (बृद्ध बाल-विवाह) विवाह

---

1. हिन्दी नवजीवन : 6-9-1928
2. हिन्दी नवजीवन : 21-2-1929

नहीं, बल्कि एक प्रकार के बलात्कार है। ये धर्म विरुद्ध तो है ही फिर भले ही कानून की मान्यता चाहे जो हो। यदि इस तरह बेची गई बालिका छुड़ाई जा सके तो मैं जरूर उसे छुड़ाऊंगा और किसी योग्य वर के साथ उसका विवाह कर दूंगा। जहां- जहां ऐसे विवाह हों नवयुवक उन्हें जनता के सामने प्रकट करें कन्या के माता - पिता का पता लगाकर उनके पास जाय और जिस बूढ़े पुरुष ने विवाह किया हो उसे समझाये कि वह कन्या को छोड़ दें । इन कामों के लिये नवयुवकों का योग्य, प्रतिष्ठित और विनयशील होना आवश्यक है। कन्या सचमुच बालिका होनी चाहिये।[1] इस प्रकार गांधी जी चाहते थे कि जहां कन्या बालिका हो, वे समझते है कि पिता या अभिभावक ने पैसे के लोभ में बेच दिया है वहां कन्याओं को वृद्ध के चंगुल से मुक्त करने के लिये नवयुवक को यथाशक्ति प्रयास करना चाहिये। जब दो-चार मामलों में नवयुवकों को सफलता मिल जाती तो वृद्ध पुरुष बाल-कन्या से विवाह करना छोड़ देते। ऐसी स्थिति में दूसरे विकल्प के रूप में वय- प्राप्त विधवा से विवाह कर अपनी वासना तृप्त कर सकते थे या वृद्धवस्था में जीवन साथी खोज सकते थे।

अन्तर्जातीय विवाह :

गांधी जी अंतर्जातीय विवाह के समर्थक थे। वे सोचते थे कि विवाह की व्यवस्था जाति के घेरे को तोड़ दे। लेकिन ऐसे विवाहों में युवक और युवतियों में पारस्परिक सहमति का होना आवश्यक है। इस विचार को अभिव्यक्ति करते हुए उन्होंने कहा है कि एक भी हरिजन लड़की किसी अच्छे सवर्ण से शादी करे तो इससे हरिजन समाज और सवर्ण - समाज का लाभ ही है। वे एक अच्छी मिसाल पेश करेगे। हरिजन लड़की जहां जाय अपनी सुगंध फैलाये तो ऐसी दूसरी शादियां होने में सहायता मिल सकती है। छूआछूत का डर भाग जायेगा। समाज समझने लगेगा कि इस तरह की शादी करने में कोई हर्ज नहीं है। ऐसी शादी से जो बच्चे पैदा होंगे, वे अगर अच्छे निकले तो छूआछूत को दूर करने में मदद करेंगे।[2]

दो भिन्न धर्मावलम्बियों के बीच विवाह का भी समर्थन गांधी जी ने किया है। उन्होंने लिखा है, मैं स्वीकार करता हूं कि सदैव मेरा यह विचार नहीं रहा। मगर अब से बहुत पहले इस नतीजे पर पहुंच गया था कि जब भी हो दूसरे - दूसरे धर्म वालों के ही विवाह का होना अच्छी बात है शर्त यह है कि इस तरह का सम्बन्ध वासना का परिणाम न हो । ऐसा विवाह मेरे विचार से विवाह होता ही नहीं। यह तो अनुचित भोग विलास है। मैं विवाह को एक पवित्र संस्था मानता हूं । इसलिये दोनों के दिल में मित्रता और एक दूसरे के धर्म के प्रति आदर भाव होना चाहिये।[3]

---

1. हिन्दी नवजीवन : 3-10-1920
2. हरिजन सेवक : 7-7-1946
3. हरिजन सेवक : 16-3-1947

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी जी विवाह के बारे में जातियों या प्रान्तों के बंधन को नही मानते थे, बशर्ते उससे दम्पति को कोई असुविधा न होती हो। छोटी-छोटी जातियां टूटें और संयम के नियमों का पालन करते हुए रोटी-बेटी व्यवहार का दायरा बढ़े-यह उनको अभिप्रेत था। वर्णान्तर-विवाह के प्रति भी उनका समर्थन मिलता है- यद्यपि काफी जांच पड़ताल के बाद । किन्तु अन्तर्देशीय एवं धर्मान्तर विवाहों का समर्थन करते हुए भी वे इस विषय में बहुत उत्साही नहीं थे। उनकी सफलता के विषय में उनको कुछ शंका भी थी। अन्तर्देशीय विवाहों के सम्बन्ध में समर्थन की अपेक्षा विरोध की ओर ही उनके मत का पलड़ा अधिक झुका हुआ दिखाई देता है। यह विरोध किसी सैद्धान्तिक कारण से नहीं, व्यवहारिक कारणों से था, क्योंकि भिन्न जलवायु, धर्म संस्कार एवं संस्कृति तथा सभ्यता में युगों तक पले प्राणी कठिनाई से ही अपने सम्बन्धों को दीर्घकाल तक संतुलित और स्वाभाविक रख सकते हैं। यदि रखते भी हैं तो उन्हें पर्याप्त मानसिक एवं शारीरिक क्लेश की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है।

■

तृतीय अध्याय

आर्थिक विचार

गाँधी जी आर्थिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। गांधी जी आर्थिक विषमता का अन्त करने के पक्ष में थे, लेकिन वे धनिकों से उनका धन बलपूर्वक छीन कर सामाजिक न्याय की स्थापना नहीं करना चाहते थे। गांधी जी का विचार था कि बल प्रयोग के द्वारा सामाजिक न्याय की स्थापना सम्भव नहीं है। जो कार्य हिंसा के द्वारा किया जाता है अहिंसा के द्वारा उसे नष्ट किया जा सकता है। सत्याग्रह के माध्यम से धनिकों को इस बात के लिए बाध्य किया जा सकता है- कि वे अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति का त्याग कर दें। गांधी जी नें धनिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त :

ट्रस्टीशिप गांधी अर्थव्यवस्था का आदर्श सिद्धान्त है, किन्तु, आधुनिक युग में प्रचलित दो प्रकार की व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में गांधी के ट्रस्टीशिप का अध्ययन आवश्यक हो जाता है, क्योकि इन दो प्रचलित व्यवस्थाओं के अध्ययन से ट्रस्टीशिप को आसानी से समझा जा सकता है। ये दो प्रचलित अर्थव्यवस्थाएँ हैं- पूँजीवादी व्यवस्था और समाजवादी व्यवस्था । पूँजीवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता की प्रधानता होती है, अर्थात् जिसके मूल में यह तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अर्थोपार्जन, संचय एवं उपयोग के लिए स्वतंत्र है। अपने साधनों द्वारा वह जिस प्रकार का कार्य अपने आर्थिक विकास के लिए करना चाहता है, कर सकता है । उसमें किसी प्रकार का राजकीय या सामाजिक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अर्थोपार्जन हेतु अपनी सीमा के भीतर जो भी कार्य करना चाहे, कर सकता है । इससे अधिकतम उत्पादन तो संभव होगा ही, साथ ही साथ, अधिकतम व्यक्तिगत शक्ति का प्रयोग भी सम्भव होगा। इसमें उत्पादन लाभ के लिए होता है। लाभ ऐसी शक्ति है जिससे उत्पादक अधिकतम लाभ के लिए अधिकतम उत्पादन करता है। बिना किसी बाधा के प्रत्येक व्यक्ति प्रतिस्पर्धा द्वारा अपने सामान अपने अनुभव से बनाता है। साथ ही उसके विक्रय की सारी व्यवस्था करता है। इस प्रकार अन्य प्रवृत्तियों को छोड़ भी दिया जाय तो पूँजीवाद में व्यक्ति का स्वार्थ लाभ के कारण इतना अधिक बढ जाता है कि यह सम्पूर्ण उत्पादन लाभ के लिए करने लगता है और जब लाभ की प्रवृत्ति घर बना लेती है, तब वह मनुष्यों के विचारों पर व्यापार करने लगता है। इससे वस्तुओं में निकृष्ट तत्वों का समावेश, मिलावट आदि की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है यदि उत्पादन से लाभ नहीं होता तो उत्पादित वस्तु समुंद्र

में फेंकी जा सकती है। या किसी भी प्रकार से नष्ट की जा सकती है। उसके पीछे शोषण अति संचय आदि की प्रक्रिया तो होती ही है, साथ ही साथ प्राकृतिक, आर्थिक, मानवीय आदि सभी शक्तिओं का दुरुपयोग भी होता है। समाज में दो वर्ग हो जाते हैं। एक तो साधनों का स्वामी शासक, श्रम का स्वामी जिसे मजदूर या मेहनतकश कहते है। साधनहीन मजदूरों को अधिक समय तथा मेहनत करनी पड़ती है। कम मजदूरी देकर अधिकांश लाभांश प्राप्त करने में मालिक समर्थ हो जाते हैं। इसमे मजदूरों की आवश्यकताएं पूरी नहीं हो पाती । परिणामतः उनके बीबी बच्चे भी काम करने लगते है। मजदूर जब आंशिक मजदूरी की मांग करते है, तो पूँजीपतियों द्वारा स्वचालित मशीनों के प्रयोग में मजदूर को काम से निकाल दिया जाता है जिससे मजदूरों को अनुचित एवं अनैतिक कार्यों द्वारा उदर-पोषण के लिए बाध्य होना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि समाज का नैतिक स्तर गिरने लगता है। साथ ही बड़े पूँजीपति छोटे पूंजीपतियों को भी समाप्त कर देता है और थोड़े से पूंजीपति सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का संचालन करने लगते है। आज उसी का प्रकोप हैं जिससे मानवता, नैतिकता और सभ्यता समाप्त होती जा रही है।

पूँजीवाद के दोषों के फलस्वरूप समाजवाद आर्विभाव हुआ। जिसमें समता को महत्व दिया गया है। समाजवाद भूमि तथा उत्पादन के समान साधनों पर समाज का आधिपत्य चाहता है। प्रतियोगिता का उन्मूलन निजी उद्योगों का अन्त पूँजीपति तथा भूमिपति का विनाश इसका लक्ष्य है। जहाँ पूंजीवाद मे स्वतंत्रता एवं व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता हैं, वहीं समाजवाद मे समानता एवं समाज को प्रमुखता दी जाती है। समाजवाद अनेक प्रकारों में विभक्त है, किन्तु यहां पर केवल समाजवाद की सामान्य विशेषताओं के विवेचन का प्रयास किया गया है। समाजवाद की पहली विशेषता समानता है। समाजवादियों की व्यक्तियों की समानता में आस्था है। समानता से उनका अर्थ है सभी व्यक्तियों को अपनी नैसर्गिक शक्तियों, क्षमताओं और योग्यताओं के अनुसार कार्य करने और अपने व्यक्तित्व का विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। दूसरी विशेषता स्वतंत्रता है। समाजवादी व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान करके उसे जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्रदान करने के इच्छुक है। तीसरी विशेषता-पूंजीवाद व व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन हैं। उनका आग्रह है कि समाज में धन के असमान वितरण को बन्द किया जाय। इसका एक मात्र उपाय यह है कि पूँजीवादी और सब प्रकार की सम्पत्ति जो व्यक्तिगत है, उसका उन्मूलन करके सामाजिक सम्पत्ति की पद्धति का सूत्रपात किया जाय। चौथी विशेषता-धर्मो का उन्मूलन है। ये समाज की वर्णहीन व्यवस्था के पक्षपाती हैं। पाँचवी विशेषता- समाजवादी राज्य के कार्य को व्यापक मानते है। राज्य का कार्यक्षेत्र केवल राजनीतिक कार्यों तक ही नहीं वरन् आर्थिक और सामाजिक तथा उत्पादन के सब साधनों तक होना चाहिए। छठवीं विशेषता व्यक्ति के हितों एवं स्वार्थों का कोई भी महत्व नहीं है। अपितु समाज का हित सर्वोपरि हैं। सातवीं विशेषता श्रमिकों की दशा मे सुधार हो । क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था ने श्रमिकों का जीवन तबाह कर दिया है। वे जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वह मानव जीवन कहे जाने योग्य नहीं है। इस प्रकार समाजवाद की ये उपरोक्त विशेषताएँ हैं।

कार्ल मार्क्स वह पहला व्यक्ति है जिसने समाजवाद को आर्थिक सिद्धान्त का रूप प्रदान किया और आर्थिक दलीलों के आधार पर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उनके पदार्पण से समाजवाद वैज्ञानिक समाजवाद में परिणत हो गया, जिसे साम्यवाद कहा जाता है। साम्यवाद सम्पूर्ण राजनीतिक सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक बुराइयों की बुनियाद में आर्थिक उत्पादन के साधन तथा पद्धति को एक मात्र कारण मानता है। सभी सामाजिक दोष, अन्याय केवल आर्थिक दोषमय उस पद्धति एवं विषमता के कारण है। इतिहास के उदाहरणों से साम्यवाद इस बात की पुष्टि करता है कि सारी सम्यता एवं संस्कृति का निर्माण अर्थ रचना द्वारा ही हुआ है। यह केवल स्वामित्व और सम्पत्ति का निराकरण आवश्यक मानता है। इसमें पहले कदम में व्यक्तिगत स्वामित्व की जगह राजकीय स्वामित्व होगा और उस राज्य संस्था पर श्रम जीवियों का स्वामित्व होगा। समाजीकरण के लिए स्वामित्व का राजकीयकरण होगा और धीरे-धीरे यह प्रक्रिया चलेगी। साम्यवाद श्रमिकों द्वारा संचालित सरकार की सम्पत्ति कों वास्तव में श्रमिकों की सम्पत्ति मानता है। इस पद्धति में वर्गसंघर्ष के द्वारा वर्ग - परिवर्तन के स्वीकार किया जाता है । श्रमिकों की सत्ता स्थापित करने के लिए पूँजीपतियों, भूमिपतियों से सत्ता छीनना आवश्यक है। बलपूर्वक खूनी क्रांति के द्वारा आवश्यक हो तो श्रम द्वारा विशेष वर्ग, पूँजीपति की हत्या द्वारा श्रमिकों की सत्ता कायम की जाएगी। जिस प्रक्रिया से वह सत्ता प्राप्त की जाएगी, उसी प्रक्रिया से उसका रक्षण भी होगा । यह हैं साम्यवाद की वर्गविहीन समाज बनाने की कल्पना । यह शासन की अनिवार्यता को कायम रखना चाहता है। यद्यपि राज्यविहीन स्थिति को निर्मित करना उसका उद्देश्य है परन्तु सम्पत्ति और उत्पादन के केन्द्रीयकरण का दर्शन इस बात की अनिवार्यता प्रकट करता है कि एक सबल श्रमिक वर्ग का राज्य और उसकी सत्ता होगी। साम्यवाद केन्द्रीकरण को श्रमिको के संगठन के लिए सर्वहारा वर्ग की प्रवृत्ति के लिए संक्रातिकाल में आवश्यक और अनिवार्य मानता है। इसीलिए साम्यवादी केन्द्रीय उत्पादन और केन्द्रीय वितरण और विकास में निष्ठा रखते हैं। इसमें यह सर्वहारा वर्ग को पूँजीपति की प्रतिष्ठा प्रदान कर देना अपना लक्ष्य मानता है। साम्यवाद की प्रवृत्ति राष्ट्रवादी होती है। वह गरीबों, श्रमिकों आदि के लिए घोषणा करता है और कहता है कि दुनियाँ के मजदूरों एक हैं, तुम्हारे पास खाने को नहीं है, बन्धन टूटेंगे और मुक्ति मिलेगी। साम्यवाद वस्तुनिष्ठ उत्पादन और वस्तु के मूल्य में अपना दर्शनसन्निहित करता है। यह मानव के श्रम को वस्तुओंके मुल्य का मापदण्ड और साधन मान लेता है। अधिकतम् उत्पादन द्वारा उपयोग की वस्तुओं को अधिकतम मात्रा में उत्पादित करना और उनका समाज में सम-वितरण कर देना साम्यवाद का लक्ष्य है। साम्यवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद और ईश्वरवाद है। मार्क्सवाद साध्य को महत्व देता है। साध्य की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार का साधन अपनाया जा सकता है किन्तु साम्यवाद में व्यक्तिगत सवतंत्रता और प्रेरणा का कोई स्थान नहीं है। इसमें सत्य और अहिंसा को भी स्थान नहीं है। यह मनुष्य और दोषपूर्ण साधनों पर भरोसा रखता है और नास्तिकता पर आधारित है।

गांधी को पूँजीवाद, सामाजवाद के कुछ सिद्धान्त तो मान्य है किन्तु अधिकांश बातें उन्हे स्वीकार नहीं है इनके स्थान पर वे अहिंसक समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें समता और स्वतंत्रता दोनों का समावेश हो जाता है। वे आर्थिक समस्याओं का स्थायी समाधान सुनिश्चित करना चाहते हैं। किन्तु वे मानव की आध्यात्मिक प्रगति को रोकना नहीं अपितु बढ़ाना चाहते हैं । वे आत्मा को प्राथमिकता देते हैं, साथ ही वे मानव शरीर की आवश्यकताओं के प्रति भी सजग हैं। उन्होंन इन आवश्यकताओं का समाधान खोजने का प्रयत्न किया, किन्तु ऐसा करते समय अपनी मूलभूत वस्तु की आत्मा का बलिदान नहीं किया। इसीलिए उनके सभी आर्थिक सिद्धान्त उनके मूलभूत सिद्धान्त सत्य एवं अहिंसा के साथ सुसंगत है। गांधी आर्थिक समानता, सबको रोजी तथा शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य अहिंसक सत्य उपायों द्वारा वैयक्तिक स्वाधीनता और श्रम की प्रतिष्ठा के साथ प्राप्त करना है, न कि हिंसा द्वारा। अहिंसक समाजवाद बड़ी शुद्ध वस्तु है, इसलिए उसे प्राप्त करने के साधन भी शुद्ध होना ही चाहिए।

ट्रस्टीशिप का अर्थ :

ट्रस्टीशिप का अर्थ जानने से पहले यह आवश्यक लगता है कि यह जाना जाय कि "ट्रस्ट" क्या है। क्योकि ट्रस्ट की जानकारी के बिना ट्रस्टीशिप का अर्थ जानना कठिन लगता है। कानूनी परिभाषा के अनुसार ट्रस्ट उस कर्तव्य भार का नाम है जो सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ जुड़ा रहता है। और जिसकी सम्पत्ति उस विश्वास पर निर्भर रहती है जों (सम्पत्ति के) स्वामी में, दूसरे के लाभ हेतू अथवा दूसरे के और स्वामी के लाभ हेतू स्थित किया जाता है या जिसे वह स्वामी स्वीकार कर लेता है, अथवा जिसे वह एलान करता है और स्वीकार कर लेता है।[1] यह ट्रस्ट की कानूनी परिभाषा है। इसमें वही सब बाते हैं। जिनका समावेश गांधी अपने ट्रस्ट शब्द के अन्तर्गत करते हैं। वस्तु गांधी के "ट्रस्ट" शब्द की दो विशेषताएं है, प्रथम जब संचित द्रव्य, आंतरिक गुण और आवश्यक पूर्ति के बाद जीवन में जो बचे उस अतिरिक्त आय के सम्बन्ध में आदर्श धरोहर (ट्रस्टीशिप) का भाव हो तब गांधी के त्याग शब्द का अर्थ प्रकट होता है। द्वितीय, उक्त कर्तव्य भार केवल प्रेममय सेवा भाव से प्रेरित हो, न कि किसी अन्य स्वार्थमय लौकिक या पारलौकिक कामना से। अतः ट्रस्टीशिप का अर्थ है, सामाजिक परिस्थिति या स्वयं के पुरूषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो, उसे वह धरोहर समझे। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति और स्वामित्व है, उसे वह अपने उपभोग के लिए न समझे और न उसे व्याज, मुनाफा, ठेका या दलाली द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करे। क्योंकि हिंसा के बिना समाज के दूसरे सदस्यों की सहायता और सहयोग के बिना लोग सम्पत्ति का संचय नही कर सकते । इसलिए उनकों कोई नैतिक अधिकार नहीं है कि वे किसी अंश का भी उपयोग व्यक्तिगत हित और दूसरों के शोषण के लिए

---

1. सिंह, नारायण : मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन, पृष्ठ 452

करे। जब तक मनुष्य अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के त्याग के लिए तैयार नहीं है, उन्हे सम्पत्ति की और अपना भाव बदल देना चाहिए तथा सम्पत्ति का उपयोग समाज के हित के लिए करना चाहिए।[1] इसी प्रवृत्ति का नाम ट्रस्टीशिप है। इस ट्रस्टीशिप में सम्पत्ति श्रम, भूमि, बुद्धि, साधन यह सब व्यक्ति के पास संरक्षण के लिए रखा हुआ है। व्यक्ति विशेष उसे समाज को लौटा दे। क्योंकि वह उसके अपने उपयोग के लिए नहीं है। इसी प्रकार कुछ प्रतिभाशाली लोगों में दूसरे लोगों की अपेक्षा अधिक उपार्जन की क्षमता होती है। गांधी उनकी प्रतिभा को दबाना नहीं चाहते वरन उन्हें अधिक् उपार्जन की अधिक छूट देने है। किन्तु उनको ट्रस्टी का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और अपनी अपेक्षाकृत अधिक आय के अधिकांश को लोक कल्याण में लगाना चाहिए। गांधी का विचार है कि आप के अतिरिक्त उन लोगों को अपनी प्रतिभा भी जनकल्याण के कार्य में लगा देनी चाहिए। ट्रस्टी को स्वामी के रूप में अपने अधिकार के कारण काम करना चाहिए। उसके द्वारा की हुई समाज की सेवा के मूल्य के अनुपात में उसे उचित कमीशन मिलना चाहिए। इस क़मीशन की दर राज्य द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए।

गांधी मूल ट्रस्टी को अपने उत्तराधिकारी के चुनाव का अधिकार भी देते हैं, किन्तु उनके चुनाव का अंतिम निर्णय राज्य द्वारा ही होगा उनका यह विचार है कि यह ऐसी व्यवस्था है जो राज्य और व्यक्ति दोनों पर नियंत्रण रखेगी। इसप्रकार गांधी उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति और अनुपार्जित आय के विरूद्ध है उनके अनुसार ट्रस्टी का जनता के अतिरिक्त कोई उत्तराधिकारी नहीं होता। यदि ट्रस्ट की सम्पत्ति का दुरूपयोग होता है तो राज्य को कम से कम हिंसा के प्रयोग द्वारा उसे अपने अधिकार में लेकर उसका सुधार करना चाहिए। लेकिन वे राज्य को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। और स्वेच्छा से किये गये अहिंसक कार्य को अपेक्षाकृत अधिक उचित समझते हैं। ट्रस्टीशिप के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त एवं उसके महत्व का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एवं महत्व :

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में गांधी नें पूंजीवाद समाजवाद की बुराइयों को हटाकर उनकी अच्छाइयों को ग्रहण किया है। इस धारणा में गीता के अपरिग्रह और समत्व की भावना[2] कानून के ट्रस्टीशिप[3] और ईशावस्योपनिषद के वाक्य,''तेन व्यक्तेन भुजीका''[4] का अपूर्व समन्वय हो जाता है। यहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाज के पवित्र धरोहर के रूप में रहता है। अतः सामाजिक सम्पदा को भोग के लिए नही अपितु जनकल्याण के लिए ही किया जाता है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इसी बात पर आधारित है कि जिसके पास धन है, वह उसे अपना समझकर अनावश्यक खर्च को रोके। उसे समाज की

1. गाँधी : आत्मशुद्धि, पृष्ठ 34-35
2. गाँधी : 'ऐन आटो वायोग्राफी' एवं 'द स्टोरी आफ माई एक्सपेरिमेन्ट्स विथ ट्रूथ', पृष्ठ 198
3. गाँधी : 'ऐन आटो वायोग्राफी' एवं 'द स्टोरी आफ माई एक्सपेरिमेन्ट्स विथ ट्रूथ', पृष्ठ 198
4. हरिजन : 22-2-1942, पृष्ठ 49

धरोहर समझकर रखे और उसे खर्च करे तो मात्र लोककल्याण के लिए ही न कि अनियंत्रित उपभोग एवं स्वार्थ के लिए। धनिक वर्ग के लोग यदि जन सामान्य की तरह सादगी से रहते और कम खर्च करते हैं तो वे जनता के ट्रस्टी कहे जा सकते हैं।

ट्रस्टीशिप का भावना उच्च चरित्र की निशानी है। अमीरों को चाहिए कि वह अपने धन को जनता की धरोहर समझकर खर्च करें। अमीर जिस तरह गरीबों से अपने को अलग और दूर रखते हैं, उससे उनका भविष्य अन्धकारमय दीखता है। उन्हें धन के अभियान में अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए, क्योंकि धन तो उनका है ही नहीं। उन्हे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे मनुष्य पहले हैं और सेठ, साहूकार, पूँजीपति बाद में। आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीपन निहित हो इस आदर्श के अनुसार धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी अधिक रखने का अधिकार नहीं है। तब उसके पास जो अधिक है क्या वह उससे छीन लिया जाय ? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। और हिंसा के द्वारा ऐसा करना सम्भव हो तो भी समाज को उससे कुछ फायदा होने को नहीं है क्योंकि धन इकट्ठा करने की शक्ति रखनें वाले एक व्यक्ति की शक्ति को समाज खो बैठेगा। इसलिएं अहिसंक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो धन शेष बचे, उसका वह जनता की ओर से ट्रस्टी बन जाय। जब मनुष्य अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज के लिए धन कमायेगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी उसके साहस में भी अहिंसकता होगी। इसी प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाय तो बिना सघर्ष के एक क्रांति पैदा हो सकती है।[1]

सामाजिक परिस्थिति में स्वयं के पुरूषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो उसे वह धरोहर माने। गांधी ने अस्तेय और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों को ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में इस प्रकार जोड़ देते हैं कि स्वामित्व और सम्पत्ति की भूमिका और उसका आशय ऐसा परिवर्तित होता है कि स्वामित्व और सम्पत्ति का लगभग विर्सजन हो जाता है। किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी अधिक संरक्षक कानून प्राप्त हुआ। कोई धनवान गरीबों के सहयोग के बिना धन नही कमा सकता है। इसलिए जब कोई विकल्प नहीं है, सिवाय इसके कि अपनी सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति माना जाय ।

कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके पास कोई न कोई शक्ति न हो । जितनी भी शक्तियाँ हैं, उन सबका मनुष्य समाज में स्थायी बनकर इसका केवल ट्रस्टी बने। ये शक्तियाँ उसे इसलिए प्राप्त हुई हैं कि इनके द्वारा वह उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुकूल इसका उपयोग करे। वह उन शक्तियों की वृद्धि और संरक्षण करे ताकि अधिक से अधिक समाज आर्थिक कल्याण की वृद्वि की कल्पना साकार कर सके जिससे आज के जधन्य स्वार्थ विरोध आर्थिक संघर्ष समाप्त हो जाय और एक नवीन आर्थिक समाज का विकास हो। इस विषय में दो मत नहीं है कि जब प्रत्येक व्यक्ति अपने को

1. हरिजन सेवक : 24-8-1940, पृष्ठ 231-32

ऐसा समझेगा तब समाज में सर्वोदय की अर्थव्यवस्था होगी और उसके तीन आधार होंगें-- अहिंसा, शोषणविहीन समाज एवं समता। ये आधार तभी प्राप्त होंगे जब मनुष्य अपनी अच्छाइयों का विकास करेगा। सेवामूलक स्वामित्व रहेगा और सेवाशून्य स्वामित्व नष्ट होगा। गांधी समाज को एक परिवार के रूप में देखते हैं। परिवार में हर व्यक्ति की क्षमता एक समान नहीं होती और जब एक समान क्षमता नहीं हो सकती तब हर व्यक्ति एक समान उत्पादन नहीं कर सकता । परन्तु जो कुछ वह उत्पादन करता है, उसका एक ही मालिक उस परिवार का मुखिया है जो उस सम्पत्ति का उपयोग समस्त परिवार के लिए करता है। ठीक उसी प्रकार समाज में भी शक्ति की विषमता के कारण उत्पादन की विषमता होगी। इसलिए व्यक्ति को अपनी शक्ति तथा मेधा के अनुकूल करोड़ो का उपार्जन करने का अधिकार है।[1]

यधपि गांधी समाज में समता लाना चाहते हैं परन्तु ऐसी समता नहीं लाना चाहते हैं जिसमें व्यक्ति अपनी मेधा का पूरा उपयोग ही न कर सके। यदि व्यक्ति को शक्ति और मेधा को बेकार बनाने वाली समता नहीं लायी गयी तो वह मृतक होगी, जिसमें समाज जीवित नहीं रह सकेगा।[2]

अतः गांधी का यह सुझाव है कि व्यक्ति उपार्जन अपनी शक्ति भर करे, परन्तु उसका उपयोग समाजहित के लिए हो। इसी प्रकार वितरण की समता का यह अर्थ नहीं कि कम आवश्यकता और अधिक आवश्यकता वालों को समान ही मिले। पाचन-क्रिया कमजोर वालों को और अधिक आवश्यकता वालों को समानता के नाम पर एक समान भोजन नहीं दिया जा सकता समता[3] का अर्थ अधिक से अधिक समता है। इसलिए गांधी ने निम्नतम पारिश्रमिक और उच्चतम आय को निर्धारित करना चाहा है तथा समय समय पर उसे बदलकर धीरे-धीरे विषमता कम करना चाहते हैं।[4] किन्तु गांधी यह नहीं निश्चित करना चाहते हैं कि कौन व्यक्ति कितना समाज के हित में योगदान देगा ।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है । जिस प्रकार मानव का शरीर ट्रस्टी है, उसी प्रकार से समस्त वस्तुएँ ट्रस्टी के रुप में है । इससे एक नवीन भावना पैदा होती है कि हर मनुष्य अपनी शक्ति भर काम करेगा और केवल आवश्यकता भर उपयोग करेगा । जब यह भाव उत्पन्न होगा तो वह अपने को स्वामित्व और सम्पत्ति से स्वतः अलग कर लेगा । प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतंत्र प्रेरणा से अपनी शक्ति व रुचि के अनुसार उन्नतशील ढंग से कार्य करेगा और अधिक से अधिक समाज को देगा और कम से कम उससे लेगा । यह प्रर्त्यपण की भावना, मनुष्य जब अपने मन में लाता है तो अपनी कला प्रतिभा और श्रम समर्पित कर देता है । जैसे व्यक्ति

1 हरिजन : 22 - 2 - 1942, पृष्ठ 49.

2 हरिजन : 22 - 2 - 1942 पृष्ठ 49

3 बोस, एन० के० : स्टडीज आन गांधीज्म, पृष्ठ 96.

4 हरिजन : 25-10-1942, पृष्ठ 301.

अपने कुटुम्ब पड़ोसियों के लिए समर्थन की भावना रखता है । उसे गाँधी ने अर्थशास्त्र की भाषा में स्वदेशी कहा है । ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का महत्व यह भी है कि यह योग्य पदार्थो को भी ट्रस्टी के रुप में देखता है और वस्तु के प्रति आदर की भावना, वस्तु को समर्पण करने की भावना प्रत्येक व्यक्ति में पैदा कर देता है । ज्यों ही उनके प्रति आदर की भावना, होती है, त्योंही इनका दुरुपयोग समाप्त हो जाता है और व्यक्ति कभी वस्तु को बर्बाद और नष्ट नहीं होने देता । वस्तुओं का उपयोग मर्यादित होना चाहिए, ताकि मौन शक्ति क्षीण न हो । आहार-विहार युक्त जीवन की कल्पना है । सभी वस्तुएँ परिमित तथा मर्यादित है । मन तथा शरीर को स्वस्थ्य रखने के लिए यह आवश्यक है । ऐसा न होने पर कभी-कभी मनुष्य की सम्पत्ति और मनुष्य के प्रति सहानभूति की भावना ही खो देता है । सम्पत्ति के लिए एक दूसरे का गला घोटता है। किन्तु ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में मनुष्य अपने साथ के प्राणियों को कष्ट नहीं देता, अपितु उनके सुख का ध्यान रखता है । वह सभी को अपनी सम्पत्ति का हिस्सेदार मानता है । यह है मनुष्य की सहज वृद्धि तथा सहज प्रेम की भावना ।

ट्रस्टीशिप के आवश्यक अंग :

ट्रस्टीशिप के तीन महत्वपूर्ण अंग है । पहला - कोई ट्रस्ट करने वाला होता है, दूसरा - कोई वस्तु होती है जिसका ट्रस्ट किया जाता है और तीसरा - किसी के लाभ के लिए ट्रस्ट किया जाता है जिसमें व्यक्ति या व्यापक समाज हो सकता है । अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सी वस्तु है जिसको ट्रस्ट किया जाता है । इसमें मुख्य रूप से दो चीजें होती है । पहला सम्पत्ति और दूसरा श्रम । प्रत्येक व्यक्ति, जिसके पास अपने समुचित भाग से अधिक सम्पत्ति है, उस भाग का ट्रस्टी बन जाता है और यह सम्पत्ति समाज की है तथा समाज के हित के लिए उसका उपयोग होना चाहिए । इस प्रकार वह व्यक्ति सम्पत्ति का ट्रस्टी बन जाता है । दूसरा भाग है श्रम । मानव की शक्ति मानवसमाज की अप्रत्यक्ष सम्पत्ति होती है जो कार्यरुप होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य को अपनी प्रत्यक्ष सम्पत्ति का ट्रस्टी बनकर रहना चाहिए, उसी प्रकार उसे अपनी अप्रत्यक्ष सम्पत्ति रुप आंतरिक शक्तियों का भी ट्रस्टी होना चाहिए । यदि आन्तरिक व्यक्तियों का उपयोग उसने ट्रस्टी समझकर नहीं किया, तो वह सम्पत्ति का ट्रस्टी बनना संभव न हो सकेगा, क्योंकि बाह्य साम्पत्तिक रूप उन्ही आन्तरिक शक्तियों का जाल रूप रहता है । यर्थाथ में शक्ति एक ही है । वही प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान रहती है । यह वह शक्ति है जिसका स्वाभाविक गुण है कर्म करने अथवा श्रम करने का अतः उसे श्रमशक्ति कहा जाय तो उचित ही होगा । यह श्रम शक्ति किसी मनुष्य में किसी एक क्षेत्र में तो दूसरे में कुछ दूसरे प्रकार से उपयोग उसका ट्रस्टी ही बनकर किया करे । चाहे वह साधारण मजदूर की श्रमशक्ति हो या चतुर इंजीनियर की जब मनुष्य अपने आपको श्रमशक्ति का ट्रस्टी बनकर उत्पादन करेगा जब वह अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं का केवल उतना ही भाग अपने उपयोग में लायेगा, जितना उसे आवश्यक है । शेष भाग को वह जनंता में वितरण के लिए छोड़ देगा । परिणाम यह होगा कि उत्पादन में वृद्धि होगी और वितरण में समता आने लगेगी । इसलिए गाँधी

का कथन है कि श्रम और पूँजी दोनों आपस एक दूसरे के ट्रस्टी बनकर काम करे और दोनों उपभोक्ताओं के भी ट्रस्टी बने ।[1] श्रम को मुख्य रुप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - मानसिक एवं शारीरिक ।

मानसिक श्रम :

मानसिक क्षेत्र में मन बुद्धि आदि का व्यापार चलता है । सभी लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती है कि सभी व्यक्ति शारीरिक श्रम ही करें, क्योंकि सबकी शारीरिक क्षमता एक समान नहीं होती है । कुछ लोग केवल मानसिक श्रम ही कर सकते हैं । इन मानसिक श्रम करने वालों का भी समाज में बहुत अधिक महत्व है । इनमें डाक्टर, वकील, इंजीनियर आदि आते हैं । ये समाज को अपूर्ण सेवा भी करते हैं । गांधी इनकी सेवा को स्वीकार करते हैं । किन्तु ये लोग अपने को समाज के अन्य श्रमिको से अलग तथा ऊपर समझते है । इस अलग रखने की प्रवृत्ति को गांधी दोषपूर्ण मानते हैं तथा कहते हैं कि इनकी सेवाओं का भी उतना ही महत्व है, जितना कि एक मंत्री की सेवा का महत्व है । मानसिक श्रम करने वालों को भी दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है । लाभ के लिए श्रम तथा आवश्यकता की पूर्ति के लिए उदर-पोषण श्रम । यद्यपि वर्तमान समाज गुणप्रधान श्रमिकों को अधिक वेतन मँहगाई आदि देकर नियम का परिपालन कर मानवीय कौटुम्बिक न्याय पर आघात करते हैं । इनको वेतन काम के लिए न देकर इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दिया जाना चाहिए । यद्यपि श्रमिकों के मसीहा कार्ल मार्क्स ने भी इसी प्रचलित आघात को कायम रखने की ही बात कही है, क्योंकि उन्होनें यह बताया है कि ऐसे बुद्धि प्रधान श्रमिकों का वेतन शरीर प्रधान श्रमिकों के वेतन से अनुपात के अनुसार अधिक हो, परन्तु गांधी के द्वारा मान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सिद्धान्त में सब श्रमिकों को एक ही तरह के वेतन की बात कही गयी है । उसमें अनुपात की बात नहीं है, जो श्रम के माप पर निर्भर रहती है । इसमें श्रम का पुरस्कार श्रम पर निर्भर नहीं रखा है, वरन जीवन संबन्धी मूल आवश्यकताओं पर कायम करना बताया गया है । सभी जनसेवक बनकर मुफ्त में जनसेवा करे और अपनी आवश्यकतानुसार उदर-पोषण आदि के लिए सामाजिक सम्पत्ति का अंश लिया करे । गांधी ने कहा, सब मंत्री, डाक्टर, वकील, शिक्षक, व्यापारी तथा अन्य लोग इमानदारी से की गई दैनिक मजदूरी के बदले एक सा पारिश्रमिक लेंगें।[2] अर्थात डाक्टर, वकील आदि को अपने जीवन के लिए उदरपोषण श्रम के किसी एक रूप पर निर्भर रहना चाहिए और जनता की सेवा मुफ्त मे करनी चाहिए ।

---

1 हरिजनः 2- 25.6.1938, पृष्ठ 162.

2 हरिजन : 3.3.1944, पृष्ट 78

शारीरिक श्रम :

शारीरिक श्रम से मतलब है जो व्यक्तिगत. और सामाजिक आर्थिक गति सें संबधित रहता है, इसलिए इसमें केवल उतने ही शारीरिक श्रम का समावेश किया जाता है जो समाज की उत्पादन, वितरण आदि आर्थिक गतियो से संबंधित हो । इसमें केवल उन्हीं लोगों को रखा जाता है जो शारीरिक मेहनत करके उत्पादन करते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें भी दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है - वैतनिक श्रम और उदर-पोषक श्रम ।

वैतनिक श्रम, वे हैं जो वेतन लेकर मजदूरी करते हैं । मार्क्स की लड़ाई की वैतनिक श्रम के लिए जिस समय उसने श्रमिकों का प्रश्न उठाया था, उस समय पश्चिम के सभी देशो में ग्रामीण एवं गृह - उद्योगों का अन्त हो चुका था और मशीन युग का आगमन हो चुका था । जिसके कारण लोगों के व्यक्तिगत रोजगार समाप्त हो चुके थे। शहरों में उद्योगों का केन्द्रीकरण हो गया था । उद्योग ही नया-व्यापार, यातायात के साधन आदि भी पूँजीपतियों के हाथ में और भूमि जमींदारों के हाथ में थी । इस कारण सब ओर से वेतन पर गुजर - बसर करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ रही थी । वेतन शब्द ही इस बात का द्योतक है कि एक मालिक है और दूसरा उसका नौकर - एक काम देने वाला है और दूसरा उस पर काम व दाम दोनो कें लिए आश्रित रहने वाला। यद्यपि मार्क्स ने परावलम्बी श्रमिक को परावलम्बी ही रखना चाहा है, वेतन वह भले ही लड - भिड़ कर बढ़वा ले । आधुनिक ट्रेडयूनियन, श्रमिक संघ आदि सभी इस परावलम्बी श्रम को अधिक वेतन दिलाकर मुक्त कराने का सोचते हैं पर उन्हें यह ध्यान नहीं है कि क्या परावलम्बी मुक्त हो सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि परावलम्बी को स्वावलम्बी बनाया जाय । इस वैज्ञानिक श्रम को गांधी ने समाप्त करने की बात कही है ।

श्रमिकों को वेतन तथा ढूढनें से मुक्ति दिलाने के लिए गांधी ने भर पेट भोजन की योजना निकाली, जिसे उदर - पोषण की योजना का श्रम कहा जाता है । गांधी जी की यह योजना है, सर्वोदय की, जिसकी झलक है, ग्रामोद्योग साधना । इस भरपेट भोजन वाली बातको समझने के लिए संयुक्त हिन्दु कौटुम्बिक जीवन इसका उदाहरण है । जहाँ हर सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार काम करता है । वह कितनाही अधिक क्यों न कमायें, उसका उदेश्य यह नही रहता कि घर का मुखिया उसकी कमाई का पूरा भाग उस पर ही खर्च करे । उसका एक मात्र उदेश्य यह रहता है कि उसे भर पेट भोजन मिलता जाय और उसकी सर्म्पूण कमाई का उपयोग कुटुम्ब के सभी सदस्य करें। इसमें प्रेम, उत्साह और स्वावलम्बन है ।

स्वाभाविक प्रश्न यह है कि गांधी के मन में यह भर पेट भोजन वाली बात कैसे उठी ? सभवतः यह उसी स्वदेशी अथवा परवर्ती स्थिति को देखकर उठी, जहाँ उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया । हिन्दुस्तान उनका कार्यक्षेत्र था, जहाँ की भुखमरी से वे परिचित थे । उनके सामने यहाँ के बेरोजगारों में भुखमरी आदि का प्रश्न था । वे चाहते थे कि वे अपने पैरो पर खड़े हों । इसके लिए गांधी ने चाहा कि प्रत्येक व्यक्ति हाथ से चरखा

चलाकर सूतकाते और उसकी आमदनी से अपना उदर - पोषण किया करे । इसके लिए गांधी ने सभी श्रमिकों को एक समान माना है । सर्वोदय अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से अर्थ की प्रतिष्ठा प्रदान कर समाज में उसे उत्पादक की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता है तथा शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बौद्धिक श्रम से अधिक होनी चाहिए ।

ट्रस्टीशिप में सम्पत्ति नियोजन एवं उत्पादन प्रक्रिया

आदर्श आर्थिक व्यवस्था लाने के लिए गांधी ने जो आर्थिक योजना समाज को दी है उसके एक अंग उत्पादन पर ऊपर विवेचन किया गया है । अर्थात उस योजना के अनुसार उत्पादन की क्रिया उदर - पोषक श्रम पर आधारित की जाय और जो जितना उत्पन्न करे, उतना उसका ट्रस्टी बनकर रहे । अब प्रश्न है सम्पत्ति नियोजन एवं उत्पादन प्रक्रिया का । यद्यपि उदर पोषक श्रम पर उत्पादन आधारित तों हो किन्तु उस उत्पादन की प्रक्रिया क्या हो । अध्ययन की सुविधा के लिए यही पहले सम्पत्ति नियोजन का विवेचन दो वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया गया है ।

समुचित वितरण

सम्पत्ति वितरण के संकल्प में परिस्थितियों के अनुसार कई प्रकार की भावनाएँ उठती रहती है । इसलिए सम्पत्ति वितरण के संबंध में परिस्थितियों के अनुसार कई प्रकार की विचार धाराएँ उठती रहीं है और जिस भावना को लेकर जो दल चल निकला, वह अलग अलग नाम से प्रख्यात हो गया । इन सभी के समान गांधी ने भी न्याय - वितरण की बात कही । यद्यपि गांधी का आदर्श समान वितरण का है किन्तु वे उसको अपर्याप्त समझते हैं । इसलिए वे न्याय वितरण के पक्ष में हैं ।[1] उनका कहना है कि आर्थिक समता का यह अर्थ कदापि न समझना चाहिए कि हर व्यक्ति को एक बराबर लौकिक पदार्थ मिलेंगे । हाँ, उसका यह अर्थ अवश्य होता है कि हर एक को रहने के लिए उचित मकान, खाने के लिए पर्याप्त और संतुलित भोजन और पहनने तथा ओढने के लिए काफी खादी मिलेगी । उसका यह भी अर्थ होता है कि आजकल जो विषमता फैली है, वह निष्कलंक अहिंसात्मक साधनों द्वारा हटा दी जाएगी ।[2] इस प्रकार गांधी जी ने यह सिद्धान्त निकाला कि हर मनुष्य को उसकी आवश्यकतानुसार सामाजिक सम्पत्ति में से लेने का अधिकार हो । किन्तु यदि स्वार्थ की दृष्टि से देखा जाय तो उक्त भावनाओं के क्रम में उलट-फेर हो जाता है और ज्यों-ज्यों पदार्थ विकसित होता है, अर्थात पाशविक सभ्यता से आधुनिक सभ्यता की ओर मानव बढ़ता है, त्यो-त्यो उसमें सम्भागीय वितरण की बात कही और फिर उसकी अड़चने देखकर यह भी बताया कि जिसकी जो आवश्यकता हो उसे उतना ही दिया जाय । यह कौटुम्बिक न्याय है जिसे

---

1 धवन : पोलिटिकल फिलॉस्फी आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ 102.

2 धवन : पोलिटिकल फिलॉस्फी आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ 102

गांधी ने अपनी आर्थिक योजनाओं में काफी स्थान दिया है । चूँकि गांधी ईश्वरवादी हैं और जैसे ईश्वर सबको समान काम नहीं देता है, केवल उनकी आवश्यकताएँ ही पूरी करता है उसी प्रकार गांधी ज़ी सबको एक सम्मान देने के पक्ष में नहीं हैं अपितु समता के साथ ही साथ न्याय भाव पर अधिक जोर देते हैं। इस प्रकार वितरण की समस्या जो एक प्रमुख समस्या है, गांधी उसे न्याय वितरण के आधार पर सुलझाने का प्रयास करते हैं। सम्पत्ति एवं साधन जो उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण है, उसके प्रयोग का अधिकार सबके लिए समान रूप से होगा । भूमि, सम्पत्ति व साधन इनके प्रयोग में जो प्रतियोगिता व्यक्तिगत लाभ - ईर्ष्या आदि का भाव होता है, वह समाप्त होगा और प्रेम एवं सहयोग से सारा काम होगा ।

विकेन्द्रीकरण :

गांधी की धर्म नीति में राज्य की विभिन्न इकाइयों को विकेन्द्रित तथा स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया गया है । इससे प्राकृतिक और स्वस्थ वातावरण में विकेन्द्रित स्वावलम्बी ग्राम समुदाय के विकाससे जीवन में सरलता, सामाजिकता, सहयोग, प्रेम और अन्य सद्गुणों की भावना विकसित होगी प्रत्येक ग्राम या इकाई को अपनी जरुरत के लिए पर्याप्त सामग्री पैदा करनी चाहिए । जिन चीजों को छोटी इकाइंयाँ पैदा न कर सके उन्हे अन्तर - ग्राम और अन्तर इकाई उद्योगों द्वारा पैदा करना चाहिए । गांधी ने कहा, व्यक्ति को अगर अहिंसक ढंग से अपना विकास करना है तो उसे बहुत सी चीजों को विकेन्द्रित करना होगा ।[1] क्योंकि केन्द्रीयकरण भारत के लिए उचित नहीं लगता। क्योंकि केन्द्रीयकरण की पद्धति अहिंसक समाज रचना की विरोधी है । उन्हे जहाँ पर एक ओर केन्द्रीयकरण में शोषण की भावना का अनुभव हुआ वही केन्द्रीयकरण में अनिवार्य हिंसा का भी आभास मिला । उन्होने विकेंद्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन किया और कहा कि इसका ध्येय है लोगों को सुखी बनाना और इसके साथ ही साथ सम्पूर्ण बौद्धिक और नैतिक उन्नति भी करना ।

संभवतः नैतिक उन्नति से गांधी का अभिप्राय यहां आध्यात्मिक उन्नति से है। यह ध्येय केवल विकेंद्रित व्यवस्था में ही सिद्ध हो सकता है। इस विकेन्द्रीकरण से राष्ट्र की सुरक्षा भी आसानी से की जा सकती है। क्योंकि जब भी युद्ध आदि होता है, तब बड़े बड़े नगरों, औद्योगिक केन्द्रों पर ही विध्वंसक प्रहार प्रायः होते हैं, क्योंकि आक्रमणकारी उस राष्ट्र की औद्योगिक प्रतिष्ठानों को सबसे पहले समाप्त करने का प्रयास करता है, जिससे उस राष्ट्र की अर्थव्यवस्था ही बिगड़ जाय। विकेन्द्रीकरण से उद्योग एवं व्यवसाय छोटे-छोटे नगरों, कस्बो और गांवों में भी फैलने लगते है, जिससे सभी लोगों को काम आसानी से मिल जाता है और नगरीकरण की प्रवृत्ति पर अपने आप रोक लगने लगती है। इन्हीं सब कारणों से केन्द्रीकरण के बदले गांधी विकेन्द्रीकरण के पक्ष में हैं। इससे गांव शक्तिशाली तथा सम्पन्न होंगे, जिससे ग्राम राज्य की कल्पना साकार होगी।

---

1 हरिजन सेवक : 18-1-1942 , पृष्ठ 6

अब प्रश्न है कि उत्पादन की प्रक्रिया क्या हो ? इस उत्पादन की प्रक्रिया को सुविधा के लिए निम्न क्रम में रखा जा सकता है :

बड़े उद्योगों का विरोध :

गांधी ने उद्योगवाद और बड़े पैमाने पर उत्पादन की निन्दा की है। आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता और उसका सबसे मूल लक्षण है, बड़े यंत्रो की भरमार और बड़े-बड़े कल कारखाने, यूं तो इतिहास इस बात का साक्षी है कि सदैव किसी न किसी रूप में यंत्रो का उपयोग होता आया है, किन्तु आज जिस प्रकार के यंत्रो की बात की जाती है, वे सूक्ष्म और बड़े-बड़े कल कारखानों पर आधारित होते हैं। प्रारम्भ में छोटे और सरल ग्रन्थो से ही काम चलाया जाता था। अठारहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण आविष्कार हुए और उन आविष्कारों से उद्योग एवं व्यापार की असाधारण उन्नति हुई। उसे औद्योगिक क्रांति की संज्ञा दी जाती है। इससे मानव का दृष्टिकोण आचार-विचार, धर्म और नीति आदि की मान्यता में परिवर्तित हो गया है।

गांधी ने भारत की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात उसे बड़े पैमाने पर औद्योगिकरण का विरोध किया। भारत जैसे अधिक जनसंख्या वाले और गरीब देश के लिए बड़े-बड़े मशीनों का उपयोग लाभप्रद नहीं होगा। वे ऐसा आर्थिक संगठन बनाना चाहते हैं जिससे जनसाधारण को लाभ हो और समाज में अधिकतम आर्थिक समानता आये। किन्तु औद्योगिकरण में उत्पादन केन्द्रीत होता है। सारा कच्चा माल गांव से शहर की ओर जाता है। फलस्वरूप शहरों की वृद्धि होती है और गांवों का ह्रास होता है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था का संतुलन बिगड़ जाता है। उन्होंने कहा है कि बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा और बाजार की समस्याएं बड़ी होंगी, त्यों-त्यों गांवों का प्रकट या अप्रकट शोषण होगा। इसलिए हमें अपनी शक्ति इसी प्रयत्न पर केंद्रित करनी चाहिए कि गांव स्वयं पूर्ण बने और वस्तुओं का निर्माण और उत्पादन अपने उपयोग के लिए ही करे।[1] यदि दुनियां के समस्त देश बड़े पैमाने की उत्पादन पद्धति को अपना लें तो उनके माल के लिए बड़े बाजार नहीं मिलेंगे। उस स्थिति में बड़े पैमाने के उत्पादन को रोकना ही होगा।[2] बड़े यंत्रोद्योग की एक बड़ी बुराई आर्थिक विषमता और वर्ग द्वेष का विस्तार है। कारखानों के उत्पादन होने से मालिक और मजदूर की भावना का विस्तार होता है। मजदूरों का अलग संगठन बनता है। अतः समाज में एक नये वर्ग का जन्म होता है। इस औद्योगीकरण से ही हड़ताल तालाबन्दी, मालिक एवं मजदूर का संघर्ष आदि की समस्या सामने आती है। इस औद्योगीकरण से ग्रामोद्योग का ह्रास होता है। उन्होंने कहाकि उद्योगवाद

1. हरिजन : 19-8-1936
2. प्रभु, आर०के० : दी माइण्ड ऑफ महात्मा गाँधी, मृष्ठ 121

मानवजाति के लिए अभिशाप बन जाने वाला है। उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है किआप में शोषण करने की कितनी शक्ति है।[1] गांधी सम्पूर्ण औद्योगीकरण के साथ स्वामित्व विसर्जन की बात करते है। वे किसी को सम्पत्ति का स्वामित्व नहीं देना चाहते हैं। उद्योग चलाने वाले केवल उसका ट्रस्टी मात्र ही अपने को समझे। यदि गांधी उद्योग का विकास करना चाहते हैं तो उसे भारतीय परिवेश के साथ जोड़कर ही करना चाहते हैं किन्तु ऐसा नहीं हैं कि वे हर प्रकार के बड़े उद्योगों का विरोध करते हैं। यद्यपि उसमें बड़े उद्योगों का नाम नहीं गिनाता है पर साधारणतः कहा जा सकता है कि ये उद्योग जो छोटे पैमाने पर नहीं चलाये जा सकते, उन्हे केंद्रित एवं बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है। भारी उद्योग स्वभावतः केंद्रित होंगे और उन पर राष्ट्र का स्वामित्व होगा, लेकिन वे सब उद्योग गांवों में चलने वाले विशाल राष्ट्रीय प्रवृत्ति के अंश मात्र होंगे।

प्रश्न है, भारत के उद्योगों का भावी स्वरूप क्या होगा। देश में दो प्रकार के उद्योग होंगे। एक विकेन्द्रित उद्योग तथा दूसरे केंद्रित उद्योग। क्योंकि केवल विकेन्द्रित उद्योग से ही राष्ट्र का काम नहीं चल सकता है। इसलिए केंद्रित उद्योग आवश्यक है। किंतु शर्त यह है कि जिन वस्तुओं का उत्पादन विकेंद्रित उद्योगों द्वारा किया जा सकता है, उनका उत्पादन केंद्रित उद्योगों से न किया जाय। उपभोक्ताओं के आवश्यक उपभोग के सामान विकेंद्रित उद्योगों द्वारा उत्पन्न किये जाएगें। खाद्य पदार्थ और अन्य प्रकार के मौलिक उद्योग विकेंद्रित हो जाएंगे। उन सब केंद्रित उद्योगों के जो विकेंद्रित उद्योगों के लिए प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करते हैं, बन्द कर दिया जाएगा। विकेंद्रित उद्योगों के लिए प्रादेशिक स्वावलम्बन प्राप्त करना आवश्यक होगा। ये उद्योग उस प्रदेश के मनुष्यों तथा प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने में समर्थ होंगे। इन्हें कच्चा माल प्रदान करके उत्पादन का मार्गदर्शन तैयार माल का विक्रय करने तथा यांत्रिक सुधार इत्यादि का कार्य करने का उत्तरदायित्व औद्योगिक सहकारी समितियों का होगा। जो निम्न क्षेत्रों में होगी और जितना एक केन्द्रीय संघ होगा। इन उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए एक ग्रामीण आर्थिक समिति होगी। इन उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चेमाल पर किसी प्रकार का कर नही होगा और आवश्यक कच्चे माल तथा शक्ति एवं साधन सर्वप्रथम इन्ही को प्रदान किये जाएंगे। इनमें काम करने वाले मजदूरों को उचित पुरस्कार, मकान, बुढ़ापे की पेन्शन, बीमारी तथा बेरोजगारी की पेन्शन का भी प्रबंध रहेगा, जिससे कि वे अपने को सुरक्षित समझेंगे। यह नियम मजदूरों के साथ केन्द्रित तथा विकेन्द्रित दोनों उद्योगों में पूर्णतया किया जाएगा। केन्द्रित उद्योग भी होंगे। रक्षा की वस्तुओं का उत्पादन, खाने, धातुएं, जंगल, भारी यंत्र तथा इंजन, रासायनिक उद्योग आदि में सभी केन्द्रित होंगे। इस पर स्वामित्व पंचायती होगा। इन उद्योगों का राष्ट्रीकरण होगा। ये उद्योग किसी प्रकार से ग्रामीण उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा नही करेंगे। इनका पूर्णतया अमानवीकरण होगा। ये उद्योग सब प्रकार के विकेन्द्रित उद्योगों के सहायक होंगे। इस प्रकार से बड़े उद्योग स्वयं लघु एवं ग्रामोद्योग में परिवर्तित हो जाएंगे।

---

1. यंग इंडियाः 12-11-1931

स्वदेशी ग्रामोद्योग का महत्व :

गांधी के आर्थिक ढांचे की आधारशिला स्वदेशी और ग्रामोद्योग का विचार है। स्वदेशी और ग्रामोद्योग दोनों परस्पर सम्बन्धित है। साधारणतः स्वदेशी को काफी संकुचित अर्थ में समझा जाता है, परन्तु गांधी ने स्वदेशी का काफी विस्तृत अर्थ लिया है। उन्होंने स्वदेशी की परिभाषा की है कि जो वस्तु करोड़ो भारतीयों के हितों का संर्वद्धन करती हो, भले ही उसमें लगी पूंजी और कौशल विदेशी हो, अलबत्ता यह पूंजी और कौशल भारतीय नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।[1]

स्वदेशी में स्वयं की ही नही वरन् अपने पडोसी की भावना भी निहित है। स्वदेशी कर्म के पालन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि विदेशी चीजों से घृणा किया जाय। स्वदेशी का सच्चा उपासक कभी भी विदेशी से घृणा नहीं कर सकता है। कोई चीज विदेशी है इसलिए इसका बहिष्कार नहीं करना चाहिए। परन्तु उन सब विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाय, जिनके आयात से तत्संम्बन्धित स्वदेशी हितो को नुकसान पहुँचाने की संभावना हो। जो वस्तुएं अपने देश में नहीं है, उनको आयातित करना स्वदेशी के अन्तर्गत आता है। उन्होंने कहा है कि किसी भी चीज को स्वदेशी तभी कहा जा सकता है जबकि यह सिद्ध हो जाय कि वह जन समुदाय के लिए हितकारी है और उसमें काम करने वाले कारीगर और मजदूर दोनों हिन्दुस्तानी हैं।[2] वे स्वदेशी को किसी भी देश के लिए अनिवार्य मानते हैं तथा सभी देश को इसका पालन करना चाहिए।

ग्रामोद्योग सम्बन्धी विचार गांधी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक स्वरूप है। भारतीय परिस्थितियों को सामने रखकर उन्होंने ग्रामोद्योग का विचार रखा है। गांधी ने खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के सामने रखा। गांधी के अनुसार खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गांव को अपने भोजन एवं कपड़े में स्वावलम्बी बनाना है।[3] अर्थात व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर ले। जो वस्तुएं गांव में उत्पादित होती है, उनका पक्का माल भी गांव में ही तैयार किया जाय। कपास गांव में उत्पादित होता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कपड़ा भी गांव में ही बने। किन्तु ऐसा नहीं है कि गांधी सदैव मिल का ही विरोध करते हैं। उन्होंने कहा है कि सूती मिल के साथ साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नही है। जिस तरह घर का रसोईघर भी चलता है और होटल भी चलता हैं, उसी प्रकार ये दोनों साथ साथ चल सकते हैं।[4] इस प्रकार गांधी न तो मिल एवं मशीन का विरोध करते हैं और न आधुनिक विज्ञान

1. हरिजन सेवकः 30-10-1937
2. हरिजन सेवक : 30-10-1937
3. यंग इंडिया : 14-10-1920
4. यंग इंडिया : 21-7-1920

का ही। ग्रामोद्योग की वस्तुओं के उपभोग से जैसे हाथ की बनी चीनी, हाथ का कूटा हुआ चावल, धानी का तेल, कृषि एवं पशुपालन आदि का सामूहिक विकास किया जाएगा। इसमें चरखा और खादी सबसे बड़ा केन्द्र होगा। भारत वर्ष के लिए चरखा बहुत ही व्यावहारिक है। क्योंकि इसके लिए न तो अधिक पूंजी और न तो खर्चीले कच्चे माल की आवश्यकता होती है। छोटे बड़े, सभी इसे आसानी से चला सकते हैं। खादी करोड़ो व्यक्तियों को रोजगार देती हैं, तथा स्वाभिमान पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति देती है। इसमें श्रम को प्रतिष्ठा मिलती है। इसमें मालिक और मजदूर के विचार नहीं पनपते हैं। किसी प्रकार के हड़ताल तालाबन्दी के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार खादी का अर्थशास्त्र बहुत ही सस्ता तथा उपयोगी है।

ग्रामोद्योग के माध्यम से गांधी ने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जागरूकता तथा अपने देश के प्राचीन गौरव को पुनः अर्जित करना चाहा है। इसके माध्यम से बेरोजगारी आदि को मिटाने का उन्होंने काफी प्रयास किया है। इससे हर व्यक्ति को रोजगार तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन सुलभ कराने का प्रयास फिया है। क्योंकि भारत में अधिक आबादी होने के कारण सबको काम देने का कार्य ग्रामोद्योग की उपेक्षा करके नही किया जा सकता है।

ट्रस्टीशिप के उत्पत्ति की आधारभूत भावनाएं :

ट्रस्टीशिप का अर्थ, सिद्धान्त और उसके आवश्यक अंग तथा सम्पत्ति नियोजन एवं उत्पादन प्रक्रिया को समझ लेने के बाद यह प्रश्न उठता है कि गांधी में ट्रस्ट भावना की उत्पत्ति का आधार क्या था? इस विषय में कई आधार हो सकते हैं जिनमें पहला है- कानूनी। गांधी वैरिस्टर थे। इसलिए उनमें ट्रस्ट संबंधी सभी बातों का ज्ञान था। यद्यपि कानूनी ट्रस्ट में प्रचलित लौकिक-पारलौकिक विचारधारा से प्रेरित व्यक्ति विशेष के भाव का निर्देश रहता है। इसलिए उसमें व्यक्त किया गया कर्तव्य भार स्वार्थप्रधान रहता है। भले ही यह स्वार्थ पारलौकिक हो या उच्च श्रेणी का। उनमें प्रेम, त्याग, उत्साह आदि की भावना का समावेश नहीं हो पाता। किन्तु यही सब गांधी दर्शन का आधार है। पर जो भी हो इतना तो कहा ही जा सकता है कि इससे ट्रस्ट की भावना तो आ ही सकती है।

दूसरा आधार हो सकता है, हिन्दू कौटुम्बिक जीवन का अनुभव, हिन्दु कौटुम्बिक जीवन में किस उत्साह और प्रेम के साथ काम करने योग्य प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति के अनुसार अपने काम में लगे रहते हैं। इसके पीछे उनके परिवार के सभी लोग सुख भोगते हैं। सभी सदस्यों की कमाई एक जगह रखी जाती है और सबका मुखिया जिस पर सभी का विश्वास रहता है, उसे आवश्यकतानुसार खर्च करता है। इसमें कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य अपने को ट्रस्टी समझकर कार्य करता है। इसमें सबकी समानता अन्दर से ही होती है। वह आत्मा और प्रेम की समानता होती है।

तीसरा आधार संभवतः दान प्रथा हो सकती है। दान प्रथा प्रत्येक देश में प्राचीन काल से चली आ रही है। दान किसी भी भावना से किया जाय पर यह प्रथा सिद्ध करती है कि मनुष्य में अपनी सम्पत्ति को दूसरो के लाभार्थ वितरण करने की इच्छा और क्षमता रहती है। इस दृष्टि से सम्पत्ति का स्वामी अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी ही हुआ। जब मनुष्य मे अपनी सम्पत्ति के कुछ अंश को दूसरो के लाभ के लिए देने की क्षमता रहती है तो यह भी संभव हो सकता है कि वह दानांश को इतना बढ़ा दे कि शेषांश इतना ही रहे कि जो उसको यथोचित रूप से जीवित रखने के लिए पर्याप्त हो। भारत में आज भी देवालयों, शिक्षालयों, दीनों, अनाथों आदि के लिए खुले रूप से दान किया जाता है। इस भावना से प्रभावित होकर संभवतः गाँधी ने प्रत्येक सम्पत्ति के लिए ट्रस्ट का भाव रखा है।

इस सिद्धान्त का चौथा आधार 'ईशोपनिषद' का प्रथम श्लोक हो सकता है- इस जगत में जो कुछ भी जीवन है, वह सब ईश्वर का दिया हुआ है। इसलिए ईश्वर के नाम से त्याग करके तू यथा प्राप्त भोग किया कर किसी के धन की वासना न कर।[1] गांधी पर इस श्लोक का बड़ा प्रभाव पड़ा है, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। यदि यह मान लिया जाय कि सभी सम्पत्ति के स्वामी ईश्वर है तो फिर मानव प्राणी का कोई दावा या हक सम्पत्ति पर नहीं रहता, सिवाय इसके कि वह स्वामी के प्रतिनिधि के रूप में उसे अपने प्रबन्ध में रखे। जब किसी व्यक्ति के पास उसकी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति होती है तो वह अधिक हिस्से के लिए ईश्वर की जनता का ट्रस्टी बन जाता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों के अध्ययन से मस्तिष्क में यह सिद्धान्त मजबूत हो गया। गांधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा कि 'मेरे लिए यह पुस्तक (गीता) एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गयी। यह मेरे लिए धार्मिक कोश का काम देने लगी। जिस प्रकार नये अंग्रेजी शब्दों के हिस्सों या उनके अर्थ के लिए मैं देखता था। उसी प्रकार आचार संबन्धी कठिनाइयाँ और उसकी समस्याओं को मैं गीता से हल करता था। उसके अपरिग्रह समभाव आदि शब्दों ने मुझे पकड़ लिया। समभाव का विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय।'[2]

'घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ ? तुरन्त उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अंग्रेजी कानून ने मेरी मदद की है। गीता के अध्ययन के भावस्वरूप 'ट्रस्टी' शब्द का अर्थ विशेष रूप से मेरी समझ में आया। कानूनशास्त्र के प्रति मेरा आदर बढ़ा। मुझे उसमे भी धर्म के दर्शन हुए। ट्रस्टी के पास करोड़ो रुपये के रहते हुए भी उनमें की एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षु को ऐसा बर्ताव करना चाहिए। यह बात मैंने गीता से समझी।[3] यहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाज की धरोहर

1. ईशावास्यूमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत।

   तेन त्यक्तेन् भुंजीथा, माँ गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

2 गाँधी : आत्मकथा, पृष्ठ 228

3. हरिजन : 20-4-1940, पृष्ठ 97

के रूप में रहती है। अतः सामाजिक सम्पदा भोग के लिए नही वरन् जनकल्याण के लिए मानी जाती है। यह अमीरो और गरीबों के बीच विषमता को मिटाने का अहिंसक समाजवाद है।[1] उसके द्वारा पूँजीपति को सुधार का एक सुअवसर प्रदान किया जाता है। यह विश्वास रखकर कि मानव स्वभाव बदल सकता है। संभवतः इन्ही उपयुक्त कारणों से गाँधी के मन मे ट्रस्टीशिप का भाव जागृत हुआ होगा। जिसे उन्होंने समाज के सामने रखकर इस विचारधारा से पूँजीवाद, पश्चिमी समाजवादों के हिंसक उपायों को रोकने में सहायता मिल जाती है।

ट्रस्टीशिप का उद्देश्य :

गाँधी के ट्रस्टीशिप के उद्देश्य को निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है :-

ट्रस्टीशिप एक साधन है जिसके द्वारा वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित समाज को समता की सामाजिक व्यवस्था में बदला जा सकता है। ट्रस्टीशिप वर्तमान स्वामी वर्ग को, अपने को शुद्ध करने और सुधारने का अवसर प्रदान करता है। यह सिद्धान्त इस बात में अटल विश्वास रखता है कि मनुष्य की प्रकृति में सामाजिक, आर्थिक भावना अर्थात परमार्थ की भावना स्वाभाविक एवं शास्वत है। कितना भी स्वार्थी व्यक्ति क्यों न हो, इस सिद्धान्त के द्वारा उसमें आन्तरिक हृदय एवं भावनाओं का परिवर्तन हो सकता है।

यह सिद्धान्त किसी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्वामित्व को मान्यता नहीं देता। केवल उसी सीमा तक स्वामित्व का अधिकार स्वीकार करता है, जिस सीमा तक समाज सबके कल्याण को देखते हुए स्वामित्व की स्वीकृति देता है।

यह सिद्धान्त उन राजकीय कानूनों को भी स्वीकार नहीं करता, जिसमें राज्य द्वारा स्वामित्व के नियमन और सम्पत्ति के कोश का निर्देश होता है। दूसरे शब्दों में राजकीय कानून द्वारा निर्धारित स्वामित्व को यह नहीं मानता है। अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से उपभोग या प्रयोग में स्वतंत्र नहीं हो सकता। यदि वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग अपनी वासनाओं की दृष्टि के लिए करता है और सामाजिक हित को अपने समक्ष नहीं रखता तो समाज उसे ऐसा करने से रोक सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना आवश्यक है और उसके निर्वाह योग्य कुशल क्षेत्र के लिए साधन भी निर्धारित होता है, ताकि कोई भी व्यक्ति समाज में अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए दुःखी न हो सके। साथ ही साथ एक अधिकतम आय की सीमा भी समाज में निर्धारित किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति साधन सम्पन्न होते हुए भी देश की परिस्थिति के अनुकूल उसमें से केवल एक आय का उपभोग एवं प्रयोग अपने लिए करेगा। यहाँ न्यूनतम और अधिकतम का

---
1. हरिजन, 25-5-1952, पृष्ठ 301

अन्तर वर्तमान परिस्थिति में एक संक्रमणकालीन सिद्धान्त होगा। इसका अंतिम लक्ष्य यही है कि धीरे-धीरे यह न्यूनतम एवं अधिकतम का अन्तर ही समाप्त हो जाय।

इस सिद्धान्त के अनुसार जो उत्पादन होगा वह केवल व्यक्तिगत कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं होगा। अपितु उसके पीछे उत्पादन की आधारशिला सामाजिक आवश्यकता होगी ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति को सामाजिक हित मे लगा सके।

प्रत्येक नागरिक का मर्यादित जीवन होगा ताकि वह अपनी आर्थिक शक्ति का सही प्रयोग कर सके। यदि कोई व्यक्ति इन शक्तियों का दुरुपयोग करता है तो वह अपने व समाज के प्रति अन्याय करता है और उसे अनैतिक कार्य माना जाएगा। अपने कर्तव्य का यह उचित पालन नहीं करता। इसलिए समाज को यह अधिकार है कि उसे बर्बादी करने से रोके।

प्रत्येक व्यक्ति उस सम्पत्ति का जो उसके पास है, स्वामी नहीं होगा, अपितु उस सम्पत्ति का प्रयोग समाज के हित में करने के लिए उत्तरदायी होगा। उस सम्पत्ति में से एक मर्यादा के भीतर ही कुछ भाग वह स्वयं के उपयोग में लाने का प्रयास करेगा और शेष भाग को समाज के हित में उपभोग करेगा।

प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज तथा प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होगा। शरीर की रक्षा करना एक तप है, जिससे कि व्यक्ति समाज का अधिक से अधिक हित कर सके। यह उसका पुनीत कर्तव्य है कि जो भी वह उत्पादन करेगा वह समाज को समर्पित करेगा। उनसे उत्पादन को समर्पित करके तब समाज की स्वीकृति से उसका उपयोग करेगा। प्रकृति की दी हुई शक्तियों को बर्बाद न करके उन्हें संरक्षण प्रदान करना चाहिए। ताकि प्राकृतिक साधन सबके लिए उपलब्ध हो।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि ट्रस्टीशिप एक व्यापक एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। मनुष्य की आर्थिक शक्ति का प्रयोग सामाजिक हित में कराने का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

ट्रस्टीशिप की व्यावहारिकता तथा उसके व्यवहार में लाने के उपाय :

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही नहीं है। अपितु गाँधी ने इसे व्यावहारिकता के धरातल पर उतारने का प्रयास किया है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जिसके पास धन है, वह उसे अपना समझकर व्यर्थ न करे अपितु समाज की थाती समझकर रखें और लोककल्याण में खर्च करे। धनवान वर्ग के लोग यदि जन सामान्य की तरह सादगी से रहते और कम खर्च करते हैं तो वे जनता के ट्रस्टी हैं। ट्रस्टीशिप की भावना रखनेवाला व्यक्ति लोगों को दबाकर और उनका शोषण करके धन नहीं जमा करेगा। इसकी व्यावहारिकता इस बात में है कि धनवान वर्ग की जायदाद बिना कारण अपहृत करने के पक्ष में गाँधी नहीं है। अपितु उन लोगों को स्वेच्छा से ऐसा करने को प्रेरणा देते हैं। ट्रस्टीशिप की भावना उच्च चरित्र की निशानी है। अमीरों को चाहिए की वे अपने धन को जनता की धरोहर समझकर

खर्च करे, क्योंकि अमीर जिस तरह से गरीबों से अपने को अलग और दूर रखते हैं, उससे उनका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। जो कि मानवीय दृष्टिकोण के विपरीत है।

आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीशिप निहित है। इस आदर्श के अनुसार अमीरों को अपने पास एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं है। इसमें आर्थिक विषमता समाप्त करने का प्रयत्न बलपूर्वक हिंसा के आधार पर नहीं अपितु विचार-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन के आधार पर किया जाता है।[1] सबसे अधिक महत्व ट्रस्टीशिप के पक्ष में जनमत तैयार करने का है। यह सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व के मूल में ही प्रहार है। गाँधी समाज को एक परिवार के रूप में देखते है। परिवार में प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता एक समान नहीं रहती। अतः प्रत्येक व्यक्ति एक समान उत्पादन नहीं कर सकता। परन्तु जो कुछ भी वह उत्पादन करता है उसका उपयोग समस्त परिवार के लिए करता है। ठीक उसी प्रकार समाज में भी शक्ति की विषमता के कारण उत्पादन की विषमता होगी। इसलिए ट्रस्टीशिप की आवश्यकता अधिक हो जाती है।

गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त पर कुछ व्यावहारिक प्रश्न उठते हैं जिनमें पहला है-यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक रख ही नहीं सकता तो करोड़ो की सम्पत्ति क्यों उत्पन्न करेगा ? फिर जो करोड़ो की सम्पत्ति उत्पन्न करेगा वह बिना हिंसा और शोषण के संभव नहीं है। अतः ट्रस्टीशिप के बदले धन कम उत्पादन करने की ही क्यों न शिक्षा दी जाय? इस प्रश्न के उत्तर में गाँधी का कहना है कि वित्त की तृष्णा न करना ही सर्वोत्तम है।[2] परन्तु वे जानते थे कि सभी ऐसा नहीं कर सकते। अतः एक ओर स्वामित्व उनके हाथ में रहे ताकि उन्हें संतोष हो और अधिकाधिक सम्पत्ति उत्पादन के लिए प्रेरणा मिलती रहे। लेकिन इसका उपयोग वे समाज के लिए करें। इससे उनकी धर्मभावना भी पुष्ठ होगी। उनके 'स्व' को भी संतोष मिलेगा अतः कुछ व्यक्ति जो पहले से धन जमाकर चुके हैं तथा धनसंग्रह करने की इच्छा का त्याग नहीं कर सकते हैं उनके लिए ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त लागू होता है। इसके पीछे व्यावहारिक बुद्धि का बल है।[3] दूसरा प्रश्न यह किया जा सकता है कि अनुभव से यह सिद्ध होता है कि पूँजीपति स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति को गरीबों की सेवा में नहीं लगा सकते। ऐसी स्थिति में समाज में विषमता ज्यों कि त्यों बनी रहेगी। गाँधी के अनुसार इसका उत्तर यह है कि पूँजीपतियों की सत्ता श्रमिकों के सहयोग पर आश्रित है।[4] यदि श्रमिक वर्ग उनका सहयोग करना बन्द कर दे तो ये विपुल धनराशि इकट्ठा नहीं कर सकते हैं।

---

1. लाल, प्यारे : टुवर्डस न्यू होरिजन्स, पृष्ठ 90-91
2. हरिजन : 3-8-1942, पृष्ठ 67
3. हरिजन: 3-8-1942, पृष्ठ 67
4. हरिजन: 22-8-1940, पृष्ठ 260-61

अतः यदि वे मजदूरों के प्रति ट्रस्टी का व्यवहार नहीं करते है तो श्रमिकों में अहिंसक असहयोग करने की शिक्षा दी जा सकती है उससे बाध्य होकर उन्हें ट्रस्टी का आचरण करना पड़ेगा।[1]

दूसरी बात, यदि पंचायती राज्य की स्थापना हो जाती है और जनमत ट्रस्टीशिप के पक्ष में होता है तो पूँजीपति जनमत का विरोध कर टिक नहीं सकते।[2] यदि इतने पर भी व्यक्ति में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास नहीं होता है तो राज्य को यह अधिकार होगा कि जनहित के लिए कम से कम बलप्रयोग और कम से कम हिंसा का सहारा लेकर उनकी सम्पत्ति का अपहरण करके[3] अथवा कमीशन तय करे।[4] यह भी कहा जा सकता है कि ट्रस्टीशिप तो कानूनशास्त्र की एक कल्पनामात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उस पर सतत् विचार करे और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें तो मनुष्य जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखायी पड़ता है, उससे कहीं अधिक दिखायी पड़ेगा।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। जिस प्रकार से यह हमारा शरीर ट्रस्टी है, उसी प्रकार से समस्त वस्तुएँ ट्रस्टी के रूप में है। इसमें एक नवीन भावना पैदा होती है कि हर मनुष्य अपनी शक्ति पर काम करेगा और केवल आवश्यकतानुसार उपभोग करेगा। जब यह भाव मनुष्य में पैदा होगा तो वह अपने को स्वामित्व और सम्पत्ति से स्वतः अलग कर लेगा। यह प्रत्यार्पण की भावना मनुष्य जब अपने मन में लाता है तो अपनी कला, प्रतिभा और श्रम समर्पित कर देता है। गाँधी के अनुसार ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को समझा-बुझाकर कार्यान्वित करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो सत्याग्रह का भी सहारा लिया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधी का सिद्धान्त कल्पना नहीं अपितु व्यावहारिक सिद्धान्त है। परन्तु इसकी व्यावहारिकता उत्पन्न संस्तुति पर आधारित है। यह ठीक है कि इसका आचरण करना कठिन है, परन्तु यह सिद्धान्त सही है तो इस दिशा में प्रयत्न ही उचित है। बिना किसी सफलता और विफलता का विचार किये अहिंसा का पुजारी इसका आचरण करेगा। गाँधी भी इस बात से अवगत है कि पूर्ण ट्रस्टीशिप का पालन रेखागणित के बिन्दु के समान[5] है जो कभी वास्तविक नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह भी विश्वास है कि यदि इस दिशा में प्रयास किया जाय तो धीरे-धीरे वैयक्तिक प्रेम की भावना समाज में बढ़ने लगेगी और यह विश्वास होने लगेगा कि इससे बढ़कर पृथ्वी

1. हरिजन, 22-8-1940, पृष्ठ 260-61
2. लाल, प्यारे : टुवर्ड्स न्यू होरीजन्स, पृष्ठ, 67
3. हरिजनः 25-10-1952, पृष्ठ 301
4. हरिजनः 31-3-1942, पृष्ठ 64
5. मार्डन रिव्यूः 1935, पृष्ठ 412

पर समता लाने वाला कोई दूसरा उपाय नही है।[1] गाँधी का यह भी विश्वास है कि चूँकि इस सिद्धान्त के पीछे वर्ग और दर्शन का आधार प्राप्त है,[2] अतः सभी सिद्धान्त समाप्त हो सकते हैं, लेकिन यह सदैव सत्य रहेगा।[3] इसके द्वारा एक सार्वभौम जीवन-पद्धति का विकास होगा जिसमें लोग अपने पड़ोसियों के लिए चिन्ता करेंगे।[4]

मार्क्सवादी समता में प्रतिशोध का भाव निहित है, क्योंकि ये पूँजीपतियों से द्वेष-भाव रखते हैं। परन्तु गाँधी पूँजीपति के प्रति न तो ईर्ष्या रखते हैं और न प्रतिशोध का भाव रखते हैं। वे केवल पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते हैं।[5] साथ ही समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था बदलने के लिए जनता में हिंसा की शिक्षा देते है। केन्द्रीकरण के मूल में ही हिंसा बैठी हुई है, जिस[illegible] वीभत्स रूप आज दुनियाँ के औद्योगिक राज्यों में दिखलाई पड़ता है। किन्तु गांधी [illegible] व्यवस्था को बदलने के लिए श्रमिकों को अहिंसक असहयोग का प्र[illegible]ण देना चाहते हैं, जिसमें श्रमिक अपनी ही शक्ति का विकास कर परिस्थिति में अनुकूल परिवर्तन ले आते हैं, हिंसा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती हैं।[6] साथ ही वे विकेन्द्रीकरण को भी आवश्यक मानते हैं।[7] गाँधी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को केवल पूँजीपति के लिए ही लागू नहीं करते अपितु यह सभी पर लागू होता है।

धन के अन्तर्गत केवल स्थूल धन ही नहीं आते हैं। अतः इसके संबंध में भी ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त लागू होता है। साथ ही, इसका आचरण व्यक्ति से लेकर राज्य तक सभी के लिए आवश्यक होता है। डॉ० राम मनोहर लोहिया ने तो भारतीय संसद में कानूनी ट्रस्टीशिप का बिल भी पेश किया था, जिससे यह प्रकट होता है कि इसका व्यावहारिक रूप भी है। आज सरकार मालिक एवं मजदूरों के बीच बोनस, बीमा आदि को देकर झगड़ा ब[illegible] रही है। यद्यपि [illegible]कार का उद्देश्य मजदूरों को अधिक सुविधा प्रदान करना है, कि[illegible] केवल कानून बन[illegible]ने से ही सुविधा नहीं मिल जाती है। इसका परिणाम यह है कि न तो मिल[illegible]क म[illegible]रों को कुछ देने के लिए तैयार है, और न तो वे सुविधा ही [illegible] रहे हैं। [illegible] मालिक प्रतिदिन तालाबन्दी कर रहे हैं और मजदूर अपना अधिकार [illegible]ग रहे हैं। [illegible] उपद्रव, तोड़-फोड़ आदि हो रहे हैं। इन कानूनों से अधिक व्यावहारिक [illegible]शिप का सिद्धान्त है, जिसमें सब कुछ

1. मार्डन रिव्यू : 1935, पृ 412
2. हरिजनः 16-12-1939, पृष्ठ 376
3. हरिजनः 16-12-1939, पृष्ठ 376
4. हरिजन : 22-2-1942, पृष्ठ 49
5. बोस , एन० के० : स्टडीज इन गाँधिज्म, पृष्ठ 92
6. बोस , एन० के० : स्टडीज इन गाँधिज्म, पृष्ठ 92
7. बोस, एन०के० : स्टडीज इन गाँधिज्म, पृष्ठ 117

प्रेमपूर्वक होता है। इस परिस्थिति को देखकर ऐसा लगता है कि धनिक वर्ग एवं मजदूरों में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास करके इस संघर्ष, को सदैव के लिए समाप्त किया जा सकता है। जैसा कि फ्रांस और योरोप के कुछ देशों में कुछ मालिक अपने कारखाने मजदूरों को सौंपकर उनके ट्रस्टी बन गये हैं। ऐसे वातावरण का विकास प्रत्येक देश में करके अहिंसक समाज की स्थापना आसानी से की जा सकती है।

प्रश्न है कि ट्रस्ट के कायम हो जाने पर ट्रस्ट सम्पत्ति और ट्रस्टी विषयक अनेक प्रश्न उठते हैं। जैसे ट्रस्टी का उत्तराधिकारी कौन हो, ट्रस्टी को ट्रस्ट का भार संभालने के बदले क्या मिलेगा। ट्रस्ट सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए क्या साधन होंगे, इत्यादि। गाँधी ने इन आवश्यक प्रश्नों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा कि ट्रस्टी के अतिरिक्त जनता के लिए और कोई उत्तराधिकारी नहीं है।[1] और चूँकि राज्य जन-प्रतिनिधि कहलाता है, इसलिए राज्य हो, जब तक उसकी स्थिति न मिट जाय, ट्रस्ट सम्पत्ति को संभालने वाला होगा। ट्रस्टी के ट्रस्ट का कार्यभार संभालने के बदले राज्य से कमीशन मिला करेगा।

ट्रस्टी ट्रस्ट सम्पत्ति की रक्षा अहिंसात्मक ढंग से करेगा।[2] वह उसका समर्पण किसी भी आक्रमणकारी को नहीं करेगा। भले ही उसकी जान चली जाय। उसके दिल में बदला लेने का भाव कभी नहीं उठेगा।

यदि ट्रस्टी ट्रस्ट के कारोबार में गफलत करे तो राज्य को अधिकार होगा कि ट्रस्ट सम्पत्ति उसके अधिकार से ले ले। इस दृष्टि से यदि पूँजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाय और जनता की ओर से स्वतंत्र प्रयत्न अपर्याप्त हो तो राज्य भिन्न-भिन्न प्रकार की पूँजीवादी प्रभावों को समाप्त कर देगा और मजदूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केंद्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करे।[3]

इस प्रकार गाँधी ने ट्रस्ट पद्धति के आदर्श को व्यवहार में लाने का प्रयास किया किन्तु केवल अहिंसात्मक ढंग से ही उन्होंने कहा कि आर्थिक समानता सबको रोजी-रोटी एवं शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य अहिंसात्मक उपायों द्वारा वैयक्तिक स्वाधीनता और श्रम की प्रतिष्ठा के साथ प्राप्त करना है। अन्न-वस्त्र दो मूलभूत आवश्यकताओं के स्रोत गाँव की आर्थिक स्थिति को पुष्ट तथा प्रबल बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। विकेन्द्रित ग्रामीण अर्थव्यवस्था को खेती-बारी, पशु-उद्योग के चार स्तम्भों पर उन्होंने खड़ा किया। खादी के धागे में बांधा हुआ आर्थिक स्वराज्य क्या रहा है। ऐसा वे देख रहे थे। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है पूँजी और मजदूरी के बीच संघर्ष को सदैव के लिए समाप्त करना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसे वाले के साथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भार इकट्ठा

1 धवन : पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ 95

2. धवन : पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ 95

3 धवन : पोलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ 355

हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर जो करोड़ो लोग पेटभर खाते नहीं और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। इसके लिए गाँधी ने आजीवन प्रयास किया।

लघु एवं कुटीर उधोग :

गांधी जी ने लघु एवं कुटीर उधोगों के अधिकाधिक विकास पर बल देकर भारत के लिये निर्मित अपनी आर्थिक रणनीति के लिये साधनों का सांमजस्य प्राप्त करने का प्रयास किया है । भारत की आर्थिक दशाओं को देखते हुए गांधी जी बड़े पैमाने के उद्योगों का विस्तार पसन्द नहीं करते थे। उनका मत था कि बड़े पैमाने के उद्योग सामाजिक और आर्थिक बुराइयों के लिए जिम्मेदार है । भारतवर्ष में मानवीय साधन अधिकांश भाग में मौजूद है लेकिन पूँजी की अत्यन्त कमी है । स्वभावतः देश में भूमि, श्रम, पूँजी, तकनीकी ज्ञान आदि संसाधनों की प्राप्यता को ध्यान में रख कर ही भारत के आर्थिक विकास की रणनीति तथा वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक नीति बन सकेगी । यह रणनीति गृह एवं लघु उद्योगों के अधिकाधिक विकास पर बल देगी क्योंकि ये उद्योग श्रम प्रधान होने के कारण मानवीय साधनों का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक करते है और पूँजी हल्की होने के कारण पूँजी का उपयोग अपेक्षाकृत कम करते है।

गांधी जी ने भारत की आर्थिक प्रगति हेतु छोटे गृह एवं कुटीर उधोगों को सर्वाधिक उपयुक्त बताया । भारत केवल ऐसे छोटे उद्योगों को विकसित करे जिनके पूँजी और पूँजीगत साधन विदेशी नहीं प्रत्युत स्वदेशी बाजार से ही पूरा हो सके तो भारत शीघ्र ही एक समृद्व राष्ट्र बन सकता है ।

गांधी जी ने अपना यह दृष्टिकोण भी व्यक्त किया था कि लधु उद्योगों की स्थापना के सन्दर्भ में कट्टरता नहीं बरती जानी चाहिए । अनेक ऐसे उद्योग है जिनका संचालन वृहद पैमाने पर ही किया जाना चाहिए । लोहा एवं इस्पात उद्योग, रेल के कारखाने, जहाज, हवाई जहाज के कारखाने, यातायात के साधन, सीमेंट तथा मशीनो का निर्माण इनकी स्थापना वृहद स्तर पर ही अनिवार्य रूप से होनी चाहिए । लेकिन कपड़ा, जूता, साबुन, तेल तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएं लघु उद्योगों के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए ।

भारत वर्ष में पूँजी कम है, श्रम अधिक है । यदि हम यहाँ बड़े उद्योग ही खोले तो परिणाम यह होगा कि एक तरफ जन शक्ति का उपयोग पूरा नहीं हो सकेगा और दूसरी ओर पूँजी की कमी पड़ जायेगी । अतः भारत की जरूरत को मद्देनजर रखते हुए उद्योग खोलें जाये जिनमें श्रम-पूँजी अनुपात भारत की परिस्थिति के अनुसार हो, श्रम उत्पादअनुपात एवं पूँजी इस्पात अनुपात उच्च हो । उपरोक्त गुण लधु एवं कुटीर उद्योगों में पाये जाते हैं। इसं प्रकार सभी अनुपातों को देखते हुए भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के लिए छोटे स्तर के ही उद्योग श्रेयस्कर है ।

गांधी जी का विचार था कि देश के प्रत्येक क्षेत्र में लघु एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना के बिना लाखों गरीबों की आर्थिक दशा को सुधारना संभव नहीं होगा । भारी उत्पादन के बदले गांधी जी जनता द्वारा उत्पादन करने के पक्ष में थे। शहरों में बड़े उद्योगोंको स्थापित करने के बदले वे गांवो को उद्योगीकृत करने और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को परिवर्तित करना चाहते थे ।[1] गांधी जी के लिए भारी उत्पादन उच्च जटिल मशीन सहायता के जरिये यथासम्भव कम लोगों द्वारा उत्पादन हेतु तकनीकी शब्द नहीं था । उनका तर्क था कि यदि व्यक्तिगत उत्पादन को एकत्र किया जाय तो उत्पादन भारी पैमाने पर होगा । उनका नारा हर घर में एक लघु उद्योग का था । लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे मशीनों तथा वृहद स्तरीय उद्योगों की स्थापना के बिल्कुल खिलाफ थे । उन्होनें उत्पादन के लिये आधुनिक तकनीकि के उपयोग की जरूरत को मान्यता दी और वृहद स्तरीय उद्योगों की स्थापना का समर्थन किया, बशर्ते वें सामाजिक वांछनीयता की उपर्युक्त कसौटी पर खरे उतरें ।

यत्रं सम्बन्धी गांधी-दृष्टिकोण :

यत्रों की ऊपरी विजय से चमत्कृत होने से मैं इनकार करता हूँ और मारक यंत्रों के तो मैं एकदम खिलाफ हूँ उसमें मैं किसी तरह का समझौता नहीं कर सकता। लेकिन ऐसे सादे औजारों, साधनों या यंत्रों का जो व्यक्ति की मेहनत बचायें और झोपड़ियों में रहने वाले लाखो-करोड़ो लोगो का बोझ कम करें, मैं जरूर स्वागत करुँगा ।[2] गांधीजी का मत था कि 'मेरा विरोध यंत्रों के सम्बध में फैले हुए 'दीवानापन' से है, यंत्रों से नहीं । परिश्रम का बचाव करने वाले यंत्रों के सम्बन्ध में लोगों का जो दीवानापन है, उसी से मेरा विरोध है । आज परिश्रम की बचत इस हद तक की जाती है कि हजारों लोगों को आखिर में भूखों मरना पड़ता है और उन्हे तन ढकने तक कपड़ा नहीं मिलता। मुझे भी समय और परिश्रम का बचाव अवश्य करना है, लेकिन वह मुट्ठीभर आदमियों के लिए नही, बल्कि समस्त जाति के लिए । समय और परिश्रम का बचाव करके मुट्ठीभर आदमी धनाढ्य हो बैठे, यह मेरे लिए असह्य है । आज यंत्रों के कारण मुट्ठीभर आदमी लाखों लोगों की पीठ पर सवार होकर बैठें हैं और उन्हें सता रहे हैं क्योंकि यंत्रों को चलाने के मूल में मनुष्य का लोभ है, धनतृष्णा है, जन कल्याण की भावना नहीं है। यंत्रों के इस दुरूपयोग के विरुद्ध मैं अपनी पूरी शक्ति से लड़ रहा हूँ।[3]

1. नारायण, एस० : रैलिवेंस आफ गाँधीयन एकोनामिक्स, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1970, पृष्ठ 20
2. यंग इडियाः 17-6-1926
3. हिन्दी नवजीवन : 2-11-1924

गांधी जी ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि कुछ गिने गिनाये लोगों के पास सम्पत्ति जमा हो ऐसा नहीं, बल्कि सबके पास जमा हो, ऐसा मैं चाहता हूँ । आज तो करोड़ो की गरदन पर कुछ लोगों के सवार हो जाने में यंत्र मददगार हो रहे है । यंत्रों के उपयोग के पीछे जो प्रेरक कारण है, वह श्रम की बचत नहीं है, बल्कि धन का लोभ है । आज की इस चालू अर्थव्यवस्था के खिलाफ मैं अपनी तमाम ताकत लगाकर युद्ध चला रहा हूँ । गांधी जी की दृष्टि में विरोध यंत्रों का नहीं है, न औद्योगीकरण का है, बल्कि यंत्रों के पीछे और औद्योगीकरण के पीछे जो पागलपन चल रहा है उसका है । गांधी जी ने साफ कहा है कि 'मेरा विरोध यंत्रों के लिए नहीं है' बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलन चल रहा है उसके लिए है। सामान्य बुद्धि रखने वाले व्यक्ति की हैसियत से मैं जानता हूँ कि मनुष्य उद्योग के बिना जिन्दा नहीं रह सकता इसलिए मैं औद्योगीकरण के खिलाफ नही हो सकता। लेकिन उद्योगों के बारे में एक बड़ी चिन्ता है। यंत्र से उत्पादन बहुत तेजी से होता है और उसके साथ इस प्रकार की अर्थव्यवस्था आ जाती है जिसको मै समझ नहीं सकता ऐसी चीज को स्वीकार नहीं कर सकता, जिसके बुंरे परिणामों को मैं उससे होने वाले लाभ की अपेक्षा ज्यादा पांता हूँ। मैं चाहता हूँ हमारे देश के करोड़ो बेजुबान लोग स्वस्थ और सुखी हों और आध्यात्मिक दृष्टि से उनका विकास हो।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी तक हमें यंत्रों की आवश्यकता नहीं है। हमारे यहाँ अभी भी बहुत हाथ बेकार हैं लेकिन जब हमारा बौद्धिक विकास हो जायेगा और हमें महसूस होगा कि हमें यंत्रों की आवश्यकता है तब हम अवश्य उनको ग्रहण करेगें। हमें उद्योग चाहिए तो इसके लिए हमें उद्यमी बनना होगा। पहले हम स्वावलम्बी बने तो हमें दूसरे के नेतृत्व की उतनी आवश्यकता नहीं रहेगी। जब और जैसे हमें आवश्यकता होगी, हम यंत्रों को दाखिल करेंगे। एक बार हम अहिंसा के आधार पर अपना जीवन गढ़ लें तब फिर यंत्रों का नियंत्रण करना हम जान जायेंगे।[1]

यंत्र सम्बंधी गांधी जी का दृष्टिकोण बड़ा स्पष्ट है। उनके अनुसार यंत्रों से काम लेना उसी अवस्था में अच्छा होता है जबकि किसी निर्धारित काम को पूरा करने के लिए आदमी बहुत ही कम हो या नपे तुले हों। पर यह बात हिन्दुस्तान में तो है नही यहाँ काम के लिए जितने आदमी चाहिए, उनसे कहीं ज्यादा बेकार पड़े हुए हैं । इसलिए उद्योग के यंत्रीकरण से यहाँ की बेकारी घटेगी या बढ़ेगी। कुछ वर्गगज जमीन खोदने के लिए मैं हल का भी उपयोग नहीं करूँगा (वह हाथ से खोदी जा सकती है) हमारे यहाँ सवाल यह नहीं है कि हमारे गांवों में जो लाखो करोड़ो आदमी पड़े हैं, उन्हे परिश्रम की चक्की से निकालकर किस तरह छुट्टी दिलायी जाय, बल्कि यह सवाल है किं उन्हें साल में जो कुछ महीनों का समय यूँ ही बैठे- बैठे आलस में गरीबी में, बिताना पड़ता है उसका उपयोग कैसे किया जाय ? कुछ लोगों को मेरी यह बात शायद विचित्र

1 चटर्जी, एम० एन०: द्वारा कम्यूनिटी सर्विस न्यूज: 9-10-1946, से उदृत, ला० के०, पृष्ठ 585 - 586.

लगेगी, पर दरअसल यह बात है कि प्रत्येक (कपड़ा) मिल सामान्यतः आज गाँव की जनता के लिए त्रासरूप हो रही है। उनकी रोजी पर ये भयावनी मिले छापा मार रही है। मैने बारीकी से आंकड़े एकत्र नहीं किये, पर इतना तो कह सकता हूँ कि गांवों में बैठकर कम से कम 10 मजदूर जितना काम करते हैं उतना ही काम मिल का एक मजदूर करता है। इसे यो भीं कह सकते है कि 10 आदमियों की रोजी छीनकर एक आदमी गाँव में जितना कमाता था उससे कहीं अधिक कमा रहा है। इस तरह कताई-बुनाई की मिलों ने गाँव के लोगो की जीविका का एक बड़ा भारी साधन छीन लिया है।[1] अगर ग्रामवासियों को कुछ काम देना है तो वह यंत्रो के द्वारा संभव है। उनके उद्धार का सच्चा मार्ग तो यही है कि जिन उद्योग - धन्धो को ये अब तक जिस कदर करते चले आ रहे हैं, उन्ही को भँली - भाँति जीवित किया जाय।[2]

गांधी जी बड़े उद्योगों पर राज्य या समाज का अधिकार मानते थे। इस सम्बंध में वे समाजवादी विचारधारा के समीप थे। उन्होंने उन बड़े उद्योगों के नाम नहीं गिनाये हैं जो नहीं चलाये जा सकते, परन्तु उन्हें केन्द्रित एवं बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है। उन्होनें कहा कि भारी उद्योग स्वभावतः केन्द्रित होगें उन पर राष्ट्र की मालिकी होगी, लेकिन ये सब उद्योग गांवो में चलने वाले विशाल राष्ट्रीय प्रवृति के एक अंश मात्र होगें। गांधी जी ने कहा कि ऐसे वृहद कारखानों का मालिक राष्ट्र हो या जनता की सरकार की ओर से ऐसे कारखाने चलाये जाएँ। उनकी हस्ती नफे के लिए नहीं,बल्कि लोगों के भले के लिए हो।

गांधी जी चावी रूपी उद्योगों पर राज्य की मालिकी चाहते थे। गांधी जी कहना था कि मोटे तौर पर जहाँ लोगों को ज्यादा संख्या में मिलकर काम करना पड़ता है वहाँ मालिकी राज्य की होनी चाहिए। उदाहरण के रूप में जिनमें उत्पादन के लिए भारी यंत्रों की आवश्यकता होगी, उन्होनें सीने की मशीनों, छापाखानों और शल्य चिकित्सा के औजारों के नाम सुझाये थे।[3] उन्होनें यह कहा था कि श्रम सादा हो या कौशल्य साध्य- इस श्रम के उत्पादन पर मालिकी राज्य के मारफत श्रमिकों की ही होगी।[4]

विकेन्द्रीकरण पर बल :

भारत के आर्थिक विकास की गांधीवादी रणनीति का दूसरा आवश्यक तत्व उद्योगों का विकेन्द्रीकरण है। गांधी जी ने केवल लघु उद्योग के अधिकाधिक विकास पर बल दिया बल्कि इन उद्योगों को देश के कोने -कोने में, देश के गाँव-गाँव में, बिखरने पर भी बल दिया। चूँकि अहिंसा गांधी जी के जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त

1. हरिजन सेवक : 23-11-1934.
2. हरिजन सेवक : 23-11-1934.
3. हरिजन सेवक : 23-6-1935.
4. हरिजन सेवक : 1-9-1946.

था। वह इन सभी क्रियाओं, सस्थाओं या संगठनों के जीवन का एक मूलभूत सिद्धान्त था। वे इन सभी क्रियाओं या संगठनो के विरुद्ध थे, जिसका आधार अहिंसा है। गांधी जी ने केंद्रित अर्थव्यवस्था का विरोध यह सोचकर किया कि उसकी नींव हिंसा पर डाली जाती है। उन्होनें अपना मत, प्रकट किया था कि साधनों का कतिपय हाथों एवं क्षेत्रों में संकेन्द्रण, दीन श्रमिकों के शोषण के कारण ही होता है। शोषण सबसे बड़ी हिंसा है। फलतः उन्होनें विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का पूर्ण शक्ति के साथ आह्‌वान किया। दूसरे शब्दों में उनकी यह महान इच्छा थी कि भारत का प्रत्येक गाँव और प्रत्येक घर एक कर्मशाला के रूप में हो जाय । प्रत्येक धर में उत्पादन की एक छोटी सी इकाई स्थापित हो और परिवार के सदस्य इस उत्पादन इकाई के सहयोगी श्रमिक हो। गांधी जी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना में भारत के लिए अनेकानेक लाभ देखते थे। स्थायी तौर पर सामाजिक तथा आर्थिक शांति की स्थापना के लिए उत्पादन प्रणाली का विकेन्द्रिकरण आवश्यक था। गांधी जी ने समाज में उत्पादन इकाइयों को विकेन्द्रीकरण करने तथा समान वितरण को सम्भव बनाने के लिए ही छोटे कुटीर उद्योग के अधिकाधिक विकास की दलील प्रस्तुत की थी । उपरोक्त सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होनें लिखा है - यदि एक पल के लिए यह कल्पना भी कर ली जाय कि मशीन मानवता की सभी आवश्कताओं की पूर्ति कर सकती है तो भी यह सत्य है कि यह उत्पादन को केवल कुछ ही विशेष क्षेत्रों में केन्द्रित कर देती है, जिसका यह परिणाम होता है कि वितरण का नियमन करना जटिल हो जाता है। इसके विपरीत यदि वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण प्रत्येक क्षेत्र मे आवश्यकता के अनुसार होता है तो वितरण स्वयं हो जाता है या सट्टेबाजी अथवा धोखाधड़ी की सम्भावना भी कम हो जाती है।

यदि भारत को अपना विकास अहिंसा की दिशा में करना है तो उसे बहुत सी चीजों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा । केन्द्रीकरण किया जाय तो फिर उसे कायम रखने के लिए और उसकी रक्षा के लिए हिंसाबल अनिवार्य है जिनमे चोरी करने या लूटने के लिए कुछ है ही नहीं, ऐसे घरों की रक्षा के लिए पुलिस की जरूरत नहीं होती। लेकिन धनवानों के महलो के लिए अवश्य बलवान पहरेदार चाहिए जो डाकुओं से उनकी रक्षा करे। यही बात बड़े- बड़े कारखानों की है। गांवों को मुख्य मानकर जिस भारत का निर्माण होगा, उसे शहर प्रधान भारत की अपेक्षा - शहर प्रधान भारत जल सेना, स्थलसेना और वायुसेनाओं से सुसज्जित होगा तो भी विदेशी आक्रमण का कम खतरा रहेगा।[1]

गांधी जी ने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन केवल आर्थिक अनिवार्यता के कारण ही नहीं, प्रत्युत अन्य कई दृष्टिकोणों से भी किया। उनके मतानुसार भारत में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था देश में, प्रजातंत्र की रचना के लिए भी आवश्यक थी । उनका कहना था कि देश का संविधान मानव सम्पर्क, अहिंसात्मक, कुटीर अर्थव्यवस्था एवं यथार्थवादी और प्रत्यक्ष जनतंत्र पर निर्मित किया जाना चाहिए। उसका मूल आधार सुसंगठित ग्राम इकाईयाँ ही होनी चाहिए । जब राष्ट्र का संविधान उपरोक्त तरीकों से

---

1. हरिजन : 30-12-1939

निर्मित किया जायेगा, तभी एक अहिंसात्मक वर्गहीन एवं स्थायी शांति वाले राज्य की स्थापना भी हो सकती है। सारांश रूप में गांधी जी का कहना था कि यदि देश के कोने - कोने में आर्थिक सम्पन्नता का दीप जलाना है तो छोटे- छोटे उद्योगों को जो अर्थ एवं अहिंसा के स्रोत हैं देश के कोने - कोने में ही ले जाना पड़ेगा। संकेन्द्रित उद्योग विकेन्द्रित आर्थिक बाहुल्य को जन्म नहीं दे सकते। विकेन्द्रित उद्योग हीआर्थिक सम्पन्नता को विकेन्द्रित रूप से देश के चारो कोने में बिखेर सकते हैं । देश में आर्थिक प्रगति हो, इसके लिए आवश्यक है कि देश में औद्योगिक विकेन्द्रीकरण के माध्यम से धन - सम्पत्ति का भी विकेन्द्रीकरण हो।

गाँधी जी के अनुसार प्रत्येक गाँव को अपनी सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिए। अतः विकेन्द्रीकरण का विचार आत्म निर्भरता के विचारधारा से जुड़ा है। अंग्रेजी शासन के पहले भारतीय गाँव आत्मनिर्भर थे। प्रत्येक गाँव में आवश्यक कुटीर उद्योग थे जो कि स्थानीय कच्चे माल से ग्रामीणों की बुनियादी आवश्यकताओं के सभी सामान बनाते थे। ब्रिटिश सरकार की नीतियों से ग्रामोद्योग का काफी ह्रास हुआ। इसलिए गांधी की आत्म-निर्भरता हेतु विकेन्द्रित ग्रामोद्योग का पुनः उद्धार करना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण को स्वदेशी की भावना से समझना होगा। जब तक स्वदेशी की भावना नहीं है विकेन्द्रीकरण सफल नहीं होगा। गाँधी जी ने कहा था 'हमारे भीतर स्वदेशी वह भावना है जो कि हमें आसपास के वस्तुओं के उपयोग के लिए बाध्य करती है तथा सुदूर स्थानों की वस्तुओं के उपयोग को रोकती है। उस अर्थशास्त्र में हमें केवल उन्ही वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए जिनका उत्पादन हमारे पड़ोसी द्वारा होता हो तथा उन्हें सक्षम बनाकर जहां कमी हो उसे दूर कर, हमे उन उद्योगों की सेवा करनी चाहिए।[1]

विकेन्द्रीकरण की अनिवार्यता पर बल देते हुए महात्मा गाँधी जी ने कहा कि- 'हमारा ध्येय लोगों को सुखी बनाना और साथ-साथ उनकी सम्पूर्ण बौद्धिक और नैतिक यानी आध्यात्मिक उन्नति सिद्ध करना है। यह ध्येय विकेन्द्रीकरण से ही सध सकता है। केन्द्रीकरण की पद्धति का अहिंसक समाज-रचना के साथ मेल नहीं बैठता।[2]

स्वदेशी :

गाँधी जी ने स्वतंत्रता आन्दोलन में स्वदेशी पर अधिक बल दिया था। साधारणतः हम स्वदेशी को संकुचित अर्थ में समझते हैं। परन्तु गाँधी जी ने स्वदेशी का काफी विस्तृत अर्थ किया है। उन्होंने स्वदेशी की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है- 'जो वस्तु करोड़ो भारतीयों के हितों का सम्वर्द्धन करती हो, भले उसमे लगी पूँजी और कौशल विदेशी हो, वह स्वदेशी है, अलबत्ता यह पूँजी और कौशल भारतीय नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।'[3]

---

1. यंग इंडिया : 21-6-1919
2. हरिजन सेवक : 18-10-1942
3. हरिजन सेवक : 30-10-1937

स्वदेशी वह भावना है जो इंसान को दूसरे सब लोगों को छोड़कर सिर्फ अपने पास के पड़ोसियों के सेवा करने की प्रेरणा देती है। इसमें एक पड़ोसी बदले में दूसरे की सेवा करता है। इस माने में स्वदेशी की भावना किसी को भी अपने दायरे से अलग नही रखती। वह इंसान की सेवा करने की वैज्ञानिक मर्यादा पर मानती है।[1]

स्वदेशी के दृष्टिकोण में अपने पड़ोसियों की सेवा भावना निहित है। स्वदेशी धर्म के पालन का यह अर्थ नहीं है कि हम विदेशी सामानों से घृणा करें। गाँधी जी मानव मात्र की सेवा की बात करते थे। जो व्यक्ति स्वदेशी का सच्चा उपासक होगा, वह विदेशी से कभी भी घृणा नहीं कर सकता है। मात्र विदेशी चीज होने से ही उसका बहिष्कार नहीं करना चाहिए, बल्कि उन विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार किया जाय जिसके आयात से तत्सबन्धित स्वदेशी हितों को हानि पहुँचने की संभावना हो। जो वस्तुएँ अपने देश में नहीं हैं, उनको मँगाना स्वदेशी कहा जा सकता है जब कि यह सिद्ध हो जाय कि वह जन समुदाय के लिए हितकारी है और उसमें काम करने वाले कारीगर और मजदूर दोनो हिन्दुस्तानी हैं।[2]

गाँधी जी ने कहा कि स्वदेशी की भावना का न केवल उत्पादन क्षेत्र में बल्कि उपभोग में भी गम्भीरता से पालन किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में गाँधी जी का यह विश्वास था कि भारत के आर्थिक विकास के लिए यह अनिवार्य है कि उपलब्ध साधनों पर आधारित उत्पादन इकाईयाँ ही विकसित की जाय और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी देश में उत्पादित वस्तुओं के उपभोग से ही की जाये।

गाँधी जी ने कहा है- 'स्वदेशी एक सर्वकालीन सिद्धान्त है। स्वदेशी की उपेक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य जाति ने अपरिमित-असीमित दुःख भोगा है। स्वदेशी का अर्थ है अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में किया जाय और उन्ही का वितरण और उपभोग किया जाय।'[3]

आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी से तात्पर्य यह है कि हम केवल अपने निकटस्थ पड़ोसियों द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपयोग करें और उन उद्योगों को कार्यक्रम बनाकर तथा जहाँ ये अपूर्ण हो वहाँ उन्हें पूर्ण बनाकर उन उद्योगों की सेवा करें। गाँधी जी की मान्यता यह थी कि स्वदेशी व्रत का पालन करने वाला हमेशा अपने आसपास निरीक्षण करेगा और जहाँ-जहाँ पड़ोसियों की सेवा की जा सके यानि जहाँ-जहाँ उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यकता का माल होगा वहाँ दूसरा छोड़कर उसे लेगा। भले ही स्वदेशी चीज महंगी और कम दर्जे की हो। व्रतधारी उसको सुधारने की कोशिश करेगा स्वदेशी खराब है इसलिए कायर बनकर परदेशी का इस्तेमाल करने नहीं लग जायेगा।[4]

---

1. हरिजन सेवक : 23-3-1947
2. हरिजन सेवक : 23-10-1947
3. यंग इंडिया : 14-10-1920
4. मंगल प्रभात : पृष्ठ 13

गाँधी जी का स्वदेशी प्रेम ऐसा संकुचित स्वदेश प्रेम नहीं था कि वे दूसरे लोगों के दुःख को महसूस न करते। वे भारत के सुख का निर्माण किसी दूसरे देश के सुख का बलिदान देकर नहीं करना चाहते थे। वे भारत को इसलिए फलता-फूलता देखना चाहते थे कि उससे सारी दुनिया लाभ उठा सके। अगर भारत समर्थ और शक्तिशाली हुआ तो वह दुनिया को अपनी कला-कौशल की वस्तुएँ, स्वास्थ्यप्रद मसाले अवश्य भेजेगा, किन्तु अफीम और नशीली पेय भेजने से इंकार कर देगा, भले इस व्यापार में उसे प्रचुर लाभ होता हो।[1]

गाँधी जी स्वदेशी को किसी देश के लिए अनिवार्य मानते थे तथा सभी देशों को स्वदेशी धर्म का पालन करना चाहिए, ऐसा उनका मानना था।

ग्रामोद्योग :

ग्रामोद्योग योजना के पीछे भावना यह है कि हम अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति गाँवों से करें और जब हम यह देखें कि कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति गाँवों द्वारा नहीं हो सकती, तब हमें यह पता लगाना चाहिए कि क्या थोड़े से यत्न तथा संगठन द्वारा ग्रामीण जन ही लाभकारी ढंग से इन वस्तुओं की पूर्ति नहीं कर सकते?
- महात्मा गाँधी

गाँधी जी ने भारतीय परिस्थिति को सामने रखकर ग्रामोद्योग का विचार रखा है। गाँधी जी ने भारतीय अर्थव्यवस्था का गंभीर अध्ययन किया और उसके बाद खादी ग्रामोद्योग का विचार देश के समक्ष प्रस्तुत किया। गाँधी जी के दिमाग में 1908 ई० में खादी अर्थात चरखा का विचार आया। तभी से पूरे जीवनभर इसी चरखे के ही प्रचार में अपना लगाव बनाये रखे। गाँधी जी ने खादी ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में कहा है- 'खादी का मूल उद्देश्य प्रत्येक गाँव को अपने भोजन एवं कपड़े में स्वावलम्बी बनाना है।'[2]

करोड़ो भारतीय काम (रोजगार) हेतु खादी एवं ग्रामोद्योग का सहारा लेकर अपना जीवन बसर कर सकते हैं। गाँधी जी रोजगार के रूप में उन्ही उद्योगों को अपनाने के लिए कहते हैं जिनसे व्यक्ति उतना उत्पादन कर ले, जिससे उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति आसानी से हो सके। मिल और मशीन के उपयोग के बारे गाँधी जी ने कहा है, 'सूत मिल के साथ-साथ चरखे न चल सकने के लिए कोई कारण नही है, जिस तरह घर का रसोईघर भी चलता है और होटल भी चलता है उसी तरह ये दोनो साथ-साथ चल सकते हैं।[3] परन्तु गाँधी जी सदैव और प्रत्येक जगह मिल चलाने की आलोचना करते थे। उनका कहना था कि मिल का उपयोग शोषण और बेरोजगारी के लिए न होकर सेवा के लिए हो। उनका कहना है- 'अगर मिलें आज की तरह

---

1. यंग इंडिया : 12-3-1925
2. यंग इंडिया : 14-10-1920
3. यंग इंडिया : 22-7-1920

जनता को लूटने के लिए नहीं बल्कि उनकी सेवा करने के लिए चलायी जाय तो वे घर -घर चरखों और करघों के काम मे मदद करेंगी और उनकी जगह नहीं ले लेगी जो आज वे ले लेती है।[1]

गाँधी जी का मत था कि उत्पादन इस ढंग से किया जाय जिससे सबको काम मिल सके। गाँधी जी मिल और मशीन के विरोधी नहीं थे। उनका कहना था कि उत्पादन उपभोग के लिए किया जाय व्यापार के लिए नही। इस प्रकार गाँधी जी गरीबों के उत्थान के लिए सदैव चिन्तनशील रहे।

प्राचीन काल में व्यक्ति की आवश्यकतायें सीमित थी लेकिन आज वर्तमान काल में व्यक्ति की आवश्यकतायें अधिक हो गई है। ऐसी दशा में आज हमें ऐसे उद्योग चलाने पड़ेंगे जिससे हमारी जरुरते पूरी हो सकें। खादी एवं ग्रामोद्योग जिस रूप में पहले था, उसी रूप में आज नहीं चल सकता है। गाँधी जी इस सम्बन्ध में ग्रामोद्योग का अभिनवीकरण करना चाहते थे। सभी उद्योगों में सुधार किया जाय लेकिन इसमें मशीन व शक्ति के प्रयोग की एक सीमा होगी। गाँधी जी का मत था कि मशीन एवं शक्ति का उपयोग करते समय यह स्मरण रहे कि उससे शोषण और बेरोजगारी न आ सके। अतः गाँधी जी समय व वर्तमान परिस्थितियों पर ध्यान रखते हुए उसका हल चाहते थे।

गाँधी जी ग्रामोद्योग के साथ बड़े उद्योगों के विरोधी नहीं थे, जो वस्तुएँ ग्रामोद्योग में निर्मित नहीं हो सकती है उन्हें वृहद उद्योगों में ही बनाना श्रेयस्कर होगा। उदाहरण के लिए मोटर, रेल, जहाज आदि विशाल एवं जटिल चीजे गाँव-गाँव में नहीं बनायी जा सकती है। इन्हें वृहद कारखानों में ही बनाना पड़ेगा फिर भी यथा संभव अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन ग्रामोद्योग द्वारा ही करना चाहिए। इस प्रकार गाँधी जी का स्पष्ट मत था कि वस्तुओं का अधिक से अधिक उत्पादन ग्रामोद्योग द्वारा ही हो, विशेष परिस्थिति में ही विवशता के कारण बड़े कारखाने उपयोग में लाये जाय जो जन सामान्य के हित में हो, शोषण व बेकारी के लिए न हो।

गाँधी जी भारतीय किसानों के वर्ष में कई माह तक बेरोजगार रहने पर, इस अवसर पर लघु एवं कुटीर उद्योग अपनाने पर बल दिये। फलस्वरूप उन्हें कुछ आर्थिक मदद मिल जाएगी। ग्रामोद्योग उन्हे काफी राहत पहुँचा सकते हैं।

गाँधी जी के अनुसार - 'भारत का मोक्ष उसके ग्रामोद्योग में निहित है। भारत जैसी अर्थ-व्यवस्था में जहाँ पूँजी का अभाव और बेरोजगारी की बहुलता है, वहाँ ग्रामोद्योग अर्थात लघु एवं कुटीर उद्योग आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी पहलुओं के औद्योगिक विकास की आधारशीला है।'[2]

---

1. हिन्दी नवजीवन : 12-4-1928
2. पंत, सुधा : भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में ग्रामोद्योग गाँधीवादी दृष्टिकोण' खादी ग्रामोद्योग- वर्ष 28, अंक- चतुर्थ जनवरी, पृष्ठ 206

ग्रामोद्योगों का विकास राष्ट्र की महान सेवा है। ग्रामोद्योग ही श्रम-प्रधान उद्योग है जो अधिक लोगों को रोजगार में लगा सकने की क्षमता रखते हैं। ये उद्योग आवश्यकतानुसार श्रमिकों के घरों पर खोले जा सकते हैं। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में जहाँ पूँजी दुर्लभ है और श्रम की बहुलता है, वहां पर ग्रामोद्योग ही बेरोजगारी की समस्या से छुटकारा दिला सकते हैं। गाँधी जी चाहते थे कि धन का वितरण सभी के हाथों में हो। यह सब ग्रामोद्योग या विकेन्द्रीकृत उद्योगों के विकास के माध्यम से ही सम्भव है।

ग्रामोद्योग या लघु एवं कुटीर उद्योग अन्तर्निहित संसाधनों का विदोहन करने में पूर्णतया समर्थ है। इनके माध्यम से जमा धन, उपक्रम, योग्यता, पारिवारिक श्रम, कला कौशल आदि संसाधनों का उपयोग किया जा सकता है। छोटी मात्रा में विभिन्न स्थानों पर विखरे होने के कारण इन सभी संसाधनों का बड़े पैमाने के उद्योगों में उपयोग भी नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कुछ संसाधन आधुनिक बड़े उद्योगों के लिए उपयुक्त भी नहीं होते। इस प्रकार ग्रामोद्योग ही स्थानीय उपलब्ध अपर्याप्त संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं और वे आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में समर्थ होते हैं।[1]

गाँधी जी का कहना था कि खादी जैसे अन्य छोटे-छोटे ग्रामोद्योग चलाये जायेंगे तो ग्रामवासियों की आय में वृद्धि होगी जिससे हर परिवार की क्रय शक्ति में वृद्धि होगी। इसप्रकार ये ग्रामवासी छोटे- उद्योगपति एवं श्रमिक भी होंगे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लघु एवं कुटीर उद्योग धन्धों के राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के महत्व को स्वीकार किया गया। इस दिशा में महात्मा गाँधी ने बहुत पहले ही मार्ग निर्देश प्रारम्भ कर दिया था। ग्रामोद्योग के पुनरुत्थान के लिए गाँधी जी ने नारा लगाया था- स्वदेशी अंगीकार करो, विदेशी माल का बहिष्कार करो। उनके लिए खादी के विकास का अर्थ था सभी ग्रामीण उद्योगों का विकास, उन परम्परागत शिल्पों का विकास जो सदियों से भारतीय अर्थ व्यवस्था के गौरवशाली स्तम्भ रहे हैं।

हमारे संविधान में राज्य नीति के एक निर्देशक तत्व के अन्तर्गत कुटीर उद्योगों के संवर्धन की व्यवस्था की गई। 1953 में भारत सरकार ने योजना आयोग की सिफारिश पर अखिल भारतीय खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड की स्थापना की और 1957 में इसे खादी ग्रामोद्योग नाम दिया गया। खादी और ग्रामोद्योग आयोग के कार्य क्षेत्र में आने वाले उद्योग है खादी (सूती, ऊनी और रेशमी) अनाज और दालों का प्रशोधन, घानी तेल, चमड़ा, कुटीर, दियासलाई, गुड़ और खाड़सारी, ताड़गुड और सीरा आदि, अखाद्य, तेल तथा साबून हाथ-कागज, मधुमक्खी पालन, कुम्हारगिरी और लोहारगिरी, रेशा, चूना, गोबर गैस, औषधि निर्माण के लिए जड़ी बूटियों का संग्रह, बाँस और वेंत, कत्था, अल्युमुनियम के बर्तन, फल-प्रशोधन तथा फल-परीक्षण।

1. पंत, सुधा : भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योग गाँधीवादी दृष्टिकोण खादी ग्रामोद्योग, वर्ष 28, अंक - चतुर्थ, जनवरी 1982, पृष्ठ 208

लघु उद्योगों में प्रमुख रूप से ग्रामीण उद्योग को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। स्वरोजगार द्वारा आर्थिक समृद्धि लाने के लिए गाँवों में छोटे उद्योगों का जाल बिछाया जाना चाहिए। छोटे उद्योगों की स्थापना भी परम्परागत ढंग पर न कर उनका आधुनिकीकरण किया जाना चाहिए। ऐसी टेक्नोलाजी तैयार की जाय जो वैज्ञानिक ढंग से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन दे सके। भले ही इसके लिए ग्रामीण लोगों को थोड़ी सी शिक्षा और प्रशिक्षण देना पड़े। लघु उद्योग विकास संगठन द्वारा आयोजित निश्चित प्रशिक्षण पाठ्यक्रम हितकर है। परन्तु इनमें आधुनिकतम उपकरणों तथा तकनीकि का ज्ञान कराने की दृष्टि से प्रसार किया जाना चाहिए। शिक्षा नीति में बुनियादी परिवर्तन कर इसे रोजगारप्रद बनाया जाय।

ग्रामीण लघु उद्योगों को अनेक प्रकार के प्रोत्साहन जैसे- आर्थिक सहायता, कम व्याज पर ऋण, कम मूल्य पर अन्य सुविधायें, करों, में छूट, सरकारी खरीद में प्राथमिकता आदि उचित है। लेकिन ये लाभ समय-समय पर तथा सही ढंग से मिले और इन सुविधाओं का देशव्यापी प्रसार हो। बड़े उद्योगों का क्षेत्र निर्धारित कर एक शक्तिशाली लघु उद्योग क्षेत्र के साथ समता मूलक अर्थतंत्र की खोज नियोजित ढंग से की जाये।

गाँधी जी हमेशा देश में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने की बात करते थे, वे कहते थे कि भारत गाँव में रहता है, शहरों में नहीं। गाँव वाले गरीब हैं, बेरोजगार हैं या अल्परोजगार की स्थिति में हैं उनको रोजगार देना होगा, उनकी आमदनी बढ़ानी होगी। यह पश्चिमी देशों की तरह पूँजी प्रधान उद्योगों से संभव नहीं है। यह केवल ग्रामोद्योग से ही संभव है।

देश की लगभग तीन चौथाई जनसंख्या भारत के गाँवों में निवास करती है। कमरतोड़ गरीबी और बेरोजगारी से उनका उद्धार करना ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। मुट्ठी भर शहरों की और अधिक सम्पन्न करने के लिए गाँवों का शोषण एवं दोहन होता रहा। यह किसी प्रकार उपयुक्त नहीं है। विशालकाय कारखानों की चक्की को चलाने की अपेक्षा हर गाँवों की हर झोपड़ी में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शहरों के लिए भी माल तैयार करने वाले ग्रामोद्योग के गुंजन को अधिक उचित मानना होगा। यदि ग्रामोद्योगों के माध्यम से स्विट्जरलैण्ड और जापान के हजारों लाखों ग्रामीणों को उनके घरों पर रोजगार दिया जा सकता है तो भारत में क्यों नहीं दिया जा सकता। यह एक विचारणीय प्रश्न है।

गाँधी जी ने देश के योजनाकारों तथा नीति नियामकों को याद दिलाया था कि हमने कुछ पहले से शहरों में कार्य पर ध्यान केन्द्रित किया है, अब हमें यह प्रक्रिया उलटनी है। शहर अपना देखभाल स्वयं करने में समर्थ है, हमें गाँवों की ओर मुड़ना चाहिए।[1] गाँधीवादी वि[illegible] में भारत के गाँवों को प्रधान स्थान प्राप्त है।

1. यंग इंडिया :20-41931

गाँधी जी औद्योगिक विकास पर आधारित आयोजन प्रणाली के विरुद्ध थे। उन्होंने हरिजन में साफ-साफ कहा था- 'राष्ट्रीय आयोजन पर मेरे विचार चालू योजना से भिन्न है। मैं इसे औद्योगिक स्तर के साथ नहीं चाहता। मैं अपने गाँवों को औद्योगीकरण के संक्रामक रोग से बचाना चाहता हूँ।'[1] गाँधी जी को डर था कि औद्योगीकरण किसानों तथा कार्य कर रहे लोगों को बेकार कर देगा। भारत की कंगाली बढ़ा देगा। गाँधी जी ने देश के हर क्षेत्र में लघु एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया।

भारत के सामाजिक और राजनीतिक पहलुओं से सम्बन्धित विषयों पर मार्ग-दर्शन प्रदान करने के अलावा गाँधी जीने अंग्रेजी शासन काल में भी देश के आर्थिक विकास पर अधिक जोर दिया। उसी तरह उन्होंने भारतीय किसानों को कृषि उत्पादनों में आत्मनिर्भर होने तथा खादी और ग्रामोद्योग, हथकरघा व दस्तकारी, रेशम पालन और बुनाई जैसे कृषि आधारित उद्योगों का विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव में गाँधी जी के मुताबिक ग्रामीण विकास में खादी, सूर्य और अन्य सभी ग्रामोद्योग उसके इर्द-गिर्द के ग्रहों के समान है। ग्रामीण विकास के संदर्भ में खादी निःसन्देह संगठित और असंगठित दोनों ही पद्धतियों में लम्बे अरसे से प्रमुख भूमिका निभा रही है। वैदिक काल से भारतीय लोग खास करके ग्रामीण क्षेत्र की महिलाएँ खादी पहनती थी और वर्ष 1920 तक जब गाँधी जी ने खादी को संघटित क्षेत्र में लाने के लिए पूरा प्रयास किया यह असंगठित स्तर पर थी। गाँधी जी के लिए खादी भारतीय एकता, स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक तथा जवाहर लाल नेहरू के लिए 'आजादी का बाना' थी। इसके अलावा खादी की मनोवृत्ति का मतलब है उत्पादन का विकेन्द्रीकरण और देशवासियों में जीवनपयोगी वस्तुओं का वितरण।

समूचे देश के विकसित और अर्द्धविकसित क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों के अन्तर्गत अनेक श्रम, साधन लघु उद्योगों जैसे- हाथकरघा और दस्तकारी, रेशम कीट पालन और बुनाई, रेशा उद्योग आदि का संगठन और विकास हुआ है, जो मुख्यतः ग्रामीण बेरोजगारी दूर करने और देश की जनता की अर्थव्यवस्था सुधारने के लिए है। आजादी के पूर्व अखिल भारत चरखा-संघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ ने खादी और विभिन्न ग्रामोद्योगों के विकास का कार्य किया। परन्तु आजादी के बाद सरकार ने इस क्षेत्र को अधिक महत्व देना शुरु किया एवं दीर्घस्तरीय तथा श्रम सघन लघु स्तरीय उद्योगों, कुटीर उद्योगों जैसे- खादी और ग्रामोद्योग, दस्तकारी, रेशम कीट पालन तथा बुनाई आदि के विकास के लिए धनराशि प्रदान किया। वास्तव में वर्तमान लघु उद्योग अधिकांशतः महात्मा गाँधी के समय के उद्योगों से भिन्न है, फिर भी इन उद्योगों में रत कारीगर, अंततः खादी और ग्रामोद्योग आयोग से प्रोत्साहन प्राप्त कर आधुनिक और महंगे उपकरण तथा मशीनों का उपयोग करने के पक्ष में नहीं है। ऐसा इसलिए नहीं है कि गाँधी जी आधुनिक मशीनों के उपयोग के पक्ष में नहीं थे, गाँधी जी ने मशीनों के

---

1. हरिजन : 1940, पृष्ठ 298

उपयोग का कभी विरोध नहीं किया, यदि वे श्रम का विस्थापन करती हों। उन्होंने उसे स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे मालों के उपयोग से उत्पादन केवल स्थानीय जरूरतों को ही नहीं पूरा करता बल्कि निर्यात को भी प्रोत्साहन देता है और विदेशीमुद्रा अर्जन करने में भी सहायक बनता है। एक ओर गाँधी जी एक ही स्थान पर उद्योगों और आर्थिक शक्ति के सकेन्द्रण के खिलाफ थे तो दूसरी ओर उद्योगों और शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। उनके लिए ग्रामीण और कमजोर वर्गों के विकास के लिए सहकारिता जरुरी थी। उनकी विचार धारा के मुताबिक आर्थिक समानता का यह अर्थ नहीं होता कि सभी के पास समान धन हो बल्कि यहकि हरेक के पास अपनी जरूरत पूर्ति के लिए काफी धन हो।

भारतवर्ष को अधिकांश किसान जनता को वर्ष में चार छः माह के पश्चात सामान्यतः बेकारी में ही व्यतीत करना पड़ता है। इस बेकारी में लगभग भुखमरी की स्थिति आ जाती है। गाँधी जी का कहना है कि ऐसे लाखों लोगों के लिए एक मात्र सार्वजनिक उद्योग कताई ही है और कोई नहीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे उद्योग का कोई महत्त्व नहीं है या वे निकम्मे हैं। सच तो यह है कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कोई भी दूसरा उद्योग कताई की तुलना में अधिक आय-वर्धक होगा । उदाहरण के लिए घड़ियाँ बनाना एक अत्यन्त आय-वर्धक और मोहक उद्योग है मगर उसमें कितने आदमी लग सकते है ? अतः भूख से मर रहे लोगों के सामने ऐसे कताई उद्योग ही उपयुक्त होंगें जो सहज रूप से किये जा सके और जिससे आसानी से भुखमरी मिट सके। - - राष्ट्र के साधन एक हाथ कताई के उद्योग पर ही केन्द्रित होने चाहिए क्योंकि इसे सब अपना सकते हैं और अधिकांश लोग अन्य किसी उद्योंग को नहीं अपना सकते ।[1] लाखों लोगों के लिए जिसकी कल्पना की जा सकती है, ऐसा सबसे ज्यादा उपयुक्त और व्यवहारिक उद्योग कताई ही है ।[2]

खादी आन्दोलन अभी तक अनेक मंजिलों से गुजर चुका है । एक पुरानी नष्ट हो गई कला के विरल अवशेष की स्थिति से धीरे-धीरे बढ़कर वह भारत के अवशेष की स्थिति से धीरें-धीरें बढ़कर वह भारत के स्वतंत्रता संग्राम का चिन्ह बन गई है उसके मूलरूप में खादी खेती का पूरक उद्योग थी । खादी का असली उद्देश्य किसानों को अपनी फुरसत के समय का अर्थोत्पादक उद्योग करने की सुविधा कर देना था ।[3] जिस तरह गाँव के लोग अपना खाना खुद पका लेते है, उसी प्रकार अपने उपयोग के लिए उन्हें अपनी खादी का उत्पादन खुद कर लेना चाहिए अपने उपयोग के बाद बच रही खादी को यदि वे चाहें तो बेच सकते हैं ।[4]

---

1. यंग इंडिया : 30-9-1926
2. यंग इंडिया : 12-4-1920
3. हरिजन : 6-7-1935
4. हरिजन : 6-7-1935

खादी का उद्देश्य प्रारम्भ से ही मौजूदा अस्वाभाविक रचना को उलटने का था। यद्यपि उसमें शहरी लोगों को बर्बाद करने का विचार कदापि नहीं था, मौजूदा रचना को उलटने का अर्थ था गाँवों और शहरों के स्वाभाविक सम्बन्ध को पुनः स्थापित करना।[1] खादी का यह उद्देश्य लगभग वैसा ही था जैसा कि अस्पृश्यता निवारण का तथाकथित उच्च वर्गों ने वर्षों तक निचले वर्गों की उपेक्षा की थी। खादी ने उच्च वर्ग वालों को निचले वर्ग के हित में प्रायश्चित करने का निमंत्रण देकर इस दुहरी बुराई को निर्मल करने का काम किया।[2]

सन् 1934 में गाँधी जी ने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की। अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ का उद्देश्य भारत में मरते हुए ग्रामोद्योग को पुनः जीवित करना था।

ग्रामोद्योग का दर्जा खादी से अलग है उनमें स्वेच्छापूर्वक किये जाने वाले काम के लिए ज्यादा स्थान नहीं है। उनमें से प्रत्येक में काम करने वालों की एक सीमित संख्या ही समा सकती है। उनका महत्व खादी के लक्ष्य में सहायक पूरक उद्योग होने में हैं। वे खादी के बिना नहीं ठहर सकते और उनके अभाव में खादी अपनी साख खो देगी। गाँव की अर्थ रचना हाथ पिसाई, हाथ कुटाई, साबुन, सब्जी, कागज, दियासलाई, चमड़े का काम, तेल आदि आवश्यक सामग्री के बिना सम्पूर्ण नहीं हो सकती । यदि माँग हो तो इसमें शक नहीं कि हमारे गाँव हमारी अधिकांश जरूरतों की पूर्ति कर सकते हैं।[3]

खादी संस्थाएं आसानी से कपड़े की जिन किस्मों का उत्पादन करा सकती है, उनका उत्पादन मिलों को नहीं करना चाहिए और इस तरह उन्हें अपनी शक्ति उन किस्मों का उत्पादन करने के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए जिन्हें खादी संस्थाएं आसानी से नही बना सकती हैं।

गाँधी जी चरखे के लिए यह दावा करते थे कि वह हमारी गरीबी के सवाल को अत्यन्त सरल, स्वाभाविक तथा व्यवस्थित पद्धति में हस्तक्षेप करने की शक्ति रखता है। अब महत्व की बात यह है कि उसमें हमें लगभग कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। कताई के इन लाभों को गिनाते हुए उन्होंने कहा था[4]

(1) जिन लोगों को फुरसत है और जिन्हें थोड़े से पैसों की भी जरूरत है उन्हें उससे आसानी से रोजगार मिल जाता है।

(2) इसका हजारों को ज्ञान है।

(3) यह आसानी से सीखी जा सकती है।

1. हरिजन : 6-7-1935
2. हरिजन : 6-7-1935
3. कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम : 1941, पृष्ठ 11
4. यंग इंडिया :8-12-1921

(4) इसमें लगभग कुछ भी पूँजी लगाने की जरुरत नहीं है।

(5) चरखा आसानी से और सस्ते दामों में तैयार किया जा सकता है।

(6) लोगों को इससे अरुचि नहीं है।

(7) इससे अकाल के समय तात्कालिक राहत मिल जाती है।

(8) विदेशी कपड़ा खरीदने से भारत का जो धन बाहर चला जाता है, उसे यह रोक सकती है।

(9) इससे करोड़ो रुपये की जो बचत होती है वह अपने आप गरीबों में बट जाती है।

(10)इसकी छोटी से छोटी सफलता से ही लोगों को बहुत कुछ तात्कालिक लाभ होता है

(11) लोगों में सहयोग पैदा करने का यह अत्यन्त प्रबल साधन है।

गाँधी जी का यह विचार था कि- 'यदि मैं सम्पूर्ण देश में अपने विचार मनवा सका तो भावी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख आधार चरखा होगा और वह सब जो चरखे का अर्थ है उसमें हर वह चीज सम्मिलित होगी, जिससे गाँव वालों का कल्याण हो। मेरी परिकल्पना के अनुसार दस्तकारी के साथ-साथ, बिजली पोत निर्माण, लोहे के कारखाने, मशीनों का निर्माण तक सम्मिलित होगा।[1] अभी तक तो औद्योगी करण ऐसे हुआ है जिससे ग्रामीण दस्तकारी बर्बाद हो गई है, भावी भारत में ग्रामीण दस्तकारी को बढ़ाना होगा।

महात्मा गाँधी जी ने चरखे को वह धुरी माना जिसके चारो ओर सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था चक्कर लगाती है। इसके द्वारा उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण में पूर्ण रूप से सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। गाँधी जी ने चरखे को देश की करोड़ो निर्धन जनता के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को ऊँचा उठाने का शस्त्र माना है। गाँधी जी आर्थिक समानता चाहते थे। उनके अनुसार सभी व्यक्तियों को अपने जीवन यापन का समान अवसर मिलना चाहिए। वे बड़े और छोटे उद्योगों में सन्तुलन स्थापित करने के पक्ष में थे। उनके आर्थिक विचारों ने नैतिकता पर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने कहा- मैं जितनी बार चरखे पर सूत निकालता हूँ, उतनी ही बार भारत के गरीबों का विचार करता हूँ। भूख की पीड़ा से व्यक्ति और पेट भरने के सिवाय और कोई इच्छा न रखने वाले मनुष्य के लिए उसका पेट ही ईश्वर है। उसे जो रोटी देता है, वही उसका मालिक है। उसके द्वारा वह ईश्वर के भी दर्शन कर सकता है। ऐसे लोगों को जिनके हाथ पैर सही सलामत है उन्हें दान देना अपना और उनका दोनों का पतन करना है, उन्हें तो किसी न किसी किसी तरह के धंधे की जरूरत है और वह धंधा जो

---

1. पंत, सुधा : भारत की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में ग्रामोद्योग गाँधीवादी दृष्टिकोण खादी ग्रामोद्योग, वर्ष- 28, अंक- चतुर्थ, जनवरी 1982, पृष्ठ 206

करोड़ों को काम देगा केवल हांथ कताई का ही हो सकता है। ---------- इसलिए मैंने कताई को प्रायश्चित या यज्ञ बताया है और चूँकि मैं मानता हूँ कि जहाँ गरीबों के लिये शुद्ध और सक्रिय प्रेम है, वहाँ ईश्वर भी है, इसलिए चरखे पर मैं जो सूत निकलता हूँ उसके एक एक धागे में मुझे ईश्वर दिखायी देता है।[1]

चरखा देश के निर्धन व्यक्तियों द्वारा सरलता से उपयोग में लाया जा सकता है। इसके लिए वृहद उद्योगों की तरह अत्यधिक पूँजी नही लगानी पड़ती है। इससे देश की समस्त आर्थिक कठिनाइयाँ सहज रूप से हल हो सकती है। इससे देश का विकास और शक्ति स्थापित हो सकती है। यह अमीर व गरीब, श्रम व पूँजी के बीच असीम प्रेम उत्पन्न करता है। यह सभी के लिए एक शुभ संदेश है। भारत के प्रत्येक घर में चरखा अपनाया जाना देश की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन कर सकता है। हर एक व्यक्ति अपने खाली समय में सूत कात सकता है। इसके द्वारा परिवार की आय आसानी से बढ़ाई जा सकती है और इससे देश में बढ़ती हुई बेरोजगारी दूर हो सकती है। गाँवों में किसान खेतों को बोने के बाद बेकार रहता है इस अवधि में वह सूत कातकर अपनी आय बढ़ा सकता है। गाँधी ने चरखे व हाथ करघे को भारत के नैतिक और आर्थिक पुनरुत्थान के लिए सहायक माना। उनका दृढ़ मत था कि देश की जनता को भुखमरी व गिरते हुए स्तर से बचाने के लिए उनके घरों में चरखा अपनाना होगा और हर एक गाँव में बुनने की व्यवस्था करनी होगी। हमें चरखे को उद्योगों का केन्द्र बिन्दु बनाना होगा। महात्मा गाँधी ने चरखे को सूर्य माना है जिसके चारो ओर ग्राम्य अर्थव्यवस्था नक्षत्र की तरह चक्कर लगाता है। यह गरीबो व अमीरों के अन्तर को समाप्त करता है। आवश्यकता है जनता को चरखे की उपयोगिता के सन्दर्भ में पूर्ण शिक्षा दे ताकि जनता इसे अपनाकर अपना आर्थिक जीवन स्तर ऊँचा कर सके।

चरखे के विषय में गाँधी जी ने बहुत ही जोरदार शब्दों में कहा था- 'चरखा बहुसंख्यक लोगों की आशा का प्रतिनिधित्व करता है। चरखा गाँवों की कृषि का पूरक है, उनकी प्रतिष्ठा का प्रतीक है, यह विधवाओं का मित्र और कृषकों को आलस्य से दूर रखने का साधन है।' बम्बई के उद्योगपतियों की एक योजना में यह विचार व्यक्त किया गया था कि खादी एक झक्कीपन की विचारधारा नहीं है बल्कि एक आत्मनिर्भर विचार धारा है। यह योजना बड़े बड़े उद्योगपतियों के नाम से सम्बन्धित थी जैसे- श्री पुरुषोतम दास ठाकुरदास, श्री जी०डी० बिरला, श्री जे०आर० डी० टाटा तथा जान मथाई। इस योजना ने उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों के माध्यम से करने पर जोर दिया।[2]

गाँधी जी का कहना था कि 'मेरे विचार में खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है। हर एक गाँव को अपनी जरूरत की सब चीजें खुद पैदा कर लेनी चाहिए।

---

1. यंग इंडिया : 20-5-1926
2. पंत, सुजा : 'भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ग्रामोद्योग-गाँधीवादी दृष्टिकोण' -खादी-ग्रामोद्योग, वर्ष 28, अंक- चतुर्थ, जनवरी, 1982, पृष्ठ : 208-209

मैं इससे ज्यादा उदात्त और ज्यादा राष्ट्रीय किसी दूसरी चीज की कल्पना नहीं कर सकता कि प्रतिदिन एक घंटा हम सब कोई ऐसा परिश्रम करें जो गरीबों को करना ही पड़ता है और इस तरह उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव जाति के साथ अपनी एकता साधे। मैं भगवान की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर मैं गरीबों के लिए गरीबों की ही तरह परिश्रम करुँ। ------- जब मैं सोचता हूँ कि यथार्थ किये जाने वाले इस शरीर-श्रम का सबसे अच्छा और सबको स्वीकार्य रूप क्या होगा, तो मुझे कताई के सिवा और कुछ नही सूझता।[1]

गाँधी जी का कहना था कि ------- 'विदेशी या शहर की बनी चीजों की जगह गाँवों की बनी चीजों को आप काम मे लाने लगे तो ग्रामोद्योग - कार्य का यह बड़ा अच्छा आरम्भ होगा और आपके लिए यह खु द ही एक बड़े महत्व की चीज होगी।[2]

गाँधी जी का मानना था कि भारत वर्ष एक गरीब देश है। इसलिए इस गरीब देश में उत्थान के लिए दूसरे शब्दों में आर्थिक विकास के लिए खादी को विशेषरूप से बढ़ावा दिया जाय क्योंकि इसमें पूँजी की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार भारत देश शीघ्र ही एक समृद्ध राष्ट्र बन सकता है।

गाँधी जी का कहना है कि भारत वर्ष के गरीब और अशिक्षित नागरिक के पास जितना कौशल और बुद्धि है उतनी ही इस चरखा को चलाने में आवश्यक है। छोटे-छोटे बच्चे, बुढ़े सभी इसे चला सकते हैं और अपने परिवार की आवश्यकता की तृप्ति कर सकते हैं। चरखा प्रत्येक झोपड़ी तक पहुँच कर वहां के दारिद्रय, नग्नता का निराकरण तो करता ही है, साथ ही साथ झोपड़ी से मुहल्लों तक सबके लिए एक संदेश देता है। चरखे से सभी अन्य प्रकार के उद्योगों का संचार होता है सभी साथ-साथ विकसित होने लगते हैं। गाँव को सभी वस्तुओं के लिए स्वावलम्बी बना देते हैं। खेतीबारी, पशुपालन उद्योग एक दूसरे के सहायक होकर एक दूसरे की समृद्धशाली बनाते हैं। खादी के धागे-धागे में माँ, बहनों का प्यार भरा स्वरूप दिखाई देता है। सभी को अपने घर गाँव में स्वास्थ्यवर्धक वातावरण में कार्य मिलेगा।

हम खादी को महंगा, ग्रामोद्योग की वस्तुओं को महंगी और मिल के कपड़ों को सस्ता, कारखाने के सामान को सस्ता समझते हैं यह हमारा भ्रम है- 'खादी और चरखा बहुत ही सस्ते और सर्वसुलभ है और इनसे बनी हुई वस्तुएँ सस्ती हैं। इसे सामान्यजन आसानी से प्राप्तकर अपने उपयोग में ला सकते हैं। ग्रामोद्योग की वस्तुएँ सस्ती और मिल कारखाने की वस्तुएँ महंगी पड़ती है। ग्रामोद्योग की वस्तुओं के उपभोग से स्वास्थ्य उत्तम रहता है। मनुष्य स्वस्थ्य एवं दीर्घायु होता है।

खादी करोड़ो व्यक्तियों को रोजगार देती है। स्वाभिमानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की शक्ति देती है। खादी और खादी बनाने के उपकरण का स्वामित्व उसी का

---

1. यंग इंडिया : 20-10-1921
2. हरिजन सेवक : 25-1-1935

होता है। इसलिए उसमें मालिक मजदूर के विचार आते ही नहीं, बच्चे से लेकर बूढ़े तक को रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। अपने स्वस्थ्य परिवार के वातावरण में तथा प्राकृतिक पर्यावरण में प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता है और कार्य करते हुए आनन्द लेता है। खादी द्वारा प्राप्त सारी सम्पत्ति इस स्वावलम्बी व्यक्ति की होती है। अपने हाथ से कती, बुनी व धुली हुई खादी धारण करके वह आत्मविभोर होता है। खेती के साथ-साथ अथवा अन्य पेशों के साथ-साथ छोटे से चरखे या छोटे से ग्रामोद्योग के यंत्र को लेकर मनुष्य मनोरंजन के रूप में उत्पादन कार्य करता है।

इस प्रकार लघु एवं कुटीर उद्योगों के द्वारा गाँवों का आर्थिक विकास कर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। गाँधी जी के अनुसार भारत की जड़ गाँवों में है। इसलिए जड़ को मजबूत करना परम आवश्यक है, गाँवों को आत्मनिर्भर बनाते हुए आयात पर नियंत्रण देकर उसकी अर्थव्यवस्था को समृद्धिशाली बनाया जा सकता है तथा स्थायी शांति स्थापित हो सकती है।

■

चतुर्थ अध्याय

राजनैतिक विचार

गांधी जी नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के साथ-साथ राजनीतिक स्वतंत्रता पर भी बल देते थे । उनके अनुसार स्वराज्य सत्य का एक अंश है और सत्य ईश्वर है । अतः स्वतंत्रता एक पवित्र वस्तु बन ३जाती है । गांधी जी तिलक के इस विचार से सहमत थे कि स्वतंत्रता भारतीयों का जन्म-सिद्ध अधिकार है । गांधी जी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता का बलपूर्वक समर्थन किया और अपना सम्पूर्ण जीवन इस कार्य के लिए अर्पित कर दिया । गांधी जी ने कहा- "मैं यह कल्पना भी नहीं करता कि कोई राष्ट्र बाहर से थोपी गई सरकार के द्वारा अपने को उचित ढंग से शासित कर सकता है।"

गांधी जी ने वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा नागरिक स्वतंत्रता का भी समर्थन किया। वैयक्तिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा-"नागरिक के शरीर को पवित्र मानना चाहिए ।" वे भाषण तथा लेखन की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे । इसे वे स्वराज्य की नींव मानते थे । गांधी जी मनमानी करने को स्वतंत्रता नहीं मानते थे । उनके अनुसार समाज के लिए आत्मत्याग करना ही स्वतंत्रता का फल है । वैयक्तिक दावों को स्थापित करना ही स्वतंत्रता नहीं है । गांधी जी नैतिक स्वतंत्रता में विश्वास करते थे और उनके अनुसार आध्यात्मिक सत्ता के साथ एकात्म्य स्थापित करना ही नैतिक स्वतंत्रता है । उनके अनुसार इंद्रियों और वासनाओं की भौतिक भागों पर विजय प्राप्त करना ही स्वतंत्रता है । गांधी जी के अनुसार स्वतंत्रता विकास की एक प्रक्रिया है । जिसका उद्देश्य नैतिक उद्देश्य और कार्यों के साथ सांमजस्य स्थापित करना है । वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामाजिक अनुशासन के अधीन मानते थे ।

गांधी जी एक महान व्यक्तिवादी थे और वे धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक हर प्रकार की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे । उनकी मान्यता थी कि राज्य जन-कल्याण का एक साधन मात्र है । गांधी जी के चिन्तन में व्यक्ति सर्वोपरि है, व्यक्ति साध्य है राज्य साधन है ।

राज्य के सम्बन्ध में महात्मा गांधी के विचार:

महात्मा गांधी के भौतिक, राजनैतिक और सामाजिक विचारों का केन्द्र विन्दु उनका मानवतावाद था । मानवतावाद का तात्पर्य है मानव क्षमता एवं मानव गरिमा पर अपूर्व विश्वास । अतः गांधीवाद क्रांति का मूल ही यह है कि उस स्वार्थी समाज से जिसने व्यक्ति के व्यक्तित्व पर कुठाराघात कर उसे व्यक्तित्वहीन बना दिया है, उस समाज से मानव को ऊपर उठाकर उसकी गरिमा पुनर्स्थापित करना ।उनके द्वारा

प्रतिपादित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था आदि मानव-गरिमा को बढ़ाने के मात्र साधन है ।

इसी पृष्ठभूमि में उनके द्वारा प्रतिपादित राज्य की अवधारणा को भी समझा जा सकता है । गांधी जी का चिन्तन आदर्शोन्मुख भी है और व्यावहारिक भी । आदर्श की स्थापना के प्रयास में उन्होंने रामराज्य की अवधारणा प्रस्तुत की, और व्यावहारिक राज्य के रूप में उन्होंने विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का आग्रह किया । दोनों का मूल मानव गरिमा पर विश्वास है ।

उन्होने कई स्थानों पर स्पष्ट किया है कि वह "आदर्श" राज्य (रामराज्य) को ही "आदर्श" मानते हैं, किन्तु व्यवहार में सम्भवतः इतना ऊँचा आदर्श सम्भव नहीं; अतः वह उप आदर्श राज्य (व्यावहारिक) की स्थापना करते हैं। आदर्श व व्यावहारिक के इस अर्न्तसम्बन्ध की बात करते हुए उन्होने कहा-व्यक्ति में "आदर्श" प्राप्ति का प्रयास उनकी इच्छा में समाहित है और निम्न इच्छा के बन्धनों के बावजूद भी उसमें इस निर्देशित इच्छा को साकार करने की क्षमता है । "रामराज्य" व्यक्ति के इसी आदर्श इच्छा का प्रतीक है । वह (व्यक्ति) भले ही उस आदर्श (रामराज्य) की प्राप्ति न कर सके, किन्तु आदर्श को प्राप्त करने के प्रयास में वह "जो कुछ है," उस स्थिति से तो ऊपर, बहुत ऊपर, उठ ही[३३] सकता है । आदर्श राज्य अथवा रामराज्य की अवधारणा अव्यावहारिक होने के बावजूद भी इसी लिए सार्थक है, और इसी सार्थकता में इसका महत्व निहित है-यह काल्पनिक अथवा स्वप्नलौकिक दृष्टि नहीं है । यह तो विश्वदृष्टि है।

राज्य मानव समाज का महत्वपूर्ण समुदाय है । व्यक्ति का अस्तित्व, सुरक्षा और विकास राज्य की परिधि के अन्तर्गत ही संभव है । राज्य अराजकता का शत्रु और सांसारिक सुरक्षा की प्रतिमूर्ति है । व्यक्ति का सांस्कृतिक विकास वाणिज्य, व्यवसाय, भौतिक विकास, सभी कुछ राज्य की सुस्थिरता परही अवलम्बित है । राज्य शब्द का अर्थ युग के अनुसार बदलता रहता है । विभिन्न व्यक्तियों ने उसे विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है । कोई राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानता है, तो कोई उसे कृत्रिम संस्था मानता है । कोई उसे मानवीय विकास का सक्षम साधन मानता है, तो कोई उसे दमन और शोषण का यंत्र मानता है । कुछ लोग उसे दैवीय देन समझते हैं तो कुछ के अनुसार वह एक अनिवार्य बुराई है । इस प्रकार राज्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है । किसी भी राज्य के लिए भू-भाग, जनसंख्या, सरकार और सम्प्रभुता में चार तत्व आवश्यक होते हैं । इन तत्वों के अभाव में किसी भी राज्य का निर्माण नहीं हो सकता है ।

चूँकि राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है, इसलिए उसमें जनसंख्या का होना नितान्त आवश्यक है । जनसंख्या के अभाव में राज्य का संगठन करना असम्भव है । किन्तु राज्य के लिए कितनी जनसंख्या है, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है । राज्य की जनसंख्या इतनी होनी चाहिए कि सबका भलीभांति भरण-पोषण हो जाय । उसके लिए शासक तथा शासित दो भाग हो जाय तथा वह अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति

के लिए आत्मनिर्भर हो जाय । राज्य का वैयक्तिक आधार जनसंख्या है तथा इसका भौतिक आधार भूमि है । जनता तब तक राज्य में नहीं हो सकती जब तक कि उसके पास भूमि न हो । राज्य की सीमा के अन्तर्गत जो पहाड़, नदियाँ, झील आदि आते हैं, वे राज्य के ही अधिकार में होते हैं । भूमि के ऊपर का वायुमण्डल भी उस राज्य का माना जाता है और राज्य की भूमि से लगा हुआ पन्द्रह किलोमीटर तक का समुद्र भी राज्य की सीमा के अन्तर्गत माने जाते हैं । यदि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करने वालों का एक संगठित जीवन नहीं हैं, वे किसी कानूनी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रहते और एक सरकार के आदेशों का पालन नहीं करते, तो उन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता है । सरकार के द्वारा ही राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है। सरकार से तात्पर्य उन इने-गिने व्यक्तियों से है जो राज्य के नाम पर नियमों का निर्माण करते हैं। उनका पालन जनता से करवाते हैं और उन नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देते हैं । वर्तमान समय में सामान्यतया सरकार के तीन प्रमुख अंग होते हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका । व्यवस्थापिका,सरकार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है । इसे यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका से भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । कारण कि व्यवस्थापिका ही उन कानूनों का निर्माण करती है, जिनके अनुसार कार्यपालिका शासन करती और न्यायपालिका न्याय करती है । व्यवस्थापिका ही संविधान में संशोधन करती है, न्याय संबंधी कार्य करती है, वित्त सम्बन्धी कार्य करती है, कार्यपालिका पर नियंत्रण करती है, आदि, कार्य व्यवस्थापिका के द्वारा किये जाते हैं । कार्यपालिका-सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है । कार्यपालिका शासन के उस यंत्र के समन्वित रूप को कहते हैं जिसके द्वारा विधानमण्डल द्वारा बनाये गये कानून और जनता की इच्छा कार्यान्वित होती है । कार्यपालिका प्रशासन सम्बन्धी कार्य करती है, वित्तीय कार्य करती है, न्याय सम्बन्धी कार्य करती है, वैदेशिक नीति सम्बन्धी कार्य करती है, सैनिक कार्य करती है, आदि । न्यायपालिका सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है । किसी राज्य के अस्तित्व एवं उन्नति के लिए न्यायपालिका का अधिक महत्व होता है । वस्तुतः न्यायपालिका जनता की स्वतंत्रता की रक्षिका होती है । इसलिए उसे स्वतंत्रता का अमोघ कवच और नागरिक अधिकारों का संरक्षक कहा जाता है । न्यायपालिका विवादों का निर्णय, कानून की व्याख्या करना, संविधान की रक्षा करना, परामर्श सम्बन्धीकार्य करना, घोषणात्मक निर्णय देना, नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना आदि कार्यों को न्यायपालिका करती है । इस प्रकार सरकार राज्य की आत्मा है । यह वह मशीन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है । राज्य की चौथी आवश्यक तत्व है सम्प्रभुता । सम्प्रभुता राज्य की जीवन शक्ति है । यह राज्य का अंतिम किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है । इसके दो पक्ष होते हैं । आंतरिक और बाह्य । आंतरिक सम्प्रभुता का अर्थ है राज्य के अन्दर सर्वोच्च शक्ति । वह राज्य के समस्त नागरिकों, उनकी संस्थानों एवं समुदायों को नियंत्रित करती है । राज्य के अन्तर्गत जो भी भूमि, जो भी पदार्थ उपलब्ध होते हैं। उन सब पर निर्वाध रूप से राज्य का अधिकार होता है । बाह्य दृष्टि से

सम्प्रभुता का तात्पर्य बाह्य नियंत्रण से स्वतंत्र होना है । बाह्य सम्प्रभुता के आधार पर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में स्वतंत्र होता है, उस पर किसी बाह्य सत्ता का नियंत्रण नहीं होता है । राज्य के लिए ये चारो तत्व आवश्यक माने जाते हैं । प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य के सात आवश्यक तत्व बतलाये हैं-स्वामी, आमात्य, मित्र, कोष, दुर्ग जनसंख्या एवं सेना । परन्तु आधुनिक युग में जनसंख्या, भू-भाग, सरकार एवं सम्प्रभुता इन चार तत्वों को ही राज्य के निर्माणकारी तत्व स्वीकार किया गया है ।

प्राचीन काल से ही सरकार के तीन रूपों का वर्णन प्राप्त होता है- राजतंत्र, कुलीन तंत्र, प्रजातंत्र । राजतंत्र उस शासन प्रणाली को कहते हैं, जहाँ राज्य की सर्वोत्तम सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में हो, जिसको राजा कहते हैं । राजा सभी शक्तियों का प्रयोग करता है । यह एक अति प्राचीन प्रणाली है । सभ्यता के आदिकाल में यही प्रणाली संभव और लाभकारी सिद्ध हो सकती थी । राजपद की प्राप्ति के विचार से राजतंत्र के दो भेद किये जाते हैं । पहला वंशानुगत राजतंत्र, जहाँ उत्तराधिकार के नियम के अनुसार, पिता की मृत्यु पर पुत्र राजा बन जाता है । प्राचीन काल में और आधुनिक काल में भी अधिकतर पैतृक राजतंत्र ही संसार के विभिन्न देशों में प्रचलित रहा है । कई बार ऐसा भी हुआ है कि कोई राजा शुरू में चुना गया हो और बाद में उसके वंश में उत्तराधिकार पैतृक बन गया हो । दूसरा, निर्वाचित राजतंत्र, जहाँ राजा की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी का निर्वाचन होता है । यह प्रथा आजकल समाप्त हो गई है । राजतंत्र को दो भागों में बाँटा गया

(1) निरंकुश राजतंत्र, जहाँ राजा सर्वेसर्वा होता है और उसका वचन ही कानून होता है ।

(2) सीमित या संवैधानिक राजतंत्र, जहाँ राजा की शक्तियाँ संविधान द्वारा सीमित होती है, वास्तविक शक्ति निर्वाचित प्रतिनिधियों अर्थात मंत्रिमण्डल के हाथों में होती है । निरंकुश राजतंत्र संसार से सभ्यता और राजनीतिक चेतना की प्रगति के साथ उठता चला गया । राजतंत्र नाम की शासन प्रणाली संवैधानिक राजतंत्र के रूप में ही संभव है । इस शासन में लोकतंत्र अथवा स्वराज्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता है ।

कुलीन तंत्र, मौलिक अर्थों में, शासन का वह तंत्र है जिसका संचालन समुदाय के सर्वोच्च पुरुष, बड़े ही पवित्र सिद्धान्तों से प्रेरित होकर करते हो । प्रारंभ में इसका स्वरूप या नैतिक सद्गुण-शासन वर्ग की नीति व वैद्दिक श्रेष्ठता । अब तो कुलीन तंत्र को शासन के उस रूप में लिया जाता है जिसमें राजनीतिक शक्ति समुदाय के एक उच्च वर्ग के हाथों में रहती है । कुलीन तंत्र का स्वरूप शासन करनेवाले व्यक्तियों के योग्यता की रीति पर निर्भर है, न कि उनकी संख्या की कमी के आधार पर । जब शासक उन गुणों को खो देते हैं जिनके आधार पर उन्हें शासन व सत्ता, सौंपी जाती है, तब कुलीनतंत्र विकृत रूप ग्रहण करता है । कुलीन तंत्र के दो मुख्य रूप होते हैं-पहला, वह कुलीनतंत्र जिसमें शासक वर्ग पूरी तरह से जनता से अलग रहता है । इसमें जिन व्यक्तियों का शासक वर्ग से कोई संबंध नहीं होता है । उन्हें शासन में कोई अधिकार का पद नहीं मिलता । फलस्वरूप सत्ता के क्षेत्र में उनका कोई भाग नहीं

रहता । यह कुलीन तंत्र का वंशानुगत स्वरूप है । दूसरा, वह रूप है जिसमें हीन वर्गों के योग्यतम व्यक्तियों को शासन और सत्ता के पदों पर नियुक्त किये जाने में कोई रूकावट नहीं रहती । कुलीनतंत्र का वह स्वरूप धन, शिक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि पर निर्भर करता है किन्तु इस शासन में स्वार्थी व्यक्तियों, धनिकों आदि का प्रभुत्व रहता है । अतः वे अपने स्वार्थपूर्ति में ही लगे रहते हैं । अतः सामान्य जनता को कोई लाभ नहीं होता है ।

वर्तमान युग को प्रजातंत्र या लोकतंत्र युग कहा जाता है । उसमें सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथों में ही निहित होती है । इसमें व्यापक निर्वाचन के आधार पर जनता के बहुमत द्वारा शासन किया जाता है । जनता शक्ति का स्रोत होती है और शासन किया जाना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसी की इच्छा के अनुसार होता है । साथ ही इसमें सामाजिक एवं आर्थिक समानता का होना भी अनिवार्य है क्योंकि समानता लोकतंत्र की आधारशिला है । इसमें यह मान्यता नहीं है कि कुछ लोग शासन करने के लिए जन्म लिये हैं और कुछ लोग आज्ञा मानने के लिए । लोकतंत्र में समस्त नागरिकों को अपने विकास का अनुकूल अवसर प्राप्त होता है । लोकतंत्र जनता में नैतिक गुणों का विकास करके उसके नैतिक स्तर को ऊँचा उठाता है । वह जनता में प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि की शिक्षा देकर उनके चरित्र निर्माण का अनुकूल अवसर प्रदान करता है । स्वशासन के कारण लोगो में आत्मगौरव व स्वावलम्बन का भाव पैदा होता है । किन्तु इस शासन में संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है तथा अल्पमत की उपेक्षा की जाती है । इसमें बहुमत के आगे अल्पमत के लोगों को कम महत्व दिया गया है ।

विभिन्न प्रकार की सरकारों के कार्यों की समीक्षा:

सरकार या राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में राजनैतिक विचारक एकमत नहीं रहे हैं । व्यक्तिवादी विचारक राज्य द्वारा न्यूनतम हस्तक्षेप में विश्वास करते हैं । उनकी दृष्टि में वह राज्य सबसे अच्छा है जो व्यक्ति के कार्यों में कम से कम दखल देता है। यहाँ तक कि ये लोग राज्य को एक अवांछनीय संस्था मानते हैं,परन्तु फिर भी ये समझते हैं कि राज्य मानवजाति के लिए आवश्यक है । अतएव राज्यको उन्होंने आवश्यक बुराई की संज्ञा दी है । दूसरा वर्ग समष्टि वादियों का है । उनके अनुसार राज्य को अधिकतम हस्तक्षेप का अधिकार है । उनका कहना है कि यही एक ऐसा रास्ता है जिससे मानवजाति को सामाजिक न्याय प्राप्त हो सकता है । आदर्शवादी विचारक राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हैं और इस कारण राज्य द्वारा अधिकाधिक हस्तक्षेप में विश्वास करते हैं । अराजकतावादी विचारकों के अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के विकास में बाधक होता है । इसलिए वे राज्य के विरोधी हैं ।

इस प्रकार अनेक विद्वानों ने राज्य के कार्यों को विविध ढंग से रखने का प्रयास किया है । किन्तु, वास्तविकता यह है कि राज्य के कार्यों की कोई निश्चित सूची बनाना संभव नहीं है । इस संबंध में दो बातों पर ध्यान जाता है । प्रथमतः प्रत्येक युग में राज्य के कार्य एक से नहीं रहे हैं । युग के अनुसार उनमें परिवर्तन हो रहा है । दूसरे

प्रत्येक देश की भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ एक सी नहीं होती । अतएव विभिन्न राज्यों के कार्यों में भी अन्तर होता है । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से आधुनिक राज्य के कार्यों को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है-राज्य के अनिवार्य कार्य और राज्य के ऐच्छिक कार्य ।

राज्य के अनिवार्य कार्य:

राज्य के अनिवार्य कार्यों से आशय उन कार्यों से है जिन्हें राज्य सदा से करता आया है और जिनके पूरे किये बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है । इन कार्यों में राज्य में शांति, व्यवस्था, आन्तरिक तथा बाह्य सुरक्षा मुख्य है । राज्य के प्रमुख अनिवार्य कार्य निम्नलिखित है :

शांति और व्यवस्था :

राज्य की आंतरिक शांति और व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य हैं । राज्य में नागरिकों को घूमने-फिरने, सभा करने, आजीविका प्राप्त करने इत्यादि अनेक अधिकार होते हैं । परन्तु समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो इन अधिकारों के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करते हैं । लोगों का जीवन व सम्पत्ति खतरे में पड़ जाती है । ऐसे असामाजिक तत्वों का दमन कर शांति और व्यवस्था बनाये रखना राज्य का प्रधान कर्तव्य है । राज्य पुलिस और सेना की सहायता से समाज में शांति और व्यवस्था का प्रबन्ध करता है । राज्य अपराधों को रोकता है, अपराधियों को गिरफ्तार कर उन्हें दण्ड दिलवाता है तथा वे अन्य कार्य करता है जिनसे समाज का जीवन सुखी और शांतिमय हो जाय ।

देश की रक्षा करना :

कभी-कभी एक देश दूसरे देश पर आक्रमण कर उसके कुछ प्रदेश या सारे राज्य को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयास करता है । इसलिए आत्मरक्षा प्रत्येक राज्य का सर्वप्रधान कार्य होता है । बाहरी आक्रमण से रक्षा करने की दृष्टि से राज्य सेना आदि रखता है । सेना का कार्य देश को बाह्य आक्रमण से रक्षा करना होता है। इस प्रकार बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना राज्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अभाव में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है ।

न्याय और दण्ड की व्यवस्था करना :

सरकार के प्रधान तीन अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । व्यवस्थापिका कानून बनाती है, कार्यपालिका उन कानूनों का जनता से पालन करवाती है और न्यायपालिका उन कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है । राज्य को अपने इस कार्य की गुणता को समझते हुए न्याय

का समुचित प्रबन्ध करना चाहिए । उसे इस बात का प्रयास करना चाहिए कि न्याय सस्ता और निष्पक्ष हो । न्याय के साथ दण्ड भी सम्बद्ध है । दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध नही होना चाहिए अपितु इसका उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए ।

वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन :

प्रत्येक देश दूसरे देशों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करता है । वह दूसरे देशों में अपने राजदूत भेजता है और दूसरे देशों के राजदूतों को अपने देश में रखता है । आपसी झगड़ों की मध्यस्थता द्वारा, सुलझाने का प्रयत्न करता है । दूसरे देशों के साथ सांस्कृतिक एवं आर्थिक समझौते करके राज्य अन्तराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देता है ।

अधिकार तथा कर्तव्य सम्बन्धी कार्य :

नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करने का काम भी राज्य के आवश्यक कार्य माना जाता है । इसके अन्तर्गत राज्य अपने नागरिकों को अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्रदान करता है और उनके कर्तव्यों का स्पष्टीकरण करता है । सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए अधिकार एवं कर्तव्यों की सीमा बाधना परम आवश्य होता है । इसलिए कोई भी राज्य इस कार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।

मुद्रा सम्बन्धी कार्य:

मुद्रा विनिमय का सर्वोत्तम और आज के युग में सर्वाधिक प्रचलित माध्यम है। मुद्रा व्यवस्था के द्वारा ही किसी देश की साख का परिचय मिलता है । मुद्रा के द्वारा ही राज्य अपनी आर्थिक नीति को सुनिर्देशित करता है । मुद्रा के द्वारा ही आंतरिक तथा वैदेशिक व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है । यही कारण है कि आधुनिक युग के प्रत्येक राज्य मुद्रा प्रबन्ध को अपने ही हाथों में रखकर उसे सुव्यवस्था प्रदान करने का प्रयास करते हैं ।

कर लगाना एवं वसूलना :

राज्य की आय के अनेक स्रोत होते हैं । इन स्रोतों में कर संग्रह प्रमुख है। राज्य की रूपरेखा, उनका अनुपात तथा उनकी दर निश्चित करता है । वह निर्धारित करता है कि किन नागरिकों से, किस समय और कितनी राशि कर के रूप में लेनी चाहिए । कर-निर्धारण तथा कर संग्रह के कार्य का सम्पादन किन लोगों द्वारा किस रूप में होना चाहिए । यह कार्य भी राज्य द्वारा ही निश्चित किया जाता है ।

ऐच्छिक कार्य: राज्य के ऐच्छिक कार्य उन कार्यो को कहते है जिनका करना या न करना राज्य की इच्छा पर निर्भर है और जिनके न करने से राज्य का अस्तित्व

समाप्त नही होता है । इसीलिये राजनीतिक शब्दावली मे इन्हे ऐच्छिक कार्य कहते है। राज्य के ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि कार्य आते हैं । ये कार्य नागरिक स्वयं भी कर सकते हैं और किसी सीमा तक करते भी हैं किन्तु राज्य के सहयोग के बिना वे इन कार्यो को उतनी अच्छी तरह नही कर सकेंगें जितना कि अपेछित होता है । राज्य के कार्यो का अध्ययन संक्षेप मे निम्नलिखित रूप में कर सकते है -

शिक्षा का प्रबन्ध :

शिक्षा राष्ट्रीय विकास की आधारशिला होती है । शिक्षा की इस महत्ता के कारण प्रत्येक सभ्य राज्य शिक्षा विकास तथा संगठन का प्रयास करते हैं । इस कार्य की पूर्ति के लिए राज्य, प्रयोगशाला, शोधशाला, वाचनालय, संग्रहालय इत्यादि की व्यवस्था करता है । इसके लिए राज्य स्वतः शिक्षण संस्थाएं स्थापित करता तथा उनका संचालन करना और राज्य के नागरिकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देता है ।

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध :

राष्ट्र के सम्यक विकास के लिए स्वस्थ्य एवं मेधावी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है । जिस राज्य के नागरिक स्वस्थ्य नहीं होते, उस राज्य का, विकास नहीं हो पाता । अतः राज्य नागरिकों के स्वास्थ्य एवं सफाई की ओर पूरा ध्यान देता है । वह बीमारियों की रोकथाम करता है, खाद्य पदार्थों में मिलावट को रोकता है एवं हानिकारक वस्तुओं के प्रयोग पर रोक लगाता है । राज्य अपने नागरिकों की उचित चिकित्सा का कुछ न कुछ प्रबन्ध अवश्य करता है । वह अच्छे चिकित्सालयों की स्थापना करता है जहाँ निःशुल्क उपचार और चिकित्सा की व्यवस्था रहती है । एक अच्छे राज्य का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की ओर पूरा ध्यान दे ।

यातायात एवं संवहन के साधनों का विकास :

यातायात एवं संवहन के साधन किसी राज्य की शिराओं या धमनियों की भांति होते हैं । समुचित आवागमन एवं संवहन के साधनों के बिना कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता है । इसलिए प्रत्येक राज्य रेल, तार, डाक, वायुयान, नौ-परिवहन इत्यादि का विकास करता है । आधुनिक युग में इन साधनों के विकास के अभाव में राष्ट्र की आर्थिक उन्नति ही असंभव है ।

कृषि का विकास :

प्रायः प्रत्येक राष्ट्र में किसी न किसी सीमा तक कृषि का कार्य किया जाता है। कृषि के उत्पादन पर ही बहुत कुछ राष्ट्र की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति अवलम्बित होती है । अतएव प्रत्येक राज्य कृषि के विकास का पूरा प्रयास करता है । क्योंकि राज्य कृषि की उपेक्षा कर आत्मनिर्भर नहीं हो सकता और उसे अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । इसलिए आज के युग में कोई भी राज्य कृषि की उपेक्षा नहीं कर सकता ।

उद्योग-धन्धों तथा व्यापार का विकास :

राज्य के ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों तथा व्यापार का विकास भी सम्मिलित है । वास्तव में किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास के द्वारा ही समाज की चतुर्मुखी प्रगति हो सकती है । इसलिए राज्य को चाहिए की वह उद्योग-धन्धों तथा व्यापार का समुचित विकास करे जिससे कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, लोगों का जीवन ऊँचा हो । यही नहीं, उसे चाहिए कि राज्य में किसी का आर्थिक शोषण न कर सके और लोगों की आय में विशेष अन्तर न हो ।

श्रमिकों के हितों की रक्षा :

आज का युग औद्योगिक युग है । ऐसे युग में औद्योगिक संस्थाओं में काम करने वालों की संख्या काफी होती है । प्रायः पूँजीपति अनेक प्रकार से श्रमिकों का शोषण करते हैं । इसलिए प्रत्येक प्रगतिशील राज्य श्रमिकों के काम के घण्टे, उनकी छुट्टियाँ, वेतन भत्ता, अवकाश इत्यादि से सम्बन्धित श्रम कानून का निर्माण करता है । श्रमिकों के मनोरंजन का प्रबन्ध करता है और उनके हितों की हर दृष्टि से सुरक्षा करता है ।

लोक कल्याण के कार्य:

प्रत्येक राज्य अनेक प्रकार के लोक कल्याण के कार्य करते हैं । वे महिलाओं के कल्याण, शिशुओं के कल्याण, अपाहिजों के कल्याण, वृद्धों के कल्याण, इत्यादि के लिए कानून का निर्माण कर उनकों आवश्यक सुविधाएं देने का प्रयास करते हैं । अनेक राज्यों में अपाहिजों को भोजन, वस्त्र तथा वृद्धों को पेंशन देने की व्यवस्था होती है । इससे उस राज्य में रहने वाले नागरिकों का जीवन सुखमय होता है ।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य या सरकार के अनेक कार्य होते हैं जिनकी चर्चा इस छोटे से निबन्ध में कर पाना असंभव है । राज्य के कार्यों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनको किसी निश्चित सीमा या परिधि में बांधना अत्यन्त कठिन

है । राज्य के वे सभी कार्य हैं, जिनसे उसमें रहने वाले नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ सके । आज के युग में राज्य के कार्यों की सीमा में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन आ गया है । सभ्यता के विकास के साथ ही राज्य के कार्यों में भी वृद्धि होती जा रही है। वास्तव में राज्य के उद्देश्य में सम्पूर्ण समाज का कल्याण होना चाहिए । इसी से उस राज्य की प्रगति एवं विकास संभव है । साथ ही, उसमें विकास करने वाले नागरिकों का जीवन भी उन्नतिशील हो सकता है ।

गांधी जी की कल्पना का आदर्श राज्य पूर्णतः अहिंसक राज्य की धारणा पर आधारित है । किन्तु, अहिंसक राज्य की रूप रेखा के सम्बन्ध में उन्होंने किसी सुव्यवस्थित अथवा क्रमबद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है । इससे सम्बन्धित गांधी जी के विभिन्न विचार उनके असंख्य भाषणों तथा लेखों में ही बिखरे पड़े हैं । यही कारण है कि उनके राज्य सम्बन्धी विचार पाश्चात्य विचारकों के विचारों से मेल नहीं खाते हैं । वास्तव में उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन की विवेचना करके तथा उसकी कमियों को ध्यान में रखते हुए एक अहिंसात्मक राज्य की स्थापना का चित्र खींचा । इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि उन्होंने जान बूझ कर ऐसे शासन तंत्र की प्रकृति के सम्बन्ध में अपने निश्चित विचार नहीं व्यक्त किये हैं, जो कि एक अहिंसक समाज व्यवस्था पर आधारित है; क्योंकि जब हमारा समाज अहिंसा के निश्चित नियमों पर साकार बनाया जायेगा तो यह भी निश्चित है कि जो राज्य का स्वरूप होगा वह आज के स्वरूप से पूर्णरूपेण भिन्न होगा । किन्तु वे राज्य के उस स्वरूप को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है कि अहिंसा पर आधारित शासन तंत्र कैसा होगा ।[1]

यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने हिन्दु स्वराज्य में लिखा है-''अहिंसक राज्य की निश्चित रूपरेखा तो प्रस्तुत नहीं की जा सकती, किन्तु सामान्य जन की आत्मशक्ति अर्थात अहिंसा की प्रकृति ही उसके विकास को निश्चित बनाती है । किसी प्रजा को वैसा ही राज्य मिलता है जिसे पाने की योग्यता उसमें होती है । राज्य का स्वरूप तो केवल जनता के नैतिक स्तर की मूर्त अभिव्यक्ति मात्र होता है । इस प्रकार यदि जनता सच्चे अर्थ में अहिंसक न हो तो ऊपर से लोकतांत्रिक दिखाई देने वाले संविधान के अधीन भी शोषण और हिंसा विद्यमान रहते हैं । जैसा कि अधिकतर पश्चिमी देशों में देखने को मिलता है । वास्तव में ज्यों ही जनता आत्मनियंत्रण प्राप्त कर लेती है, सत्याग्रह की पद्धति पर अधिकार प्राप्त कर लेती है तथा आपस में स्वेच्छा से सहयोग करना और शोषक के साथ असहयोग करना सीख लेती है, त्यों ही अहिंसा के आचरण की गौंण उपज के रूप में अहिंसक राज्य अपने आप जन्म ले लेता है ।[2]

इस प्रकार गांधी जी ने नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की अवधारणा का प्रतिपादन किया । नैतिकता अपने उद्भव की दृष्टि से न केवल राज्य वरन् व्यक्ति

1 हरिजनः 11.2: 1939, पृष्ठ 8

2. गांधी : हिन्द स्वराज्य, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1962, पृष्ठ 95

की भी मौलिक समस्या है । इस परिप्रेक्ष्य में राज्य को व्याख्यापित करने के लिए मनुष्य और राज्य की प्रकृति और इन दोनों के मध्य अर्न्तसम्बन्ध का विवेचन आवश्यक है ।

मनुष्य और राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार का स्रोत उनका धर्म और आध्यात्मिक चिन्तन है । इसी चिन्तन से गांधी जी के सत्य की नैतिक अवधारणा निर्गत होती है । अर्थात् एक मनुष्य को मानव होने के नाते क्या करना चाहिए? यह भी कहा जा सकता है कि राज्य की उनकी समस्त अवधारणा एक प्रकार से राजनीतिक और सामाजिक जीवन में इन्हीं नैतिक तत्वो को लागू करने से सम्बन्धित है ।

अतः आदर्श राज्य की समीक्षा में मानव प्रकृति की समीक्षा समीचीन हो उठती है ।

मानव प्रकृति का विश्लेषण करना राजनीतिक विचार का मुख्य विषय रहा है। पाश्चात्य चिन्तनधारा में प्लेटो, अरस्तू से लेकर मेकियावली, हाब्स, लॉक, रूसो, मार्क्स आदि सभी विचारकों के दर्शन का मूलाधार मानव स्वभाव का विश्लेषण ही रहा है । अरस्तू ने मनुष्य को स्वभाव से ही एक राजनैतिक प्राणी मानते हुए राज्य को मनुष्य के लिए अपरिहार्य माना है, तो सेन्ट आगस्टाईन जैसे विचारकों ने तो मनुष्य को स्वभाव से ही अपूर्ण माना और मनुष्य की पूर्ण मुक्ति को एक ईश्वरीय राज्य में ही सम्भव बताया है । हाब्स ने मानव-स्वभाव को अत्यधिक झगड़ालू तथा अविवेकपूर्ण माना, जबकि लॉक, रूसो, मिल और काम्ट ने व्यक्ति को मूलतः विवेकपूर्ण आत्महित की अवधारणा पर आधृत अच्छा प्राणी मानते हुए राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकार किया है । हीगल ने तो व्यक्ति को एक बौद्धिक जीव ही बताया और इसी परिप्रेक्ष्य में इन दार्शनिकों ने अपने राज्य सम्बन्धी विचारों की विवेचना की है ।

गांधी जी के अनुसार मनुष्य मूलतः एक नैतिक प्राणी है ।[1] नैतिक मूल्यों से ओत-प्रोत गांधी जी के राज्य-विषयक अवधारणा के मूल में व्यक्ति का स्थान प्रमुख है। व्यक्ति अथवा आत्मा उनके विचारों का मुख्य केन्द्र है तथा यही उनके आदर्श राज्य की प्रमुख इकाई है । वैयक्तिक गुणों की महत्ता के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि व्यक्ति विवेक, विभिन्नता में चयन तथा स्वतंत्र संकल्पनात्मक शक्ति रखता है; वह पशु से इन्हीं गुणों के कारण भिन्न हो जाता है । जहाँ पशु मात्र संवेगों तथा प्रवृत्तियों के द्वारा निर्देशित होता है वहाँ मनुष्य विवेक और हृदय के सूक्ष्मतम गुणों के द्वारा भी संचालित हो सकता है ।[2] इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यह सत्य है कि मनुष्य में पाश्विक प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही होती है और इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण वह हिंसा आदि कृत्यों में लगा रहता है, परन्तु उसमें यह क्षमता भी होती है कि वह अपने भीतर छुपे सत्य को पहचाने और निरन्तर उसका अनुगमन करे ।[3]

1. हरिजनः 1946, पृष्ठ 46
2. हरिजन :1936, पृष्ठ 322
3. हरिजन : 1938, पृष्ठ 65

गांधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इस प्रकार के पूर्ण नैतिक स्वरूप को प्राप्त करने की क्षमता होती है ।[1] इस प्रकार गांधी जी का आग्रह था कि व्यक्ति स्वयं साध्य है साधन नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में अपने मस्तिष्क के प्रयोग के द्वारा अपनी शक्तियों को समझने की क्षमता होती है और उसके पास वह हृदय भी है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तियों में विश्वास स्थापित कर सके ।[2]

वास्तव में गांधी जी मानव- विकास और मानव-प्रगति की उस दिशा की ओर संकेत करते हैं जो, व्यक्ति को पूर्णता की ओर उन्मुख करे । इस सम्बन्ध में उनकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा अत्यन्त व्यापक और सर्वग्राही है । वे सत्य के साथ ईश्वर का सामुच्य स्थापित करते हैं । प्रारम्भ में वह कहा करते थे कि-''ईश्वर सत्य है'' तत्पश्चात वह इस बात पर बल देने लगे कि ''सत्य ही ईश्वर है''[3] उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी तत्व है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की भाँति ही मानव-मात्र में अन्तर्निहित है । इस प्रकार ईश्वर का एक अंश होने के कारण मनुष्य की प्रकृति भी मूलतः नैतिक है । प्रेम सहयोग और परोपकारिता के सद्‌गुण उसमें स्वभावतः विद्यमान होते हैं । यद्यपि गांधी जी यह स्वीकार करते थे कि व्यक्ति में सद् एवं असद् दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रण होता है, परन्तु उनका यह विश्वास था कि मानव प्रकृति की नैतिक विशेषताएँ और उसके सद्‌गुण उसकी असद्‌वृत्तियों पर अंकुश रखते हैं । अतः मनुष्य के यथासम्भव अधिकतम नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होने के सामर्थ्य में उनका दृढ़ विश्वास था। गांधी जी के अनुसार व्यक्ति का चरम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार करना है । इसके लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है और आत्मशुद्धि के लिए एक नैतिक अनुशासन आवश्यक है । नैतिक अनुशासन के लिए गांधी जी ने पाँच संकल्प बताए हैं-सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह ।[4] इन नियमों के द्वारा व्यक्ति अपनी मातदवृत्तियों को अनुशासित कर सकता है ।

गांधी जी के ये पाँच संकल्प वास्तव में पातँजलि द्वारा निवद्ध पंचयम ही है । जिसे उपनिषद, बौद्ध, जैन आदि भी स्वीकार करते हैं । गांधी जी ने इन्हीं परम्परागत पाँच संद्‌गुणों को स्वीकार करते हुए अपने अध्ययन और अनुभव के अनुसार उनकी व्याख्या की है, ताकि देश-काल और परिस्थिति के अनुसार उनका जीवन में व्यवहार हो सके । इन महाव्रतों या अन्य किसी सिद्धान्त का पूर्ण आचरण करने के लिए गांधी जी ने ''मनसा, वाचा, कर्मणा'' के सिद्धान्त का समर्थन किया । विचार, वाणी और

1. यंग इंडिया : भाग 3, पृष्ठ 517
2. अय्यर, राघवन : दी मारल एण्ड पोलिटिकल थाट आफ महात्मा गांधी, भाग-2, कलैरन्डन प्रेस, आक्सफोर्ड, 1986, पृष्ट 100
3. बापू के पत्र मीरा के नामः (26.05. 1932), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1949, पृष्ठ 153
4. गाँधी, मदन गोपाल : गांधी और मार्क्स, मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक, 1982, पृष्ठ 18-20

व्यवहार में शुद्धता लाये बिना जीवन शुद्ध नहीं हो सकता। चूँकि सत्य ही ईश्वर है, इसलिए मनुष्य को जो भी सत्य लगे उसे मन, वचन और कर्म से पालन करे ।[1] गांधी जी अपने आपको सत्य रूपी परमात्मा का पुजारी मानते हुए कहते हैं-"मेरी दृष्टि में वही एक मात्र सत्य है, दूसरा सब मिथ्या है ।"[2] अहिंसा को गांधी जी ने सत्य की प्राप्ति में साधन के रूप में माना है ।[3]

अब गांधी जी द्वारा व्याख्यादित ब्रह्मचर्य, अस्तेय अपरिग्रह, अभय आदि गुणों द्वारा मानवप्रकृति का निरुपण करना भी यहाँ अपरिहार्य है ।

सामान्यतः "ब्रह्म" का अर्थ "ईश्वर" और "वेद"-दोनों से होता है; और इस अर्थ में ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है "इन्द्रिय निग्रह" । गांधी जी द्वारा ब्रह्मचर्य की कल्पना इन्ही प्राचीन आदर्शों एवं अपने अनुभव पर आधारित है । उनके विचार में "ब्रह्मचर्य" एक अनुशासन है जो हमें ब्रह्म की अनुभूति कराता है ।[4] ब्रह्मचर्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की-सत्य की-साधना में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार । अतः सभी इन्द्रियों पर संयम रखना उन्होंने अत्यन्त आवश्यक माना ।[5] अतःपूर्ण आत्म नियंत्रण, अर्थात् आत्मा को इन्द्रयातीत कर परमब्रह्म या परमसत्य से तादात्मीकरण ही ब्रह्मचर्य है । मन को वश में करना कठिन है फिर भी इसकी सम्भावना में विश्वास रखते हुए वे कहते है-"जब तक विचारों पर इतना अंकुश प्राप्त नहीं होता कि इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य स्मपूर्ण नहीं कहा जा सकता । विचार मात्र विकार है । उन्हें वश में करने का मतलब है, मन को वश में करना, और मन को वश में करना तो वायु को वश में करने से भी कठिन है । फिर भी यदि आत्मा है, तो यह वस्तु भी साध्य है ।[6]

गांधी जी के अनुसार अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना और जब तक कोई वस्तु किसी के द्वारा हमको दी न जाये, उसे नहीं लेना । परन्तु अनावश्यक ही किसी वस्तु का अनुमति से लेना भी चोरी के सदृश्य है । मनुष्य अपना जीवन निर्वाह करने के निमित्त जो बहुत ही आवश्यक हो, उसे प्राप्त करता रहे-यही उचित है, किन्तु इसके विपरीत बाह्य और मानसिक अथवा शारीरिक श्रम की चोरी उचित नहीं है ।[7]

---

1. दत्त, धीरेन्द्र मोहन : महात्मा गांदी का दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973, पृष्ठ64-65
2. सुमन, रामनाथ : (सम्पादक) : अहिंसा और सत्य, गाँधी स्मारक निधि, वाराणसी, 1949, पृष्ठ153
3. गांधी जी : मंगल प्रभात, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1955 पृष्ठ 7-9.
4. हरिजन : 1947, पृष्ठ 200
5. हरिजन :1936, पृष्ठ 208
6. गांधी : आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1987, पृष्ठ 181-82
7. देसाई, वी० जी०(अनुवादित): यर्वदा मंदिर, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1932, पृष्ठ31-35.

वस्तुतः अस्तेय और अपरिग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू है । वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी की ही चीज हो जाती है । अपरिग्रह को गांधी जी ने ईश्वर का नियम माना है क्योंकि ईश्वर संग्रह नहीं करता, बल्कि अपने उपयोग की वस्तुओं को रोज उत्पन्न करता है । इसलिए यदि हमें उन पर दृढ़ विश्वास हो तो हमें भी इसे समझना चाहिए ।[1]

गांधी जी की यह धारणा थी कि व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए शारीरिक और सांस्कृतिक सुविधाओं की एक सीमा तक आवश्यकता है । व्यक्ति को इनसे आगे नहीं जाना चाहिए । क्योंकि आवश्यकताओं की वृद्धि से व्यक्ति की विलासिता बढ़ेगी और इससे उसके विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न होंगी।[2] इसलिए गांधी जी ने कहा है कि हमारी रोजमर्रा की जरूरत के लिए प्रकृति काफी चीजे उत्पन्न करती है और यदि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए आवश्यकता से ज्यादा न ले, तो इस संसार में न तो दरिद्रता रहेगी और न कोई भूख से मरेगा ।[3]

गांधी जी व्यक्ति को समस्त नियत्रण से मुक्त कर अहिंसात्मक शोषण-रहित नीति मूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे । सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार व्यक्ति में स्वनैतिक गुणों का विकास है । वस्तुतः गाँधी जी नैतिक अर्थ में व्यक्तिवादी प्रतीत होते हैं, न कि आर्थिक अर्थ में । सभी मनुष्य की आध्यात्मिक एकता में विश्वास करते हुए गांधी जी कहते हैं- "यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान होता है तो उसके साथ समस्त विश्व का उत्थान होता है और यदि एक व्यक्ति का पतन होता है तो उस सीमा तक सम्पूर्ण विश्व का पतन होता है । क्योंकि जब समान दैवी सत्ता सभी मानवों में निवास करती है तो एक व्यक्ति का हित कभी भी दूसरे के विपरीत नहीं होगा । वस्तुतः आत्म साक्षात्कार का अभिप्राय है समस्त का आत्म साक्षात्कार ।[4]

इस प्रकार स्वनैतिक गुणों के विकास के लिए गांधी जी स्व-नियंत्रण और स्व-शासन पर बल देते हैं । नैतिकता की प्राप्ति ही "स्वतंत्र" होना है, और वास्तविक स्वतंत्रता स्व-नियंत्रण और स्व-शासन है । स्वतंत्रता बंधनों का अभाव नहीं, बल्कि उन कार्यों को करने की प्रेरणा है जो मानव को मानव गरिमा प्रदान करती है । स्वशासन एवं स्व-नियंत्रण के आधार पर ही स्वराज्य प्राप्त हो सकता है, और स्वराज्य ही रामराज्य है ।

कहना न होगा कि रामराज्य के निर्माण में ही गांधी जी ने स्वतन्त्रता, समानता, वर्ण-व्यवस्था, शारीरिक श्रम, खादी आदि अवधारणाओं की समीक्षा की । उनकी समझ

---

1. हरिजनः पृष्ठ 23
2. हरिजनः 1936 पृष्ठ 226
3. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ महात्मा गांधी; नारिगन एण्ड कम्पनी, मद्रास, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ 384
4. गाँधी विचार रत्नः खण्ड-2, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 37

थी कि इन अवधारणाओं की अभिव्यक्ति ही "स्वराज्य" एवं "रामराज्य" है । इन अवधारणाओं का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा, ताकि स्वराज्य की धारणा में निहित मूल तत्वों को जाना जा सके ।

गांधी जी की दृष्टि में अपनी ही विवेक सम्मत इच्छा एवं अन्तर्चेतना की आवाज के अनुसार कार्य करने में "स्वतंत्रता" निहित है । दूसरों की इच्छा से निर्देशित होना परतन्त्रता है । इसी अर्थ में वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बहुमूल्य मानते थे, और इसे ही वह आदर्श राज्य रूपी मेहराब की नींव का पत्थर समझते थे । वह व्यक्ति के सर्वोच्च व स्वतंत्र विकास के द्वारा ही आदर्श राज्य की प्राप्ति सम्भव समझते थे । उनके शब्दों में-"मेरे लिए स्वतंत्रता का अर्थ स्वराज्य से है, जो हमारे देशवासियों के लिए सबसे अच्छा है ।[1]

गांधी जी ने व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया । इस सम्बन्ध में उनका विचार था-"यदि वैयक्तिक स्वतंत्रता चली जाती है, तो निश्चित रूप से सब कुछ चला जाता है; क्योंकि यदि व्यक्ति किसी गिनती में नहीं रहता, तो समाज का फिर क्या बचता है ? केवल वैयक्तिक स्वतंत्रता ही व्यक्ति को समाज की सेवा में स्वेच्छा से समर्थन करने के लिए प्रेरित कर सकती है । यदि उससे यह स्वतंत्रता छीन ली गई, तो यह एक यंत्र मात्र बन जाता है और समाज बरबाद हो जाता है । वैयक्तिक स्वतंत्रता के अभाव के आधार पर किसी भी समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। यह स्थिति मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है ।[2]

गांधी जी की धारणा थी कि बाह्य एवं आन्तरिक स्वतंत्रता एक दूसरे से अर्न्तसम्बन्धित है । जब तक व्यक्ति अपने निम्न इच्छाओं के दासत्व से मुक्त नहीं होगा, वह स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता । राज्य केवल हमारे बाह्य आचरण को प्रतिबन्धित कर हमारी बाह्य स्वतंत्रता की सुरक्षा करता है । किन्तुं बाह्य स्वतंत्रता निरर्थक है जब तक कि आन्तरिक स्वतंत्रता न प्राप्त हो सके ।

गांधी जी का विश्वास था कि स्वतंत्रता के अभाव में व्यक्ति की उन्नति का मार्ग भी अवरूद्व हो जायेगा और "रामराज्य" की स्थापना न हो सकेगी । अतः वे मानव के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देते हैं । किन्तु साथ ही वह सामाजिक अनुशासन व वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ ही वह सामाजिक अनुशासन व वैयक्तिक स्वतंत्रता के सामंजस्य के प्रति भी सतर्क थे । व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में उन्होंने व्यक्ति की भलाई में ही समाज की भलाई का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । वस्तुतः व्यक्ति व समाज में एक समन्वय स्थापित करते हुए उन्होंने कहा है-"मैं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कद्र करता हूँ; परन्तु आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मुख्यतः एक सामाजिक प्राणी है । अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति

1. यंग इंडिया : वाल्यूम दो, पृष्ठ 602
2. हरिजन : 1-2-1942, पृष्ठ 27

की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना सीख कर वह अपने मौजूदा ऊँचे दर्जे पर पहुँचा है। अनियंत्रित व्यक्तिवाद जंगली जानवरों का कानून है । हमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा । सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज-जिसका वह सदस्य है-दोनों को समृद्ध करता है ।''[1] वास्तव में स्वतंत्रता एक सामाजिक आवश्यकता है।"

व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए पुनः गांधी जी ने कहा "हर एक मनुष्य को अपनी शक्तियों का इस तरह उपयोग करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि जिससे उसके पड़ोसियों की वैसी ही स्वतंत्रता में कोई बाधा न पड़े और उनकी उस स्वतंत्रता के साथ उनकी स्वतंत्रता रह सके । लेकिन उन शक्तियों से प्राप्त होने वाले लाभों का मनमाना उपयोग करने की किसी को भी अधिकार नहीं है । हर एक आदमी अपने राष्ट्र का अथवा यों कहिए कि अपने आस पास के समाज का एक अंग है । इसलिए वह अपनी शक्तियों का केवल अपने लिए नहीं, बल्कि जिस समाज का वह अंग है और जिसके सहारे वह जी सकता है उसके लिए भी उपयोग करे।[2]

गांधी जी व्यक्ति के स्वनैतिक गुणों के विकास के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता को महत्वपूर्ण मानते हैं । स्पष्टतः मानव स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य स्वच्छन्दता या उच्छृखलता से नहीं था बल्कि वे बाह्य स्वतंत्रता से अधिक अभ्यान्तरिक स्वतंत्रता के समर्थक हैं । गांधी जी के मत में प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगिण विकास तभी संभव है, जबकि व्यक्ति को आवश्यक सामाजिक अंकुश के साथ पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता दी जाय । जो व्यक्ति स्वतंत्रता का दुरुपयोग करे, उन्हें विचार परिवर्तन द्वारा अथवा समझाकर और यदि वे किसी प्रकार न माने तो अन्ततः सत्याग्रह द्वारा सही रास्ते पर लाया जा सकता है । अतः गांधी जी के विचार में "सर्वोच्च कोटि की स्वतंत्रता के साथ सर्वोच्च कोटि का अनुशासन और विनय आवश्यक है । अनुशासन और विनय से मिलने वाली स्वतंत्रता को कोई छीन नहीं सकता । संयमहीन स्वच्छन्दता संस्कार हीनता की द्योतक है; उससे व्यक्ति की अपनी और पड़ोसियों की भी हानि होती है ।[3]

इस प्रकार गांधी जी के स्वतंत्रता सम्बन्धी धारणा में समानता की भावना भी विद्यमान है और यह भी उनके आदर्श राज्य का एक आवश्यक तत्व है । वास्तव में गांधी जी विवेकपूर्ण समानता की स्थापना करना चाहते थे, जहाँ न्याय होगी । वे कहते हैं-"मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा । जीवन की जिन आवश्यकताओं

1. सर्वोदयः नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1963, पृष्ठ 61
2. हरिजन सेवकः 2.8.1942, पृष्ठ 237
3. यंग इंडिया : 3.5.1936 एण्ड गांधी, मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 17

का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही तुम्हें भी सुलभ होनी चाहिए; इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उनके जैसे महल होने चाहिए । सुखी जीवन के लिए महलों की कोई आवश्यकता नहीं।.......... लेकिन तुम्हें जीवन की वे सामान्य सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है । मुझे इस बात में बिल्कुल भी सन्देह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक वह तुम्हें ये सारी सुविधाएँ देने की पूरी व्यवस्था नहीं कर देता ।"[1]

उन्होंने कहा-"पूर्ण स्वराज्य .... कहने का आशय यह है कि वह जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसानों के लिए, जितना किसी धनवान जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतिहार के लिए, जितना हिन्दुओं के लिए होगा उतना ही मुसलमानों के लिए, जितना जैन, यहूदी और सिक्ख लोगों के लिए होगा उतना ही पारसियों और ईसाइयों के लिए । उसमें जाति-पाँति, धर्म अथवा दर्जे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा ।"[2]

मार्क्सवादियों के समान गांधी जी के आर्थिक समानता का सिद्धान्त यह है कि "क्षमता के अनुसार प्रत्येक से काम लिया जाये और आवश्यकता अनुसार प्रत्येक को दिया जाये ।"[3] उनके आदर्श राज्य अथवा रामराज्य में व्यक्ति सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से समान होगा । गांधी जी ने कहा-"समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि हर एक के पास पाँच एकड़ भूमि होनी चाहिए और एक ही तरह के मकान और उतना ही गज कपड़ा होना चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ जरूर है कि प्रत्येक के पास रहने के लिए मकान, पहनने के लिए पर्याप्त वस्त्र और भोजन के लिए पर्याप्त अन्न होगा। इसका यह भी अर्थ है कि जो धातक असमानता आज मौजूद है, वह केवल अहिंसक उपायों से ही नष्ट होगी ।"[4]

उन्होंने कहा-"आर्थिक समानता अहिंसापूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाबी है । आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ है पूँजी और मजदूरी के बीच के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना ।....... जब तक मुट्ठीभर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच असीम अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज्य-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती ।[5]

---

1. मेरे सपनों का भारत : पृष्ठ 10
2. यंग इंड़िया: 5.3.1931
3. हरिजन सेवक: 31.3.1946, पृष्ठ 63
4. हरिजन सेवक: 17.8.1940, पृष्ठ 225
5. गांधी : रचनात्मक कार्यक्रम, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद 1946, पृष्ठ 30

इस प्रकार समानता की भावना के मूल में गांधी जी की समाजवाद अथवा सर्वोदय की भावना ही विद्यमान है । वे कहते हैं- "हमे छोटे से छोटे मनुष्य के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा हम चाहते हैं कि दुनियाँ हमारे साथ करे ।[1] आदर्श राज्य की स्थापना में समानता को महत्वपूर्ण मानते हुए उन्होंने कहा-"किसी विचार की सफलता के लिए यह बात महत्वपूर्ण है कि हम समाज में जितनी समानता लाना चाहते हैं, उससे सौ गुनी समानता हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में पैदा करनी होगी । जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा, तब तक सफलता की कोई सम्भावना नहीं हो सकती ।[2] अतः व्यक्ति का नैतिक विकास आवश्यक है, जिसके अर्न्तगत प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थसिद्धि की अपेक्षा परस्पर प्रेम, सहयोग, दया आदि का पालन इच्छा से करेगा ।

प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा में अटूट विश्वास के कारण, यह स्वाभाविक ही है कि गांधी जी मानव-समानता पर आस्था रखते हैं । समानता को महत्व देते हुए भी गांधी जी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे और एक 'रामराज्य' के लिए इसे आवश्यक मानते थे । उनकी दृष्टि में आदर्श सामाजिक व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था लाभदायक है; क्योंकि इसके द्वारा इसका एक बड़ा लाभ यह है कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य मिल जाता है, तथा समाज अनुचित प्रतिद्वन्दिता से बच जाता है ।

गांधी जी का वर्ण-सिद्धान्त प्राचीन वैदिक वर्ण-सिद्धान्त पर आधारित है । इसका आधार राजनीतिक नहीं है । वह तो समूचे समाज के कार्यों की कल्पना के आधार पर की गई समाज के संगठन की एक व्यापक योजना है । इसके अतिरिक्त वर्ण-सिद्धान्त के अनुसार न तो किसी एक प्रकार के कार्य को नीचा समझा गया और न बुद्धि-जीवी वर्ग की श्रेष्ठता मानी गई है ।[3]

वे कहते हैं-मैं ऐसा मानता हूँ कि हर एक आदमी दुनियां में कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म लेता है । इसी तरह हर एक आदमी की कुछ निश्चित सीमायें होती हैं, जिन्हें जीतना उसके लिए शक्य नहीं होता इन सीमाओं के ही अध्ययन और अवलोकन से वर्ण का नियम निष्पन्न हुआ है । वह अमुक प्रवृत्तियों वाले अमुक लोगों के लिए अलग-अलग कार्यक्षेत्रों की स्थापना करता है । ऐसा करके उसने समाज में से अनुचित प्रतिस्पर्धा को टाला है । वर्ण का नियम आदमियों की अपनी स्वाभाविक सीमायें तो मानता है, लेकिन वह उनमें ऊँचे और नीचे का भेद नहीं मानता । एक ओर तो वह ऐसी व्यवस्था करता है कि हर एक को उसके परिश्रम का फल अवश्य मिल जाये, और दूसरी ओर वह उसे अपने पड़ोसियों पर भार रूप बनने से रोकता है । यह ऊँचा नियम आज नीचे गिर गया है और निंदा का पात्र बन गया है । लेकिन मेरा विश्वास है कि आदर्श समाज-व्यवस्था का विकास तभी किया जा सकेगा, जब इस नियम के रहस्यों को पूरी तरह समझा जायेगा और उन्हें कार्यान्वित किया जायेगा ।[4]

1. हरिजन : 17.11.1946, पृष्ठ 404
2. हरिजन सेवक: 24.8.1940
3. माथुर, प्रेम नारायण : गांधी ग्रन्थ, पृष्ठ 150
4. गाँधी : मेरे सपनो का भारत, पृ० 261-62

वस्तुतः गांधी के अनुसार-"वर्णाश्रम धर्म बताता है कि दुनियां में मनुष्य का सच्चा लक्ष्य क्या है । उसका जन्म इसलिए नहीं हुआ है कि वह रोज-रोज ज्यादा पैसा इकट्ठा करने के रास्ते खोजें और जीविका के नये-नये साधनों की खोज करे । उसका जन्म तो इसलिए हुआ है कि वह अपनी शक्ति का प्रत्येक अणु अपने निर्माता को जानने में लगा दे । इसलिए वर्णाश्रम-धर्म कहता है कि अपने शरीर के निर्वाह के लिए मनुष्य अपने पूर्वजों का ही धन्धा करे । बस, वर्णाश्रम धर्म का आशय इतना ही है ।[1]

इस प्रकार गांधी जी जन्म से श्रेणी भेद का काफी सम्बन्ध मानते थे । वे कहते थे-"......... लेकिन वर्ण को मैं अवश्य मानता हूँ । वर्ण की रचना पीढ़ी-दर-पीढ़ी के धन्धों की बुनियाद पर हुई है । मनुष्य के चार धंधे सार्वाधिक है-विद्याध्यन करना, दुःखी को बचाना, खेती तथा व्यापार और शरीर की मेहनत से सेवा । इन्हीं को चलाने के लिए चार वर्ण बनाये गये हैं । ये धंधे सारी मानव जाति के लिए समान हैं, पर हिन्दू धर्म ने उन्हें जीवन धर्म करार देकर उनका उपयोग समाज के सम्बन्धों और आचार-व्यवहार को नियमन में लाने के लिए किया है ।"[2] अतः वर्ण-व्यवस्था में समाज की चौमुखी रचना ही गांधी जी को असली, कुदरती और जरूरी चीज दिखती है ।[3]

उनका विचार था कि वृद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर श्रम समाज सेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है ।[4] एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा-"क्या मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम से अपनी आजीविका नहीं कमा सकते ? नहीं । शरीर की आवश्यकता शरीर के द्वारा ही पूरी होनी चाहिए ! केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही सन्तोष के लिए है । उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना चाहिए । आदर्श राज्य में डाक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे; अपने लिए नहीं । शारीरिक श्रम के धर्म का पालन करने से समाज में एक शान्ति क्रांति हो जायेगी ।"[5]

अतः गांधी जी ने शारीरिक श्रम की अनिवार्यता को बताते हुए स्पष्ट किया कि यदि शारीरिक श्रम समाज के किसी एक वर्ण द्वारा ही किया जायेगा तो उत्पादक श्रम के प्रति समाज में एक विकर्षण पैदा हो जायेगा । उनके विचार में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा शारीरिक-श्रम के धर्म का पालन किये जाने पर हम आदर्श सामाजिक व्यवस्था के बहुत निकट पहुँच जायेंगे ।[6]

"श्रम" व्यक्तित्व के विकास एवं आत्म-निर्भरता के लिए अपरिहार्य है; और "चरखा" व "खादी" आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता के पर्याय हैं । इसी सम्बन्ध में गांधी जी ने चरखे की उपयोगिता बताई है । वे लिखते हैं-"जब मैं सोचता हूँ कि यज्ञार्थ

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 262
2. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 263
3. यंग इंडिया : 8.12.1920
4. हरिजन : 1.5.1935
5. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 63
6. हरिजन : 5.7.1935

किये जाने वाले शरीर-श्रम का सबसे अच्छा और सबको स्वीकार्य रूप क्या होगा, तो मुझे कताई के सिवा और कुछ नहीं सूझता। मैं इससे ज्यादा उदात्त और राष्ट्रीय किसी दूसरी चीज की कल्पना नहीं कर सकता कि प्रतिदिन एक घण्टा हम सब कोई ऐसा परिश्रम करें; जो गरीबों को करना ही पड़ता है और इस तरह उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव जाति के साथ अपनी एकता साधें। मैं भगवान की इससे अच्छी पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि इसके नाम पर मैं गरीबों के लिए गरीबों की ही तरह परिश्रम करूँ। चरखा दुनिया के धन का अधिक समानतापूर्ण बँटवारा सिद्ध करता है।[1]

चरखे की महत्ता के सम्बन्ध में वे कहते हैं-"चरखे का सन्देश उसकी परिधि से कहीं ज्यादा व्यापक है। उसका संदेश सादगी, मानव सेवा, अहिंसामय जीवन तथा गरीब और अमीर, पूँजी और श्रम, राजा और किसान के बीच अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित करने का संदेश है।"[2]

इसी प्रकार गांधी जी के अनुसार खादी देश में आर्थिक स्वतंत्रता और समानता की प्रतीक है।[3] वे लिखते हैं-"मेरे विचार में खादी भारत की समस्त जनता की एकता की, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक है और इसलिए जवाहरलाल नेहरू के काव्यमय शब्दों में कहूँ तो वह "भारत की आजादी की पोशक है। फिर खादी वृत्ति का अर्थ है-जीवन के लिए जरूरी चीजों की उत्पत्ति और उनके बंटवारे का विकेन्द्रीकरण।"[4]

गांधी जी जहाँ अपनी आदर्श राज्य व्यवस्था की भूमिका के रूप में व्यक्ति की स्वतंत्रता समानता, वर्ण-धर्म सिद्धान्त तथा शारीरिक-श्रम के रूप में चरखे व खादी की आवश्यकता बताते हैं, वहीं उन्होंने राज्य विहीन समाज की प्राप्ति के लिए शिक्षा व अधिकार और कर्तव्यों की महत्ता भी बताई है।

गांधी जी का विश्वास था कि आत्मानुशासन और शिक्षण की विकसित प्रक्रिया द्वारा सत्य के सद्गुण, अहिंसा, आत्मसंयम और आत्मोत्सर्ग का विकास तब तक किया जा सकता है, जब तक कि जीवन नियमित नहीं हो जाता और राज्य की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। गांधी जी अहिंसक समाज रचना में शिक्षा का बहुत बड़ा महत्व मानते हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूरा पूरा विकास हो सके। यह तभी हो सकता है जब शिक्षा का जीवन के साथ पूरा-पूरा सामन्जस्य हो।

वे कहते हैं-"मेरी राय में तो इस देश में, जहाँ लाखों आदमी भूखों मरते हैं, वृद्धिपूर्वक किया जाने वाला श्रम ही सच्ची प्राथमिक शिक्षा या प्रौढ़ शिक्षा है।

1. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 121-22 और यंग इंडिया, 20-10-1921
2. यंग इंडिया : 17-11-1925, पृष्ठ 321
3. यंग इंडिया : 17-11-1925, पृष्ठ 321
4. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 158

अक्षर ज्ञान हाथ की शिक्षा के बाद आना चाहिए । हाथ से काम करने की क्षमता-हस्त कौशल ही तो वह चीज है, जो मनुष्य को पशु से अलग करती है । लिखना पढ़ना जाने बिना मनुष्य का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता, ऐसा मानना एक वहम ही है । इसमें कोई शक नहीं कि अक्षर-ज्ञान से जीवन का सौन्दर्य बढ़ जाता है, लेकिन यह बात गलत है कि उसके बिना मनुष्य का नैतिक, शारीरिक और आर्थिक विकास नहीं हो सकता ।[1]

उनका विश्वास था कि मनुष्य न तो कोरी बुद्धि है, न स्थूल शरीर है और न केवल हृदय या आत्मा ही है । सम्पूर्ण मनुष्य के निर्माण के लिए तीनों के उचित और एक रस मेल की जरूरत है । उनका विचार था कि व्यक्ति शरीर, मन और हृदय से सुशिक्षित होकर मानवता को अधिकाधिक सुख व आनन्द प्राप्ति की ओर अग्रसित कर सकेगा । उनके लिए नैतिकता के नियमों के पालन और प्रयोग की आवश्यकता बताई है, जिससे आदर्श राज्य स्थापित हो सके ।[2]

वास्तव में गांधी जी शिक्षा के द्वारा भी व्यक्ति का विकास करना चाहते थे । नैतिक गुणों के विकास के साथ ही मानव-स्वभाव को जब पूर्णतः अच्छा परोपकारी और शांतिप्रिय मान लिया जायेगा तो राज्य अनावश्यक हो जायेगा और राज्य विहीन समाज के परम लक्ष्य की परिकल्पना साकार हो सकेगी ।

गांधी जी का विचार था कि आदर्श-व्यवस्था में चूँकि राज्य नहीं होगा, इसलिए अधिकार जैसे किसी धारणा का विकास नहीं होगा । उस व्यवस्था में व्यक्ति के कर्तव्य ही प्रमुख होंगे, जिनका आधार नैतिकता है । गांधी जी ने कहा-"अहिंसा पर आधारित स्वराज्य में लोगों को अपने अधिकार का ज्ञान न हो तो कोई बात नहीं; लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए । हर एक कर्तव्य के साथ उसकी तौल का अधिकार जुड़ा हुआ होता ही है और सच्चे अधिकार तो वे ही हैं जो अपने कर्तव्यों का योग्य पालन करके प्राप्त किये गये हों । इसलिए नागरिकता के अधिकार सिर्फ उन्हीं को मिल सकते हैं, जो जिस राज्य में वे रहते हों, उसकी सेवा करते हों और सिर्फ वे ही इन अधिकारों के साथ पूरा न्याय कर सकते हैं ।........ जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा का पालन करता है, उसे प्रतिष्ठा मिलती है और इस प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उसे अधिकार मिल जाते हैं और जिन लोगों को अधिकार अपने कर्तव्यों के पालन के फलस्वरूप मिलते हैं वे उनका उपयोग समाज की सेवा के लिए ही करते हैं, अपने लिए कभी नहीं । किसी राष्ट्रीय समाज के स्वराज्य का अर्थ उस समाज के विभिन्न व्यक्तियों के स्वराज का योग ही है । और ऐसा स्वराज्य व्यक्तियों के द्वारा नागरिकों के रूप में अपने कर्तव्य के पालन से ही आता है । उसमें कोई अपने अधिकारों की

1. हरिजन सेवक, 13.3.1935, एवं गांधी, मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 196
2. हरिजन : 8-5-1935

बात नहीं सोचता । जब उनकी आवश्यकता होती है, तब वे उन्हें अपने-आप मिल जाते हैं और इस लिए मिल जाते हैं कि वे अपने कर्तव्य का सम्पादन ज्यादा अच्छी तरह कर सके ।[1]

उन्होंने अधिकार व कर्तव्यों की और स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है-''जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का उचित पालन करता है, उसे अधिकार अपने आप मिल जाते हैं, सच तो यह है कि एक मात्र अपने कर्तव्य के पालन का अधिकार ही ऐसा अधिकार है, जिसके लिए मनुष्य को जीना चाहिए और मरना चाहिए । उसमें सब उचित अधिकारों का समावेश हो जाता है।[2]

सत्य व अहिंसा पर आधारित कर्तव्य ही गांधी जी ने व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया है । क्योंकि उनके अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति का सच्चा स्रोत कर्तव्यों का पालन है । यदि व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे तो अधिकारों को ज्यादा ढूढने की जरूरत नहीं रहेगी । लेकिन यदि कर्तव्यों को पूरा किये बिना अधिकारों के पीछे दौड़ा जाये तो वह मृगमरीचिका के पीछे पड़ने जैसा ही व्यर्थ सिद्व होगा ।[3]

इस प्रकार गांधी जी के विचारों के उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके द्वारा कल्पित ''आदर्श राज्य'' या ''राम राज्य'' का प्रमुख आधार स्वशासित आत्मनियंत्रित व्यक्ति ही है । वास्तव में गांधी जी के कार्यों के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी नैतिक भावना ''सत्य'' व अहिंसा'' ही परिलक्षित होती है । व्यक्ति उनके आदर्श समाज की महत्वपूर्ण इकाई है । उनका विश्वास था कि मानव विवेकयुक्त और स्वभाव से अच्छा प्राणी है, अतः वैयक्तिक गुणों का विकास करके व्यक्ति, राज्य विहीन आदर्श व्यवस्था की स्थापना कर सकता है । उन्होंने स्पष्ट किया कि इस प्रकार के उच्च नैतिक गुणों का विकास बलपूर्वक नहीं किया जा सकता है, वे स्वतः आत्मप्रेरित होते हैं । अतः गांधी जी ने स्वनैतिक गुणों से बाधित व्यक्ति को राज्य-विहीन अहिंसात्मक समाज में प्रवेश कराते हुए राज्य के लोप की कल्पना की है । क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति इतना नैतिक होगा कि राज्य जैसी किसी संस्था की अनिवार्यता ही नहीं रह जाती ।

इस प्रकार गांधी जी आदर्श व्यवस्था में जिस राज्य-विहीन व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, उसके मूल में उनकी स्वराज्य या स्वशासन की भावना ही मुख्य रूप से विद्यमान है । पूर्ण स्वराज्य की स्थापना उनका प्रमुख लक्ष्य था । स्वराज्य शब्द का उल्लेख भारत के प्राचीन साहित्य वेद, उपनिषद आदि में मिलता है । इसमें ''स्व'' और ''राज्य'' दो शब्दों का योग है जिसका अर्थ है अपने ऊपर शासन करना । गांधी

---

1. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 12 और हरिजन : 25-3-1939
2. हरिजनः 27-5-1939
3. यंग इंडियाः 8-1-1925

जी कहते हैं-"स्वराज्य एक पवित्र शब्द है : वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म संयम है । अंग्रेजी शब्द "इंडिपेंडेन्स" अक्सर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी का स्वच्छंदता का अर्थ देता है, वह अर्थ स्वराज्य में नहीं है ।"[1]

पुनः वे लिखते हैं-"मेरे लिए हिन्द स्वराज्य का अर्थ सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है ।"[2] अगर स्वराज्य का अर्थ हमें राज्य बनाना और हमारी सभ्यता को अधिक शुद्ध तथा मजबूत बनाना न हो, तो वह किसी कीमत का नहीं होगा । हमारी सभ्यता का मूल तत्व ही यह है कि हम अपने सब कार्यों में, फिर वे निजी हो या सार्वजनिक, नीति के पालन को सर्वोच्च स्थान देते हैं ।[3]

गांधी जी आदर्श समाज व्यवस्था अथवा राम राज्य की धारणा में किसी भी रूप में राज्य की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते हैं । इस सम्बन्ध में वे स्पष्ट रूप से लिखते हैं-"मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाये कि हमें अपना स्व राज्य सत्य और अंहिसा के शुद्व साधनों द्वारा ही हासिल करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है । सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता । कारण स्पष्ट और सीधा है; यदि असत्यमय और हिंसक उपायों का प्रयोग किया गया, तो उसका स्वभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या उनका नाश करके खत्म कर दिया जायेगा। ऐसी स्थति में वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती । वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रगट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है ।"[4]

वस्तुतः धार्मिक अवधारणा के बावजूद "रामराज्य" समतावादी अहिंसक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है, जिसका आधार नैतिक मूल्य है । उन्होंने कहा-"आखिर स्वराज्य निर्भर करता है हमारी आन्तरिक शक्ति पर, बड़ी से बड़ी कठिनाइयों से जूझने की हमारी ताकत पर । सच पूछो तो वह स्वराज्य, जिसे पाने के लिए अनवरत् प्रयत्न और बचाये रखने के लिए सतत् जागृति नहीं चाहिए, स्वराज्य कहलाने के लायक ही नहीं है । जैसा कि आपको मालूम है, मैने वचन और कार्य से यह दिखलाने की कोशिश की है कि स्त्री-पुरुषों के विशाल समूह का राजनीतिक स्वराज्य एक-एक शख्स के अलग-अलग स्वराज्य से कोई ज्यादा अच्छी चीज नहीं है और इसलिए उसे पाने का तरीका वही है जो एक-एक आदमी के आत्म-स्वराज्य या आत्मसंयम का है ।"[5]

---

1. हरिजन : 19.3.1931
2. हरिजनः 16.4.1931
3. हरिजन : 23.1.1930
4. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 82, और हरिजन : 27.5.1939
5. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 8

इस प्रकार स्वराज्य की धारणा द्वेष धर्म की जगह प्रेम-धर्म सिखाती है : हिंसा की जगह आत्म-बलिदान रखती है; पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है ।[1] गांधी जी के आदर्श समाज में कमजोर से कमजोर और निम्न से निम्न भी वैयक्तिकता तथा स्वतंत्रता का पूर्णरूपेण अनुभव करेगा क्योंकि उस अवस्था में किसी बाह्यकारी शक्ति का अभाव होगा । वे लिखते हैं-"स्वराज्य का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न करना, फिर वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वदेशी सरकार का । यदि राज्य हो जाने पर लोग अपने जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए सरकार का मुँह ताकना शुरू कर दे, तो वह स्वराज्य-सरकार किसी काम की नहीं होगी ।"[2]

वास्तव में गांधी जी के आदर्श राज्य के स्वरूप की कल्पना उन सब विचारों से भिन्न है जो किसी भी प्रकार व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व व उसकी नैतिक शक्ति की तुलना में राज्य के अस्तित्व तथा उसकी शक्तियों को अधिक महत्व देते हैं । वे न तो आदर्शवादियों की इस कल्पना में विश्वास करते हैं कि राज्य मनुष्य की सामाजिकता तथा उसकी नैतिकता का सर्वोत्तम स्वरूप है और न उन्होंने एकत्ववादी विचार-कि राज्य मनुष्य समाज की सर्वोच्च सत्ताधारी संस्था है-में विश्वास किया । उनके अनुसार राज्य की स्थिति व्यक्ति के प्रभु की स्थिति नहीं है, वरन वह व्यक्ति के जीवन के धरम उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र है ।[3]

गांधी जी के मतानुसार राज्य का एक मात्र उद्देश्य सर्वोदय अर्थात् सभी का सर्वांगीण विकास है । राज्य किसी वर्ग विशेष के हितों का साधन नहीं हो सकता । वे कहते हैं - "मेरी कल्पना के रामराज्य में राजा और रंक दोनों के अधिकारों की समान रूप से रक्षा की जायेगी ।"[4] गांधी जी ने आध्यात्मिक समाजवाद के आदर्श को स्वीकार किया, उनके विचार में राज्य रहित आदर्श सामाजिक व्यवस्था तभी पूर्ण हो सकती है जबकि समाज के प्रत्येक वर्ग को, जीवन की साधारण व आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हो जाये, किन्तु वे इस प्रकार के रामराज्य की स्थापना के लिए किसी राजनैतिक शक्तियों के संगठन को आवश्यक नहीं मानते । क्योंकि उन शक्तियों के द्वारा सर्वोदय व समाजवाद के आदर्श की स्थापना संभव ही नहीं है, इससे व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता, बल्कि उसका शोषण तथा दमन होता है । इस प्रकार "स्वराज्य" का अर्थ "विशुद्ध नैतिक शक्ति पर आधारित जनता का प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य : सत्ता लोकतंत्र अर्थात् सर्वोदय ।"[5]

---

1. गांधी : हिन्द स्वराज्य, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1989, पृष्ठ 26
2. यंग इंडिया : 6.8.1925, पृष्ठ 276
3. हरिजन : 2.7.1931
4. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 106
5. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 79

"रामराज्य" में यह आदर्श सर्वोदय समाज असंख्य स्वायत्तशासी, आत्मनिर्भर गाँवों से युक्त होगा, जो अपने सभी कार्यों की व्यवस्था, यहाँ तक कि बाहरी विश्व से अपनी सुरक्षा में भी समर्थ होगा । ग्राम गणतंत्र नैतिक सत्ता को अपने सम्प्रभु के रूप में स्वीकार करेंगे । नियम और प्रशासन व्यक्ति तक नहीं, मात्र् वस्तुओं तक ही सीमित रह जायेंगे । इसमें पुलिस, सेना, न्यायालयों, करों और अधिकेन्द्रित उत्पादन से पूर्ण मुक्ति का आश्वासन होगा ।[1]

किन्तु राज्य के हस्तक्षेप के आधार पर उनका ध्येय व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता का समर्थन करना नहीं है, वरन उनका मतलब है कि व्यक्ति स्वयं अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करे कि सामाजिक दोष उत्पन्न न होने पाए । इस सम्बन्ध में गांधी जी का विचार था कि सभी सामाजिक विषमताओं का निराकरण व्यक्तियों के विवेक तथा हृदय परिवर्तन द्वारा किया जाए ।

इस प्रकार गांधी जी के समाज की आदर्श दशा वही होगी, जिससे व्यक्ति राज्य का दास नहीं होगा । स्वतंत्रता अथवा स्वशासन का अर्थ है व्यक्ति की बाह्य अर्थात् सरकारी नियंत्रण से मुक्ति । यदि व्यक्ति अधिकांश बातों के लिए राज्य और सरकार पर ही निर्भर रहा हो, गांधी जी के विचार में यह वास्तविक "स्वराज्य" नहीं होगा ।

अस्तु, गांधी जी राज्य को हिंसा का स्रोत मानते थे, इसके विकल्प में उन्होंने रामराज्य को आदर्श राज्य का रूप माना । इसमें व्यक्ति विधि के द्वारा संचालित नहीं होता वरन् प्रत्येक व्यक्ति सत्य के निर्देशों का पालन करते हुए अपने अन्तःकरण की आवाज से उद्घाटित नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित होता है । राम राज्य का अर्थ है नीति परायण का शासन और इसे "धर्मराज्य"-सद्गुण का शासन-भी कहा जा सकता है ।[2]

गांधी जी के आदर्श व्यवस्था में प्रत्येक व्यवस्था में व्यक्ति सत्य और अहिंसा के सद्गुण के द्वारा अपने कार्यों की ओर प्रेरित होगा और तब राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी । प्रेम और सामाजिक सामंजस्य के सिद्धान्त इस व्यवस्था का प्रमुख आधार है । इसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रतिबन्ध नहीं रहेगा और व्यक्ति स्वतंत्र तथा समतापूर्ण जीवन व्यतीत करेगा । आत्म संयम का नियम ही प्रचलित होगा । एक निश्चित सर्वोच्च मानव का सम्प्रभुता के स्थान पर व्यक्ति शुद्ध नैतिकता की सम्प्रभुता को स्वीकार करेगा। हर प्रकार के उत्पीड़क प्रशासन से मुक्त यह पृथ्वी पर ईश्वर का वास्तविक राज्य होगा।

गांधी जी राज्य का विरोध करते हुए कहते हैं-"मुझे जो बात नापसन्द है, वह है बल के आधार पर बना हुआ संगठन : और राज्य एक ऐसी ही संगठन है ।"[3] पुनः

1. यंग इंडिया : 5.3.1931
2. गाँधी, मदन गोपाल : गांधी और मार्क्स, पृष्ठ 84
3. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 83

वे लिखते हैं-"वह देश सबसे ज्यादा समृद्ध है, जो अधिक से अधिक संख्या में सज्जन और सुखी मानवों का भरण-पोषण करता है । वह आदमी सबसे ज्यादा समृद्ध है, जिसने अपने जीवन के कार्यों को अधिक से अधिक पूर्ण बनाया है और जिसका दूसरे मनुष्यों के जीवन पर व्यक्तिगत रूप में और अपनी सम्पत्ति के जरिए अधिक से अधिक व्यापक हितकर प्रभाव है ।"[1]

व्यक्ति व समाज की परिपूर्णता द्वारा गांधी जी अपनी रामराज्य की कल्पना साकार करना चाहते थे । रामराज्य शब्द का वर्णन रामायण महाकाव्य से लिया गया है । रावण पर राम की विजय बुराई की शक्तियों पर अच्छाई की शक्तियों की विजय के संकेत को प्रदर्शित करता है । परन्तु गांधी जी स्वयं कहते हैं कि मेरे राम, हमारी प्रार्थना के राम, ये दशरथ के पुत्र, अयोध्या के राजा, ऐतिहासिक राम नहीं है । वह शाश्वत हैं, अजन्मा हैं और अद्वितीय हैं । गांधी जी द्वारा कल्पित रामराज्य का चित्र वास्तव में एक न्यायपूर्ण और समाज की स्थापना का प्रयत्न था अर्थात पृथ्वी पर नैतिकता का साम्राज्य । रामराज्य का अर्थ राजनैतिक स्वशासन अथवा स्वराज्य से अधिक है।[2]

राम राज्य के सम्बन्ध में गांधी जी पुनः लिखते हैं-"रामराज्य से मेरा तात्पर्य हिन्दू राज्य से नहीं है । मेरे रामराज्य का अर्थ है दैवीय राज्य, ईश्वर का साम्राज्य । मेरे लिए "राम" और "रहीम" एक समान दैवी शक्ति हैं । मैं "सत्य" और "न्याय" के अतिरिक्त किसी अन्य ईश्वर की सत्ता को नहीं जानता ।"[3] मेरी कल्पना के रामराज्य का आदर्श निःसंदेह ऐसा सच्चा प्रजातंत्र है, जिसमें सबसे छोटे स्तर के नागरिक को भी बिना किसी मंहगी न्यायिक प्रक्रिया के शीघ्र न्याय प्राप्त हो सकता है । .... अतः मैं राम राज्य को खुदाई राज्य या पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य के नाम से प्रकट करना चाहता हूँ ।"[4]

गांधी जी कहते हैं-"मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम मेरे ह्रदय में कुछ भी नहीं पाओगे केवल राम के प्रति प्रेम है जिसको कि मैं भारत के करोड़ों भूख से पीड़ित जनता के चेहरे पर प्रत्यक्ष देखता हूँ ।"[5]

गांधी जी के अनुसार आदर्श समाज राज्य-रहित प्रजातंत्र है । इस प्रकार के राज्य में एक ज्ञानपूर्ण अराजक व्यवस्था होगी, जहाँ सामाजिक जीवन पूर्ण तथा स्वनियंत्रित होगा । वे कहते हैं-"ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना प्रशासक होगा । वह इस प्रकार अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधक नहीं बनता । इसलिए आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई

---

1. गांधी : सर्वोदय, पृष्ठ 36
2. भट्टाचार्या, बुद्धादेवा : इवालुशन आफ द पॉलिटिकल फिलास्फी आफ गांधी, कलकत्ता बुक हाउस, कलकत्ता, पृष्ठ 470-71
3. यंग इंडिया : 19.9.1929, पृष्ठ 305 और 28.5.31 पृष्ठ 126
4. हरिजन : 18.8.1946, पृष्ठ 226
5. यंग इंडिया : 24.3.1927, पृष्ठ 93

राज्य नहीं होता ।"[1] उन्होंने कहा-"मैं राज्य की सत्ता की वृद्धि को बड़े भय की दृष्टि से देखता हूँ । क्योंकि जाहिरा तौर पर तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है; परन्तु व्यक्तित्व को-जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है-नष्ट करके वह मानव-जाति को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाती है ।"[2]

अतः रामराज्य के आदर्श की स्थापना तभी सम्भव है, जब प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से इतने जागृत हो जाये कि वे स्वतः नैतिक नियमों का पालन करने लगे । स्वार्थ सिद्धि के लिए शक्ति का प्रयोग न करे । उन्होंने कहा-"मेरी कल्पना का स्वराज्य अथवा रामराज्य तभी आयेगा, जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाये कि हमें स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है।"[3] इसी प्रकार रामराज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट किया कि "राम राज्य में एक ओर अथाह सम्पत्ति और दूसरी ओर करुण-जनक फांकेकशी नहीं हो सकती । उसमें कोई भूखों मरने वाला नहीं हो सकता ।"[4]

गांधी जी की आदर्श राज्य व्यवस्था का लक्ष्य "ईश्वरीय राज्य" था, जिसके अर्न्तगत व्यक्ति का नैतिक विकास अत्यन्त आवश्यक है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर और पृथ्वी पर "ईश्वरीय राज्य" का अनुभव करना है । शुद्ध नैतिकता पर आधारित यह "जनता का राज्य" और "पृथ्वी पर धर्म का राज्य" है ।

गांधी जी का आग्रह था कि राज्य विहीन समाज केवल नागरिकों के स्वैच्छिक सच्चरित्रता पर ही स्थापित हो सकता है । इसलिए रामराज्य का अस्तित्व व्यक्ति के नैतिक उन्नति पर ही आधारित है । वे कहते हैं-"मैं सदा से यह मानता आया हूँ कि नीचे से नीचे और कमजोर से कमजोर के प्रति हम जोर-जबरदस्ती से सामाजिक न्याय का पालन नहीं कर सकते ।[5]

गांधी जी का विश्वास था कि आवश्यकता इसलिए पड़ती है, क्योंकि मानव अपूर्ण है। यदि मानव जीवन पूर्ण हो जाये अर्थात् स्वयं संचालित हो जायें तो फिर राज्य और राजकीय शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और यह स्थिति मानव की प्राकृतिक स्वतंत्रता की स्थिति होगी, क्योंकि ऐसी दशा में एक विवेकपूर्ण अराजकता स्थापित हो जायेगी । इसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के हित साधन में बाधा न डालते हुए, स्वयं अपना शासक बन जायेगा ।

गांधी जी का विचार था कि वही समाज आदर्श होगा जिसमें राज्य व राजनीतिक शक्ति का अभाव होगा, और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध सत्य व अहिंसा पर आधारित

---

1. यंग इंडिया : 2.7.1931, पृष्ठ 162
2. मेरे सपनों का भारतः पृष्ठ 85
3. हरिजन सेवकः 26.5.1939
4. मशरूवाला, किशोरी लाल : गांधी विचार दोहन, नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, 1954, पृष्ठ 64
5. गांधी : मेरे सपनों का भारत, पृष्ठ 25

होंगे क्योंकि ऐसी सामाजिक स्थिति में मानव वास्तविक रूप से स्वतंत्र होगा । यहाँ गांधी जी का राज्य सम्बन्धी विचार प्लेटो से मिलता है । प्लेटो का भी मत था कि मनुष्य का वास्तविक और. चरम लक्ष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य की आवश्यकता को स्वीकार करता है, जबकि गांधी जी का व्यक्ति स्वतः नैतिक नियमों से संचालित होकर आदर्श समाज-व्यवस्था अर्थात् ''राम राज्य'' की स्थापना करता है।

गांधी जी का अंतिम लक्ष्य सम्पूर्ण जनता का महानतम सुख है । उनका विश्वास है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन प्रजातंत्र में ही सम्भव है । यह प्रजातंत्र भय की अपेक्षा अहिंसा पर आधारित स्वायत्तशासी गाँवों का एक समुदाय है, यह शोषण की अपेक्षा सेवा पर लाभ प्राप्त करने की लालसा की अपेक्षा आवश्यक व उचित पारिश्रमिक पर और केन्द्रीकरण को बड़े समुदाय की अपेक्षा स्थानीय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित होगा ।[1]

इस प्रकार उनकी कल्पना थी आदर्श राजनीतिक व्यवस्था में वास्तविक सत्ता मूलरूप से जनता के ही हाथों में रहनी चाहिए । उन्होंने प्रतिपादित किया कि नियम बनाने और नियमों को कार्यान्वित करने में सर्वोदयी सिद्धान्त, ''सभी का महानतम हित'' लागू करना चाहिए । राज्य के सम्बन्ध में भी गांधी जी के विचार का प्रमुख आधार साध्य और साधन सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण ही है ।

वस्तुतः गांधी जी के आदर्श के स्वरूप की कल्पना उन सब विचारों से भिन्न है, जो किसी भी प्रकार से व्यक्ति के नैतिक व्यक्तित्व व उसकी नैतिक शक्ति की तुलना में राज्य और उसकी शक्ति को अधिक महत्व देती है । गांधी जी का विश्वास था कि राज्य मानव-जीवन के नैतिक मूल्यों पर आघात करता है । उन्होंने जिस जनतंत्रवादी समाज की कल्पना की उसमें वे किसी भी रूप में राज्य के अस्तित्व के विरोधी थे । गांधी जी का विचार था कि प्रत्येक राज्य के सरकार सजा का भय दिखाकर नागरिकों से काम करवाती है और उन्हें कानून के अनुसार चलने पर बाध्य करती है । शासन व्यवस्था चाहे कितनी भी लोकतंत्री हो, फिर भी राज्य की जड़ में सदैव हिंसा होती है।[2]

इस प्रकार गांधी जी की आदर्श रामराज्य की व्यवस्था में पुलिस बल तथा फौज के लिए कोई स्थान नहीं होगा । गांधी जी के साथ नैतिकता का अर्थ है सशस्त्र सुरक्षा शक्तियों से स्वतंत्रता । मेरे विचार में रामराज्य ब्रिटिश फौज का अंत भी है । एक देश जो कि केवल अपनी राष्ट्रीय सेना द्वारा संचालित होता है, वह कभी भी नैतिक रूप से स्वतंत्र नहीं होता ।[3] अतः गांधी जी लिखते हैं-''वह राज्य पूर्ण और अहिंसात्मक

---

1. धवन, गोपीनाथः द पॉलिटिकल फिलासिफि आफ महात्मा गांधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1962, पृष्ठ 317
2. शर्मा, बी० आर० : द स्टेट इन गांधीयन फिलासिफ़ि एण्ड बी० पी० मजुमदार, गांधीयन कान्सेप्ट आफ स्टेट; एम० सी० सरकार एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, 1957, पृष्ठ 119-120
3. भट्टाचार्या, बुद्धादेव : इवालुशन आफ द पॉलिटिकल फिलासिफी आफ गांधी, पृष्ठ 473

है, जिसमें जनता पर कम से कम शासन किया जाता है । ऐसा प्रजातंत्र राज्य शुद्ध अराजकता के निकट से निकट है, जो अहिंसा पर आधारित है ।"[1]

इस प्रकार राज्य के सम्बन्ध में उनके विचार व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अराजकतावाद के मिश्रण को प्रदर्शित करते हैं । वह राज्य के विरोधी थे परन्तु राज्य विहीनता से उनका अर्थ कानून विहीनता से कदापि नहीं था । वास्तव में उनका तात्पर्य आदर्श समाज की स्थापना करना था । इसलिए राज्य के सम्बन्ध में उनके विचार एक राजनैतिक शून्यता का निर्माण नहीं करते हैं । उन्होंने राज्य को नैतिकता और विवेक पर आधारित माना है । उनकी कल्पना का आदर्श वह है, जिसमें शक्ति थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित न हो, क्योंकि इसके कारण एक समरसतापूर्ण और शांतिपूर्ण समाज की स्थापना नहीं हो सकती । वे कहते हैं-"मेरी कल्पना का स्वराज्य इस संसार में और आपके अन्तर में "ईश्वरीय राज्य" की अनुभूति से कम नहीं है । मैं इस स्वप्न की प्राप्ति के लिए काम करना और मरना चाहूँगा, चाहे इसे कभी प्राप्त न कर सकूँ । उसका अर्थ है अनन्त धैर्य और असीम परीक्षण ।"[2]

गांधी जी, इस प्रकार राम राज्य के आदर्श को स्थापित करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता में विश्वास रखते थे । उन्होंने लिखा-"आदर्श समाज में कोई राजसत्ता रहेगी या वह एक बिल्कुल अराजक समाज बनेगा ? अगर हम ऐसे समाज के लिए मेहनत करते रहे, तो वह किसी हद तक बनता रहेगा और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा । युक्लिड ने कहा कि लाइन वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो; लेकिन ऐसी लाइन न तो आज तक कोई बना पाया है, न आगे बना पायेगा । फिर भी ऐसी लाइन को ख्याल में रखने से प्रगति हो सकती है और हर एक आदर्श के बारे में यही सच है ।[3]

संक्षेप में, इसी तथ्य की ओर इंगित किया जा सकता है कि गांधी जी के लिए रामराज्य वह सत्ता-विहीन, संगठित समाज है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्व-शासित, स्व-नियंत्रित होकर, धर्म का आचरण करता है । धर्म में उन मानवीय-क्षमताओं का समावेश है, जो मानव को गरिमामय जनाती है और उसकी पाश्विक प्रवृत्तियों को संचालित एवं नियंत्रित करती है । धर्म की यह अवधारणा, कर्तव्य-बोध एवं सत्यम्, शिवम, सुन्दरम् की उदान्त भावनाओं से ओत-प्रोत है ।

1. गांधीः हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, 1.4.1940, उदृत-गोपीनाथ दीक्षित गांधी की चुनौती; कम्युनिज्म को, पृष्ठ 68
2. गांधीः हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, 1.4.1940 उदृत-गोपीनाथ दीक्षित, गांधी की चुनौती : कम्युनिज्म को, पृष्ठ 68
3. हरिजन सेवक : 15.9.1946, पृष्ठ 310

सत्याग्रह संघर्ष और समाधान :

सत्य और अहिंसा की साधना गांधी जी के समस्त साम्माजिक और राजनैतिक दर्शन का मूल है । इसीलिए सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का एक मात्र आधार भी सत्य और अहिंसा ही है । अपने सत्य के प्रत्यय को और अहिंसा के साधन को उन्होने सत्ता के सक्रिय विरोध का आधार बनाया और इस विरोध प्रक्रिया का नाम उन्होंने दिया "सत्याग्रह" जो उनके दर्शन में प्रतिरोध की एक "प्रविधि" भी है और एक "प्रक्रिया" भी ।

गांधी जी ने सत्याग्रह शब्द सन् 1906 ई० में दक्षिण अफ्रीका में एशियाई कानून संशोधन अध्यादेश को संदर्भित करते समय ट्रांसवाल विधानसभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था । गांधी जी ने सर्वप्रथम "निष्क्रिय प्रतिरोध" के रूप में आन्दोलन को प्रतिपादित किया था । लेकिन संघर्ष के दौरान उन्हें इसमें कुछ नये सिद्धान्तों की अनुभूति हुई । उन्होंने इण्डियन ओपीनियन में एक समाचार प्रकाशित कराया कि जो व्यक्ति उन्हें नया नाम सुझायेगा उसे पुरस्कार दिया जायेगा । एक व्यक्ति ने उन्हें "सदाग्रह" नाम सुझाया जिसका अर्थ होता है (सद + आग्रह) अर्थात् अच्छाई के प्रति आग्रह । लेकिन गांधी जी ने उसे सुधार कर "सत्याग्रह" का नाम दिया ।

गांधी जी के शब्दों में "मुझे यह शब्द अच्छा लगा, लेकिन यह पूर्णतया उसी रूप में स्वीकार नहीं था । अतः मैंने इसे संशोधित कर "सत्याग्रह" रख दिया । सत्य जो प्रेम रूप है और आग्रह जो "शक्ति" के पर्याय के रूप में आता है । इस प्रकार मैं भारतीय आन्दोलन को 'सत्याग्रह" के रूप में पुकारने लगा । जिसका अर्थ हुआ एक ऐसी शक्ति जो सत्य प्रेम और अहिंसा से पैदा होता है । और तब मैं "निष्क्रिय प्रतिरोध" शब्द को छोड़ दिया ।"[1]

सत्याग्रह का मूल अभिप्राय अहिंसा में आस्था रखने वाले मनुष्य का सत्य के प्रति आग्रह है । अहिंसा के साथ-साथ सत्य के समाहित हो जाने पर एक नवीन स्थिति का जन्म होता है । सत्याग्रह में सब कुछ सत्य के लिए ही कहा जाता है, इससे दूसरों को जरा भी कष्ट न पहुँचे, यह सत्याग्रह का उच्च आदर्श है । सत्याग्रह सत्य की निरापद खोज है । इसके लिए व्यक्ति अपनी अंतिम श्वास तक प्रयास करके लड़ता रहता है। सत्याग्रह स्वयं ही सब कुछ सहन करने की इच्छा का नाम है, अतएव इसमें वैर भावना का जन्म किसी भी रूप में नहीं हो पाता है । गाँधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है विरोधी को पीड़ा देकर नहीं, अपितु स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करना ।[2]

सत्याग्रह के अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए सत्याग्रह एवं दुराग्रह का अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है । इससे सत्याग्रह का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जाएगा ।

---

1. गांध : सत्याग्रह इन् साउथ अफ्रीका, वी० जी० देसाई (अनुवादक) अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1928, पृष्ठ 172
2. यंग इंडिया : 14.1.1920

दुराग्रही निरपेक्ष सत्य में विश्वास रखता है । दुराग्रह एक ऐसी धारणा है जिसमे एक प्रकार का दबाव होता है दुराग्रही अपनी आत्मा विचार तथा स्वार्थ को विशेष महत्व देता है तथा दबाव के बल पर अपने पक्ष का समर्थन चाहता है जिसमें हिंसा का भाव विद्यमान रहता है। वह अपने स्वार्थ में अन्धा हो जाता है । वह "आप भला सो जग भला" के सिद्धान्त में विश्वास करता है और उसकी पूर्ति के लिए किसी भी प्रकार के साधन अपनाने में तनिक भी संकोच नहीं करता । अन्य व्यक्ति या समूह की वह कभी भी चिन्ता नहीं करता है ।

किन्तु सत्याग्रह सदैव इस तथ्य से सुपरिचित रहता है कि मानव द्वारा ज्ञान सापेक्ष सत्य का ज्ञान है । जो ज्ञान एक व्यक्ति के लिए सत्य है, वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है । अतः सत्याग्रही अपने विचारों को दूसरों पर जबरदस्ती थोपने का कभी प्रयास नहीं करता है ।[1] सत्याग्रह के संघर्ष का लक्ष्य सुलह और समझौता है, न कि दबाव ।[2] अतः सत्याग्रही अपने प्रतिपक्षी को कभी नीचा दिखाने का प्रयास नहीं करता । सत्याग्रही सभी प्रकार के दबाव तथा हिंसा से मुक्त होता है । आदर्श सत्याग्रही अपने स्वार्थों को समूह के स्वार्थ के लिए सदैव त्यागने के लिए तत्पर रहता है । वह सम्पूर्ण दुःख, कष्ट, घृणा आदि को अपने ही ऊपर लेकर सहन करना चाहता है । इस प्रकार सत्याग्रह और दुराग्रह दोनों अपने उद्देश्य, कार्य एवं प्रक्रिया में एक दूसरे से भिन्न हैं। अतः सत्याग्रह को दुराग्रह समझना बहुत बड़ी भूल होगी ।

सत्याग्रह के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ अन्य समानार्थक प्रत्ययों के साथ इसे देखना उचित जान पड़ता है । सामान्य रूप से सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा तथा असहयोग आन्दोलन के समानार्थक माना जाता है । किन्तु सत्याग्रह की व्यापकता को देखते हुए इनको सत्याग्रह में अन्तर्भूत हो जाते है । सत्याग्रह की अवधारणा के विकास क्रम को देखने से यह स्पष्ट होता है कि सत्याग्रह इन सभी के उपादेय पक्षी को अपने अर्थ में समाविष्ट तो करता है, किन्तु इनकी सीमाओं में बांधता नहीं है ।

अपनी इस स्थापना को अधिक स्पष्ट करने के लिए इन प्रत्ययों के साथ सत्याग्रह के संबंध का एक सर्वोच्च वितरण प्रस्तुत करना आवश्यक लगता है ।

सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध :

गांधी जी अपने प्रारम्भिक आन्दोलनों में निष्क्रिय प्रतिरोध एवं सत्याग्रह में बहुत अधिक भेद नहीं मानते थे । इस कारण यह भ्रांति हो जाती है कि सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध दोनो समानार्थक है । किन्तु गांधी ने अपने बाद के विचारों में इसे निश्चय ही अत्याधिक स्पष्ट कर दिया है कि सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध मानना उचित नहीं है। यद्यपि सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध मानना दोनों आक्रमण का समाना करने की तथा

1. यंग इंडिया : 1.5.1924
2. हरिजन : 23.3.1940, पृष्ठ 53

झगड़ों को निपटाने और सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों की पद्धतियाँ हैं। किन्तु इन दोनों में मूलभूत अन्तर है । भेद का कारण यह है कि निष्क्रिय प्रतिरोध कामचलाऊ राजनैतिक अस्त्र है । निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का अस्त्र है तथा इसमें हिंसा की भी भावना होती है । दूसरी तरफ सत्याग्रह नैतिक अस्त्र है, इसका आधार है आत्मशक्ति की श्रेष्ठता । साथ ही सत्याग्रह का प्रयोग वे वीर ही कर सकते हैं जिनमें बिना मारे ही मरने का साहस है । सत्याग्रह हिंसा को कभी भी स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर प्रेम और त्याग को महत्व देता है, क्योंकि वह सदैव सत्य पर बल देता है । अतः निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता ।

सत्याग्रह एवं सविनय अवज्ञा तथा असहयोग :

गांधी जी को सविनय अवज्ञा सभी प्रकार के अनैतिक कानूनों का अहिंसक प्रतिरोध करता है । यह सत्याग्रह का एक अंग है ।[1] अतः इसे पूर्ण सत्याग्रह की संज्ञा नहीं दी जा सकती । इसी प्रकार असहयोग भी सत्याग्रह की एक शाखा है।[2] जिसमें किसी राज्य के सभी नागरिक भाग ले सकते है और राज्य के शोषण से अपना असहयोग कर सकते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह केवल सामूहिक संघर्ष और प्रतिकार की ही पद्धति नहीं है, अपितु यह व्यक्तिगत तथा घरेलू संघर्ष का भी समाधान प्रस्तुत करता है । किन्तु सत्याग्रह केवल संघर्षात्मक ही नहीं अपितु रचनात्मक कार्यों का भी सूचक है, इसके साथ ही साथ सत्याग्रह मूल्यात्मक महत्व भी रखता है । इस प्रकार सत्याग्रह एक अन्वेषणात्मक प्रक्रिया है । इसमें आत्मशील और प्रेमशक्ति का अन्वेषण होता है । इसमें प्रत्येक प्रक्रिया में चाहे वह आन्दोलनात्मक हो, भावात्मक हो या मूल्यात्मक हो, इसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में आत्मशक्ति तथा प्रेमशक्ति के विकास से ही रहता है ।

सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएँ :

सत्याग्रह के प्रयोग करने के पूर्व कुछ आधारभूत मान्यताओं को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-तात्विक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक ।

तात्विक मान्यता :

इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही को ईश्वर में अटूट विश्वास रखना पड़ता है । इसका अर्थ है ईश्वर के नाम पर अपने सम्पूर्ण सिद्धान्तों को पुष्ट करने को तैयार रहना ।[3] किन्तु सत्याग्रह का कोई विशेष ईश्वर नहीं है । सत्याग्रही के लिए

---

1 गाँधी : सत्याग्रह, पृ० 4

2. गाँधी : सत्याग्रह, पृ० 4

3. गाँधी : सत्याग्रह, पृ० 364

केवल इतना ही पर्याप्त है कि वह अपने धर्म के अनुसार ईश्वर को स्वीकार अवश्य करे। कारण यह है कि बहुत से ऐसे संकट सत्याग्रही के सामने आ सकते हैं कि ईश्वर को स्वीकार किये बिना किसी प्रकार के प्रतिकार तथा आवाज को सहन करना असंभव है। ईश्वर-विश्वास से ही इन संकटों को सहने की अपूर्व शक्ति आती है । गांधी की ईश्वर की अवधारणा इतनी व्यापक और महान है कि इसमें नास्तिक और आस्तिक सभी का समावेश हो जाता है, अतः उनके सत्याग्रह में नास्तिक और आस्तिक सभी के लिए पर्याप्त अवसर हैं । क्योंकि दोनों सम्प्रदायों में मानवता में दृढ़ विश्वास होता है । अगर वह मानवता में विश्वास रखता है तो सत्याग्रही हो सकता है । सैद्धान्तिक अर्थ में भले ही धार्मिक दृष्टिकोण स्वीकार करे या न करे, परन्तु यह अवश्य सोचना होगा कि सत्याग्रह की भावना का प्रादुर्भाव मानव-स्वभाव में तब होता है जब उसमें धार्मिक भावना की तरह गहरी आस्था जन्म लेती है, जहाँ पर संत और शहीद का व्यक्तित्व प्रतिपक्षी के क्रोध तथा प्रहार के सहन करने की शक्ति होनी चाहिए । किन्तु प्रतिपक्षी का प्रतिकार सदैव ही अहिंसक रूप में होना चाहिए ।

राजनैतिक, सत्याग्रही को यदि शासन की ओर से बन्दी बनाने के लिए आदेश आता है तो उसे स्वेच्छा से बन्दी हो जाने के लिए तैयार हो जाना चाहिए और अपनी सम्पत्ति इत्यादि के अपहरण में भी किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए ।

सत्याग्रही को अपने अपमान की चिन्ता न रखते हुए प्रतिपक्षी को अपमानित न होने देना चाहिए । यदि संघर्ष की स्थिति में कोई प्रतिपक्षी को अपमानित करता है अथवा उस पर प्रहार करता है, तो सत्याग्रही को उसकी सुरक्षा अपने जान की बाजी लगाकर भी करनी चाहिए ।

सत्याग्रही को अपने सत्याग्रह के नेता के आदेश का पालन बिना किसी हिचकिचाहट के करना चाहिए ।

प्रत्येक सत्याग्रही का कर्तव्य है कि कैद होने पर जेल के सभी नियमों का विनम्रता से पालन करे ।

सत्याग्रही को अपने जातियों के लिए भत्ते की मांग नही करना चाहिये। क्योंकि सत्याग्रही को स्वार्थ से दूर रहना होता है।

सत्याग्रही को जाति, वर्ग, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिये तथा किसी साम्प्रदायिक दंगें का कारण नहीं बनना चाहिये।

नैतिक मान्यता :

सत्याग्रह की नैतिक मान्यता बहुत ऊँची है । सत्याग्रह शुद्धि का एक नैतिक विकल्प है । अतः इसके लिए उच्च कोटि की नैतिकता का पालन आवश्क है । प्राचीन काल से लेकर आज तक युद्धों की परम्परा चली आ रही है । युद्ध स्वार्थ प्रभुता की भावना, साम्राज्यवाद आदि के कारण होते चले आ रहे हैं । एक युद्ध ने दूसरे युद्ध को जन्म दिया कितने धन की बर्बादी की । फिर भी इस युद्ध ने किसी भी समस्या का

अंतिम समाधान नहीं दिया । केवल घृणा, क्रोध आदि को ही विकसित किया । इनमें मानव की मानवता एवं नैतिकता सब कुछ स्वाहा हो गयी । किन्तु सत्याग्रह ही एक ऐसा अस्त्र है जिससे मानवता को बचाया जा सकता है । नैतिक दृष्टि से सत्य एवं अंहिसा ही इसके मुख्य अस्त्र-शस्त्र हैं । इसलिए गांधी ने एकादश व्रत का पालन सत्याग्रही के लिए आवश्यक बतलाया है । इन एकादश व्रतों के पालन से सत्याग्रही में उच्च नैतिक भावना का विकास होता है ।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि सत्याग्रही को सत्य एवं अहिंसा का पालन "धर्म" मानकर करना होता है । सत्याग्रह में सम्पूर्ण मानवसमाज को उत्तम एवं व्यावहारिक मानना पड़ता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे प्राण तथा सम्पत्ति को सदैव उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहना पड़ता है । इस अंतिम बलिदान की तैयारी के साथ ही साथ सत्याग्रही को यह भी ध्यान रखना होता है कि वह अपने को समाज का एक आदर्श-चरित्र व्यक्ति तथा सच्चा सेवक होने का दावा कर सके । इसीलिए गांधीने सत्याग्रही के लिए न केवल एकादश व्रतों के पालन पर ही जोर दिया अपितु रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लेने का भी आदेश दिया है । सत्याग्रही का जीवन पूर्ण रूप से अनुशासित होता है ताकि वह दूसरों का भी आदर्श बन सकें । इसलिए समय-समय पर दिये गये आदेशों का पालन हृदय से करता है ।[1] उन्होंने कहा-ईमानदारी तथा मनसा, वाचा, कर्मणा, निर्वैरता के अभाव में सत्याग्रह की कल्पना असंभव है ।[2] गांधी सत्याग्रह को एक प्रकार की प्रगतिशील शैक्षणिक प्रक्रिया मानते हैं ।[3] इसका विकास धीरे-धीरे होता है । अतः उनके अनुसार सत्याग्रही केवल वे ही नहीं है, जो अहिंसा की सभी गुत्थियों का पालन करते हैं । सत्याग्रही वे भी हैं, जो अहिंसा की सभी गुत्थियों को स्वीकार करते हैं तथा उसे पालन करने के लिए उत्तरोत्तर प्रयत्न करते जाते हैं ।

सत्याग्रह की प्रक्रिया :

सत्याग्रह की प्रक्रिया के तीन सोपान है जिनमें प्रथम आन्दोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सत्याग्रही अन्याय का प्रतिकार अहिंसक प्रक्रिया से करता है । इसे आर० आर० दिवाकर, ने "एग्रेसिव सत्याग्रह" कहा है ।[4] दूसरी प्रक्रिया भावात्मक है, जिसमें समाज-रचना का कार्यक्रम होता है । इसे आर० आर० दिवाकर ने "कांस्ट्रक्टिव सत्याग्रह' की संज्ञा दी है ।[5] तीसरी प्रक्रिया मूल्य परिवर्तनात्मक है,

1. हरिजन : 25.3.1939, पृष्ठ 88
2. हरिजन : 22.10.1938, पृष्ठ 298
3. दिवाकर, आर० आर० : सत्याग्रह, पृष्ठ 47
4. दिवाकर, आर० आर० : सत्याग्रह, पृष्ठ 47
5. दिवाकर, आर० आर० : सत्याग्रह, पृष्ठ 47

जिसके अनुसार सत्याग्रही और समाज का मूल्य परिवर्तन होता है । इन तीनों प्रक्रियाओं में स्पष्टीकरण के लिए इनका अलग अलग एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

आन्दोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया :

आन्दोलन या संघर्ष सत्याग्रह की पहली और महत्वपूर्ण प्रक्रिया है । सत्याग्रह की प्रक्रिया समज में प्रचलित बुराइयों से संघर्ष करने के लिए आरंभ होती है । इन बुराइयों में आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक आदि में से कोई भी बुराई हो सकती है । इस प्रकार के संघर्ष में व्यक्ति, समुदाय, समाज या राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय कोई भी काम ले सकता हैं।1 अतः यह सत्याग्रह एक संघर्ष की अहिंसक प्रक्रिया के रूप में सामने आता है । आन्दोलन के रूप में सत्याग्रह के अन्तर्गत कई प्रकार के अहिंसक कार्य करने पड़ते है जिन्हें भिन्न-भिन्न विचारकों ने सत्याग्रह की 'शाखा२ सत्याग्रह के सोपान',[3] सत्याग्रह के प्रकार[4] इत्यादि नामों से प्रदर्शित करने का प्रयास किया है । सत्याग्रह के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि सत्याग्रह कौन करता है ? तथा किस प्रकार करता है ? उक्त दोनों प्रश्नों के उत्तर में अनेक सोपानों की चर्चा है । अतः इन्हें दो वर्गों में रखकर स्पष्ट किया जा सकता है । प्रथम वर्ग में सत्याग्रह करने वालों के विभिन्न वर्ग एवं द्वितीय वर्ग में सत्याग्रह विधि के सोपानों का निरूपण किया गया है ।

संधर्षकर्ता:

संघर्ष या आन्दोलन किसी के द्वारा किया जाता है जिसे संघर्षकर्ता या आन्दोलनकर्ता कहा जा सकता है । संघर्ष करने वाला व्यक्ति समुदाय, समूह या राष्ट्र और अर्न्तराष्ट्र में से कोई हो सकता है । अतः यहाँ इनके संबंध में एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

व्यक्ति :

सत्याग्रह का उपयोग एक व्यक्ति भी कर सकता है क्योंकि मानवजीवन अविभाज्य संप्रभुता है । इसलिए सत्याग्रही के व्यक्तिगत जीवन की हिंसा सम्पूर्ण सत्याग्रही समुदाय के सदस्य की हैसियत से किये गये उसके व्यवहार में निश्चित ही परिलक्षित होगी । अंहिसा को जीवन नियम के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है कि व्यक्ति को दूसरों के संबंध में विशेष रूप से जब वह बुराई और अन्याय का प्रतिरोध

---

1. बन्दोपाध्याय, जे० : सोशल एण्ड पोलिटिकल थाट आफ गांधी, पृष्ठ 228
2. प्रसाद, महादेव : सोशलफिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ 162
3. प्रसाद, महादेव : सोशलफिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृष्ठ 227
4. वामड्राट, जे०वी० : कान्वेस्ट ऑफ वाकलेस पृ० 40-41

करता है अहिंसक होना चाहिए । सत्याग्रही की अहिंसा की परख संघर्ष को उत्तेजना और व्यग्रता में होती है । दूसरों को अन्याय का विरोध करने के पहले उसे अपने जीवन में अन्याय दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए । इस प्रकार से शुद्ध एक भी व्यक्ति यदि है तो वह सत्याग्रह का आन्दोलन चला सकता है । ऐसे एक व्यक्ति का सत्याग्रह के किसी के प्रति भी हो सकता है ।

समुदाय :

जहाँ पर एक समुदाय किसी दूसरे समुदाय, अन्यायी व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिकार करता है । जब एक समुदाय किन्हीं कारणों से दूसरे समुदाय के ऊपर अत्याचार करता है, किसी प्रकार का दबाव डालता है, तब ऐसी स्थिति में उस समुदाय का प्रतिरोध अहिंसक तरीके से करने लगते हैं । किन्तु कभी-कभी जब राज्य शासन की तरफ से भी किसी समुदाय को दबाने का प्रयास किया जाता है तब भी उस समुदाय, जिसे दबाया जाता है, में रहने वाले व्यक्ति उसका प्रतिकार करते है तो उसे सामुदायिक सत्याग्रह कहा जाता है । इसमें पूरा समुदाय ही अन्यायी का प्रतिकार करता है ।

समूह राष्ट्र :

सामूहिक जीवन में शोषण तथा उस पर होने वाले सृजनात्मक एवं विधायक रीति से सामना करने के लिए सत्याग्रह एक अहिंसक पद्धति है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग गांधी ने किया है । सामूहिक जीवन में सत्याग्रह का उपयोग बहुत अधिक है । जब किसी व्यक्ति या शासन का अन्याय इतना अधिक बढ़ जाता है कि वहाँ रहने वाला पूरा समूह या राष्ट्र उस व्यक्ति का शासन के अन्याय का प्रतिकार करने लगता है तो ऐसी स्थित में किये गये आन्दोलन को सामूहिक या राष्ट्रीय सत्याग्रह का नाम दिया जा सकता है । क्योंकि वहाँ पर रहने वाला पूरा समूह या राष्ट्र ही संघर्षरत हो जाता है ।

अर्न्तराष्ट्रः

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जब कोई शक्तिशाली देश दूसरे पड़ोसी देश पर किसी भी प्रकार का अन्याय करता है तो विश्व के अनेक राष्ट्र मिलकर स त्याग्रह कर सकते है । साथ ही उस अन्यायी या आक्रमणकारी देश पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं कि वह अपने अवांछनीय क्रिया-कलापों को छोड़ दें । तब उसे अर्न्तराष्ट्र सत्याग्रह का नाम दिया जाता है ।

इस प्रकार के सभी संघर्षकर्ता आन्दोलनात्मक या संघर्षात्मक प्रक्रिया को कार्य रूप में लाते हैं । समाज के दुष्टों के निवारण के लिए सदबुद्ध क्रियात्मक अहिंसा ही सत्याग्रह है । यदि अहिंसा की अभय, प्रेम एवं स्वतंत्रता की स्थिति रहे तो ऐसी स्थिति में सत्याग्रह की कोई भी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जहाँ भी दबाव, भय, हिंसा अत्याचार

है फिर चाहे व्यक्ति हो या समूह या देश वहीं पर सत्याग्रह की उपादेयता है । यह सत्याग्रह व्यक्ति या समूह के साथ हो सकता है या समूह का व्यक्ति या राज्य के साथ हो सकता है । गांधी जी ने प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है । साथ ही इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन युग में यदि राजा अत्याचार करता था तो प्रजा उसे चुपचाप सहन कर लेती थी, किन्तु यदि एक राज्य दूसरे राज्य पर अत्याचार करता था तो उसका एकमात्र उपाय था युद्ध । यह प्रक्रिया आज भी देखने को मिलती है । किन्तु इस युद्ध का एक नैतिक प्रतिमान गांधी ने सत्याग्रह के रूप में विश्व को प्रदान किया । इसमें व्यक्ति या समूह की चेतना की स्वतंत्रता और हित दोनों व्यक्ति, समुदाय, समाज और राष्ट्र के सत्याग्रह करने पर सुरक्षित रहते हैं साथ ही कोई भी नैतिकता, अनुशासन और अहिंसा के आधार पर सत्याग्रह कर सकता है ।

संघर्ष-विधि :

संघर्षकर्ता के निरूपण के बाद यह प्रश्न है कि संघर्ष की विधि क्या होगी ? संघर्ष की विधि के प्रमुख दो अंग हो सकते हैं-व्यक्तिगत तैयारी और प्रतिरोध । व्यक्तिगत तैयारी के प्रमुख तीन सोपान है-

(i) उपवास

(ii) हिंसा

(iii) प्रतिकार

उपवास:

उपवास की एक भारतीय परम्परा है, व्रत आदि । उपवास मनुष्य की प्रार्थना को जीवित बनाता है और आत्मा का ईश्वर परायण बनाकर शांति देता है ।[1] भारत में उपवास सबसे सच्ची प्रार्थना मानी गयी है । यहाँ यह भी मान्यता है कि बिना उपवास के प्रार्थना नहीं हो सकती और ऐसा उपवास जो प्रार्थना का अंग नहीं है, केवल शरीर की यातना ही है । उपवास तपस्या और आध्यात्मिक प्रयास है । किन्तु इस धार्मिक उपवास और सत्याग्रही रूपवास में पर्याप्त अन्तर है । यह धार्मिक उपवास इस आस्था से किया जाता है कि इससे पुण्य होगा, जिसका लाभ इस जन्म में या अगले जन्म में प्राप्त होगा, किन्तु सत्याग्रही उपवास अन्याय के विरोध में अन्याय समझने एवं विरोध करने वाले का स्वैच्छिक कष्ट सहन है, जिसका आशय यह है कि कष्ट सहने से अन्यायी के हृदय में परिवर्तन हो उसे अपने अन्याय की अनुभूति होने लगे । इस प्रयोग का परीक्षण संभव है । यही इसकी वैज्ञानिकता है । इसीलिए गांधी का विश्वास है कि उन्होंने उपवास को विज्ञान का रूप दिया है ।[2] उपवास सत्याग्रही द्वारा, स्वयं निर्धारण

---

1. धवन, गोपीनाथ : सर्वोदय तत्वदर्शन, पृष्ठ 131
2. धवन, गोपनीनाथ : सर्वोदय तत्व दर्शन, पृष्ठ 157

कष्ट सहन है । उपवास में अहिंसावादी स्वयं अपने शरीर को कष्ट देता है । यह उपवास भी दो प्रकार का हो सकता है-एक दुराग्रह मूलक और दूसरा सत्याग्रह मूलक । दुराग्रह मूलक उपवास में उपवासकर्ता अन्यायी को सुधारने की दृष्टि से उपवास नहीं करता, अपितु अपनी बातों को स्वीकार कराने के लिए यह धमकी देता है कि हम भूखे मर जाएँगे । इसमें एक प्रकार का दबाव है जो कि सत्याग्रह मूलक उपवास में नहीं होता है । इसका सदुपयोग सद्भावना से हृदय-परिवर्तन को ध्यान में रखकर किया जाता है ।

उपवास अन्याय के प्रति विरोध और अन्यायी के हृदय-परिवर्तन का साधन भी है । परन्तु इस सत्याग्रही अस्त्र के प्रयोग के लिए गंभीरता की आवश्यकता है । इसका प्रयोग विशेष अवसरों पर उपवास कला में दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी उपवास विशेषज्ञ की देखरेख में ही हो सकता है ।[1] इस सत्याग्रही उपवास के लिए शारीरिक क्षमता का कोई महत्व नहीं है । लेकिन सत्याग्रही में आध्यात्मिक योग्यता और स्पष्ट अर्न्तदृष्टि आवश्यक है । साथ ही ईश्वर में जीवित श्रद्धा भी अनिवार्य है । सत्याग्रही में असीम धैर्य, दृढ़ निश्चय, न्याय की एकाग्रता और पूर्ण शान्ति आवश्यक रूप से होनी चाहिए। उपवास अतीत काल से ही हृदय-परिवर्तन का कारगर साधन रहा है और भविष्य में भी रहेगा ।

हिंसा का प्रतिकार :

सत्याग्रही को सदैव हिंसा का प्रतिकार करना चाहिए । हिंसा के इस प्रतिकार में मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार की हिंसाओं का प्रतिकार होना ही चाहिए । सत्याग्रही को निषेधात्मक रूप से एक प्रकार की हिंसाओं से अलग रहना चाहिए । हिंसा सदैव विरोधी के विनाश का या उसको चोट पहुँचाने का प्रयत्न करती है । और यह उसको सुधारने का या उसके हृदय-परिवर्तन का मार्ग नहीं है । विधायक रूप से सत्याग्रही सदा अशुभ को शुभ से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य और हिंसा को अहिंसा से जीतने का प्रयत्न करेगा ।[2] सत्याग्रही को आत्मशक्ति की कार्य-पद्धति का और प्रतिपक्षी के साथ अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध होता है, इसलिए वह विरोधी के साथ अपने कुटुम्ब के सदस्य की भाँति व्यवहार करता है । सत्याग्रही अपने अन्यायी के प्रति उन्हीं नियमों का प्रयोग करता है जिनका अपने अन्याय करने वाले पिता या पुत्र के प्रति करता है ।[3] इस प्रकार सत्याग्रही सदैव हिंसा का प्रतिकार करके अपने को सत्याग्रह के लिए तैयार करता है ।

---

1. हरिजन : 11-3-1939, पृष्ठ 46,7-7-1942, पृष्ठ 248
2. यंग इंडिया : 8-8-1929
3. द स्पीचेज: पृष्ठ 284

आत्म-पीड़नः

उपवास को छोड़कर अन्य आत्म-पीड़न जैसे खड़े होकर, साधना करना, एक पैर पर खड़े रहना, धूप, ठंडी में तपस्या करना, धूप में पंचाग्नि साधना आदि आध्यात्मिक आत्मपीड़न है । उनके द्वारा व्यक्ति अपने को किसी प्रकार का कष्ट दिये जाने पर सहन करने योग्य बना लेता है । भारतीय परम्परा में महान उपलब्धियों के लिए साधना, तप, तथा आत्मपीड़न को आवश्यक समझना पड़ता है । गांधी ने इसे आध्यात्मिक जीवन से उठाकर जीवन के सभी पहलुओं में प्रवेश कराया,व्यक्तिगत मोक्ष के लिए आत्मपीड़न की बात आम बात रही है । परन्तु सामाजिक बुराई के उन्मूलन के लिए आत्मपीड़न सहन करना गांधी की ही देन है । उनके सत्याग्रह से साक्षात् रूप से प्रतिपक्षी के द्वारा दिये गये शारीरिक कष्ट को सहिष्णुता पूर्वक क्षमा भाव से लिया जाता है । जब सत्याग्रही आत्मपीड़न सहता है तथा दूसरों के पीड़ा में भाग लेता है तो उसे एक प्रकार की गहरी अनुभूति प्राप्त होती है, जो श्रेष्ठ, जो वृद्धि से परे की चीज है । इसे गांधी ने आत्मा या हृदय का ज्ञान कहा है, जो दुख से ही प्राप्त होता है । अतः जब प्रतिपक्षी सत्याग्रही के आत्म पीड़न पर विचार करता है तो उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है । इस प्रकार जब पीड़ा के द्वारा कोई व्यक्ति किसी के हृदय में प्रवेश करने की कोशिश करता है तो उसे उस कार्य में काफी सफलता प्राप्त होती है। इन्हीं कारणों से प्रतिकारात्मक तथा आन्दोलनात्मक सत्याग्रह में आत्म-पीड़न को भिन्न-भिन्न रूपों में स्वीकार किया ।

प्रतिरोध :

प्रतिरोध को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(i) असहयोग और हड़ताल

यदि कोई विशेष प्रकार की सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक व्यवस्था अन्याय तथा शोषण को प्रश्रय देती है तो उसके उन्मूलन का सबसे सरल तथा मौलिक उपाय है, असहयोग के आधार पर पुराने संबंधों को तोड़ना । गांधी ने कहा कि सभी प्रकार के शोषण शोषितों के ऐच्छिक या वाह्य सहयोग पर निर्भर है । यदि लोग शोषक की आज्ञा का पालन करना बन्द दे तो शोषण नहीं होगा ।[1] असहयोग व्यक्तिगत और राजनैतिक दोनों प्रकार के प्रतिकार का सर्वश्रेष्ठ साधन है । सरकार के विरुद्ध प्रयोग होने पर असहयोग का प्राथमिक प्रेरक हेतु से आत्मशुद्धि के लिए पश्चाताप न करने वालों के साथ सहयोग के हाथ खींच लेना । दूसरा उद्देश्य है सरकारी नियंत्रण या देखभाल से स्वतंत्र होकर असहय होने की भावना से छुटकारा पाना अर्थात् यथासंभव सभी मामलों में स्वयं अपने आप पर शासन करना और इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करने में किसी व्यक्ति या सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने या नुकसान पहुचाने की प्रेरणा देने या उनके प्रति हिंसा करने से बचना[2] असहयोग के लिए जनता का आपसी सहयोग आवश्यक है कि असहयोगी मतभेद के प्रति सहिष्णु रहे और भिन्न मतवालों की स्वतंत्रता

1. बोस, एन० के० : सेलेक्शन फ्राम गांधी, पृष्ठ 93
2. यंग इंडिया : भाग-1, पृष्ठ 42

का आदर भी उसी प्रकार करे । जैसा कि अपने लिए अपेक्षा करते है । सत्याग्रही असहयोग के विकास के लिए अहिंसक साधनों का, विशेष रूप से हड़ताल, बहिष्कार करने और धरने का प्रयोग करते हैं । हड़ताल का अर्थ है विरोध प्रदर्शन के लिए व्यवसाय को कुछ काल के लिए बन्द कर देना । हड़ताल का उद्देश्य ही है जनता और सरकार के मन को प्रभावित करना ।[1] दूसरे प्रकार का असहयोग विभिन्न प्रकार के बहिष्कारों के रूप में प्रकट होता है । इसके अन्तर्गत उपाधियों तथा सम्मानित पदों का त्याग, सरकार की नीतियों का बहिष्कार आदि आता है । तीसरे प्रकार का असहयोग "धरने" के रूप में होता है । इसका उद्देश्य है जन-निषेध की शक्ति पर निर्भर रहा जाय, जनमत की अवज्ञा करने वालों को चेतावनी दी जाय और उनको लज्जित किया जाय ।[2] इन सभी नियमों का प्रयोग सत्याग्रही असहयोग को विकसित और गतिशील बनाने के लिए करते हैं ।

सामाजिक बहिष्कार और धरना :

गांधी यह महसूस करते हैं कि सामाजिक जीवन में कुछ अंश में सामाजिक बहिष्कार से बचना असंभव है, किन्तु समाज में इन लोगों के विरुद्ध जो जनमत की अवज्ञा करते हैं और असहयोगियों का साथ नहीं देते, बहिष्कार का प्रयोग बहुत मर्यादित रूप में हो सकता है। भारत में समाजिक बहिष्कार, भयावह और कारगर प्राचीन पद्धति है, और वह जातिप्रथा का समकालीन है । किन्तु जल्दबाजी में इसका प्रयोग हिंसा का एक प्रकार है । किन्तु कुछ असाधारण परिस्थियों में जब कोई अवज्ञाकारी अल्पमत सैद्धान्तिक कारण से नहीं, अपितु केवल अवज्ञा के कारण या उससे भी अपकृष्ट कारण से बहुमत की बात मानने से इनकार कर दे, [3] तब सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग हो सकता है । लेकिन यह तभी कारगर हो सकता है और उसी दशा में इसका प्रयोग करना चाहिए जब बहिष्कृत व्यक्ति को यह दण्ड की भांति न लगे, अपितु अनुशासन कार्य मालूम हो ।[4] बहिष्कृत उसको अनुशासन की तरह तभी स्वीकार करेगें जब वह अहिंसक हो, अर्थात जब वह समयोचित हो और उसमें अमानुषिकता की गन्ध न आये। उसके अहिंसक होने के लिए यह भी आवश्यक है कि अगर उससे बहिष्कृत की असुविधा हो तो प्रयोग करने वालों को दुःख हो ।[5] सामाजिक बहिष्कार का यह अर्थ न होना चाहिए कि किसी मनुष्य को आवश्यक सामाजिक सेवाओं से वंचित किया जाय । इसका प्रयोग थोड़े से निश्चित अवसरों पर तथा मर्यादित रूप में ही करना चाहिए । शांतिमय धरने का यह अर्थ है कि जन-निषेध की शक्ति पर निर्भर रहा जाय, जनमत की अवज्ञा करने वालों को चेतावनी दी जाय और उनको लज्जित किया जाय ।[6] शांतिमय धरने

1. यंग इंडिया : भाग -1, पृष्ठ 23
2. हरिजन : 27.8.1938, पृष्ठ 234
3. यंग इंडिया : भाग -1, पृष्ठ 298
4. यंग इंडिया : भाग -1, पृष्ठ 300
5. यंग इंडिया : भाग -1, पृष्ठ 302
6. हरिजन: 27.8.1938 , पृष्ठ 234

में बल प्रयोग करने, धमकाने, अशिष्टता दिलाने और भूख हड़ताल करने के लिए स्थान नहीं होना चाहिए । धरने में उपवास का प्रयोग तभी हो सकता है जब करार भंग किया गया हो, और दोनों पक्षों में पारस्परिक सम्मान और प्रेम हो । इस असहयोग का अंतिम रूप सविनय अवज्ञा हैं।

सविनय अवज्ञा

सविनय अवज्ञा का अर्थ है अनैतिक सरकारी कानूनों को भंग करना । सविनय अवज्ञा इस बात का द्योतक है कि प्रतिरोध कार्य सविनय अर्थात् अहिंसक रूप में कानून की अवज्ञा करता है सविनय अवज्ञा वास्तव में विनय और आज्ञाभंग का अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोध का सामजस्य है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए बुरे कानूनों का विरोध आवश्यक है, लेकिन स्थिर सामाजिक व्यवस्था के लिए, जिसके बिना मनुष्य का जीवन और विकास संभव नहीं है, विनय आवश्यक है । अवज्ञा स्वयं विनाशक है और समाज-विरोधी है । किन्तु उससे भी निकृष्ट है अनैतिक कानून को मानना और वह कभी कर्तव्य नहीं हो सकता । मानव के योग्य वही कानून है जो नैतिक हो और जनतंत्रवादी नीति से बना हो । जनतंत्र में भी कुछ परम स्थितियों में यदि नागरिक वैधानिक साधनों द्वारा अनैतिक कानून को रद्द नहीं करा सकता तो उसे अपनी अन्तरात्मा के प्रति निष्ठावान रहने के लिए उस कानून की अवज्ञा करनी ही चाहिए ।

इस साधन का प्रयोग सृजनात्मक और जीवनदायक तभी हो सकता है, जब "अवज्ञा" की अपेक्षा उसके विशेषण "सविनय" पर अधिक ध्यान दिया जाय ।[1] अवज्ञा सविनय तभी हो सकती है जब उसमें सचाई हो, वह आदरपूर्ण और अनियंत्रित हो, दमनपूर्ण चुनौती की भावना से मुक्त हो, और यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है, उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा न हो ।[2] इन सब शर्तों में से गांधी पर्याप्त अनुशासन पर अधिक जोर देते हैं । सविनय अवज्ञा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-व्यक्तिगत और सामूहिक । व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा एक ही व्यक्ति द्वारा या व्यक्तियों की निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा आज्ञाओं या कानूनों की अवज्ञा है, इस लिए यह निषिद्ध सार्वजनिक सभा जिसमे प्रवेश टिकटो द्वारा मिलता है,व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का दृष्टान्त है ।[3] सामूहिक सविनय अवज्ञा सभी लोगों या व्यक्तियों द्वारा आज्ञाओं या कानूनों की अवज्ञा है । गांधी इन दोनों में पर्याप्त अन्तर भी स्वीकार करते हैं । व्यक्तिगत में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतंत्र इकाई है और उसके पतन का दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ता । इसमें प्रतिरोध करने वाला स्वयं अपना नेता होता है । किन्तु सामूहिक सविनय प्रतिरोध में एक का पतन सामान्य रीति से शेष लोगों पर पूरा प्रभाव

1. हरिजन : 1-4-1939, पृष्ठ 73
2. यंग इंडिया : भाग-1 ,पृष्ठ 57
3. यंग इंडिया : भाग-1 , पृष्ठ 119

डालता है । फिर सामूहिक सविनय प्रतिरोध में नेतृत्व आवश्यक है । गांधी वास्तविक सविनय अवज्ञा का रूप व्यक्तिगत अवज्ञा को ही मानते हैं ।

सविनय अवज्ञा को गांधी ने आक्रमणात्मक और रक्षात्मक दोनों रूपों में प्रयुक्त किया है । आक्रमणात्मक सविनय राज्य के इन कानूनों की इच्छापूर्वक अहिंसक अवज्ञा है जिनका भंग करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और वह अवज्ञा राज्य के विरुद्ध विद्रोह के रूप में की जाती है । इन कानूनों में लगान या राज्य की सुविधा के लिए व्यक्तिगत व्यवहार की व्यवस्था से है । यद्यपि इन कानूनों से कोई कठिनाई नहीं होती और उनको बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है । आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा का अधिकार कठिनतम अनुशासन के बाद प्राप्त होता है । यद्यपि आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा को गांधी अधिकतम खतरनाक अस्त्र मानते हैं । इस अवज्ञा का उद्देश्य चाहे जो भी हो, वह विरोधी को परेशान करती है । दूसरी ओर रक्षात्मक सविनय अवज्ञा ऐसे कानूनों की अनिच्छापूर्वक की जाने वाली अहिंसक अवज्ञा है । जो बुरे हैं और जिनको मानना आत्म-प्रतिष्ठा या मानवीय सम्मान के प्रतिकूल हैं । इस प्रकार निषेध की आज्ञा होते हुए भी शांतिपूर्ण आयोजनों के लिए स्वयंसेवकों का दल बनाना ऐसे ही प्रयोजनों के लिए सार्वजनिक सभाएँ करना ऐसे लोगों को प्रकाशित करना जिनमें हिंसा करने की बात नहीं है, या हिंसा के लिए जो उत्तेजित नहीं करते, रक्षात्मक सविनय अवज्ञा है, और ऐसा ही (रक्षात्मक) शांतिमय धरने का संचालन है, जिसका उद्देश्य प्रतिकूल आज्ञा के होते हुए भी उन चीजों या संस्थाओं से लोगों को अलग करना हो जिन पर धरना दिया जा रहा है ।[2] वास्तव में रक्षात्मक सविनय अवज्ञा एक ऐसा कर्तव्य है, जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है, जब विरोधी कठिनाई में हो ।

सारांश में कहा जा सकता है कि सविनय अवज्ञा असहयोग का उपसंहार और उग्रतम रूप है । गांधी इसे सशस्त्र क्रांति का पूर्ण कारगर और रक्तहीन स्थानापन्न बताते हैं । सविनय अवज्ञा असहयोग के दूसरे साधनों की अपेक्षा अधिक उग्र और शीघ्रगामी है तथा इसलिए उसमें अधिक खतरा है और इसके प्रयोग में अधिक सतर्कता की आवश्यकता है । गांधी के अनुसार असहयोग का प्रयोग जनता और समझदार बच्चे भी कर सकते हैं । किन्तु बिना सत्ता के भय के स्वेच्छा से कानूनों का पालन, सविनय अवज्ञा की पूर्ण मान्यता है । इसलिए सविनय अवज्ञा का प्रयोग अंतिम साधन की तरह ही और कम से कम प्रारम्भ में चुने हुए व्यक्तियों द्वारा हो सकता है ।[3]

भावात्मक प्रक्रिया

सत्याग्रह के आन्दोलनात्मक या संघर्षात्मक प्रक्रिया में सत्याग्रही केवल अन्याय का ही प्रतिकार करता है । इस प्रतिकार में वह व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भाग

1. यंग इंडिया : भाग-1, पृष्ठ 987
2. यंग इंडिया : भाग-1, पृष्ठ 983
3. यंग इंडिया : भाग-1, पृष्ठ 223

लेता रहता है । इसमें सिर्फ अन्याय का ही प्रतिकार होता है न कि किसी रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रयोग वह कर पाता है जिसके कारण सत्याग्रह एकांगी हो जाता है । वास्तविक सत्याग्रह तो वह है जिसमें रचनात्मक कार्यक्रमों को पूर्णरूपेण महत्व मिलता है । सत्याग्रह की भावनात्मक प्रक्रिया एक जीवन-पद्धति है । मानव के सम्पूर्ण जीवन के पहलुओं के प्रति उसमें एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण अन्तर्निहित है-यह ऐसी जीवन जीने की प्रवृत्ति है जो जीवन-निर्माण, उत्थान तथा विस्तार के साथ चलने वाली विकासात्मक शक्तियों के अनुकूल है तथा जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के उत्पादन तथा रचनात्मक कार्यों के रूप में प्रकट होती है।[1] रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह का भावात्मक पक्ष है । अन्याय के प्रति,-प्रतिकार और नवीन व्यवस्था के निर्माण के लिए रचनात्मक कार्यक्रम ये दोनों सत्याग्रह के अविभाज्य अंग है । रचनात्मक कार्यक्रम को दूसरे शब्दों में अधिक और उचित रीति से सत्य एवं अहिंसात्मक साधनों द्वारा पूर्ण स्वराज्य की अर्थात् पूरी-पूरी आजादी की रचना कहा जा सकता है । सत्य एवं अहिंसा के माध्यम से सम्पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति का अर्थ है-जात-पात, वर्ण या धर्म के भेद से रहित राष्ट्र के प्रत्येक घटक की एवं उसमें भी उसके गरीब से गरीब व्यक्ति की स्वतंत्रता की सिद्धि ।

गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह को पूर्णतः अहिंसक और सृजनात्मक बनाता है । यह कार्यक्रम गांधीवादी सत्याग्रह रूपी आत्मा का शरीर है । यह सत्याग्रह का सहवर्ती और पूरक तत्व है ।[2] गांधी ने देश में अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाई किन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक "रचनात्मक कार्यक्रम" में निम्नलिखित कार्याक्रमों का उल्लेख किया है :

साम्प्रदायिक एकता :

हमारा देश विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का देश है । यहाँ आये दिन साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं जो देश की एकता एवं अखण्डता में बाधक सिद्ध होते हैं । इन स्थितियों से निपटने के लिए गांधी ने विभिन्न सम्प्रदायों में एकता का प्रयास किया । इस साम्प्रदायिक एकता के द्वारा एक सदस्य, एक दूसरे के धर्म का आदर करना सीखे, जिससे आपसी प्रेम एवं सहयोग के आधार पर एकता कायम हो सके'। गांधी ने कहा, मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा जिसमें ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं होगा जिसमें विविध सम्प्रदायों में पूरा मेल-जोल होगा ।[3]

अस्पृश्यता निवारण:

अस्पृश्यता की समस्या भारत के लिए एक बहुत बड़ी समस्या है । यह समस्या कई दृष्टियों से गांधी के विचार में स्थिर हुई । उन्हें एक ओर अस्पृश्यों की कठिनाई

---

1. दिवाकर, आर० आर० : सत्याग्रह, पृष्ठ 89
2. सीतारमैया, वी० पी०: गांधी और गांधीज्म, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 170
3. यंग इंडिया, 10-9-1981

का निदान ढूढ़ना था तथा दूसरी ओर उन्हें धर्म परिवर्तन के मोह से बचाते हुए अन्य वर्गों के समीप लाना था । अस्पृश्यता के निवारण के लिए उन्होंने सर्वप्रथम हरिजनों के मंदिर प्रवेश को मान्यता देने की प्रथा चलाई, साधारण मंदिरों, आम मदरसों और कुओं का उपयोग करने की स्वतंत्रता के साथ ही साथ बहुतों के लिए खास तौर पर अच्छे मंदिर और मदरसे बनाये जाने के रचनात्मक कार्यो पर जोर दिया । गांधी ने इसी कारण ''हरिजन'' शब्द' रचना की । वे इस समस्या के सजीव निराकरण के लिए हरिजन सेवक संघ की स्थापना किये । उन्होंने हरिजनों के आर्थिक जीवन को सुधारने के लिए घूम-घूम कर हरिजन कोष एकत्रित किया । अस्पृश्यता निवारण से उन्होंने हिन्दू धर्म को बचाने का पूरा-पूरा प्रयास किया ।

शराब बंदी :

शराब व्यक्ति की बरबादी का एक बहुत बड़ा कारण है । यह व्यक्ति की नैतिकता को समाप्त कर देता है । इसके द्वारा समाज में एक बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती है । उनका विचार है कि जब तक गाँव और शहरों के मनुष्यों की मादक वस्तुओं की लत न छूटेगी । तब तक उनमें सत्याग्रह के लिए आवश्यक नैतिक प्रयत्न की क्षमता पैदा न होगी । उनका विचार है कि प्रेमपूर्ण सेवा कार्य द्वारा और निर्दोष मन बहलाव के स्थान खोजकर नशाखोरी को प्रभावित किया जा सकता है और उनकी बुरी आदत छुड़वाया जा सकता है ।[1]

खादी :

खादी गांधी दर्शन का केन्द्र बिन्दु है । इसी को वे आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक जीवन का आधार स्वीकार करते हैं । खादी की उन्नति का अर्थ है संसार के इतिहास में सबसे बड़े पैमाने पर स्वेच्छा पर आधारित सहयोग, चतुरतापूर्ण प्रयास और इमानदारी । खादी के द्वारा वे मानव की खाद्य एवं वस्त्र सम्बंधी समस्या का समाधान दूढ़ने का प्रयास करते हैं । खादी के साथ ही साथ उन्होंने चरखा को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया । उनके अनुसार चरखा पूर्ण जीवन का तत्व-दर्शन और अहिंसा का जीवित प्रतीक भी है ।[2] वे चरखे को अहिंसा की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते है ।[3] इस प्रकार चरखा नवीन सत्याग्रही संस्कृति का प्रतीक बन गया । सत्याग्रही अनुशासन में रचनात्मक कार्यक्रम के अन्य भागों की अपेक्षा खादी पर गांधी के अधिक जोर देने का कारण यह है कि इस कार्यक्रम में लाखों लोग भाग ले सकते हैं और उन्नति की माप अंकों में हो सकती है । इस प्रकार खादी के द्वारा वे व्यक्तियों की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहते हैं ।

1. गांधी : कांस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, पृष्ठ 4
2. चरखा संघ परिषद भाग1, 5-12-1944, पृष्ठ 2
3. हरिजन : 6.5.1939, पृष्ठ 1113

अन्य ग्रामोद्योग :

गांवों को स्वावलम्बी बनाने के लिए और उनके पुनसर्गठन के लिए यह आवश्यक है कि केवल खादी ही नहीं अपितु अन्य लाभप्रद घरेलू उद्योग जैसे साबुन बनाना, कागज बनाना, चमड़ा, तेल, हाथ से पीसना और इस तरह से सामाजिक जीवन के लिए जरूरी एवं महत्वपूर्ण अन्य दूसरे उद्योग एक दूसरे पर आश्रित हैं । घरेलू धन्धों के पुनरुद्धार से गाँव आज की तरह केवल कच्चे माल के उत्पादक मात्र न रह जाएंगे, अपितु वे स्वावलम्बी इकाइयाँ हो जाएंगे । शहरों की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे और शहरों द्वारा गांवों का शोषण बन्द हो जाएगा[1] इस प्रकार इन उद्योग-धन्धों से प्रत्येक व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी ।

गाँवोंकी सफाई :

गाँवो का पुनर्सगंठन गाँवों के स्वास्थ्य एवं सफाई कीओर पर्याप्त ध्यान दिये बिना अधुरा रहेगा। वे भारतवर्ष के गाँवों को जो आज कूड़ों के ढेर के समान है सफाई का आदर्श स्थान बना देना चाहते हैं । इससे गाँवों में उत्पन्न होने वाली बीमारियोंका समाधान किया जा सकता है । इस भौतिक वादी युग ने जो श्रम और बुद्धि के बीच अलगाव उत्पन्न हो गया है, उसके कारण हम अपने गाँवों के लिए इतने लापरवाह हो गये हैं कि उसकी उन्नति की तरफ लोगों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं हो रहा है । इसका परिणाम यह है कि सुहावने गाँवों के बदले, कीचड़ जैसे गाँव देखने को मिलते है । गाँधी गाँवों की सफाई की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट कराकर एक स्वच्छ वातावरण तैयार करना चाहते थे ।

बुनियादी तालीम :

इस तालीम का उद्देश्य यह है कि गाँव के बच्चों को सुधार संवार कर उन्हें गाँव का आदर्श बालक बनाया जाय । इसकी योजना खासकर उन्ही को ध्यान में रखकर तैयार की गयी । बुनियादी तालीम हिन्दुस्तान के तमाम बच्चों को चाहे वे शहर या गाँव के हों उन्हे हिन्दुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्वों के साथ जोड़ देती है। तत्कालीन प्रचलित शिक्षा व्यवस्था से जीवन की आवश्यकताओं एवं भारतीय संस्कृति से कोई संबंध नहीं रह जाता था । इस कारण गाँधी ने बुनियादी तालीम जो भारतीय संस्कृति को सम्पन्न बनाती है, उस तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया । यह तालीम बालकके मन और शरीर दोनों का समुचित विकास करती है । बालक को अपने देश तथा संस्कृति के साथ जोड़कर योग्य नागरिक बनाती है ।

---

1. हरिजन : 29-12-1934, पृष्ठ 256

प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरता :

भारत एक अशिक्षित देश है । यहाँ की बहुत बड़ी जनसंख्या अशिक्षित है । उन्हें शिक्षित बनाने के लिए गाँधी ने प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम चलाया । प्रौढ़ शिक्षा से गाँधी का अर्थ है गाँव में निवास करने वाले प्रौढ़ों को शिक्षित करना । यह शिक्षा अधिकतर मौखिक शब्दों द्वारा होगी । इस मौखिक शिक्षा केसाथ ही साथ प्रौढ़ोंको साक्षर भी बनाना चाहते हैं ।[1] साक्षरता विकास में सहायता देती है । इसलिए पढ़ने-लिखने और अंकगणित की शिक्षा, निरक्षर मनुष्यों की सेवाका एक आवश्यक अंग है । क्योंकि उससे व्यक्ति अधिकाधिक, विकास की ओर अग्रसर होता है ।

स्त्रियों की उन्नति :

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति प्राचीन काल से ही बड़ी दयनीय रही है। स्त्री को अपना मित्र या साथी मानने के बदले पुरुष ने अपने को उसका स्वामी माना है । उनका कार्यक्षेत्र वे सदैव घर की चहारदीवारी मानते रहे हैं। यह स्थिति गाँधी के लिए असहनीय थी । अतः उन्होंने अहिंसा की नींव पर रखे गये जीवन की योजना में जितना और जैसा अधिकार पुरुषको अपने भविष्य की रचना का है, उतना ही और वैसा ही अधिकार स्त्री को भी अपना भविष्य बनाने का है । किन्तु अहिंसक समाज-व्यवस्था में जो अधिकार मिलते है, वे किसी न किसी कर्त्तव्य या धर्म के पालन से प्राप्त होते हैं, अतः यह भी स्वीकार करना चाहिए कि सामाजिक आचार-व्यवहार के नियम स्त्री और पुरुष दोनों आपस में मिलकर और राजी-खुशी से तय करे । अहिंसक समाज में स्त्रियों को दबाकर रखने की भी गुंजाइश नहीं है । अहिंसा पर अधारित जीवन योजना में स्त्रियों को अपने भाग्य निर्धारण का वही अधिकार है, जो पुरुषों को है ।[2] गाँधी हमेशा इस बात पर जोर देते हैं कि स्त्रियों की परम्परागत और वैधानिक स्थिति, इस प्रकार सुधर जाय, कि वे पुरुषों के साथ समानता के स्तर पर आ जाय और सेवाकार्य में उनकी वास्तविक सहायिका बनें ।

आरोग्य के नियमों की शिक्षा :

आरोग्य के लिए गाँधी शारीरिक श्रम को आवश्यक मानते हैं । इसलिए उन्होंने श्रम की महत्ता पर विशेष बल दिया है । तथा मनुष्य के लिए साधारणतः स्वास्थ्य का पहला नियम यह मानते है कि आरोग्य शरीर में निर्विकार मन का निवास होता है। मन और शरीर के वीच अटूट संबंध है । यदि मन निर्विकार हो तो वह हर तरह की तनाव से मुक्त हो जाता है । स्वास्थ्य के कायदे और आरोग्य शास्त्र के नियम जैसे-शुद्ध

---

1 गाँधी : कांस्ट्रक्टिव प्रोग्रामः पृष्ठ 13-14

2 गांधी का स्ट्रक्टिव प्रोग्रामः पृष्ठ 14

विचार स्वच्छ हवा, तन कर खड़े रहना, बैठना साफ-सुथरा रहना आदि । ये एकदम सरल और सादे है और आसानी से सीखे जा सकते है । किन्तु आरोग्य के नियमों में वे यह भी स्वीकार करते है कि आरोग्य की शिक्षा सिर्फ अपने लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज तथा वातावरण को भी आरोग्यशास्त्र के द्वारा शिक्षित किया जाय।

आदिवासियों की सेवा :

हमारे देश की एक बहुत बड़ी जनसंख्या आदिवासियों की है जो विकसित सभ्यता एवं संस्कृति से बहुत दूर है । उन्हें अपने साथ विकसित होने का मौका देना, उन्हें शिक्षित करना, उनके साथ प्रेम तथा सद्भावना रखना आदि को आधार मानकर अपने रचनात्मक कार्यक्रम मे स्थान दिया । उनका यह प्रयास है कि इन आदिवासियों को विकसित होने का अधिक से अधिक मौका दिया जाय । इससे उनकी उन्नति के साथ ही साथ ठोस राष्ट्र सेवा भी होगी।

राष्ट्रभाषा का प्रचारः

सम्पूर्ण भारत के साथ व्यवहार करने के लिए भारतीय भाषाओं में से एक भाषा की आवश्यकता है जिसे ज्यादा से ज्यादा तादात में लोग जानते और समझते है तथा जो लोग नही जानते है वे लोग आसानी से उसे सीख सकते है । इस कारण हिन्दी को ही उन्होनें राष्ट्रभाषा के रुप में स्वीकार किया हैं । उनका कहना है इस राष्ट्रभाषा को इस तरह से सीखना चाहिए जिससे सबलोग इसकी दोनो शैलियो को समझ बोल सके तथा उसे दोनो लिपियों मे लिख सकें । राष्ट्रभाषा के द्वारा भारतीय का भी ज्ञान और प्रचार राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक है । अतः एक राष्ट्रभाषा के प्रचार का प्रयास किया है ।

प्रान्तीय भाषा का प्रयोग :

हमारे देश के विभिन्न प्रान्तो की अपनी अपनी भाषाएँ है जिसे विभिन्न प्रान्त में रहने वाले लोग आसानी से बोल और समझ लेते हैं कोई ऐसी हमारी अपनी भाषा नहीं हो पायी है जिसके द्वारा हर प्रान्त के रहने वाले लोग दूसरे प्रान्त में रहने वाले लोगों के साथ आसानी से बोल और समझ ले । इसलिए उन प्रान्तों की भाषाओं को विकसित होने का अवसर मिलना अति आवश्यक है । केवल प्रान्तीय भाषाएँ ही जनता की शिक्षा की माध्यम हो सकती है । आज हम अपनी मातृ भाषा के मुकाबले अंग्रेजी से ज्यादा चिपके हुए है जिसका परिणाम, यह हुआ कि पढ़े लिखे और राजनैतिक दृष्टि से जागृत उंचे तबके के लोगों के साथ आमलोगों का संबध बिल्कुल टूट गया है । इस खाई को केवल प्रान्तीय भाषाएँ ही भर सकती है और इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रान्त में हर प्रान्तीय भाषाओ का अध्ययन तथा अध्यापन का मार्ग प्रशस्त किया जाय । इसी कारण गांधी ने प्रांन्तीय भाषाओं के प्रयोग पर बल दिया. ।

आर्थिक समानता :

गांधी आर्थिक प्रश्न पर मनुष्य की नैतिक भलाई के दृष्टिकोण पर विचार करते हैं। गांधी के अनुसार आर्थिक समता के लिए कार्य करना अहिंसक स्वतंत्रता की घनिष्ठ कुँजी है, क्योकि अहिंसक राज्य तब तक असंभव थे, जब तक गरीबों और अमीरों के बीच की गहरी खाई पाट नहीं दी जाती है और उनका संघर्ष समाप्त नहीं हो जाता । आर्थिक समता से गांधी का तात्पर्य पूर्ण समता की स्थित नहीं वरन लगभग समता की परिस्थिति है ।[1] उनके आर्थिक समता का अर्थ यह है कि हर एक के पास रहने को ठीक मकान, खाने को काफी सन्तुलित आहार और शरीर ढकने के लिए काफी खादी हो । उनका आर्थिक दृष्टिकोण अपरिग्रह है. अस्तेय. शरीर श्रम और स्वदेशी केआदर्शों में निर्धारित हुआ है।

किसानों का संगठन :

स्वराज कों इमारत बनाने में किसानों की संख्या सबसे बड़ी है । भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश में जनता का अर्थ है किसान । उनका विचार है कि खेतों में काम करनेवाले मजदूरों को जीवित रहने के लिंए अच्छी मजदूरी मिलनी चाहिए । गांधी सहकारी खेती और सहकारी पशुपालन के भी समर्थक रहे हैं । उनका विचार है कि विभिन्न राजनैतिक संगठन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसानो का दुरुपयोग न करें अपितु उनकी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करें ।

मजदूरों का संगठन :

गांधी का विचार है कि मजदूरों में रचनात्मक कार्य करने वालो का प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिए । मजदूरों का नैतिक और बौद्दिक विकास जिसमे मजदूर न केवल अपनी आर्थिक स्थित ही सुधारने के योग्य बन जाय, वरन, उत्पादन के साधनों के दास होने के स्थान पर उनके स्वामी बन जाय । पूंजी को मजदूरों का स्वामी नही सेवक होना चाहिए । मजदूरो के अपने अलग संघ होने चाहिए । इन संघो को चाहिए कि मजदूरों की सामान्य और वैधानिक शिक्षा के लिए रात्रि पाठशालाओं का और उनके बचो के लिए बुनियादी स्कूलों का प्रबन्ध करें । मजदूरों का संघ मजदूरों को सफल अहिंसक हड़ताल के संचालन को बैधानिक शिक्षा दे।

विद्यार्थियों का संगठन :

विधार्थियों को गुमराह न करने के लिए गांधी हमेशा सचेष्ट रहते है । वे विद्यार्थियों को राजनैतिक दलों को झगड़ो से, हड़तालो से, गुप्त और अनुचित दबाव डालने के तरीकों से और साम्प्रदायिकता से अलग रखने के प्रयास में थे । वे चाहते

1. हरिजनः 18-8-1940, पृष्ठ 253

है कि विद्यार्थी सूत काते और घरेलू धन्धों से बनी चीजों का उपयोग करें। राष्ट्रभाषा सीखे और अपनी मातृ भाषा का साहित्य भण्डार भी । उन्हें अपने जीवन को जोखिम में डालकर साम्प्रदायिक दंगों को अहिंसक आचरण द्वारा दबाने के लिए तैयार रहना चाहिए तथा अपने जीवन तथा समय का सदुपयोग अध्ययन में करना चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा :

प्राकृतिक चिकित्सा का अर्थ है पूर्ण मन, शरीर के पूर्ण स्वाथ्य के लिए उत्तरदायी है । इसके लिए ईश्वर में शोधपूर्ण विश्वास आवश्यक है । इस जीवित श्रध्दा के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु प्राकृतिक चिकित्सा के विरुद्ध है । ईश्वर की अनूभूति इसे असंभव कर देती है कि मन में कोई भी अशुध्द या व्यर्थ विचार आये । जहाँ विचार की शुध्दता है वहाँ रोग असंभव है । जीवन के इस मार्ग में यह आवश्यक है कि मनुष्य सभी ज्ञात प्राकृतिक चिकित्सा को पृथ्वी, आकाश, हवा, सूर्य का प्रकाश और जल - इन्हीं पाँच तत्वों का उपयोग चिकित्सा के साधनों की तरह करना चाहिए ।[1]

गाँधीं जी के उपर्युक्त रचनात्मक कार्यक्रम देश और काल की परिस्थिति के अनुसार बदलते रहे हैं । किन्तु उनके बुनियादी सिध्दान्त स्थानीय या तात्कालिक नहीं है । ये सर्वव्यापी और परिणाम के लिए दूरभाषी है । ये कार्यक्रम एक व्यक्ति या सम्पूर्ण समाज के द्वारा क्रियान्वित किये जा सकते हैं ।इस कार्यक्रम का मूल उद्देश्य है समाज की अहिंसक पुनरर्चना और इसके लिए विकेन्द्रित आर्थिक संगठन, सामाजिक समता और एक आदर्श एवं उचित प्रकार की शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता। कुछ आलोचक इसे सुधारवादी और प्रतिक्रियावादी बताते है । अतः मुख्य प्रश्न टल जाता है और क्रान्ति स्थापित हो जाती है किन्तु गांधी क्रांति शब्द का उपयोग आलोचकों की अपेक्षा गहरे अर्थ में करते हैं क्रान्ति से उनका अर्थ है कि जिन मूल्यों एवं प्रतीको से मनुष्य के व्यवहार और सामाजिक संस्थाओं का निर्धारण होता है, उनमें व्यापक परिवर्तन का होना जिसे गांधी अहिंसक क्रांति की संज्ञा देते है । उपर्युक्त रचनात्मत कार्यक्रम इसी अहिंसक क्रान्ति का जीवित अंग है । यह रचनात्मक सत्याग्रह के सन्देश को ग्रामवासियों तक पहुँचाता है, उनको स्वावलम्बी बनाता है और उनमें अधिकार एवं कर्तव्यों की चेतना जागृत करता है । यह कार्यक्रम सत्याग्रही सेना के साधारण सिपाही को तथा प्रत्येक ब्यक्ति को सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्य में भाग लेने का अवसर देता है । सबसे महत्वपूर्ण बात आज के सन्दर्भ में भी कही जा सकती हैं कि तीव्र आलोचना के बाद भी रचनात्मक कार्यक्रम का कोई व्यावहारिक विकल्प अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है, भविष्य अन्धकार में है । इस रचनात्मक कार्यक्रम को केवल भारतीय सरकार ही नहीं, अपितु विश्व की सभी सरकारे इसे किसी न किसी रुप में स्वीकार करके तथा अपने नागरिको की सुखसुविधा के लिए एवं भौतिक वादी युग से सम्भव तक ऊबकर और बीमारी, बेरोजगारी, असन्तोष आदि को समाप्त करने के लिए गांधी के उपर्युक्त

1. हरिजन : 7-4-1946, पृष्ठ 68-69, 19-5-1946, पृष्ठ 148

रचनात्मक कार्यक्रम को लागू करने का प्रयास कर रहें है । संभवतः बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर ऐसा महसूस किया जा रहा है कि सबको भोजन और वस्त्र उपलब्ध कराने क़े लिए गांधी का रचनात्मक कार्यक्रम ही सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं।

सत्याग्रह के अस्त्र :

सत्याग्रह गांधी जी के चिन्तन का सबसे महत्वपूर्ण प्रयत्न है । गांधी जी ने सत्याग्रह को अपने स्वतंत्रता आन्दोलन के एक अस्त्र के रूप में प्रयोग कर उसके परिणाम को विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया । सत्याग्रह का प्रयोग स्वयं अपने शरीर, मन, इनद्रियों जीवन की गतिविधियों, परिवार, पड़ोसी राज्य और समाज में कर सकते हैं । यह प्रत्येक अन्याय, असत्य, हिंसा शोषण, कटुता,निरकुंशता के विरुद्व एक महान अस्त्र है । यह जीवन के विभिन्न पक्षो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, और राजनैतिक क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकता है ।

गांधी जी ने संघर्ष के मुख्य हथियारों के रूप में असहयोग, सविनय अवज्ञा, उपवास, हिजरत, हड़ताल बहिष्कार और धरना को प्रतिपादित किया है।[1] ये सभी सत्याग्रह के रूप है परन्तु कुछ- कुछ सूक्ष्म भिन्नतायें लिये हुए जिसकी विवेचना आवश्यक है । गांधी जी असहयोग को राजनीतिक समस्याओं का एक सर्वश्रेष्ठ निदान मानते है। जनता द्वारा राज्य और सरकार के हिंसक, अन्याय, शोषण पूर्ण कार्यो के प्रति सहयोग न करना ही असहयोग मानते हैं ।[2] यदि राज्य लोक कल्याणकारी पथ का अनुगामी है तो जनता का सक्रिय सहयोग ही राज्य को राजनीतिक लक्ष्य को प्रदान करेगा । गांधी जी तो यहां तक कहते हैं कि तानाशाही सरकारे भी बिना जनता के सहयोग के नहीं चल सकती । उन्होनें जनता को यह अधिकार दिया कि उसे अनौचित्यपूर्ण, अनैतिक, भ्रष्ट और अधिकार कर्तव्य से च्युत सरकार का विरोध करना जरूरी है ।

यहां एक बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा हो जायेगा कि गांधी जी ने जब जनता को सरकार के विरोध का अधिकार प्रदान किया परन्तु यदि ऐसा करने से सरकार जनता के असहयोग से पतनोन्मुख हो गयी तब क्या होगा? अराजक की स्थिति में क्या होगा। यहाँ गांधी जी का उत्तर है कि असहयोग जनमत का शुद्विकरण है[3] अर्थात असहयोग के दौरान सत्याग्रह की शक्ति के कारण जनमत का उत्थान होगा, और यह उत्थान एक समानान्तर व्यवस्था को जन्म देगा जिस पर सरकार के पतन का कोई प्रभाव नहीं होगा । इस प्रकार जनमत पुनः लोक कल्याणकारी सत्ता का निर्माण करने में सफल हो सकेगी।

---

1. झावेरी : महात्मा, वाल्यूम -प्रथम ,1954, पृष्ठ 261-62
2. यंग इडिया: 1-3-1921
3. गाँधी : सत्याग्रह,नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद 1951, पृष्ठ 24

यदि वह ऐसा नही करती है तो गुलामी को आमंत्रित करती है । गांधी जी के शब्दो मे "यह अनादि काल से जनता का अनुमोदित अधिकार है कि वह ऐसे शासक की अवज्ञा करे जिसका शासन दुर्व्यवस्थित है ।"[1]

सविनय अवज्ञा सत्याग्रह की दूसरी शाखा है जो सत्याग्रह का अधिक सक्रिय रुप है । "असहयोग" के अन्तर्गत केवल सरकार के साथ सक्रिय सहयोग न करना है और इस प्रकार अपना मूक विरोध प्रकट करना है, वहीं "सविनय अवज्ञा" के प्रत्यक्ष एवं सक्रिय रूप से, विनम्रता के साथ सरकार की आज्ञाओं को मानने से अस्वीकार कर देना है । इसी कारण असहयोग का प्रयोग सार्वजनिक जीवन में सुरक्षित रूप से प्रयुक्त हो सकता है, जब कि सविनय अवज्ञा केवल अंतिम क्षणों में कुछ चुने हुए स्थलों पर प्रयुक्त हो सकती है ।

गांधी जी के लिए यह असयहोग का अंतिम चरण है ।इसका उपयोग केवल जन आन्दोलन के लिए ही है । गांधी जी ने इसे सशस्त्र क्रान्ति का एक पूर्ण प्रभावशाली एवं रक्तहीन स्थानापन्न कहा है।[2] गांधी जी ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि यह देश के कानून के विरुद्ध सविनय अर्थात अहिंसात्मक आचरण प्रकट करती है ।[3] इसका अर्थ शासन के अनैतिक नियमों का उल्लंघन करना है । यद्यपि स्वयं अवज्ञा शब्द एक विनाशकारी तथा समाज विरोधी शब्द है, परन्तु गांधी जी ने इसके साथ सविनय शब्द जोड़ कर इसे अनुकुल बनाया । इतना ही नही, अवज्ञा के स्थान पर सविनय शब्द पर अधिक जोर देते हैं क्योंकि शब्द सभ्यता एवं अहिंसात्मक रूझान को इंगित करती है । इस सन्दर्भ में गांधी जी का विचार तो यहां तक था कि राज्य के एक अनैतिक कानून की अवज्ञा करना वास्तव में एक उच्चतर नैतिक कानून का पालन करने के सदृश है ।

राघवन अय्यर के अनुसार गांधी जी के सविनय अवज्ञा का विश्लेषण दो अलग तथ्यों पर आधारित है प्राकृतिक अधिकार और सार्वजनिक कर्तव्य । यह प्रत्येक व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है वह उस चीज का विरोध कर सकता है जो की उसकी अर्न्तचेतना के विरुद्ध है, और यह उसका कर्तव्य भी है कि वह एक अन्यायी कानून या अन्यायी व्यवस्था का विरोध करे । इस प्रकार मनुष्य के अधिकार व कर्तव्य दोनों की सक्रियता गांधी जी के सत्याग्रही सिद्वान्त मे है ।[4]

"सविनय अवज्ञा" गांधी जी के अनुसार नागरिक प्रतिरोध से भिन्न है क्योकि सविनय अवज्ञा के अन्तर्गत सत्याग्रह कानून को तोड़ते समय उसके दण्ड को भोगने

---

1. भाषण, पृष्ठ 205
2. यंग इंडिया : भाग 1, पृष्ठ 938
3. यंग इंडिया : भाग - 1, पृष्ठ 22
4. अय्यर, राघवन; द मारल एण्ड पॉलिटिकल थाट आफ महात्मा गांधी, आक्सफोर्ड, लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1978, पृष्ठ 278

के लिए पूर्ण रुपेण तैयार रहता है, वह बिना किसी प्रतिरोध के संघर्ष भाव से राज्य द्वारा दी गयी हर सजा को स्वीकार करता है । जबकि एक सामान्य प्रतिरोध शासक और उसके द्वारा दिये गये दण्ड.दोनों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष कर सकता है । यहाँ वह हिंसा का सहारा भी ले सकता है । जब कि सविनय अवज्ञा पूर्ण रूप से अहिंसात्मक संघर्ष है ।वास्तव में एक सत्याग्रही जेल भोगते समय सामान्य प्रतिरोधी की भांति जेल में नियमों का विरोध नहीं करता है । बल्कि जेल के अनुशासन और जेल सम्बन्धित कठिनाइयों को सहर्ष स्वीकार करता है । वास्तव में उसका जेल प्रवास जेलर को यह विस्वास दिला देता हैं कि यह कोई सामान्य चोर या डकैत नहीं है और उसका उद्देश्य कहीं जेलाधिकारियों को प्रताणित करना नही है ।[1]

गांधी जी ने नागरिक अवज्ञा और अपराधी अवज्ञा में अन्तर किया है ।[2] सर्वप्रथम सविनय अवज्ञा कभी भी अराजकता का अनुगमन नहीं करेगा जबकि अपराधी अवज्ञा अराजकता को बढ़ावा दे सकता है । दूसरा यह है कि राज्य अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए अपराधी अवज्ञा का दमन करेगा । जबकि नागरिक अवज्ञा अपनी अर्न्तचेतना को राज्य नियमों के अधीन कर लेगा तीसरा यह है कि नागरिक प्रतिरोध, कभी अस्त्र नहीं उठाता है, वह राज्य के लिए, कष्टकर नहीं है जैसा कि वह जनमत के आवाज का प्रतिनिधित्व करता है । वह तो केवल निरंकुश राज्य के लिए खतरनाक है, प्रजातांत्रिक राज्य के लिए नहीं । यदि एक राज्य निरंकुश और भ्रष्ट होता है तब सत्याग्रही उनके बनाए गये कानूनों का विरोध करता है।

नागरिक अवज्ञा राज्य के उन कानूनों का पोषक है जो जनता की अर्न्तचेतना और नैतिक मूल्यो पर आधारित है । इसलिए ऐसी अवज्ञा राज्य में कभी भी कानून विहीनता की स्थिति नही ला सकती । वास्तव में गांधी जी के अनुसार अपनी अर्न्तचेतना की आवाज को न मानना आपराधिक अवज्ञा है क्योकिं ऐसा करके हम न केवल अपनी आत्मा का हनन करते है वरन् उस निर्माता का भी अपमान करते है जिसने हमें यह आत्मा दी ।[3]

सत्याग्रह का एक अन्य रूप उपवास है जिसे गांधी जी सत्याग्रही का आग्नेय अस्त्र मानते है । यह भी अन्याय का विरोध करने एवं बुराई करने वालो का हृदय बदलने और स्वयं अन्यायी के ह्रदय के शुद्दिकरण हेतु एक प्रभावकारी साधन है । किन्तु इसका प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता हैं, जिसमे उच्च कोटी का आध्यात्मिक बल हो । यह परिवर्तन का एक नैतिक उच्च तरीका है, जिसमे दबाव के लिए कोई स्थान नही । यह पूर्ण आत्मभिब्यक्ति द्वारा आत्मशुद्धता का प्रतीक है । उनका कहना था कि जैसे

1. ए पिलग्रिमेज फार पिस : अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1950, पृष्ठ 88
2. यंग इंडिया : 9-1-1922
3. यंग इंडियाः 3-11-1921

जैसे हमारा शरीर मिटता है वैसे - वैसे हमारी आत्मा उन्नत होती है ।[1] इसका प्रयोग किसी भी दशा में दबाव डालने के लिए उपवास नहीं बल्कि भूख हड़ताल की जाती है। उपवास सत्याग्रह है और भूख हड़ताल दुराग्रह है ।

गांधी जी ने वैयक्तिक व सार्वजनिक दोनों प्रकार के उपवास की चर्चा की । सार्वजनिक उपवास जनता की आत्मशक्ति में वृद्वि करता है और वैयक्तिक रूप से व्यक्ति की बुराई को दूर करने में सहयोग प्रदान करता है । इसके द्वारा बुराई करने वाले की अच्छी प्रकृति को उसकी अन्तरात्मा के छुपे हुए स्थानों से निकाल कर उसके आचरण में ढाला जा सकता है ।

गांधी जी द्वारा स्वतः किये गये उपवासों ने लोकमत को बहुत प्रभावित किया। यह स्वयं गांधी जी के जीवन में प्रयोग के धरातल पर कसा हुआ सिद्वान्त है । गांधी जी के शब्दों में .... जनता हृदय की भाषा को ही समझती है और उपवास जो बिल्कुल निःस्वार्थ है, हृदय की भाषा है।[2] अर्थात सत्याग्रही स्वयं को कष्ट देकर विरोधी को उसके प्रति अपने निःस्वार्थ स्नेह का परिचय दे देता है और यह स्नेह विरोधी के ह्दय को छूकर उसे परिवर्तित होने के लिए बाध्य कर देता है ।

पुनः सत्याग्रह के अहिंसक साधनों में "हड़ताल"एक विशिष्ट साधन है गांधी जी के अनुसार हड़ताल का अर्थ होता है काम बन्द करना । हड़ताल का उद्देश्य है सरकार और जनता की भावनाओं पर प्रभाव डालना ।[3] इसके अर्न्तगत न केवल अपने निजी कार्य, व्यवसाय नौकरी आदि बन्द करना सम्मिलित है वरन स्कूल और कालेज न जाना भी शामिल हैं । यह एक प्रतीक की तरह कार्य करता हैं । इस अस्त्र से जनता आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित होती है यहाँ उल्लेखनीय यह है कि गांधी जी हड़ताल को पूर्णतया स्वैच्छिक अहिंसक तथा प्रेमपूर्ण पद्वति पर आधारित मानते है । साथ ही गांधी ने इस हथियार का प्रयोग कभी -कभी करने को ही कहा था, क्योंकि बार- बार प्रयोग से यह प्रभावित हो जायेगा ।[4]

''बहिष्कार''सत्याग्रह का एक अन्य प्रभावशाली रूप है । हड़ताल की भांति इसके प्रयोग मे भी गांधी जी ने सावधानी बरतने की चेतावनी दी थी, क्योंकि इसमें हिंसक तत्वों के आ जाने की अधिक आशंका रहती है । बहिष्कार दो प्रकार का है एक सामाजिक बहिष्कार दूसरा आर्थिक बहिष्कार। गांधी जी के अनुसार सामाजिक बहिष्कार का अर्थ किसी व्यक्ति को अनिवार्य सामाजिक सेवाओं से वंचित करना नही हैं, अपितु उसकी अनैतिकता में सहयोग का अभाव है।[5]

---

1. यंग इंडिया : 23.101924. पृष्ठ 354
2. कन्वर्शेसन : पृष्ठ 127
3. यंग इंडिया : भाग- 1, पृष्ठ 23
4. गाँधी, सत्याग्रह : पृ० 24
5. यंग इडिंया : भाग- 1, पृष्ठ 302

आर्थिक बहिष्कार का मौलिक स्वरुप गांधी जी द्वारा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का सिद्वान्त है । उन्होंने कहा था कि अहिंसक युद्व को भी शोषक द्वारा उत्पादित वस्तु का बहिष्क़ार सम्पूर्णतः वैध है, क्योंकि यह शोषित का कर्तव्य भी नहीं रहा है कि वह अपने शोषक के साथ वाणिज्य संबंध बनाये रखे ।

''धरना" सत्याग्रह का एक अन्य तरीका है । परन्तु गांधी जी के दर्शन में अहिंसक धरना, सामान्य धरनों से भिन्न है । जो धरने चले आ रहे हैं, उनके गांधी जी कटु आलोचक रहे है ।[1]

उन्होंनें कहा था- धरना एक पाशविकता है क्योंकि यह अनुचित दबाव डालने का बड़ा ही भोड़ा तरीका है । यह एक प्रकार की कायरता है क्योंकि जो धरना देने बैठता है वह जानता है कि कोई भी उसके शरीर को रौंदता हुआ आगे नही बढ़ेगा । लेकिन वह जानता है कि जब किसी को अपने से ऊपर जाने से चुनौती देता है तब अपने सामने वाले की स्थिति को बहुत अपमान जनक बना देता है।[2]

वास्तव में धरना हमेशा अहिंसक होना चाहिएं, जिसे गांधी जी ने कहा है कि अहिंसक धरना देने वाले का यह कर्तव्य है कि वह जनमत को जगायें, उपयुक्त वातावरण निर्मित करे तथा सामने वाले व्यक्ति को चेतावनी दे और उसका हृदय परिवर्तन कर ही दे। इसमें धर्म का भय, असम्मान पुतले जलाना, गाड़ना, भूख हड़ताल आदि को सम्मिलित नही किया गया है । पिकेटिंग में उपवास को स्थान तभी दिया जायेगा जबकि दोनों पक्ष में से किसी ने कोई एक नया समझौता भंग किया है, परन्तु दोनों ही दलों में आपस में आदर व स्नेह है ।[3]

गांधी जी के सत्याग्रह सिद्वान्त का एक अमोघ और अद्भूत स्वरुप है, "हिजरत" जिसका अर्थ होता है स्वेच्छा से स्थान का परित्याग । यहाँ बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किन परिस्थितियों में सत्याग्रही स्थान का परित्याग करेगा? गांधी जी का मत है कि जब अत्याचारी या आततायी सीमा के बाहर अत्याचार करे, उसका आतंक, उत्पीडन, असह्य हो जाय, ऐसी परिस्थिति में यदि सत्याग्रही यह अनुभव करे कि यदि यह स्थान का परित्याग नही करेगा तो यह अपना आत्म संयम खो बैठैगा या तो सत्याग्रही क्रुद्व हो जायेगा, कमजोर हो जायेगा, आत्म सम्मान पर अनैतिक दबाव अनुभव करेगा और उसे मृत्यु या परित्याग में से किसी एक को चुनना होगा तो श्रेयष्कर यही है कि वह उस स्थान का त्याग कर दे । तभी उसके सत्याग्रही मूल्य सजीव रह पायेंगे।

गांधी जी के शब्दों में जब सत्याग्रही उत्पीडन का अनुभव करने लगे और उसे प्रतीत हो कि वह आत्म सम्मान खो कर वहाँ नहीं रह सकता । शक्ति रहते हुए भी

1. यंग इडियाः पृष्ठ298
2. यंग इंडिया : 2.9.1921, पृष्ठ 33
3. हिस्ट्री आफ कांग्रेसः पृष्ठ 765

वह हिंसक नही होना चाहता है, सच्चा अहिंसक ही बना रहना चाहता है तब उसे विशिष्ट स्थान का परित्याग करना ही होगा ।[1]

सत्याग्रह के प्रयोग का इतिहास :

'सत्याग्रह' के विविध सिद्वान्तों का प्रयोग गांधी जी ने स्वतः अनेक स्थलों पर किया था । यह 'अस्त्र' उनके जीवन की व्यापक प्रयोगशाला में प्रयोगसिद्व था । गांधी जी ने अपने जीवन मे सर्वप्रथम सत्याग्रह को जन आन्दोलन का स्वरुप दक्षिण अफ्रीका में श्वेत शासको द्वारा भारतवासियों के विरूद्व अपनाई गयी संगठित रंग - भेद नीति के कारण था । वहाँ गांधी जी जब पहली बार डरबन के न्यायालय में गये उन्हें योरोपिय मजिस्ट्रेट ने अपनी पगड़ी उतारने का आदेश दिया । उन्होने आदेश पालन नही किया जिससे अदालत से उन्हें बाहर आना पड़ा। जिससे डरबन से एक सप्ताह बाद जब उन्होंनें प्रिटोरिया जाने के लिए रेलगाड़ी में प्रथम श्रेणीं के डिब्बे में यात्रा प्रारंभ की तब उन्हे मोरित्सवर्ग में डिब्बा परिवर्तित करने का आदेश मिला, जिसका पालन न करने के अभाव में उन्हें सामान सहित नीचे गिरा दिया गया। सारी रात वे ठंड में अंधेरे विश्राम गृह में बैठे रहे । यहां तक कि कोचवान का मार भी खाये । धीरे-धीरे उन्हें भारतीयों के साथ किये जा रहे अमानवीय अत्याचारों का आभास हो गया । उन्होंने तर्क से, अनुरोध से, अनुनय विनय से, शासक जाति की न्याय बुद्वि और सोई मानवता को जगाने का निरन्तर प्रयत्न किया । उन्होंने समस्त भारतीयों तथा मानव जाति को उसके सोये हुए सम्मान को दिलाने के लिए संघर्ष छेड़ने का निश्चय कर लिया । इस तरह दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के कटु अनुभवों में उन्हें दक्षिण अफ्रीका की घाटी में सत्याग्रह के बीज को बोकर उनके अंकुरण की दशा को समझने का सुन्दर अवसर प्रदान किया।

भारत आते ही गांधी जी ने सत्याग्रह के विविध प्रयोग किये । चपारन में गांधी जी का प्रथम भारतीय आंदोलन था । इसमें सत्याग्रह द्वारा गांधी जी ने भारत भूमि पर पहली विजय पायी । इसके फलस्वरुप पहले एक आयोग की नियुक्ति हुयी । जैसा कि गांधी जी चाहते थे और इस आयोग ने किसानों की शिकायत को दूर करने के लिए जो अनुशंसा की वे भी गांधी जी की इच्छानुसार थी । गांधी जी की यह उपलब्धि बड़ी सरल रही क्योंकि इसके लिए न तो नागरिक अवज्ञा आन्दोलन किया गया और न असहयोग आन्दोलन । यह गांधी जी का व्यक्तिगत आन्दोलन था और उन्होंने भी इस आन्दोलन का संचालन बहुत ही सामान्य रूप से किया था ।

इसी तरह खेडा सत्याग्रह नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के रूप में पूरी शक्ति के साथ छेड़ा गया था । यह सही है कि इस सत्याग्रह का प्रत्यक्ष प्रतिफल संतोषजनक

1. हरिजनः 20-5-1939, पृष्ठ 133-34

नहीं था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह आन्दोलन सम्पूर्णतः असफल हो गया। इसमे तुरन्त प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष प्रतिफल का स्वाद अवश्य नही था किन्तु सैद्वान्तिक दृष्टि से सत्याग्रह सफल हुआ क्योंकि जब शासकीय कार्यकर्ता ने देखा की जनता आत्म समर्पण करने से इन्कार करती है तो वार्ता के तहत निर्णय करने की सिफारिश किया। इसके द्वारा प्रत्यक्ष प्रभाव निश्चय ही वह मूल्य थे जिसके माध्यम से गुजरात के किसानों में व्यापक जागरण फैला । उनकी कायरता सहनशीलता, प्रमाद और आलस्य का लोप हो गया और उन्हें आत्म निर्भरता और आत्मविश्वास के मूल्यों का स्वाद मिला। यह फल निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रभावकारी नहीं थे परन्तु दुरगामी ठोस परिणाम के परिचारक रहे।

इसी तरह बायकोभ में छेड़ा गया आन्दोलन सत्याग्रह की इतिहास यात्रा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है इसका प्रयोग रुढ़िग्रस्त ऐसे हिन्दुओं के लिए था जो कि अस्पृश्यता को धार्मिक परम्परा मानते थे, एक विद्युत प्रवाह की भांति था । जिन सत्याग्रहियों ने इसमें भाग लिया था उनका स्वैच्छिक आत्मपीडन प्रशंसनीय था । उससे निश्चय फल की प्राप्ति हुयी । राज्य की सहायता से प्रतिरोध करने वाले ब्राह्मणों का अवरोध दल गया । इस अवसर पर बायकोम में दिये गये अपने भाषण में गांधी जी ने कहा था कि अभी कुछ ही वर्ष पहले इस मंदिर के सामने की सड़क पर से अवर्ण हिन्दुओं को चलने की अनुमति नही थी जिनके लिए उन्होने कठिन संघर्ष किया और अब तो मंदिर के दरवाजे भी उनके लिए खुले हैं। इस सत्याग्रह का प्रभाव बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा । मंदिर, सड़क कुएं आदि अवर्ण हिन्दुओं और सवर्ण हिन्दुओं के लिए बराबर सिद्व हो गया ।

सत्याग्रह के इतिहास में बारडोली सत्याग्रह का अनन्य स्थान है । नौकरशाही की संपूर्ण शक्ति भी इस शांतिपूर्ण सत्याग्रह को नहीं रोक सकी और न ही रोक सकती थी इस सत्याग्रह का प्रभाव इतना अधिक था कि बारडोली के सत्याग्रह नायकों को सारे भारत के लोग श्रद्वा और आदर्श की दृष्टि से देखने लगे ।

इसके बाद तो राष्ट्रीय धरातल पर सत्याग्रह के कई आन्दोलन हुए । 1919 के सत्याग्रह से लेकर 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन तक सत्याग्रह कथा मिली जुली प्रतिक्रियाओं से भरी पड़ी है । अलग - अलग स्वरुपों में कभी नागरिक अवज्ञा और कभी असहयोग आन्दोलन के रूप में, सत्याग्रहों की लम्बी कतार लम्बी अवधि तक चलती रहे । सत्याग्रहने स्वराज्य की पूर्ण पीढिका भी बनायी । सत्याग्रह ने सम्पूर्ण भारत में जनजागृति की लहर फैला दी, जिससे सम्पूर्ण भारत स्वराज्य की ओर उन्मुख हो गया ।

उपरोक्त विवेचन में गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह के अर्थ, सत्याग्रह के अस्त्र, सत्याग्रही संहिता आदि से सत्याग्रह के सैद्वान्तिक पक्ष का पता चलता है, अब देखना यह है कि इसका मानव जीवन के व्यावहारिक पक्ष मे किस तरह का प्रयोग है और हमें जीवन के विविध पक्षों मे किस सीमा तक इससे लाभान्वित हो सकते हैं ।

गांधी जी ने इसे मानव जीवन के दो पक्षों में प्रस्तुत किया है, एक तो व्यक्तिगत जीवन में, दूसरा सामाजिक जीवन में ।

व्यक्तिगत जीवन में सत्याग्रह का प्रयोग मानव स्वंय अपने आप कर सकता हैं जैसे अपने आप में छुपे हुए मानवीय सदगुणों को जागृत करना तथा अपने अन्दर में बुराइयों पर विजय पाना, असत्य पर सत्य की विजय, घृणा पर प्रेम की विजय, छल कपट, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, चोरी, शोषण पर सहृदयता, सद्भावना, अनुराग, अहिंसा, न्याय आदि की स्थापना आदि सभी क्रियाएं सत्याग्रह के अस्त्रों व सत्याग्रही संहिता के सिद्वान्तों को विधिवत आत्मसात, करने व उनके अनुकूल करने में संभव है ।

इस प्रकार एक पिता अपने अयोग्य पुत्र के प्रति, मित्र शत्रु के प्रति, असहयोगी पड़ोसी के प्रति, पुरजन, परिजन। स्वजन, कुटुम्बी तथा जातिगत धृणा, साम्प्रदायिक दंगों आदि में इसका व्यापक प्रयोग व संधर्ष के समाधान के तथ्य छिपे है

इस तरह सत्याग्रह के मूल्य व्यक्तिगत स्वर पर मानव जीवन को संधर्षो से छुटकारा दिला सकते है, मानव के हृदय, मन, शरीर व आचरण को शुद्व कर सकते हैं, तो इनका प्रयोग मानव के सार्वजनिक जीवन में बहु आयामी हों सकता है, क्योंकि गांधी जी बसुधैव कुटुम्बकम् की धारणा में विश्वास करते थे ।

विश्व में जितने भी मानव समुदाय है, चाहे वे जाति, धर्म, रूप, रंग, भाषा खानपान, रीतिरिवाज, कला संस्कृति, सभ्यता से भिन्न क्यों न हो, उनके जीवन की मानव प्रकृति की अवधारणा लगभग समान ही होती है । प्रत्येक शरीर में घृणा,- प्रेम, दुःख - सुख, हानि - लाभ, अपयश - यश, पराजय -जय के भाव निहित होते हैं। यही सब उपरोक्त वर्णिति असमानता में मानव के सामुदायिक जीवन में संघर्ष को जन्म देती है।

जबकि सम्पूर्ण धरातल पर सभी मानव समान है, तो राज्य - राज्य का, 'राष्ट्र-राष्ट्र का' विकसित - अविकसित का, निर्धन - धनवान का संघर्ष क्यों है ?

राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, विज्ञानवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद नीति, का बखेड़ा क्यों साकार है? शक्तिशाली राज्य निर्बल राज्यों के अस्तित्व को क्यों मिटाना चाहते है ?

आतंकवाद का भयानक विष क्यों जन जीवन में फोड़ा बन गयी है ? दक्षिण अफ्रीका के काले लोगो के प्रति गोरे लोगो की घृणा की भावनाएं आज तक क्यों जीवित हैं ? राज्यो की सीमा विस्तार नीति, परमाणु बमों का निर्माण, मानव जीवन में प्रेम के बीजांकुरण के लिए नही है बल्कि विधाता की मांगलिक सृष्टि के विनाश की पूर्ण सूचना है ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर गांधी के सत्याग्रह चिन्तन की श्रृंखला में जुड़े है। गांधी जी के अनुसार यदि सत्याग्रह के अस्त्रों एवं सत्याग्रही संहिता को राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्तर पर पूर्ण निष्ठा के साथ प्रयोग किया जाय तो विश्व शांति का

रास्ता खुल सकता है। उनके अनुसार चाहे हिन्दु, मुस्लिम, ईसाई सिक्ख, पारसी धर्मों एवं कट्टर धर्मान्धता का संघर्ष हो या समाज में रंग भेद नीति हो या राज्यों के आपसी संघर्ष हो, शीत युद्ध, सीमा विवाद, सशस्त्र सेनाओं द्वारा मिसाइल युद्ध हो या पारस्परिक सहयोग सद्भावना का अभाव हो सभी संघर्षो के समाधान का एक मात्र प्रयोग सत्याग्रह है । परिणामः सम्पूर्ण वसुधा एक परिवार की सीमा में सिमट जायेगी । वहाँ का सबसे बड़ा कानून प्रेम होगा । जीवन आध्यात्मिकता का "भोगवाद" अर्थात विश्व के सभी मानव के प्रति सेवा की भावना का मूल्य चरितार्थ हो जायेगा ।

अतः हम यह पाते है कि सत्याग्रह गांधी के दर्शन में जहां अपने आप में आत्मशुद्व का प्रतीक है वही विश्व के सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति असीम प्रेम का शाश्वत नियम भी है ।

■

पंचम अध्याय

धार्मिक विचार

गांधी जी सत्य तथा अहिंसा में विश्वास करते थे अतः धर्म उनके लिये संसार की नैतिक अनुशासन की व्यवस्था है। इसीलिए उन्होंने हिंसा तथा नास्तिकता की निन्दा की है। गांधी जी ने धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्व स्वीकार किया है। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में संसार के प्रत्येक कार्य को चाहे वे व्यक्तिगत क्षेत्र में हो या सामाजिक क्षेत्र में शामिल किया है। अपने धर्म की व्याख्या करते हुये उन्होंने कहा कि धर्म से उनका अभिप्राय किसी औपचारिक तथा रुढ़िवाद धर्म से नहीं है बल्कि संसार के व्यवस्थित नैतिक शासन से है। गांधी जी का धर्म सम्प्रदायवाद नहीं है। गांधी जी ने सम्प्रदायवादी धर्म के स्थान पर मानवतावादी धर्म का पोषण किया जिसका चरम लक्ष्य सेवा है। गांधी जी के धर्म के प्रमुख तत्व हैं- सत्य, प्रेम और अहिंसा।

भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है।[1] ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग छप्पन बार हुआ है। वहाँ उसका प्रयोग व्युत्पत्ति-लक्ष्य अर्थों में न होकर आचार संहिता के लिये हुआ है। धर्म का व्युत्पत्ति-मूलक शाब्दिक अर्थ है। - धारण करना। संस्कृत शब्द कोषों में धारण करने के प्रायः दो तात्पर्य लिये गये है- (i)लोक अथवा प्रजा को धारण करना,[2] (ii) पुराणात्माओं के द्वारा धारण किया जाना। दार्शनिक ग्रन्थों में धर्म शब्द का पृथक तात्पर्य ही लिया गया है।[3] वहीं इसका प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के इन स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नित्यवर्ती गुणों अथवा विशेषताओं के लिये हुआ है जो उसको धारण किये रहती है और उससे पृथक नही की जा सकती जैसे अग्नि से दाहकरण, पृथ्वी से गन्ध, जल से शीतलता, मनुष्य से मनुष्यता।[4] महर्षि व्यास के अनुसार धर्म का विशिष्ट लक्षण है- धारण करना, धर्म प्रजा को धारणा करना है। अर्थात धर्म व्यष्टि और समृष्टि के जीवन का आधार है।[5] महर्षि कणाद के अनुसार लौकिक उन्नति और पारलौकिक कल्याण की सिद्धि के साधन को ही धर्म कहते हैं।[6]

धर्म शास्त्रों में धर्म शब्द का दूसरा तात्पर्य दिया गया है। वहाँ धर्म का प्रयोग पूर्ण आत्माओं के द्वारा धारण किये जाने वाले वर्णाश्रम धर्मों, कर्तव्य, कर्मो, विधि, निषेधों, सदाचारों, और पूर्ण आदि के लिये हुआ है।[7] तैतिरियोपंनिषद में आचार समावर्तन

---

1. काणे, पी०पी० : अर्थशास्त्र का इतिहास, खण्ड प्रथम, पृष्ठ 3
2. धर्म शब्द के शाब्दिक अर्थ के लिये संस्कृति शब्दकोष देखें
3. इलायुद्धकोश में धर्म शब्द का तात्पर्य देखें
4. हिन्दी शब्द सागर : खण्ड 2, देखे
5. महाभारतः कर्णपर्व, 69-58
6. वैशेषिकसूत्र 2
7. अमरकोष देखे

संस्कार के अवसर पर स्नातक को जीवन में धर्म पालन करने का उपदेश देता है।[1]. यहाँ आचार का धर्म पालन से अभिप्रायः वर्णाश्रम धर्म के सम्यक निर्वाह से है। इस तथ्य की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित धर्म के तीन स्कन्धों ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम से हो जाती है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में भी धर्म शब्द का प्रयोग वर्णाश्रम तथा साधारण धर्मो के पालन के लिये ही हुआ है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में धर्म शब्द से अभिप्रायः वेदविहित कर्म लिया गया है।[4] मनुस्मृति में वेद स्मृति, सदाचार और आत्मा द्वारा विहित कर्मों को धर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[5] महर्षि जैमिनी के अनुसार वेदविहित कल्याणकारी यज्ञादि क्रियाओं में प्रेरणा प्रदान करने वाले प्रदात की संज्ञा धर्म है।[6]

महाभारत में कहा गया है कि कभी भी दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार मत करो जैसा तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे प्रति करे, यही धर्म का सर्वस्व है।[7] जैन धर्म में अहिंसा को परम धर्म की संज्ञा दी गयी है। महाभारत में भी एक स्थान पर धर्म शब्द की उक्त परिभाषा का अनुमोदन, किया गया है।[8] हेमचन्द्र ने धर्म का अर्थ सत्संगं एवं अर्हत् अर्थात् सामर्थ्यवान कहा है।[9]

मत्स्यपुराण में धर्म का प्रयोग देवता विशेष के लिये हुआ है।[10] मनु ने अपनी संहिता में धर्म शब्द के उपर्युक्त दोनों तात्पर्यों दार्शनिक और धर्मशास्त्रीय का अद्वितीय सामंजस्य उपस्थित किया है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण हैं- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय, निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध है।[11] श्रीमद्भागवत पुराण में धर्म के तेरह लक्षेणो का वर्णन मिलता है। - श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेघा, क्रिया, बुद्धि, लज्ञा, वपु शान्ति, सिद्धि, कीर्ति,[12] इस प्रकार मनु और व्यास ने धर्म के उक्त लक्षणों में अध्यात्म और व्यवहार का अनूठा समन्वय उपस्थित किया है। कालिदास ने धर्म को त्रिवर्ग धर्म और अर्थ तथा काम का सार कहा है।[13]

1. धर्मपर्व तैत्तिरीय उपनिषद 1/11
2. त्रयो धर्मस्कन्धा, छन्दोग्य, उपनिषद, 2/23
3. गीता : 2/47, 60 देखे
4. श्रीमद्भगवदगीता 5-1-44
5. मनु, 2/12
6. जैमिनी सूत्र 22
7. महाभारतः शांतिपर्व, 261/9
8. महाभारतः 110/11
9. हेमचन्द्रानुशासनम्
10. मत्स्यपुराण, 3/10
11. मनुं० 6/92
12. शब्दकल्पदृम, द्वितीय, पृष्ठ 783 पर उदृत भागवतपुराण का श्लोक
13. कुमार सम्भव, 5/38

धर्म की उपर्युक्त सभी परिभाषायें धर्म के एक अथवा अनेक तत्वों पर प्रकाश डालती है। प्रायः अधिकांश परिभाषायें धर्म के नैतिक पक्ष पर ही बल देती है । कणाद और मनु द्वारा दी गयी समन्वयवादी परिभाषायें धर्म के निहितार्थ को उद्‌घाटित करने में पर्याप्त मात्रा में समर्थ है । महाभारत द्वारा पुष्टि धर्म का निष्पत्तिमूलक अर्थ (धर्म) के मौलिक और तात्विक अर्थ को प्रगट करता है। यथार्थ में धर्म व्यष्टि और समष्टि के जीवन का मूलाधार है यही कारण है कि महान नीति विशारद विष्णुगुप्त ने धर्म को वास्तविक मित्र की संज्ञा दी है उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु शरीर के नाश के साथ नाश को प्राप्त हो जाती है, किन्तु धर्म ही एकमात्र ऐसा मित्र है जो मरने पर भी मनुष्य का साथ् नही छोड़ता।[1] "भारतीय मनीषियों के अनुसार धर्म से ही शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है। किन्तु तभी जब मनुष्य अपने धर्म को अर्थात आत्मगौरव को अपने जीवन में स्वंय अपने प्रयत्न से उद्‌घाटित कर ले। मनुष्य का धर्म है मनुष्यता, मनुष्यता स्वयं मनुष्य में अव्यक्त या अज्ञातावस्था में विद्यमान रहती है अथवा अव्यक्त या अज्ञात या प्रसुप्ति मानवता कें व्यक्त करण का ज्ञान या जागरण को ही मानव के आत्मगौरव की उपलब्धि कहते हैं। उपनिषदों में इसी कारण आत्मा को जानो, अर्थात अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने का उद्‌घोष किया गया है।[2]

महात्मा गाँधी के अनुरूप धर्म की व्याख्या :

मौलिक रूप से सभी धर्मों में एक ही बात का प्रति-पादन हुआ है। सत्य को ही सार्वभौम धर्म के रूप में माना गया है। यह वह सत्य है जिससे मानव की आत्मा का विकास हो सके, जिससे वह आत्म साक्षात्कार मोक्ष या निर्वाण प्राप्त कर सके अथवा परमात्मा मे लीन हो सके इसी आशय से धर्म की व्याख्या करते हुए गाँधी जी ने विचारों को प्रस्तुत किया है कि "यह हिन्दू धर्म नहीं है जिसे मैं निश्चित रूप से सभी धर्मों से ऊपर मानता हूँ बल्कि यह वह धर्म है जो हिन्दू धर्म का अतिक्रमण करता है जो किसी के स्वभाव को परिवर्तित कर देता है, जो किसी को आन्तरिक सत्य से अभेद्‌य सम्बन्ध करा देता है, तथा जो सदैव पवित्र करता है यह मनुष्य स्वभाव का स्थायी तत्व है जो पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है और जिसके कारण आत्मा तब तक अत्यन्त व्याकुल रहती है जब तक कि अपने आपको अपने नियमिक को पहचान नही लेती एवं नियमिक और अपने मध्य के वास्तविक व्यवहार की अनुभूति नही कर लेती।"[3] स्पष्ट है कि गाँधी विचार में धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। अपितु यह मानव स्वभाव का स्थाई तत्व है। इसी के आधार पर सत्य का साक्षात्कार आत्मा की स्वाभाविक अनुभूति परमात्मा एवं आत्मा के वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।

धर्म मुख्य रूप से व्यक्तित्व का विकास करता है, यह विकास नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के आधार पर ही सम्भव है। सत्य ही वह नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्व

1. हितोपदेशः 1/59
2. वृहदारण्यक उपनिषद 2-4-5
3. यंग इंडियाः 12-5-1920

है जिसके सम्बल से व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्तित्व के विकास का तात्पर्य है बौद्धिक मानव का ज्योर्तिमय तत्व में बदल जाना, अज्ञान से ज्ञान की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना। इसलिये गाँधी जी ने कहा है कि हमारी सभी क्रियाओं में धर्म को व्याप्त रहना चाहिये। यहाँ धर्म का अभिप्राय सम्प्रदायवाद नहीं है इसका अभिप्राय है विश्व का नियमित नैतिक शासन पद्धति में विश्वास । यह कम सत्य नहीं है; क्योकि यह अदृष्ट है। यह धर्म हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, आदि धर्मों का अतिक्रमण करता है। यह उन सब का उल्लघंन नहीं करता, यह उन सबका समन्वय करता है और उन्हें सत्यता प्रदान करता है।[1]

विश्व के महान दृष्टाओं में एक ही सत्य को धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है। यह प्रतिपादन राष्ट्रभाषा या तर्क की दृष्टि से भिन्न हो सकता है परन्तु प्रतिपादित सत्य भिन्न नहीं हो सकता। जिसे ईश्वर में विश्वास नही है वह सत्य में अविश्वास करे यह आवश्यक नही है। बहुत से ऐसे नास्तिक विचार है जिन्हें ईश्वर की अदृश्य सत्ता मान्य नहीं है पर वे विश्व की नैतिक व्यवस्था एवं नैतिक मूल्यों को मान्यता प्रदान करते है। वे व्यवस्थापक के रूप में किसी सत्ता में विश्वास नहीं करते। उनकी नैतिक मान्यतायें सत्य को सर्वोपरि बतलाती है। गाँधी जी ने उनके भी विचारों का आदर किया और सत्य को ही ईश्वर के रूप में बतला कर उन नास्तिक विचारकों को अपने दृष्टि से ईश्वर को मानने के लिये बाध्य किया । इसी सत्य को उन्होंने धर्म के रूप में भी व्यक्त किया और इस प्रकार जिन्हे धर्म में नहीं अपितु सत्य में विश्वास हो सकता है। उन्हे भी सत्य धर्म मानने के लिये बाध्य किया । यह तो मानी हुई बात है कि कोई भी व्यक्ति बिना धर्म के नहीं रह सकता।

इस सन्दर्भ में पुनः गाँधी जी का विचार देखना आवश्यक है। कुछ लोग ऐसे है जो अपने तर्क के अहंकार में घोषणा करते हैं कि उनको धर्म से कोई मतलब नहीं है लेकिन यह उस व्यक्ति की तरह कथन है जो यह कहता है कि वह श्वांस तो लेता है पर उसके पास नाक नहीं है। चाहे तर्क से या अंतः प्रेरणा से या अन्धविश्वास से मनुष्य किसी प्रकार के दैविय सम्बन्ध को मानता है। उच्च अद्वैतवादी या नास्तिक एक नैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता को स्वीकार करता है और इसके व्यवहार के लिये कुछ अच्छी चीजें और अव्यवहार के लिये कुछ बुरी चीजें निर्धारित करता है। ब्रेडले ने जिसकी नास्तिकता प्रसिद्ध है; हमेशा अपने आन्तरिक दृढ़ विश्वास को प्रगट करने का आग्रह किया उसे सत्य बोलने के लिये अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ा फिर भी वह प्रसन्न रहा तथा कहा कि सत्य ही इसका अपना प्रतिफल है। ऐसी बात नहीं थी कि वह सत्य के व्यवहार से उत्पन्न सुख के विषय में पूर्ण चेतनाहीन हो। यह सुख वास्तव में पूर्ण सांसारिक नहीं है बल्कि दैविय सम्बन्ध के उद्‌गम स्थान से निकलता है इसलिये मैने कहा है कि "एक भी व्यक्ति जो धर्म को नहीं अपनाता वह धर्म के बिना न रहता है, न रह सकता है।[2]

---

1. हरिजनः 10-2-1940
2. यंग इंडियाः 23-1-1930

धर्म के विषय में गाँधी जी का विचार स्पष्ट है कि वे सम्प्रदाय को धर्म नहीं मानते। उनके लिये धर्म की प्राचीन व्याख्या ही मान्य है जिसमें यह बतलाया गया है कि जिस पद्धति से लोक का धारण या संचालन हो वह धर्म है क्योंकि उन्होंने स्वयं "धर्म" शब्द का व्युत्पति के आधार पर अर्थ नहीं किया फिर भी उनका आशय एक ऐसी पद्धति को स्वीकार करता है जिससे लोक का संचालन हो। यह भी स्पष्ट व्यक्त होता है कि गाँधी जी के लिये यह पद्धति जिससे लोक का संचालन हो सके विश्व कों नियमित नैतिक शासन पद्धति है तथा उसमें विश्वास आवश्यक है ऐसे विश्वास से धर्म की सीमा संकुचित नहीं होती। धर्म को किसी सम्प्रदाय तक ही सीमित कर देना अन्याय होगा। वास्तव में धर्म तो एक ही हो सकता है भले ही सम्प्रदायों की भिन्नता हो, फिर भी जैसा गाँधी जी का विचार है कि सम्प्रदायों की भिन्नता रहते हुए भी धर्म को उतना सहिष्णु होना चाहिये कि वह सम्प्रदायों का उल्लंघन न करे बल्कि उनका समन्वय करे।

परन्तु प्रश्न उठता है कि वह कौन सा धर्म हो सकता है जो सर्वमान्य हो। सबके कल्याण के लिये जो शाश्वत हो एवं जिसके प्रति किसी प्रकार का सन्देह न हो। इन प्रश्न का उत्तर देते समय ध्यान देना होगा कि किसी ऐसे ही धर्म को शाश्वत एवं नित्य कहा जा सकता है जो सम्पूर्ण मानव समुदाय की परिकल्पना मात्र न हो, वही धर्म सनातन कहा जा सकता है जो सम्प्रदायबाद के बन्धन से परे हो, जिसका प्रतिपादन सभी दृष्टाओं द्वारा हुआ हो एवं जिसकी मान्यता में नास्तिक भी सन्देह न कर सके। संक्षेप में यहाँ विभिन्न विचारों का अवलोकन आवश्यक है:

अर्थववेद में "ध्रुवा भूमि पृथ्वी धर्मणा धृतम्"[1] के आधार पर धर्म की मौलिक व्याख्या की गयी है। महाभारत के शांतिपर्व में "सत्याद्वर्मौदयश्चैव सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्" "एवं यतो धर्मस्ततः सत्यम्" का वर्णन मिलता है जिसका तात्पर्य है कि सत्य ही धर्म का मूल है, सब सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं जहाँ धर्म है वहां सत्य है बृहदारण्यक उपनिषद में पूर्ण स्पष्ट है कि "यौ वे सधर्मः सत्य वै तत्" अर्थात् जो धर्म है वही सत्य है, इसी प्रकरण में आगे पुनः कहा गया है--- "इसी से सत्य बोलने वाले के विषय में कहते हैं कि यह धर्म भाषण करता है तथा धर्म भाषण करने वाले से कहते है कि यह सत्य भाषण करता है क्योंकि ये दोनों सत्य और धर्म, धर्म ही है।[2] इशावोसापनिषद् में "सत्य धर्माय" का उल्लेख मिलता है।[3] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारकों के सत्य और धर्म को एक दूसरे से अभिन्न ठहराया। तत्वार्थ सूत्र में धर्म की व्याख्या विशेष विस्तार से हुई है जिसमें "उत्तम क्षमा मृदुता, ॠपुता, शोच, सत्य, संयम, तप, त्याग अकिंचिन्तता और ब्रह्मचर्य को धर्म माना गया है।[4] धर्म की सार्वभौमिक परिभाषा का विरोध उन व्याख्याओं से नहीं है जिनमें सत्य को ही धर्म माना गया है। वास्तव में सत्य के विशाल अन्तराल में इन सबका प्रतिष्ठापन हो जाता है, क्षमा मृदुता आदि इनमें से कोई भी सत्याविरोधी नहीं है इसीलिए सत्य को धर्म से समीकृत कर देना अनुचित न होगा।

1. अथर्ववेद, 12-1
2. वृहदारण्यक उपनिषद, 1-4-14
3. ईशोपनिषद, 15
4. तत्वार्थसूत्र, 9-6

सत्य और धर्म का यह तादात्म्य गाँधी विचार में भी हुआ है। गाँधी जी सत्य से अलग किसी धर्म के विषय में नहीं सोचते इसीलिए उन्होंने कहा है कि- मैं प्राय: अपने धर्म को सत्य का धर्म कहता हूँ।[1] कारण यह है कि कोई भी क्रिया जो सत्य का विरोध करे उसे धर्म नहीं कहा जा सकता । धर्म तो वही हो सकता है जो विश्वमान्य नैतिक मूल्यों के अनुकूल हो। सत्य से विपरीत होकर किसी मान्य नैतिक मूल्य की कल्पना नही की जा सकती इसलिये सत्य को परमधर्म के रूप में जानना श्रेयस्कर कहा जा सकता है ऐसे ही धर्म को पूर्ण शाश्वत एवं नित्य कहा जा सकता है जो अपूर्ण मानव समुदाय के बुद्धि द्वारा निष्पन्न नहीं है, जो सम्प्रदायवाद के बन्धनों से परे हो जिसका प्रतिपादन सभी द्रष्टाओं द्वारा हुआ हो और जिसकी नैतिक मान्यता में नास्तिक भी सन्देह नहीं कर सकता।

सत्य:

सत्य क्या है? यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है। गाँधी जी ने ''सत्य ही ईश्वर है'' ऐसा कहा, इस सत्य शब्द का प्रयोग ईश्वर या धर्म के साथ करते हुए गाँधी जी ने इसका विस्तृत अर्थ लिया है। वैसे ईश्वर के विषय में निष्कर्ष निकालते हुऐ उन्होंने यह भी लिखा है कि ''ईश्वर जीवन, सत्य और प्रकाश है, वह प्रेम है, वह परम नि:श्रेयस है।[2] यहाँ जीवन, प्रकाश, और परम नि:श्रेयस का प्रयोग सत्य के विशाल अर्थ में ही किया गया है। यह सत्य है क्या ? इस प्रश्न को गाँधी जी ने जटिल बताया है फिर भी उन्होंने अपने लिये इसका समाधान इस रूप में किया है कि'' जो अर्न्तवाणी का कथन है वही सत्य है ।''[3] यदि सत्य की यही कसौटी है तो यह कहा जा सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों की अर्न्तवाणी विभिन्न हो सकती है तो क्या सत्य भी भिन्न-भिन्न है? गाँधीजी का विचार है कि सत्य भिन्न नहीं है, मानव बुद्धि का विकास सबका समान, नही है एवं सबके अनुभव समान नहीं है इसलिये एक के लिये जो सत्य होगा वह दूसरे के लिये असत्य हो सकता है । अन्ततोगत्वा साधारण अनुभवों के आधार पर सत्य का विभिन्न अनुभव हो सकता है पर यदि वैज्ञानिक प्रयोग का ढंग अपनाया जाय तो सत्य के प्रयोग के लिये कुछ प्रारम्भिक औजारों की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए जो सत्य की खोज करना चाहते हैं उन्हे अनुशासनयुक्त नैतिक व्रत का पालन करते हुए अपने प्रयोग में विकास करना चाहिये।[4] परिणाम यह होगा कि प्राथमिक तैयारियों के आधार पर जो सत्य की अनुभूति होगी उसमें द्विविधा की शंका नहीं की जा सकती ।

---

1. राधाकृष्णन, जे०एच०, क्योरहेड : कन्टम्परेरी इडियन फिलासफी, पृष्ठ 20 पर गाँधी जी का लेख।
2. यंग इंडिया :11-10-1928
3. यंग इंडिया : 31-12-1931
4 यंग इंडिया : 31-12-1931

स्पष्ट है कि अन्तर्वाणी का कथन् ही सत्य है और उसकी प्राप्ति ही धर्म है। इस प्रकरण में कुछ अन्य दृढताओं के विचारों का भी अवलोकन आवश्यक है। बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार धर्म और सत्य एक ही है, धर्म सत्य के ही मार्ग का नाम है। महाभारत में सत्य, धर्म, प्रकाश और सुख को एक ही वस्तु बताते हुए कहा गया है कि "यत् सत्यं स धर्मोयों धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्त-सुखमिति"धर्म के बाह्य एवं विवादग्रस्त स्वरूप का निराकरण कर उसे सत्य की कसौटी पर नियत किया गया है। जैन शास्त्रों में सम्यक-ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक-चरित्र को रत्नत्रय के रूप में धर्म का सारतत्व कहा गया है। इन तीनों की अभिव्यक्ति अपने अन्दर दैवीय गुणों के विकास और पूर्णता के आभास द्वारा करना है। "प्लेटो का परम् निःश्रेयस उस सूर्य के समान है जो पूर्ण प्रकाशयुक्त है, गुफा के अन्धकार में रहने वालों को छाया का ही आभास होता है। गुफा के बाहर सुन्दर प्रकाश का दर्शन की परम् निःश्रेयस है। बुद्ध का भी यही कथन था कि अपने अन्दर झाकों और समझने का प्रयास करो। वेदो और उपनिषदों का भी यही सारतत्व है कि ज्ञाणीजन इन नेत्रों को अन्दर की ओर करते हैं और अपनी आत्मा को देख पाते है। ईसा मसीह ने कहा कि मानव कीं प्रतिभा ईश्वर की अभिव्यक्ति है। इस्लाम का मत है कि हमारी गर्दन से अधिक समीप खुदा है। इन सभी धर्मों एवं द्रष्टाओं ने उस एक ही सत्य की ओर अभिप्रेरित किया। प्रकाश का आत्मदर्शन, अन्तर्वाणी का अनुभव ही सत्य है, धर्म है। गाँधी जी का यहे कथन कि सत्य का धर्म ही धर्म है और अर्न्तवाणी का कथन है यह स्पष्ट करता है कि उस दिव्य तत्व की अनुभूति ही धर्म है जिसका वर्णन अनादिकाल से द्रष्टागण करते आ रहे है। वह दिव्य तत्व ही सत्य है और इसलिए सत्य ही धर्म है।

महात्मा गाँधी धर्म की व्याख्या करते समय इसके कई पहलू प्रदर्शित करते हैं एक तरफ तो वे सत्य को ही धर्म की संज्ञा देते है तथा दूसरी तरफ वे धर्म के रूप में अहिंसा को भी महत्व देते हैं। अतः विचारणीय प्रश्न है कि सत्य एवं अहिंसा में क्या सम्बन्ध है।

सत्य एवं अहिंसा का धर्म से सम्बन्ध :

गाँधी जी के लिये सत्य और अहिंसा से बढ़कर अन्य कोई भी मानवीय मूल्य नहीं है इसलिए उन्होंने कहा है कि "मेरे पास इस जगत में सत्य और अहिंसा के सिवा कोई दूसरी चीज नहीं है। आप सत्य और अहिंसा को पहचान लें तो दुनिया में बड़ा से बड़ा काम हो सकता है।"[1] सत्य और अहिंसा ही गाँधी जी के लिये सब कुछ था, लेकिन इन दोनों में पारस्परिक विरोध है ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्य ही की तरह अहिंसा भी सर्वशक्ति सम्पन्न और असीम है तथा ईश्वर का समानार्थक है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि अहिंसा को भी सत्य ही माना जायेगा। क्योंकि अहिंसा का आधार

1. प्रार्थना प्रवचन : भाग 2, 30-9-1947, पृष्ठ 14
2. हरिजन : 1-5-1937

भी सत्य ही है और पूर्ण अहिंसा सत्य से भिन्न नहीं है, इसीलिये सत्य का साक्षात्कार करने वाले तपस्वी ने चारो ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा ''हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है, अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असम्भावित है।''[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अहिंसा एवं सत्य में कोई विशेष अन्तर नही है। अहिंसा का शीर्ष बिन्दु ही सत्य है। दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध है और एक के बिना दूसरा अपूर्ण है तभी तो गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है कि अहिंसा के बिना सत्य, सत्य नहीं वरन् असत्य है।''[2] हिंसा के साथ सत्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता, इस प्रकार ''अहिंसा सत्य का प्राण है।''[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि अहिंसा और सत्य दोनों एक ही है, कारण यह है कि अहिंसा सत्य है और अहिंसा के बिना सत्य, सत्य नही है, अहिंसा सत्य का प्राण है, इसलिये गाँधीजी का अपने धर्म विषय में यह कहना कि ''सत्य का धर्म'' है और पुनः अहिंसा को परम् धर्म के रूप में बतलाना परस्पर विरोधी कथन नहीं है क्योंकि सत्य और अहिंसा समान है।

साधन एवं साध्य के रूप में धर्म :

उपर्युक्त विवेचन सत्य और अहिंसा की वास्तविकता में समझने के अभिप्राय से प्रस्तुत किया गया है जिसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं है लेकिन वास्तव में सत्य और अहिंसा दोनों मे एक् खास अन्तर है और उस अन्तर केसाथ ही धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है । वास्तविकता तो यह है कि अहिंसा और सत्य आपस में ओत-प्रोत हैं पर एक साधन है और दूसरा साध्य । इस सम्बन्ध में गाँधी जी यह विचार द्रष्टव्य है। अहिंसा के बिना सत्य की खोज और प्राप्ति असम्भव है, अहिंसा और सत्य आपस में इतने ओत-प्रोत हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना लगभग असम्भव है। वे एक सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं जिसका निर्धारण कि कौन पहलू उल्टा है या कौन सीधा है, असम्भव है, फिर भी अहिंसा साधन है, साधन तभी सम्भव है जब वे हमारी पहुच के भीतर हो और इसलिये अहिंसा हमारा सर्वोपरि कर्तव्य है।

सत्य और अहिंसा में जो खास अन्तर है वह साधन एवं साध्य के रूप में ही परिलक्षित होता है। इस अन्तर के साथ ही धर्म शब्द का इन दोनों शब्दों के साथ प्रयोग का अन्तर समझा जा सकता है। सत्य, साधन है उसी की प्राप्ति के लिये प्रत्येक द्रष्टाओं का उपदेश है, उसी की प्राप्ति का एक मात्र साधन अहिंसा है। साधन यदि ठीक है तो

1. गीतामाताः पृष्ठ 544.
2 सर्वोदय-तत्व दर्शन: पृष्ठ 54, यंग इंडिया, पृष्ठ 295
3. गीतामाता, पृष्ठ 544

साध्य की प्राप्ति निश्चित एवं असंदिग्ध है। अहिंसा के साधन के माध्यम से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। अहिंसा इस रूप में परम् कर्तव्य है। परम् कर्तव्य ही परम् धर्म है। इस प्रकार सत्य और अहिंसा के साथ धर्म शब्द के प्रयोग का अन्तर समझा जा सकता है कि सत्य धर्म हैं क्योंकि वह ध्येय है एवं अहिंसा धर्म है क्योंकि वह परम् कर्तव्य है इस प्रकरण में गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है कि "हमारे धर्म ग्रन्थों में वर्णित है कि सत्य से परे कोई धर्म नहीं है, लेकिन उसका कथन है कि अहिंसा परम् धर्मः कर्तव्यः है। मेरे ख्याल से धर्म शब्द का प्रयोग इन दोनों परिभाषाओं में भिन्न अर्थ सूचित करता है।"[1]

विश्व के अनेक धर्मोंकी विविधता पर दृष्टिपात करते हुए गाँधीजी ने इन सभी धर्मों को विभिन्न मतो के रूप में समझा है। उनके अनुसार धर्म अनेक नही हो सकते। धर्म तो एक है और वह पूर्ण है, सत्य है एवं सभी धार्मिक मतों का मूल है। स्पष्टतः धर्म से गाँधीजी का अभिप्राय प्रचलित धर्म से नहीं है बल्कि उस धर्म से है जो सभी धर्मों के मूल में है जो हम लोगों को अपने सृष्टा का साक्षात्कार कराताहै। "परन्तु महात्मा गाँधी ने इन विभिन्न धार्मिक मतो का प्रयोग धर्म के रूप में ही किया है और वे धर्म की अनेकता के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त करते हैं कि "जैसे प्रत्येक वृक्ष का एक ही तना होते हुए भी बहुत सी डालियाँ और पत्तियाँ होती है उसी प्रकार सच्चा और सम्पूर्ण धर्म एक ही है परन्तु जब वह मानवीय माध्यम से होकर गुजरता है, तब उसके अनेक रूप बन जाते है।"[2] अतः स्पष्ट है कि गाँधी के अनुसार धर्म एक ही है। अनेक धर्मों या धार्मिक मतो की रचना मानवीय दृष्टि के भेद एवं संस्कृति भेद के कारण हुई है।

अब तक के विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि धर्म शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया गया है। प्रथम तो उस धर्म के विषय में बतलाया गया है जो एक है, पूर्ण है, सत्य है। दूसरी उन अनेक धर्मों को भी धर्म के रूप में माना जाता है जो धार्मिक मत या सम्प्रदाय कहे जा सकते है। देखा जाता है कि साधारण जन में धर्म शब्द का प्रचलन इस दूसरे अर्थ में ही होता है और वे जानते ही नहीं मानते भी हैं कि धर्म का वास्तविक स्वरूप या धर्म का आदि और अन्त ये धार्मिक मत ही है। जिस किसी धार्मिक मत से वे सम्बन्धित हैं उसी मत को वे सर्वश्रेष्ठ धर्म मानकर अन्य मतो की उपेक्षा करने को भी तैयार रहते हैं। परन्तु गाँधी जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "धर्म का अभिप्राय सम्प्रदायवाद नही है। धर्म का अभिप्राय है, विश्व की नियमित नैतिक शासन पद्धति में विश्वास। इसी विश्वास के साथ उन्होंने लिखा भी है- मेरे प्रयोग में आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है नैतिक। धर्म का अर्थ है नीति और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया हो वही धर्म है।[3]

---

1. हरिजनः 20-3-1936
2. सर्वोदय : नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, मई 1955, पृ० 30
3. गाँधी : आत्मकथा, प्रस्तावना, पृष्ठ 9

बार-बार महात्मा गाँधी का यह कहना है कि विश्व का नियमित नैतिक पद्धति में विश्वास ही धर्म है या जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया गया हो वही धर्म है। यह प्रश्न उठता है कि क्या यह मत उन्हें नास्तिकवाद के निकट नहीं ले जाता। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि नैतिकता को धर्म के साथ अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार नैतिकता ही धर्म है। किन्तु कुछ विचारक नैतिक सिद्धान्तों को धार्मिक मानने के पक्ष में नहीं है और इस प्रकार नैतिक सिद्धान्त को कभी - कभी नास्तिकवाद के अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है । अतः हम यही नास्तिकवाद एवं धर्म में अन्तर स्पष्ट करना चाहेगें।

नास्तिकवाद की स्पष्ट व्याख्या समझने के लिये श्री गोपराज रामचन्द्र राय गौरा का विचार यहाँ उद्धत करना आवश्यक है। श्री गौरा ने नास्तिकवाद के विषय में लिखा है कि "मेरा अनुभव है कि नास्तिकवादी दृष्टि जात-पाँत और सम्प्रदाय आदि के भेदभाव के बिना सबके साथ मिलकर काम करने की प्रथा के लिये अनुकूल भूमिका उपस्थित करती है। नास्तिकवाद स्वीकार करता है कि मनुष्य और मनुष्य को अलग करने वाली जाति और धर्म की दीवारें एकदम गिर पड़ती है फिर कोई हिन्दू या मुसलमान या ईसाई नही रहता, सब मनुष्य हो जाते हैं।"[1] श्री गौरा के इस विचार से स्पष्ट होता है कि नास्तिवाद के अनुसार धर्म की दीवारें समाप्त हो जाती है और मानवता का विकास इन धर्मों के ह्यास से असन्दिग्घ हो जाता है। उनका विचार है कि धर्म या सम्प्रदाय मनुष्य को मनुष्य से अलग करते है। यदिकोई हिन्दू धर्म को मानने वाला है तो वह ईसाई या मुसलमान धर्मावलम्बी से भेदभाव रखता है, एवं ईसाई या मुसलमान हिन्दू धर्म से यदि ये धर्म की दीवारें न रहे तो मानव -मानव के समीप आयेगा प्रेम और सौहार्द बढ़ेगा, मानवता का विकास होगा और किसी प्रकार का भेदभाव न रह जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नास्तिकवाद धर्म की दीवारों को समाप्त करके मानवता का विकास चाहता है परन्तु यदि यथार्थ दृष्टि का उपयोग किया जाय तो जितने भी धर्म हैं वे सभी मानवता का ही विकास चाहते हैं। उनमें सत्य और अहिंसा की शिक्षा ही मिलती है। गाँधी जी ने इस दृष्टिकोण को सामने रखकर धर्म का खण्डन नास्तिकवादी पृष्ठभूमि में नहीं किया क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि दुनिया के विभिन्न धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं। जहाँ तक हम एक ही उदृष्ट स्थान पर पहुचते हैं तो हमारे भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाने में क्या हर्ज है ? गाँधी जी के इस प्रश्न में नास्तिकवाद का भेद स्पष्ट है। क्योंकि गाँधी जी ने माना है कि जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया गया हो वही धर्म है, परन्तु साथ ही वे विभिन्न धर्मों का खण्डन करने को तैयार नहीं जान पड़ते क्योंकि वे शुद्ध धार्मिक दृष्टि से उन धर्मों को देखते है, और इसलिए उनका मत बन गया है कि सभी धर्म निर्दिष्ट पथ है जों एक लक्ष्य तक पहुचाते हैं। यदि नास्तिकवाद धर्म को दीवार समझे जिससे मानव, मानव से अलग होता है तो यह तो उस मानव का दोष है जो धर्म को शुद्ध दृष्टि से नहीं देखता। धर्म

1. गौराः गाँधी नास्तिक संवाद, पृष्ठ 35

का इसमें क्या दोष है ? यदि धर्म का सच्चा ज्ञान रहे तो धर्म बन्धन बनकर टिक नही सकती, दिवारे ढह जाती हैं। इसी अभिप्राय से गाँधीजी ने कहा है कि "धर्म का सच्चा ज्ञान भिन्न-भिन्न धर्मों के बीच की दीवारे तोड़ डालता है।"[1]

स्पष्ट है कि गाँधी जी धर्म की दीवार नहीं मानते, दिवारे तो अज्ञानता के कारण होती है। ये सत्य ज्ञान से ध्वस्त हो जाती है। मानव को मानव से दूर करने का काम धर्म नहीं करना बल्कि धर्म के प्रति अज्ञानता करती है। गाँधीजी विभिन्न धर्मों का लोभ नहीं करना चाहते थे। वे धर्मों को भिटाना नहीं चाहते थे बल्कि यदि वे मिटाना चाहते थे तो उस धर्मों के प्रति अज्ञानता को ।

धर्म विरोधी विचार मार्क्स ने भी प्रस्तुत किया है। मार्क्स की मान्यता है कि "वर्गविहीन समाजकी स्थापना या उसका विकास धर्म के रहते नहीं हो सकता।"[2] यह माना गया है कि "समाज परिवर्तन, जिससे पूँजीवाद का अन्त जो वर्ग विभेद एवं वर्ग संघर्ष से पूर्णतया युक्त हो, धर्म एवं अन्धविश्वासों की स्वाभाविक समाप्ति से ही होगा।"[3] इस प्रकरण में मार्क्स ने धर्म की अन्धविश्वास मान लिया है, उसे समीकृत कर दिया है। वस्तुतः धर्म एवं अन्धविश्वास भिन्न भिन्न है। अन्धविश्वास के पक्ष में किसी भी धर्म या धार्मिक विचार धारा के लोग ने अपना मत प्रदान नहीं किया है। अन्धविश्वास् की अवहेलना के साथ ही धर्म की बुनियाद का अन्त कर देना व्यक्ति एवं समाज दोनों केलिये हानिकारक हो सकता है। मार्क्स ने अन्धविश्वासों के सम्बन्ध में धर्म के बाह्याचार को ही धर्म का वास्तविक स्वरूप मान लिया। गाँधी जी ने स्वतः पर कभी विश्वास नही किया मेरा विश्वास है कि मुझमें अन्धविश्वासों कोई नही है।"[4] इस हद तक मार्क्स और गाँधीजी के विचार अनुकूल है लेकिन धर्म की मान्यता के सम्बन्ध में अन्तर है। मार्क्स ने धर्म को मुलतः ठुकरा दिया है और उसकी अनुपयोगिता पर जोर दिया है। गाँधीजी ने धर्म का आवश्यक माना है। उसे केवल बाह्याचार तक सीमित नहीं रखा है।

इस स्तर पर यह पूछा जा सकता है कि क्या गाँधीजी स्वतः कोई धर्म या सम्प्रदाय चलाना चाहते थे? क्या वे गाँधीवाद की स्थापना करना चाहते थे? इन कथनों के उत्तर में गाँधीजी का स्वतः कथन प्रस्तुत करना आवश्यक है। गाँधीजी ने स्पष्ट रूप से कहाँ है "गाँधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है और मैं अपने पीछे किसी सम्प्रदाय की अनुमति नहीं देता। मैं किसी नये सिद्धान्त या मत के निर्माण करने का दावा नहीं करता। मैंने साधारणतया अपने दैनिक जीवन और समस्याओं के प्रति शाश्वत सत्यों के प्रतिपादन का अपने ढंग से प्रयास किया है।[4] गाँधीजी का यह कथन स्पष्ट करता है कि वे किसी पंथ या सम्प्रदाय का निर्माण नहीं करना चाहते थे जो उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके नाम पर चले बल्कि धर्म के प्रति उनकी आस्था का प्रारूप यह था कि उन्होंने उन शाश्वत सत्यों के प्रतिपाद्न में ही विश्वास किया है जिनका प्रतिपादन अब

---

1. सर्वोदयः पृष्ठ 30
2. राधाकृष्णन,एस०: रिलिजन एण्ड सोसायटी, पृष्ठ 5
3. हरिजन सेवक : 14-3-1936
4. हरिजन : 28-3-1936

तक होता चला आया है और जो नीति विरोधी नहीं है। उन शाश्वत सत्यों के प्रतिपादन का उनका अपना ढंग था जिसको उन्होंने अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान ढूढ़ने में किया।

स्पष्ट है कि गाँधी जी, गाँधीवाद या किसी भी रूपमें कोई, सम्प्रदाय चलाना नहीं चाहते थे। कारण यह था कि उन्होंने जब मान लिया कि उन्होंने किसी नये सिद्धान्त की उत्पत्ति नहीं की है कोई नया मत निर्मित नहीं किया है तो फिर वे कोई नया सम्प्रदाय कैसे चला सकते थे ? उन्होंने जब यह मान लिया है कि शाश्वत या नित्य सत्य के ही प्रतिपादन का प्रयास किया है तो फिर अपने नाम पर किसी सम्प्रदाय को खड़ा करने का कोई तुक नहीं । इस विचार में यह भी दृष्टि हो सकती है कि वे सत्य धर्म को मानते थे। उस सत्य धर्म को जिसका प्रतिपादन अब तक होता चला आ रहा है और जो शाश्वत एवं नित्य है तो फिर शाश्वत धर्म को किसी अशाश्वत सम्प्रदाय में बाँध देने का परिणाम अच्छा नहीं होगा। इस प्रकार वे सत्य धर्म को ही मानते थे। गाँधीवाद या और किसी सम्प्रदाय के प्रतिपादन का उनका मन्तव्य नहीं जान पड़ता।

अपने दैनिक जीवन की समस्याओं के साथ शाश्वत सत्य के प्रयोग का प्रयास उन्होंने किया। यह प्रयास सब लोग कर सकते हैं क्योकि गाँधीजी ने तो यहाँ तक विचारो की स्वतंत्रता का अवसर दिया है कि - धर्म अत्यन्त व्यक्तिगत वस्तु है, हमें अपने ज्ञान के अनुसार जीवन व्यतीत करके एक दूसरे की उत्तम बाते ग्रहण करनी चाहिये और इस प्रकार ईश्वर के प्राप्त करने के मानव प्रयत्नों के कुल योग् में वृद्धि करनी चाहिये ? जिस सत्य से व्यक्ति का विश्वास है वह उसके लिये धर्म है। धर्म लादने की चीज नहीं है लेकिन धर्म व्यक्तिगत होने के साथ व्यक्ति को व्यक्ति से अलग-अलग करने का कार्य नहीं करता इसलिये उन्होंने कहा "हमें अपने ज्ञान के अनुसार जीवन व्यतीत करके एक दूसरे की उत्तम बातें ग्रहण करनी चाहिये।"[1] परस्पर विरोध नहीं बल्कि -परस्पर प्रेम की बात धर्म सिखाता है और इसके आधार पर ईश्वर को प्राप्त करने के मानव प्रयत्नों के कुल योग में वृद्धि होती है।

व्यक्तिगत धर्म के पालन में भय या बुजदिली की बात नहीं आती; क्योंकि जहाँ भय है वहाँ धर्म नहीं है।[2] भय के द्वारा धर्म लादा नहीं जा सकता इसी आशय से गाँधीजी ने कहा है। "अगर मैं बुजदिल नहीं हूँ तो जो यह कहता है- खबरदार, तू राम का नाम इस जगह पर लेता है तुझे अल्ला का ही नाम लेना होगा, तब मुझकों यह हक होना चाहिये और हक है कि उसकों यह कह दूँ कि मैं अल्ला का नहीं राम का ही नाम लूँगा। तब वह इतना ही कर सकता है कि मेरा गला काट डाले, तो काट डाले । वह धर्म की बात हो गयी। जिसे हम निजी धर्म या व्यक्तिगत धर्म कहते हैं। इस धर्म को मिटाने वाली ताकत दुनिया में है ही नहीं ।[3]

1. हरिजनः 28-11-1936
2. यंग इंडियाः 2-9-1926
3. प्रार्थना प्रवचनः 13-11-1947, पृष्ठ 71

अब तक देखा गया है कि गाँधी जी दो ढंग से धर्म प्रस्तुत करते है । एक तो यह जो लोकधर्म मानव धर्म या सत्य धर्म के रूप में, जाना गया है और दूसरा वह जो व्यक्तिगत है पर क्या इन दोनो धर्मों में परस्पर विरोध है कदापि नहीं, धर्म तो चाहे उसे लोक धर्म के रूप में जाना जाय या व्यक्तिगत धर्म के रूप में धर्म ही है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि लोकधर्म तो विशुद्ध धर्म है और व्यक्तिगत धर्म अशुद्ध धर्म या अधर्म दोनो धर्म ही है। हाँ यदि व्यक्ति-धर्मलोक व धर्म के विरूद्ध जाता है तो उसे धर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। धर्म का अभिप्राय या उद्देश्य तो सत्य का साक्षात्कार, ईश्वर का दर्शन या आत्मज्ञान ही है और यदि इनकी दिशा मे धर्म का प्रयास नही होता तो उसे धर्म कैसे कहा जायेगा। इसलिए धर्म चाहे लोकधर्म हो या व्यक्तिगत धर्म, उसका व्यापक अर्थ करना चाहिये । उसका एकमात्र अभिप्राय होना चाहिये आत्मभान से या आत्मज्ञान से।

ईश्वर तत्व :

महात्मा गांधी के अनुसार परम तत्व ईश्वर है जो एक है, सनातन है, निरावलम्ब है। महात्मा गांधी अपनी पुस्तक आत्मकथा के प्रारंभ में ही अपने जीवन के लक्ष्य के विषय में विवेचन करते हुए कहते है कि "मेरा प्राप्तव्य आत्म साक्षात्कार है, ईश्वर का आमने-सामने से दर्शन मोक्ष है।[1] गांधी जी के अनुसार ईश्वर का अनन्त रूप होने के कारण उसका लक्षण भी अनन्त होता है। वह मुझे कुछ समय के लिये आश्चर्यचकित कर देता है, परन्तु मै ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूँ। गांधी जी ईश्वर की प्राप्ति के लिये अपना सब कुछ न्योछावर करने के लिये तैयार है। यहाँ तक कि वे अपने जीवन की बलि देने का दृढ़ निश्चय कर लेते है तथा कहते है कि जब तक मुझे परम सत्य का साक्षात्कार नही हो जाता तब तक मैं अपने सापेक्ष सत्य की धारणा पर आधारित रहूँगा ।

महात्मा गाँधी सापेक्ष सत्य को प्रकाश एवं कवच तथा ढाल की भाँति मानते हैं तथा कहते है कि यद्यपि यह मार्ग लम्बा एवं संकीर्ण अवश्य है परन्तु यह मेरे लिये सर्वाधिक सरल एवं शीघ्र प्राप्त हो सकता है। क्योंकि इसी मार्ग के अनुगमन से मैं प्रकाश की ओर बढ़ता गया हूँ । अपने विकास में मुझे ईश्वर परम सत्य का धूमिल आभास भी हुआ है एवं दिन प्रतिदिन यह मेरा विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि एक मात्र वही सत्य है अन्य सभी असत्य ।[2] गाँधीजी पुनः लिखते है "मेरे विचार में इस संसार में सुनिश्चित खोजना भूल है क्योकि, यहाँ मात्र ईश्वर ही सत्य है अन्य सभी असत्य एवं अनिश्चित है। जो कुछ भी चारो तरफ दिखाई पड़ रहा है एवं हो रहा है अनिश्चित एवं क्षणिक है परन्तु इन सब में परम सत-सत्य के रूप मे छिपा है जिसकों सत्य का आभास मिल जाता है वह भाग्यशाली है। इसी सत्य का अन्वेषण ही परम् शुभ है।[3] गाँधीजी लिखते है कि "मैने ईश्वर को न तो देखा है और न तो जानता हूँ, मैने संसार

---

1. गाँधीः ऐन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ 5
2. गाँधीः ऐन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ 7
3. गाँधीः ऐन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ 38

की आस्था अपने ढंग की बनायी है क्योकि यह मेरा अटूट विश्वास है तथा इसी विश्वास को मै अनुभव की संज्ञा देता हूँ यद्यपि इस विश्वास को अनुभव कहना सत्य के साथ अन्याय होगा अतः यह कहना सम्भवतः अधिक यथार्थ होगा कि मेरे पास ईश्वर की इस प्रकार की आस्था की वर्णन करने के लिये शब्द नही है।[1] मानवीय भाषा ईश्वर को व्यक्त करने में असमर्थ है।[2] ईश्वरीय व्यापार समझने में मानवीय ज्ञान संस्थान नितान्त असमर्थ है। ऐसे स्थानों पर गाँधी पर उपनिषदिक 'य-तो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" प्रभाव स्पष्ट है। ईश्वर अनिर्वचनीय है- विधात्मपरम् अरेकेनहि विजानीयात? ईश्वर के अनन्त रूप है। मेरे लिये ईश्वर सत्य एवं प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र एवं नैतिकता है। ईश्वर अभयत्व है। ईश्वर जीवन एवं प्रकाश का स्रोत है- ईश्वर अन्तःकरण है तथापि इन सबसे परे है। ईश्वर उन लोगो के लिये सगुण है जो उनको सगुणात्मक रूप में देखना चाहते है तथा उस लोगो के लिये शरीरवान है जो उसका स्पर्श करना चाहते है। वह पवित्रम सत्ता है। वह उनके लिये मात्र सत्ता है जो लोग ईश्वर में विश्वास रखते है। ईश्वर सब में है तथा सबसे ऊपर है एवं सबसे परे है।[3]

महात्मा गांधी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये पारस्परिक तर्कों में विश्वास नही करते थे। उन्होंने कई बार स्पष्ट किया है कि मानवीय ज्ञान ईश्वर को जानने में सर्वथा असमर्थ है परन्तु कभी-कभी उन्होंने ईश्वर को तर्क द्वारा भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उद्देश्य मूलक तर्क का एक उदाहरण है- गांधी जी लिखते है कि कुछ सीमा तक ईश्वर की सत्ता तर्क द्वारा भी स्थापित की जा सकती है। संसार में एक व्यवस्था है, एक अपरिवर्तनशील नियम है, जिसके द्वारा सभी वस्तुओं, को सभी प्राणियों को नियमित करती है; क्योकि अन्य नियमों के द्वारा मानव व्यवहार को नियंत्रित नही किया जा सकता । इसलिये यह नियम जो सभी प्राणियों का नियमन करता है वह ईश्वर है।[4] इसी प्रकार सृष्टिमूलक तर्क का भी एक उदाहरण है जिसके द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते है "यदि हम है, यदि हमारे माता-पिता एवं उनके भी माता-पिता रहे है तो यह भावना उचित ही है कि इस सृष्टि का कोई पिता है।[5] इसी तरह न्त्यिता के आधार पर भी वे तर्क देते है कि धूमिल रूप से यह देखता हूँ कि हमारे चारो ओर की प्रत्येक वस्तु बदल रही है, नष्ट हो रही है किन्तु इन सभी परिवर्तन के पीछे,एक जीवनी शक्ति है जो नित्य है सबको एक में बाधे है, वही इनका सर्जन, निसर्जन एवं पूर्ण सर्जन करती है।[6] यहाँ पर औपनिषद "तज्जलान" का सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट है। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि ईश्वर इस जगत का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एव सहारक भी है ईश्वर नित्य, सर्वव्याप्त, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है। ईश्वर के बिना इच्छा से संसार का पत्ता भी नही हिल सकता।

---

1. गाँधीः ऐन आटोबायोग्राफी, पृष्ठ 34
2. गाँधीः ऐन आटोबायोग्राफी, पृष्ट 24
3. यंग इंडिया : 3-3-1925,
4. यंग इंडिया : 14-3-1928.पृ० 34
5. यंग इंडिया : 14-3-1928, पृष्ठ 34
6. फिसर आन गाँधी : पृष्ठ 108

कुछ विचारक गाँधी को अद्वैतवादी मानते है। महात्मा गाँधी के अद्वैतवादी होने में सन्देह नही है। गाँधी मात्र ईश्वर को ही सत्य मानते तथा उसी की सत्ता स्वीकार करते है। उसके अलावा सबको माया का रूप देते है हम सभी उस सत्य के स्फुल्लिग है। स्फुल्लिगों का योग अनिर्वचनीय है। अब तक का अज्ञात सत्य ईश्वर है।[1]

महात्मा गाँधी की यह अवधारणा कि एकमेव ईश्वर ही सत्य है, उन्हे अद्वैतवादी सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। गाँधी ईश्वर के स्थान पर सत्य को स्थापित करके उन ऐतिहासिक कारणो से बच जाते है जो ईश्वर को सगुण या निर्गुण व्यक्तित्वपूर्ण या अवैयक्तिक मानते है गाँधीजी स्पष्ट करते हुए उल्लेख करते है कि मैं अपने एक रूप अनुभव से विश्वास हो गया हूँ कि सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नही है।[2]

इस प्रकार गाँधी के अनुसार ईश्वर एवं सत्य पर्याय है परन्तु जहाँ पहले गाँधी ईश्वर सत्य है कहा करते थे इसे बदल कर 'सत्य ईश्वर है' यह रूप दे दिया। ईश्वर सत्य है, इसकी व्याख्या इस तरह से करते है 'ईश्वर सत्य है' में 'है' शब्द निस्सन्देह न तो 'बराबर' का अर्थ देता है और न 'सत्य पूर्ण है' का ही देता है। सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है वह सत्य ही है वह कुछ भी नहीं है यदि सत्य नहीं हैं 'सत्य' सस्कृत में सत् है जिसका अर्थ है अस्ति । 'अत! हम जितना अधिक सत्यपूर्ण होगे उतना ही अधिक ईश्वर के निकट होगे। हम उसी सीमा तक हैं' जिस सीमा तक सत्य पूर्ण है।[3]

इस तरह से सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण हो नही है बल्कि उसका स्वरूप है। इस बातपर बल देने के लिये ही गाँधीजी ने सत्य की ईश्वर से पहले कर दिया-'सत्य ईश्वर है' गाँधीजी कहते है कि यदि मानव वाणी ईश्वर का पूर्ण विवेचन करने में संभव है तो हम ईश्वर को सत्य कह सकते है, परन्तु मै एक कदम आगे बढ़कर कहा 'सत्य ईश्वर है'। सत्य को कभी भी मैने उभयार्थक नही पाया है तथा नास्तिकों ने भी सत्य की आवश्यकता को स्वीकार किया है। अतः 'सत्य ईश्वर है' मुझे सर्वाधिक सन्तोषपूर्ण लगी है।[4]

यदि 'सत्य ईश्वर है' तो सत्यनारायण नास्तिक की नास्तिकता में भी देवत्व है। इस जगह गान्धी के ईश्वर का विवेचन अत्यन्त शास्त्रीय हो गया है। उन्होंने सत्य को ईश्वर का स्वरूप माना है। यहां पर स्पष्ट अद्वैतवाद हैं परन्तु उनके अद्वैतवाद में सगुण पक्ष की प्रधानता है बल्कि इससे भी आगे उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें अपने को वैष्णव रूप मे स्वीकार किया हैं। गाँधी जी ज्ञान की अपेक्षा एक भक्त है । गाँधीजी अपनी आत्मकथा में कई बार उल्लेख किये है कि ईश्वर करुणा निधान है, भक्त वत्सल है, निर्बल का बल ही, दीनबन्धु है। उसने मुझको हमेशा बचाया है, ईश्वर ने मुझे अपनी अनन्त कृपा से रक्षा की है।[5]

---

1. राजू,बी०टी०: आइडियालस्टिक थाट आफ इण्डिया, प्रथम संस्करण, 1925, पृ० 297
2. गाँधी: आटो बायोग्राफी, पृ० 615
3. नरवणे : मार्डन इण्डियन थाट, पृ० 180
4. नरवणे : मार्डन इण्डियन थाट, पृ० 180
5. गाँधी : आटोवायोग्राफी, पृ० 38

कौन उसकी अहित करने की हिम्मत कर सकता है जिसकी रक्षा ईश्वर करता है। संकट के समय ईश्वर ने हमारा साथ दिया है। गाँधी जी कहते हैं कि जब हर सहायक असफल हो जाते है तो ईश्वर ही सहायता करता है। ईश्वर साक्षात्कार सेवा से ही सभंव है। सेवा मेरे लिये भारत की सेवा है। गाँधी पुनः लिखते है कि यह प्रथम अवसर नही था जब मुझे हर प्रकार की परीक्षा का सामना करना पड़ा था। ऐसी हर घड़ी में ईश्वर अंतिम क्षणों में सहायता भेजी है। पाठक को विदा करते हुए उसे भी सत्य के ईश्वर को प्रार्थना में शामिल होने के लिये आमंत्रित करते है ताकि वह मुझे मनषा, वाचा, कर्मणा, अहिंसा बरतने का वरदान दे।[1]

गाँधी जी एक स्थान पर कहते है कि यदि आप सत्य को ईश्वर के रूप में प्राप्त करना चाहते है तो एकमात्र साधन, प्रेम अर्थात् अहिंसा है और मैं इस बात में विश्वास करता हूँ कि अन्ततः साधन एवं साध्य पर्यायवाची शब्द हैं। मै बिना हिचक के कह सकता हूं कि ईश्वर प्रेम है।[2]

इस तरह गाँधी का ईश्वर तुलसी का राम है सूर का कृष्ण है । गाँधी एक दीन भक्त है।

विभिन्न धर्मो का समन्वय :

धर्म को उपमा एक वृक्ष से की जा सकता है जिसका मूल एक् है पर पत्ते असंख्य है। विश्व में अनेक धर्मों का प्रचलन है। वे सभी उस मौलिक धर्मरूपी वृक्ष के पत्ते है जिसका मूल एक स्थान में है। हवा के थपेड़ो से जैसे पत्तियाँ और डालियाँ आपस में टकराती है वैसे ही विचार संघर्ष की दृष्टि से इन धर्मों में भी परस्पर संधर्ष का आभास होता है। इन संघर्षो का परिणाम यह हुआ कि धर्म का मूल निर्बल होता गया और उसकी अंतिम परिणति हर प्रकार देखी जा सकती है। आज की वौद्धिकता के समक्ष धर्म अपने धुटने टेक् रहा है। मनुष्य की आस्था धर्म से विरत हो रही है। इसका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ा । फलतः समाजशास्त्री मनोवैज्ञानिक दार्शनिक- आदि अनेक विचारधारा वाले चिन्तको ने धर्म की आवश्यकता को मानने से इन्कार करने लगे और उसके स्थान पर अनेक अन्य विचार धारायें प्रस्फुटित होने लगी। मार्क्स का साम्यवाद, फ्रायड आदि का मनोवैज्ञानिक विज्ञान, नीत्से के मानवतावाद जैसे सिद्धान्त धर्म की बुनियादी आवश्यकता को, मानव के लिये जहर, भ्रम या योगापन्थी चिन्तन कहने लगे।

बौद्धिकता का विकास विज्ञान की देन है। इस वैज्ञानिक -वौद्धिक विचारधारा धर्म का रुप ही बदल दिया किन्तु क्या इसका तात्पर्य यह है कि धर्म वास्तव में मनुष्य का शत्रु है? क्या धर्म सारहीन है अथवा धर्मों के तत्वों का पुनर्मूल्यांकन सभंव है?इन प्रश्नों पर विचार करते समय हम विश्व के अनेक विचारको का स्मरण कर सकते है

1. गाँधीः ऐन आटोवायोग्राफी, पृ० 616
2. तेन्दुलकरः दि महात्मा, भाग - 2, पृ० 312

इसमे रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द 'डॉ० राधाकृष्णन' 'डॉ० भगवानदास' 'महात्मा गाँधी' तथा पाश्चात्य चिन्तक मैक्समूलर जैसे अन्यान्य विद्वानों का नाम लिया जा सकता है धर्म उस आत्मा की तरह है जो पूर्ण अद्वैत है। मनुष्य देह अगणित है उसी प्रकार अगणित सम्प्रदायो को हम देखते है। देह को ही आत्मा मान लेने की प्रणाली के अनुसार सम्प्रदायो को हो धर्म मान लिया गया है। आत्मा की एकता विस्मृत हो गयी है धर्म की एकता को हम पहचान नही सकते। धर्म की एकता को पहचानने के लिये सर्वधर्मसमन्वय अपनाना पड़ेगा।

गांधी के पहले भी अनेक धर्म सुधारको ने धर्म समन्वय के लिये अपना-अपना विचार प्रगट किया है । स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द ने इसके लिये अथक प्रयास किया । स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका मे धर्मो की संसद में सभी धर्मो की मौलिकता पर प्रकाश डालकर धर्मसमन्वय का विचार प्रगट किया । उसी तरह डॉ० भगवानदास तथा डॉ० एस० राधाकृष्णन् जैसे विचारको ने भी सभी-धर्मो की एकता तथा धर्मसमन्वय की भावना को प्रेरणा प्रदान किया है । वास्तव में विचार यह है कि शाश्वत धर्म पर जो सम्प्रदायवाद का आवरण पड़ गया है उस आवरण को परखने की कोशिश करना चाहिये । एक दूसरे के धर्म गुरुओ, धर्मोपदेशको तथा धर्म प्रवर्तको या अन्य श्रद्धेय विषयो के प्रति समभाव दृष्टि रखना चाहिये । इस कार्य के लिये अनेक संस्थाओं का जन्म भी हुआ ।

गांधी जी ने अपने को सम्प्रदायवाद से ऊपर रखा । उन्होंने बतलाया कि मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की दृष्टि में बराबर है जाति, चमड़े, दिमाग, शरीर, जलवायु और देश का भेद केवल क्षणिक एवं परिवर्तनशील है । कौन व्यक्ति श्रेष्ठ है तथा कौन हेय है, यह कहना कठिन है इसलिये सब बराबर हैं । ईर्ष्या, भेदभाव, द्वेष आदि से ऊपर उठकर समभाव को अपनाना है । इस सबन्ध मे उनका कथन स्पष्ट है- सब धर्म ईश्वरदत्त है पर मनुष्य कल्पित होने के कारण वे अपूर्ण है । ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है । उसे भाषा मे मनुष्य व्यक्त करता है तथा उसका अर्थ भी मनुष्य ही लगाता है । किसका अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी - अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि बनी है तब तक सच्चे है, परन्तु झूठा होना भी असंभव नही है । इसलिये हमे सब धर्मो के प्रति समभाव रखना चाहिये । इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नही आती, बल्कि धर्म विषयक प्रेम अन्धा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है अधिक सात्विक, निर्मल बनता है सभी धर्मो के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते है। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है धर्म ज्ञान होने पर अन्तराल मिट जाता है और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते है।[1]

समभाव से धर्मान्धता का परिष्कार होता है। धर्मान्धता के हटते हो धर्मसमन्वय का विचार बनता है। इसके लिये दृष्टि साम्य आवश्यक है। दृष्टिसाम्य से धर्मज्ञान बढ़ता

---

1. धर्मनीतिः पृ० 159

है, अपने धर्म का भी निष्पक्ष ज्ञान होता है। गाँधीजी का विचार है कि निश्चय ही सभी धर्म बराबर है 'यदि आप कुरान पढ़ते हो तो आपको इसे मुसलमान की दृष्टि से पढ़ना चाहिये। इसी तरह बाईविल को ईसाई की दृष्टि से तथा गीता को हिन्दू की दृष्टि से पढ़ना चाहिये किसी धर्म को लेकर उसकी छिछली आलोचना तथा उपहास का क्या प्रयोजन है। इसलिए मै कहता हूँ कि वे बराबर रूप से सत्य और अपूर्ण है 'धर्म का वृक्ष एक ही है पर शाखाओं में स्थूल समानता नही है' वे सभी बढ़ने वाली है और वह मनुष्य जिसका उन पर अधिकार रहेगा, वह बुरी दृष्टि से नहीं देखेगा और न कहेगा कि मेरी श्रेष्ठ है- एक दूसरे के लिये न तो कोई श्रेष्ठ है न हेय'।[1]

इस विचार को दृष्टि में रखकर गाँधीजी ने नम्रभाव से कहा- आप इतना समझ ले कि सभी मजहब अच्छे है विश्वास रखे कि जितने भी धर्म है सबके सब ऊँचे है। धर्म मे कमी नही है। यदि कमी है तो उनके आदमियों मे है, प्रत्येक धर्म में कुछ न कुछ गन्दे आदमी पैदा हो गये है। ऐसी बात नही है कि किसी एक ही धर्म ने गन्दे आदमियों का ठेका ले रखा हो इसलिये हमारा कर्तव्य ही जाता है कि हम उन गन्दे आदमियों की ओर न देखकर उनके धर्म की अच्छाई को देखें। प्रत्येक धर्म में जो रत्न की सी बात हाथ आवे उसको ले ले और अपने धर्म की अच्छाई को बढ़ाते चले।[2]

धर्म में उनके अनुयायियों के कारण जो कुछ भी विकार आ गये है इसलिये अनुयायियो के दोष का प्रतिशोध धर्म से निभाना ठीक नही है । यहाँ यह भी ध्यान रखना है कि गाँधी जी केवल धर्म की अच्छाईयों को ही ग्रहण करने तथा धर्म के नाम पर ही समभाव रखने की बात करते है, अधर्म के संबध में नही। धर्म में जो बुराईया आ गयी है उन्हें तो दूर ही करना है, तथा स्वयं उनसे दूर भी रहना है। साथ ही गाँधीजी का विचार अधर्म से ऊब गया है बुरे आदमियों से नही। वे कहते -धर्मों के प्रति समभाव और धर्मियों के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें कुछ अन्तर है। दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नही है।[3]

जीव मात्र के प्रति समभाव रखना उचित ही है लेकिन धर्म के नाम पर होने वाले अधर्म के प्रति सम्भाव नही होना चाहिये । धर्म के प्रति समभाव का परिणाम धर्म समन्वय है। धर्मसमन्वय का पक्षपाती इतना ज्ञानवान एवं निर्मल भावनामय हो जाता है कि गाँधी की तरह वह भी कह सके मै जितना हिन्दू हूँ उतना ही पारसी हूँ 'इसाई हूँ मुसलमान भी हूँ।[4]

इस कथन को ध्यान में रखते हुए गाँधी जी पर अनेक आक्षेप किये गये। हिन्दुओं को यह डर हो गया कि अब वे ही-ईसाई या मुसलमान हो गये क्योंकि वे

1. हरिजन : 13-3-1937
2. प्रार्थना प्रवचनः भाग-1, 1947, पृ० 63
3. धर्मनीतिः पृ० 160
4. प्रार्थना प्रवचन : भाग-1, 4-4-1947, पृ० 21

अपनी प्रार्थना सभाओं में बाइबिल तथा कुरान से भी उद्धरण लेते थे और अन्य धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे। मुसलमान तथा इसाई लोगो को भी अनेक शंकाये होने लगी। परन्तु ये शंकाये ऐसी हुई जिनका उत्तर समय-समय पर गाँधी जी दिया करते थे जिससे उनके विचारो के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती थी। इन सबसे अलग श्री डब्लू०एच०जी होम्स के आक्षेप गाँधी जी की मृत्यु केबाद पुस्तक के रूप में आये जिसका आधार पूर्णसाम्प्रदायिक भावना तथा स्वधर्म विषयक पक्षपात है। होम्स जी ने गाँधीजी के उस विचार पर आक्षेप किया है जब उन्होंने नेशनल कालेज के विद्यार्थियों के सामने 'न्यूटेस्टामेन्ट' पढ़े जाने के विरोध में हिन्दूओं के आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा कि मै बाइबिल और कुरान की अपनी व्याख्या के अनुसार अपने को मुसलमान या इसाई कह सकता हूँ तथा और कुछ भी कहने मे संकोच नही करना चाहता । इस कथन पर होम्स जी ने यह आरोप गाँधीजी पर लगाया है कि जब वे अपने को अपनी व्याख्या के अनुसार ईसाई कह सकते है तो उन्होने उन हिन्दूओं को अपने को इसाई कहने से क्यो रोका जो अपनी व्याख्या के अनुसार ईसाई हो गये थे।[1]

गाँधी जी स्वयं को ईसाई या मुसलमान इसलिये कहा करते थे कि वे अच्छे हिन्दू थे और उनके सर्वधर्म सम्भाव के आधार पर धर्मसमन्वय की भावना थी साथ ही वे धर्म परिवर्तन के भी विरोधी थे। यह केवल हिन्दुओं के लिये नही था बल्कि हर धर्मावलम्बीके लिये था क्योकि उनकी दृष्टि में धर्मपरिवर्तन का कोई अभिप्राय नही है। होम्स के आरोप में सर्वधर्म सम्भाव और धर्म परिवर्तन का स्पष्टीकरण नही किया गया है दोनो का स्पष्टीकरण कर देने से आरोप निर्मूल हो जाता है।

मजहब के विचार इतने संकीर्ण और हठधर्मी हो गये है कि अन्य धर्मो के ग्रन्थो का अध्ययन करना शंका की दृष्टि से देखा जाता है। कुरान की आयतो को पढ़ने पर मुसलमानो ने आपत्ति की कि गाँधी जी को यह अधिकार नही और हिन्दूओं ने यह आरोप लगाया कि वे मुसलमान हो गये। ऐसी स्थिति में मजहब की सर्कीणता से ऊपर उठकर सोचना पड़ता है। गाँधी जी ने कहा कि ऐसे लोग यह नही जानते कि मजहब भाषा और लिपि की सीमा से बाहर है। मैं कोई कारण नही देखता कि कलमा नही पढ़ सकता और मुहम्मद को रसूल यानी पैगम्बर क्यों नही मान सकता।[2]

दिल्ली के एक हिन्दू मंदिर मे कुरान की आयतो को पढ़ने पर उठाये गये आरोप का उत्तर देते हुए गाँधीजी कहते है, एक सच्चा हिन्दू सभी धर्मों में सत्य देखता है। हिन्दू धर्म एक बड़ा धर्म है और असीम सहिष्णुता तथा चित्ताकर्षक शरीतियों से पूर्ण है। ईश्वर हर जगह है । वह व्यक्तियों के ह्रदय का शासक है। वह केवल एक मत की पूजा चाहता है चाहे वह किसी रूप में किसी भाषा के हो। इसलिये कुरान शरीफ से आयतो को पढ़ने के लिये रोकना पूर्णतया अहिन्दू तथा अधार्मिक कार्य होगा।[1]

1. होम्स, डब्लू० एच०जी०: दि फील्ड गाँधी, पृ० 24
2. प्रार्थना प्रवचन: 7-4-1947, पृ० 33

गाँधीजी के उदार व्यक्तित्व को समझने की योग्यता न रखने वाले ही उन पर आरोप लगाते रहें। वास्तव में उनका यह व्यक्तित्व तो सर्वधर्म समन्वय के विचार पर बना था जिसका आधार स्वयं उन्होंने अपने जीवन मे बहुत बड़े पैमाने पर किया। भारत मे हिन्दू मुस्लिम एकता को बनाये रखने के लिये उन्होंने सदैव धर्म का ही आधार ग्रहण किया। अपने इसी विचार के आधार पर उन्होने अग्रेजो से मैत्रीपूर्ण व्यवहार किया। अग्रेजो से उनका कोई विरोध नही था उनका विरोध था तो केवल अग्रेजी शासन से। अपने आन्तरिक विचार को प्रार्थना की भीड़ के सामने उन्होंने रखा, आप लोगोको जानकर आश्चर्य होगा कि हिन्दूओं के लाभों के प्रति मुसलमानो से समझौता कर उन्हे मित्र बनाने का चार्ज मुझ पर लगाया है। मै शब्दों से लोगो को कैसे सान्त्वना दूँ जबकि मेरे साठ वर्ष का आम जीवन यह दिखलाने में असमर्थ रहा कि मैने मुसलमानो को मित्र बनाकर केवल एक सच्चा हिन्दू होना सिद्ध किया है और मैने हिन्दूओं तथा हिन्दू धर्म की ठीक से सेवा की है। एक सच्चे धार्मिक उपदेश का सार है कि सब की सेवा करो और सबको मित्र बनाओं । मैने इसे अपनी माता की गोद में सीखा है। आप मुझे एक हिन्दू कहने से इन्कार कर सकते है। इकबाल के प्रसिद्ध गाने की एक पक्ति उद्वत करने के सिवाय मै कोई बचाव नही जानता 'मजहब नही सिखाता आपस मे बैर रखना'। एक दूसरे के प्रति बुरी भावना रखना धर्म नही सिखाता।[2]

इस सन्दर्भ मे गाँधीजी द्वारा एक मुसलमान मित्र की शंका समाधान के विचार को देखा जाय जिसमे वे अपनी स्थिति सुस्पष्ट करते है मैने कही भी यह नही कहा है कि मै कुरान के प्रत्येक शब्द में विश्वास करता हूँ या इस कारण दुनिया किसी भी धर्मग्रन्थ में । लेकिन मेरा यह भी व्यवहार नही रहा है कि दूसरे द्वारा विश्वस्त धर्मग्रन्थों की आलोचना या उनकी गलतियों की ओर ही इशारा करू। तो भी मेरा विशेष अधिकार है और होना चाहिये कि उनके सत्यों कीं प्रकट और उनका अभ्यास करू। इसलिये मै कुरान की चीजों की आलोचना या निन्दा या किसी के सिद्ध के जीवन को जिसे मैं नही समझता, नही कर सकता। लेकिन मै उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष जिन्हे मै मानने एवं जानने योग्य हूँ अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिये हर अवसर का स्वागत करता हूँ। जो चीजें बाधा उपस्थित करती है उनके विषय में मै एक धार्मिक मुसलमान मित्र की आँखो से देखने में प्रसन्न हूँ जब तक कि मै उन्हे इस्लाम के प्रसिद्ध संस्थापको द्वारा लिखित कृतियों के सहारे समझने की कोशिश करू। यही विश्वास के प्रति श्रद्धात्मक पहुँच है जिसके आधार पर मैं धर्मो की समानता के सिद्धान्त को मानता हूँ।[3]

सर्वधर्म सम्भाव के सहारे धर्म समन्वय तक पहुचाँ जा सकता है। इस धर्म समन्वय मे धर्म परिवर्तन बिल्कुल नही है। सभी अपने-अपने धर्म को मानते हुए अन्य

1. हरिजन: 26-4-1947
2. हरिजन: 11-5-1947
3. हरिज़न: 13-3-1937

धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखे। बहुत से लोग यह आक्षेप करते है कि धर्म समन्वय संभव नही क्योंकि धर्म क्रिया प्रधान होता है और विभिन्न धर्मावलम्बियों के क्रिया-कलापो में अत्यंत अन्तर होता है। वास्तव में गाँधी जी केवल ब्रह्म आचरण पर ही ध्यान नही देते थे। उनके विचारो में ब्रह्म आचरण की अपेक्षा आभ्यान्तर की एकता धर्मसमन्वय के लिये आवश्यक है। पहनावे का वर्गीकरण परिस्थिति विशेष के आधार पर होता है। उसी को लेकर विभिन्नता मानने में फिर वही मजहबी भेदभाव बने रहेंगे, धर्म समन्वय की बात निराधार हो जायेगी। इसलिये सर्वधर्म समन्वय में फुटबाल के खिलाड़ियों की तरह सबकी जर्सी एक सी हो यह आवश्यक नही, आवश्यकता तो इस बात की है कि सबकी दृष्टि गोल पर हो सबका आभ्यान्तर एक सा हो।

■

षष्ठम् अध्याय

दार्शनिक विचार

सत्य अहिंसा और सत्याग्रह गाँधी जी के दर्शन का आधारभूत स्तम्भ है। गाँधी जी के ही शब्दों में इनसे अलग किसी राजनीति का कोई अर्थ नहीं हो सकता है। ये शाश्वत मूल्य राजनीति की आत्मा है। सत्य गाँधी जी के राजनैतिक दर्शन का आधार है। सत्य मुख्यतःसभी पारस्परिक, नैतिक, धार्मिक चिन्तन का मूल रहा है परन्तु गाँधी के चिन्तन में 'सत्य' जीवन, व्यवहार और चिन्तन तीनों का सार्वभौम सिद्धान्त रहा है। यह मूल्यों में सबसे श्रेष्ठ मूल्य है क्योकि यह पुरुषार्थ के चारो तत्वों अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को अर्थ प्रदान करता है और उन्हें इन्द्रियातीत करने में सहायक होता है । यही नैतिकता का मूल है और यही धर्म का आधार है । अर्थात गाँधी जी के विचार में सत्य ही सर्वोच्च मूल्य है, सर्वोच्च आदर्श है और सर्वोच्च नैतिकता है ।[1]

सत्य :-

गाँधी के अनुसार ''सत्य'' शब्द सत् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है होना या अस्तित्व रखना । इसका तात्पर्य हुआ कि सत्य के अलावा कुछ नहीं है' हमारी जीवन संजीवनी सत्य है । अर्थात सत्य वह है जिसका अस्तित्व इतना ही नहीं, सत्य वह है जिसका ही एक मात्र अस्तित्व है यही एकमात्र वास्तविकता है ।

गाँधी जी कहते हैं सत्य एक है पर हमसे इतना दूर और विस्तृत है कि हम अपनी सीमित दृष्टि से मात्र उसके एक अंश को देख पाते हैं और उसी को सत्य मान लेते हैं पर उसके समग्र रूप को नहीं देख पाते हैं । अतः उस पर किसी की भी विवेचना गलत नहीं है । सत्य सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों है - आंशिक या अपेक्षित सत्य, जैसा कि ससीम व्यक्ति परिस्थिति विशेष में उसे जान पाता है। दूसरा वह सत्य जो निरपेक्ष, सार्वभौम और पूर्ण है जिसे व्यक्ति अनवरत प्रयास व साधना से ही प्राप्त कर सकता है । गाँधी जी का विचार है कि मनुष्य सत्य के जिस अंश को भी देख पाता है यदि उसे ही आचरण में उतारने की चेष्टा करे तो उस सापेक्ष सत्य का अनुगमन ही उसे धीरे-धीरे निरपेक्ष सत्य की ओर ले जायेगा ।[2] अर्थात तब तक सापेक्ष सत्य ही उसका मार्ग दर्शक बना रहेगा । स्वयं अपने जीवन के संदर्भ में गाँधी जी ने इस बात

---

1. गाँधी : द स्टोरी आफ माई एक्सपीरिमेन्टस वीथ ट्रूथ, अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस,1956, पृष्ठ 34
2. यंग इण्डिया : 3-11-1919 ।

को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट करते हुए कहा है ------- सत्य सार्वभौम सिद्वान्त है जिसमें दूसरे अन्य बहुत से सिद्धान्त सम्मिलित हैं ------ मैं ईश्वर की पूजा भी केवल सत्य के रूप में करता हूँ मैने उसे अभी पाया नहीं है परन्तु मैं उसे पाने के प्रयास में लगा हूँ परन्तु जब तक मैं इस निरपेक्ष सत्य को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक जितना भी सापेक्ष सत्य मैने पहचाना है उसी को मुझे पकड़े रहना चाहिए । तब तक वह सापेक्ष सत्य ही मेरा प्रकाश स्तम्भ, ढाल, और कमरबन्द रहेगा ।[1]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है प्रथमतः निरपेक्ष एवं पूर्ण सत्य की प्राप्ति सत्य के आचरण से ही संभव है द्वितीय, जिस सीमा तक मनुष्य सापेक्ष सत्य का आचरण करता जायेगा उसी अनुपात में धीरे-धीरे वह स्वयं ही निरपेक्ष सत्य की ओर प्रवृत होता जायेगा इस प्रकार सापेक्ष सत्य ही निरपेक्ष सत्य का मार्ग प्रशस्त करेगा ।

इस सत्य का मार्ग सरल नहीं है, इसमें व्यक्ति को अपने प्राण तक देने पड़ सकते हैं परन्तु यह पथ सामान्य पथों से भिन्न है । यह वह पथ है जिसमें हार जीत का प्रश्न निहित नहीं है, मनुष्य जितना भी प्राप्त करता है, वह उसकी जीत है हर कदम आत्म बोध की तरफ पहुँचा हुआ अचूक कदम है । गाँधी जी के शब्दों में सत्य की खोज का पथ तपस्या, कष्ट सहन का मार्ग है और इसमें अपने प्राण भी देने पड़ सकते हैं इसलिये मैं कहता हूँ कि सत्य की खोज में कायरता के लिये कोई स्थान नहीं है, न ही किसी प्रकार की हार है ।[2]

गाँधी जी का विचार है कि सापेक्ष सत्य से पूर्व सत्य की ओर जाने के लिये कठोर अनुशासन, विश्वास, आस्था, श्रद्धा, नैतिकता, ईमानदारी, लगन, वैज्ञानिक शिक्षण, अंतःकरण की शुद्धता, विनम्रता एवं व्यवहारिक जीवन में सापेक्ष सत्य का पूर्ण निष्ठा के साथ अनुपालन अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि गाँधी जी यह भी स्वीकार करते थे कि मनुष्य स्वयं अपूर्ण है, सर्वज्ञ नहीं है अपने जीवन में निरन्तर अनुभवों से प्रयोग करते हुए, गलती करते हुए चलना मानव की प्रकृति है । वह निरन्तर अपने में सुधार करता रहता है । अतः शरीर के नश्वर बंधन में सांसारिक पथ पर जीवन मार्ग पर चलते हुए वह सापेक्ष सत्य का अनुसरण करता है परन्तु यहीं उसके जीवन का लक्ष्य या प्रयोग समाप्त नहीं हो जाता है, उसका लक्ष्य, साध्य, प्रयोग या सिद्धांत तो निरपेक्ष सत्य है जो उसे सतत् साधना के उपरान्त ही मिलता है । उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कष्ट करते हुए, अपने नश्वर शरीर के बन्धनों पर विजय प्राप्त करते हुए, जीवन को वास्तविक सचाईयों की अनुभूति करते हुए परमसत्य, पूर्ण सत्य निरपेक्ष सत्य को प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है ।[3]

---

1. गाँधी : एन आटोबायोग्राफी या द स्टोरी आफ माई एक्सपीरियेन्स वीथ ट्रूथ, अहमदाबाद, नवजीवन पबलिशिंग हाउस 1983 पृ०11
2. यंग इण्डिया : 9.7.1931
3. द मारल एण्ड पालिटिकल थाट आफ महात्मा गाँधी, न्यूयार्क आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1973, पृ 162

गाँधी जी के लिए यह निरपेक्ष सत्य ही ईश्वर के समान है उनका विचार है कि 'सत्य ही ईश्वर है', यह कथन अधिक उपयुक्त है अपेक्षाकृत इसके कि ईश्वर ही सत्य है ।[1]

सामान्यतया सत्य पालन के नियम का तात्पर्य लोग केवल सत्य बोलने से लगाते हैं किन्तु गाँधी जी के अनुसार 'सत्य' शब्द का व्यापक अर्थ समझना चाहिए । जिस व्यक्ति ने सत्य का पूर्ण अर्थ समझ लिया है उसे प्राप्त करने के लिए कुछ और नहीं शेष रहता क्योंकि सत्य के अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्ञान का समावेश होता है । यदि इसके अन्तर्गत किसी का समावेश नहीं है तो वह है असत्य या जो सत्य न हो । जो सत्य नहीं है उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता और बिना सत्य ज्ञान के आंतरिक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती, यदि हम कभी असफल न होने वाले सत्य का एक बार भी परीक्षण करें तो तत्काल यह ज्ञात हो जाता है कि 'क्या करने योग्य है' क्या देखने योग्य है और क्या पढ़ने योग्य है ।[2]

दूसरा हमारी समझ से इसका अर्थ आता है जब हम गाँधी जी के द्वारा प्रतिष्ठित सत्य का अर्थ समझते हैं, सत्य वह है जो सदैव विद्यमान है और प्रत्येक क्रिया का आधार है, इस सदैव विद्यमान सत्य का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। स्थायित्व का तात्पर्य आन्तरिक आचरण के सिद्धान्त है। जिन्हें यम और नियम कहा जाता है और जो हमारी उन्नति करने में कमी असफल नहीं होते। इस प्रकार इसका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति सत्य को ईश्वर को पूर्ण रूप से समर्पित है, वह स्वतः ईश्वर के स्वभाव की जानकारी प्राप्त कर लेता है और उसको प्राप्त करने के साधनों का भी वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है । सरल शब्दों में सत्य को पूर्ण रूप से समर्पित व्यक्ति उच्च कोटि का जीवन विकसित करने के लिए पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

गाँधी जी ने बार-बार इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त के प्रति अपने निष्ठा पर बल दिया है केवल सत्यान्वेषण ही मानव जीवन का उद्देश्य नहीं है उसका वास्तविक तात्पर्य तो यह है कि मानव जीवन के जितने भी क्रियाकलाप हो सब जानबुझकर सत्य द्वारा निर्देशित हो । गाँधी जी ने लिखा है इस सत्य (ईश्वर) के प्रति समर्पण ही हमारे जीवन का प्रमुख औचित्य है ।

इस प्रकार गाँधी जी के सत्य के पाँच रूप हमें देखने को मिलते हैं, पहला तत्व सबंधी अर्थात जो है जिसका अस्तित्व है । दूसरा ज्ञान संबधी अर्थात जो हर प्रकार के विश्वास वास्तविकता और तथ्य का आधार है । तीसरा व्यक्ति संबधी अर्थात जो व्यक्ति के चरित्र के आधार हैं जैसे व्यक्ति को सत्यवादी, ईमानदार विश्वासी आदि कहना । चौथा व्यवहारवादी जिसमें कि सत्य से तात्पर्य है निरन्तर निस्वार्थ रूप से

1 नारायण, श्रीमन् : (सम्पादक) द सेलेक्टेड वर्क आफ महात्मा गाँधी वालूम 4अहमदाबाद नवजीवन पब्लिशिंग हाउस 1987 पृ० 213

2. गाँधी द सेलेक्ट वर्क, वालूम 4, पृ० 214

कार्य करते रहना और अंतिम धार्मिक तत्व जहाँ पर कि सत्य का अर्थ सच्चे विश्वास की अभिव्यक्ति के रूप में लिया गया है । इस प्रकार गाँधी जी के दर्शन में सत्य के ये पाँचों तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए हैं ।[1]

सत्य के इसी रूप की गाँधी जी ने राजनीति और समाज के संदर्भ में व्याख्या की । उनके अनुसार मनुष्य को संस्थाओं से बाँधने वाली, मनुष्य को मनुष्य से बाँधने वाली एक ही शक्ति है और वह है सत्य । उनके शब्दों में सत्य हर संगठन में मनुष्य को मनुष्य से बाँधता है । बिना सत्य के कोई सामाजिक संगठन नहीं हो सकता ।[2]

इसकी व्याख्या करते हुए गाँधी जी ने कहा कि सत्य का अन्वेषण और प्राप्ति भीड़ के साथ मित्रता मे निहित है किसी एकान्तवास में नहीं । ऐसा इसलिए है क्योंकि लोगों के सान्ध्यि मे ही रहकर सत्य और असत्य की समझ संभव है । इसका यह अर्थ नहीं है कि सत्य के लिए एकान्त और चिन्तन आवश्यक नहीं है परन्तु एकान्त और चिन्तन द्वारा प्राप्त सत्य की कसौटी समाज ही है । वास्तव में शासक और शासित, राजनीतिज्ञ और जनता के बीच में तनाव का सारा कारण सत्य का अभाव है । जिस सीमा तक असत्य सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है उसी सीमा तक हमारे सामाजिक और राजनीतिक संबंध नष्ट होते हैं । राजनीतिज्ञ का सबसे बड़ा धर्म होता है कि वह सत्य को आत्मसात करे जिस सीमा तक वह सकारात्मक सत्य को पाने में सफल होता है उसी सीमा तक वह उसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करे । यही सत्य राजनीतिज्ञ को क्रूर से क्रूर परम्पराओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करता है और सामाजिक संस्थाओं को उनका सही स्वरूप प्रदान करने में सफल होता है ।

गाँधी जी ने स्पष्टतः सत्य को जीवन का आधार एवं प्रयोजन तथा सर्वश्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकार किया है । गाँधी ने दो महत्वपूर्ण तत्वों की खोज की है प्रथम यह है कि 'अहिंसा' ही सर्वोच्च माध्यम है अथवा धर्म है तथा द्वितीय तत्व 'सत्य' है । इससे बड़ा कोई धर्म नहीं है ।[3]

गाँधी जी की यह धारणा पुराणों के इस विचार पर आधारित प्रतीत होती है, जिसमें यह कहा गया है कि सत्य से महान अन्य कोई धर्म नहीं है । 'नाहि सत्यात् परो धर्मः' अर्थात सत्य ही धर्म है, जब हम धर्म को महाभारत के इस अर्थ में लेते हैं कि धर्म का उद्देश्य ब्रम्हाण्ड को धारण करना है, अथवा जब हम धर्म को वेद में निहित ऋत् अर्थात ब्रम्हाण्डिय नियम या व्यवस्था के रूप में लेते हैं तो सत्य को उसी अर्थ में महात्मा गाँधी ने जगत का, जीवन का नियम या आधार माना है । वैरियर एलविन ने गाँधी दर्शन में सत्य का निरूपण करते हुए बड़े ही सटीक ढंग से कहा है कि प्लेटो की शब्दावली में सर्वोच्च मूल्य की व्याख्या में तो तीन मूल्य प्राप्त होते हैं शुभ, सत्य एवं

1. नायस, अटनीःगाँधी एण्ड ग्रुप कानफलिक्ट असिलो यूनिसिटीटफारला - गेट, 1974, पृ० 27
2. गौरा : एन एनथिस्ट विथ गाँधी नवजीवन, 1951,पृ० 46
3. तेण्डुलकर, डी०जी० महात्मा गाधी, भाग 5,बम्बई, पृ०380

सुन्दर किन्तु इसमें सत्य वह मूल्य है। जिसमें अन्य दोनों मूल्य समाहित हैं । गाँधी उन दुर्लभ महापुरुषों में से एक हैं, जिन्होने सत्य को सर्वोच्च प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया है ।[1]

सत्य शब्द सत् से बना है सत् का अर्थ है होना, अस्ति या अस्तित्व । सत्य का अस्तित्व ही वास्तविक है । गाँधी जी ने स्पष्ट किया है कि सामान्यतः सत्य का अर्थ सच बोलना ही समझा जाता है, लेकिन हमने सत्य शब्द का प्रयोग विशाल अर्थ में किया है । विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है।[2]

सारा ज्ञान सत्य में ही समाया हुआ है । विचार में, वाणी में, और आचरण में सत्य का समावेश होना आवश्यक है । यदि सत्य इसमें न समा सका तो वह सत्य नहीं बल्कि असत्य के अनुसार आचरण होगा । जहाँ सत्य नहीं होगा, वहाँ ज्ञान नहीं होगा और जहाँ ज्ञान नहीं होगा, वहाँ आनन्द नहीं होगा । बिना आनन्द के व्यक्ति का जीवन नीरस हो जायेगा। सत्य को उन्होने सच्चिदानन्द के रूप में प्रतिपादित किया है। मनु-विचार और धर्म से सत्य का साक्षात्कार करना ही जीवन है ।

सत्य आचरण मनोवृति को अंकुश में रखने का सर्वोपरि साधन है उसमें मनोवृति पर नियंत्रण रखने की अपार अमोघ शक्ति है जिसमें सत्य नहीं है, वह सचाई के साथ मनोवृति पर नियंत्रण नहीं कर पा सकेगा ।[3]

सत्य की यह विशेषता है कि वह प्रवृतियों पर नियंत्रण या काबू रखता है, यह मन, वचन और कर्मों पर नियंत्रण रखने का साधन है । जो व्यक्ति सत्य का अनुगामी है, वह अपनी प्रवृतियों पर आसानी से नियंत्रण रखने में सफल होता है उसके लिये ये सहज बात होती है क्योंकि सत्य आचरण में मनोवृति पर काबू रखना अनिवार्य हो जाता है, सत्य को जो पूरी तरह प्राप्त कर लेता है, वह पूर्ण हो जाता है, सम्पूर्ण हो जाता है। सत्य बोलना और सत्य के अनुसार आचरण करना स्वभाव होना चाहिए । सत्य का आचरण करने वाले व्यक्ति को कोई भी धोखा देने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि जिसका जीवन सत्यमय है वह तो शुद्ध स्फटिक मणि की तरह हो जाता है उसके पास असत्य जरा देर के लिए भी नहीं ठहर सकता ।[4]

जिस प्रकार दिन का प्रकाश ज्यों-ज्यों आता है उसी प्रकार रात्रि की कालिमा स्वतःनष्ट होने लगती है उसी प्रकार मनुष्य के जीवन में सत्य के उदय के साथ ही असत्य अपने आप दूर होने लगता है ।

---

1. वर्मा सुरेन्द्र : मैटाफिजिकल फाउण्डेशन आफ महात्मा गाँधीज थाट, नई दिल्ली, 1970, पृ० 14
2. मंगल प्रभात : 1945, पृ० 1-3
3. हिन्दी नवजीवन : 3.10.1929
4. हिन्दी नवजीवन : 27.11.1921

इस संसार में यदि कुछ भी अक्षुण्ण है, वास्तविक है तो वह है सत्य । इसके सिवा इस संसार में कोई भी चीज शाश्वत नहीं है । गाँधी जी का मन्तव्य है कि मेरा यह विश्वास दिन दिन बढता जाता है कि सृष्टि में एक मात्र सत्य की ही सत्ता है और उसके सिवा दूसरा कोई नहीं है ।[1]

हम देखते हैं कि बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद इत्यादि महापुरुषों ने इसी सत्य के लिए अपना वैभव विलास त्याग दिया और ये प्रयत्न किया कि सत्य की इच्छा करने वाले को परम् सुख की प्राप्ति हो । परमसुख की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि ज्ञान प्राप्त हो और सत्य के बिना शुद्ध ज्ञान संभव नहीं । महात्मा गाँधी ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहाँ सत्य नहीं है वहाँ शुद्ध ज्ञान संभव नही हो सकता, जहाँ सत्य ज्ञान है वहां आनन्द ही होगा,शोक होगा ही नहीं और सत्य शाश्वत है इसीलिए आनन्द भी शाश्वत् होता है । सत्य ज्ञान पर निर्भर है और ज्ञान पर आनन्द निर्भर है यदि सत्य शाश्वत है तो आनन्द भी शाश्वत् है और मनुष्य को परम सुख की प्राप्ति सत्य के माध्यम से ही हो सकती है ।

सत्य को जीवन में सहजता या स्वाभाविक रूप से स्वीकार करना चाहिए । जब तक सहजता नहीं आयेगी, जीवन में नीरसता ही मालूम होगी । सहजता प्राप्त होते ही निराशा दूर हो जायेगी और सारे जीवन को उज्ज्वल बना देगी । जो ब्यक्ति पूर्ण सत्यमय हो जाता है, उसके लिए निराशा जैसी कोई चीज ही नहीं । फिर तो उसमें सत्य प्रकाशित होता है और उसके सारे जीवन को उज्ज्वल करता है ।[2]

इसलिए यह आवश्यक है कि मानवजीवन का मार्गदर्शक सत्य को ही होना चाहिये ।

सत्य को प्राप्त करने के लिये बड़ी कठिन परीक्षा से गुजरना पडता है अपनी ओर से कोई असत्य या अप्रिय वचन न बोलें जिससे दूसरों को कष्ट पहुंचे । आँख से कोई ऐसी वैसी वस्तु का दर्शन न करें जिससे कि हमारी इन्द्रियां हमारे वश में न रहे, कान से किसी की निन्दा न सुनें, सत्य के निकट पहुँचने का यही मार्ग है । आवश्यक यही है कि हम सत्य बोले सत्य सुने और सत्य के अनुसार ही आचरण करें। यही कार्य हमें सत्य के निकट ले जा सकता है अन्यथा सारे प्रयत्न व्यर्थ साबित होंगे। इन आदर्शों का पूरी तरह पालन करना अनिवार्य है ।

सत्य प्राप्ति के साधन जितने कठिन हैं उतने सरल भी हैं । प्रौढ़ ब्यक्ति हो या बच्चा, सबके लिये समान रूप से महत्व रखता है । हो सकता है कि एक बड़े ब्यक्ति को जो कठिन लगे वह एक बालक को विल्कुल आसान दिखाई दे । वे रास्ते हैं नम्रता के। गाँधी जी ने भी कहा है कि सत्य के शोधक को रजकण से भी नम्र होना चाहिये ।

---

1. सुमन, श्री रामनाथ (सम्पादक) : अहिंसा और सत्य, पृ० 613
2. महादेव भाई की डायरी भाग- 3, 3-7-1951, प्रथम संस्करण, 3.7.1951,पृ० 198

दुनियां धूल को पैरों तले रौंदती है परन्तु सत्य के शोधक को इतना नम्र बन जाना चाहिए कि धूल भी उसे कुचल सके ।[1]

नम्रता की इस हद तक जब व्यक्ति पहुँचता है तब जाकर उसे सत्य के दर्शन होते हैं ।

सत्य का आग्रही रूढ़ि से चिपककर ही कोई काम न करे, वह अपने विचारों पर हठ पूर्वक डटा न रहे । हमेशा यह मान कर चले की उसमें दोष हो सकता है ।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य और हठवादिता दोनों एक साथ नहीं चल सकते हैं । सत्य के पालन को आग्रहों, पूवाग्रहों से हमेशा दूर रहना होगा । अपने विचारों को अनावश्यक रूप से नहीं थोपना होगा । जहाँ कहीं भी यदि पता चल जाय कि उसके विचारों में कहीं दोष है, वहीं उसे गलती की क्षमा मांगना अनिवार्य है इसके लिये चाहे उसे कितनी भी बड़ी हानि क्यों न उठानी पड़े और उसे अपनी गलती के लियो प्रायश्चित भी करना चाहिये ।

सत्य के उपासक को बोलकर अपना काम करने या विचार करने की आवश्यकता नहीं है । उसका तो आचरण ही संसार के लिये उपदेश रूप होना चाहिए ।[3]

सत्य को वाणी की आवश्यकता नहीं है, सत्य तो स्वयं सिद्ध है। सत्य कहने या बोलने की चीज नहीं है, वह तो अनुभव की चीज है । सत्य की उपासना करने के लिये कम बोलना ही हितकारी है। रागद्वेष से भरा मनुष्य सरल हो सकता है वह वाचिक सत्य भले ही पा ले पर शुद्ध सत्य की प्राप्ति नहीं हो सक्ती। शुद्ध सत्य को शोध करने के माने हैं, राग-द्वेषादि द्वन्द से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना ।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा होती है, उसे राग-द्वेष और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता से दूर रहना आवश्यक है। उसे अन्तःकरण से शुद्ध होना अनिवार्य है अन्यथा वह सत्य की खोज नहीं कर सकेगा, सिर्फ वचन की सत्यता से ही काम न चलेगा । उसे वल्कि राग द्वेषादि से भी मुक्त होना अनिवार्य है असत्य हमें अनेक प्रकार से आकर्षित करता है वह हमें आकर्षक, लुभावने प्रलोभन देता है, इसका यह अर्थ नहीं कि हम सत्य के कठिन मार्ग से विचलित हो जाये । सत्य का मार्ग कठिन होते हुए भी आनन्द दायक है। सत्य का मार्ग छोडने में कोई आनन्द नहीं, किन्तु मनुष्य स्वभावतः कठिनाईयों का सामना नहीं करता, वह सरल मार्ग की खोज में रहता है । सरल मार्ग नीचे ले जाता है और कठिन मार्ग ऊपर चढ़ाता है।[5]

---

1. आत्मकथा (अंग्रेजी) : 1957 पृ० 307
2. बापू की छाया, नवजीवन द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, पृ० 72
3. हिन्दी नवजीवन : 30.4.1931
4. सुमन, श्री रामनाथ (सम्पा०) : अहिंसा और सत्य, पृ0628

सत्य को प्राप्त करने के सिर्फ एक उपाय है अभ्यास और वैराग्य । अभ्यास का अर्थ है सत्य प्राप्ति के लिए अधीरता और वैराग्य का अर्थ है सत्य के सिवा दूसरी वस्तुओं की तरफ से मुखं मोड़ लेना, यदि इसमें कहीं भूल होती है तो वह सुधर जायेगी, परन्तु इसमें स्वार्थ की भावना और कायरता तो कदापि नहीं आनी चाहिये । यदि सब बातें समान रही तो व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति निश्चित रूप से होगी ।

सत्य ही ईश्वर है :

गाँधी जी सत्य को सर्वोच्च स्थान देते हैं । उन्होंने ईश्वर को सत्य माना है और सत्य को ईश्वर माना । गाँधी जी से किसी ने पूछा आप ईश्वर को जैसा समझते है, वर्णन कीजिए । गाँधी जी ने इस प्रश्न का उत्तर दिया - ईश्वर सत्य है । परन्तु दो वर्ष हुए मैं एक कदम आगे बढ़ गया हूँ अब मैं कहता हूँ कि सत्य ही ईश्वर है । नास्तिकों को भी सत्य की शक्ति में शंका नहीं है ।[1]

सत्य की तरफ तो चाहे वह आस्तिक हो चाहे नास्तिक हो, सभी आकर्षित होते हैं । सत्य के अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं कर सकता है । सत्य की वास्तविकता में कोई सन्देह नहीं । सत्य स्वयं सिद्ध है इसलिये गाँधी जी ने सत्य को ही ईश्वर माना है और कहा है कि ईश्वर का मतलब है सत्य । सत्य के आधार पर ही वह परमेश्वर की व्याख्या करते हैं ।[2]

परमेश्वर की व्याख्याए अगणित हैं, क्योंकि इनकी विभूतियां भी अगणित हैं । विभूतियाँ मुझे आश्चर्यचकित तो करती हैं, मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती है, पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य रूपी परमेश्वर का । मेरी दृष्टि में वही एकमात्र सत्य है दूसरा सब कुछ मिथ्या है ।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परमेश्वर के अनेक रूप तो हो सकते हैं परन्तु उसमें सत्य भी एक रूप है । उसी सत्य के माध्यम से गाँधी जी परमेश्वर की तरफ आकर्षित होते हैं । सत्य को ही वह सब कुछ मानते है, सत्य के सिवा वह सब कुछ मिथ्या मानते हैं । गाँधी जी का सत्य पर दृढ़ विश्वास है और इसी आधार पर कहते हैं कि मेरे हर बात के अनुभव ने जो सदा एक सा रहा है, मुझे विश्वास करा दिया है कि सत्य के सिवा और कोई ईश्वर नहीं है । सत्य की जो उजड़ी हुई छोटे-छोटे झाकियाँ मुझे हो पाई है, उनसे सत्य के उस अवर्णनीय तेज की कल्पना नहीं हो सकती। सच तो यह है कि जो कुछ हमने देखा है वह उस महान प्रकाश का हल्की सी झलक मात्र है ।[4]

---

1. बापू के पत्र मीरा के नामः प्रथम संस्करण नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृ०153
2. बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम, 1-12-1915
3. सुमन, श्रीरामनाथ (सम्पा०) : अहिंसा और सत्य, पृ० 613
4. यंगइण्डिया : 7-2-29 पृ० -613

इस प्रकार हम देखतें है कि ईश्वर की झलक हमें सिर्फ सत्य के नियम पूर्वक पालन करने के पश्चात ही मिल सकती है । गाँधी जी सत्य की पूजा करते हैं, उसी को ईश्वर मानते हैं और कहते हैं कि मेरे पास सिवा सत्य के कोई दूसरा ईश्वर पूजा के लिये नहीं है ।[1]

जिसने सत्य की पूजा की वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर की पूजा करता है । यह आवश्यक नही है कि जिसने ईश्वर की पूजा की वह सत्य की भी पूजा करता हो । परमेश्वर ही सत्य है या सत्य ही परमेश्वर है। इस वाक्य की व्याख्या करते हुए गाँधी जी ने कहा' परमेश्वर ही सत्य है, ऐसा कहने में दोष यह आता है कि परमेश्वर और कुछ भी है लेकिन सत्य ही परमेश्वर है ऐसा कहने में दूसरे सब नाम छूट जाते हैं । केवल सत्य का ही ध्यान रहता है ।[2]

यहाँ परमेश्वर और सत्य दोनों की एकाकार कर दिया गया है । यहाँ गाँधी जी के दर्शन में अद्वैत का पुट है । चूँकि सत्य का अर्थ 'होना' है और नास्तिक भी अस्तित्व में विश्वास करते हैं यही नहीं सत्य में भी विश्वास करते हैं । ईश्वर और उसका तादृश्य नाम सत्य है ।[3]

सत्य और ईश्वर दोनों पर्यायवाची हैं । जो सत्य है वही ईश्वर है, जिसमें सत्य का अंश नहीं , जो असत्य है, उसमें ईश्वर का अंश नहीं है या यो कहें कि ईश्वर से उसका कोई संबंध नहीं है । हम सब को सत्य का केवल एक भर अंश मालूम है और सम्पूर्ण सत्य केवल ईश्वर को मालूम है ।[4]

सिर्फ एक अंश का इतना महत्व है तो फिर सम्पूर्ण सत्य का जिसे ज्ञान होगा, वह कितना महान होगा । जितना उज्ज्वल सम्पूर्ण सत्य है उतना ही उज्ज्वल ईश्वर है। सत्य के लिये कुछ भी गुप्त नहीं है सत्य ही ईश्वर है।[5]

गाँधी जी की इस बात से यह स्पस्ट हो जाता है कि सत्य और गोपनीयता में कहीं से भी मेल नहीं बैठता है । जहाँ कहीं भी गोपनीयता होगी, वहाँ असत्य किसी न किसी अंश में जरूर होगा । जिस प्रकार ईश्वर से कुछ छिपाया नही जा सकता, ईश्वर सब कुछ जानता है ठीक उसी प्रकार सत्य के पालन करने वाले से कोई भी झूठ नहीं बोल सकता और फिर सत्य में ईश्वर का अंश होने के कारण सत्य सर्वोच्च है, क्योंकि ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है । इसलिये गाँधी कहा करते थे कि मैं सिर्फ सत्य की पूजा करना चाहता हूँ । इसके सिवा मेरा कोई अन्य उद्देश्य नहीं है।[6]

---

1. हरिजन सेवक : 22-4-1929
2. महादेव भाई की डायरी भाग : 2प्रथम संस्करण : अप्रैल, 1950 पृ०237
3. गाँधी : प्रार्थना प्रवचन खण्ड 2, 19-1-1948, पृ० 230
4 हरिजन सेवक : 5-10-1940
5. महादेव भाई की डायरी : भाग 2प्रथम संस्करण, अप्रैल 1950पृ०157
6. महादेव भांई की डायरी : भाग 2प्रथम संस्करण, अप्रैल 1950पृ 276

उनकी नजर में सत्य की पूजा करना ईश्वर की पूंजा थी । उन्होंने इसलिए जीवन भर सत्य की उपासना की और सत्य के माध्यम से ही ईश्वर की पूजा की ।

गाँधी जी अक्सर कहा करते थे सत्य ही ईश्वर है, अथवा खुदा ही सच है। इस प्रकार के वचन प्रत्येक धर्म में मिल जाते हैं, इस सत्य का, इस खुदा, का जो मनुष्य सेवन करता है, वह कभी हारता नहीं । यह खुदाई कानून है ।[1]

परन्तु कभी कभी ऐसा कहते हुए सुना जाता है कि जिसने सत्य का पालन किया, उसे दुख ही प्राप्त होता है । धर्मात्मा दुख पाता है और पापात्मा सुख भोगता है। ऐसी बात नहीं कि सत्य की सदैव विजय होती है जो व्यक्ति सत्य का पालन करता है वह कभी नहीं हारता । जिसे सब हार मानते हैं वह वास्तव में जीत हुआ करती है। सिर्फ धीरज और धैर्य की आवश्यकता है, उस परमेश्वर पर विश्वास करने की आवश्यकता है, जिसने हमें सत्य के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया है ।

मेरा दावा है कि मैं बचपन से ही सत्य का पुजारी हूँ मेरे लिये यह सबसे सहज और स्वाभाविक वस्तु थी । मेरी भक्तिपूर्ण खोज ने मुझे ईश्वर सत्य है के प्रचलित मन्त्र के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' का अधिक गहरा मंत्र दिया । यह मन्त्र मुझे ईश्वर को मानो अपनी आँखों के सामने देखने की क्षमता प्रदान करता है । मैं अनुभव करता हूँ की वह मेरे रग-रग में समाया हुआ है ।[2]

महात्मा गाँधी की बात से यह स्पस्ट हो जाता है कि उन्होने 'ईश्वर सत्य है' के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' को अधिक महत्वपूर्ण माना । इससे लाभ यह हुआ कि सत्य के प्रति लोगों में अपार श्रद्धा उत्पन्न हुई और सत्य के पालन करने वाले लोगों के सामने ईश्वर का साक्षात् रूप आने लगा । अब ईश्वर के अस्तित्व के बारे में लोगो की शंका का समाधान हुआ और लोग सत्य को ही ईश्वर मान कर सत्य की आराधना और अनुगमन कर अपने जीवन में उतारने लगे ।

सत्य ही सर्वोच्च सिद्धांत है और सारे सिद्धांन्त, नियम इसी सत्य में समा जाते हैं । सत्य को पाना जितना आसान है उतना ही कठिन भी है, यह रास्ता जितना सकरा है, उतना ही चौड़ा भी है सिर्फ आवश्यकता है विश्वास की । जिसने सत्य पर विश्वास किया, वही सत्य को पा सका और जो सत्य के जितने भी निकट गया, उतना ही ईश्वर के करीब जाने का उसे मौका मिला । जिस अंश में सत्य मनुष्य के अन्दर होगा उसी अंश तक उसे ईश्वर के दर्शन होंगें । सत्य ही एक मात्र सत्य है । गाँधी ने भी कहा कि मैं ईश्वर की पूजा सत्य के रूप में ही करता हूँ, इस मार्ग ने मुझे विनाश से बचाया है और अपने ज्ञान के अनुसार आगे बढाता रहा हूँ । अपनी प्रगति में मुझे केवल सत्य

1. सम्पूर्ण गाँधी वॉङ्मय : खण्ड 8, पृ०60
2 हरिजन :-9-8-1942

ही, ईश्वर की हल्की–हल्की झाकियाँ मिलती रहीं और मेरा यह विश्वास दिन ब दिन बढ रहा है कि वही सत्य है और सब कुछ असत्य है ।[1]

चूँकि सत्य ही ईश्वर है, इसलिए मनुष्य को जो भी सत्य लगे, उसे मन वचन और कर्म से उसका पालन करे, यही उसका कर्तव्य है । इसी सत्य के माध्यम से वह सुखी हो सकेगा । गांधी जी ने आर्शीवाद देते हुए कहा है कि 'सब बालक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष उठते बैठते, खाते पीते ,खेलते और काम करते हुए प्रति दिन अपना सम्पूर्ण ध्यान सत्य की ही खोज में लगायें और जब तक शरीर के नाश के साथ हम सत्य से तृप्त न हो जांय तब तक ऐसा ही करते रहें तो कितना अच्छा हो । यह सत्य रूप परमेश्वर मेरे लिए रत्न चिन्तामणि सिद्ध हुआ है । सब के लिये ऐसा ही सिद्ध हो।[2] इस प्रकार गाँधी जी ने सबको यह सलाह दी है कि अधिक से अधिक समय सत्य की खोज मे लगायें और सत्य के तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करें ।

प्रो० जिम्मर ने अपनी पुस्तक फिलासफिज आफ इण्डिया में गाँधी द्वारा प्रस्तुत सत्य को ही ईश्वर स्वीकार करने के पक्ष में उनके ही तर्कों पर प्रकाश डाला है।[3]

प्रथम तर्क यह है कि चूँकि ईश्वर का प्रत्यय अत्यन्त गूढं एवं अस्पष्ट है । प्रत्येक धर्म में इसके अलग-अलग पर्याय है । इसलिये गांधी ने सत्य को सर्वोच्च माना है, उनका दूसरा तर्क यह है कि गांधी ने ईश्वर को चरम नियम या सर्वोच्च प्रत्यय कहा है, किन्तु दर्शन की दृष्टि में ईश्वर को व्यक्तितत्वपूर्ण सत्ता मानना विरोधपूर्ण विचार होगा। अतः गांधी जी ने इस दोष से वंचित रहने के लिए ही सत्य को स्वीकार किया है। सत्य एक अलौकिक सत्ता कहा है। तीसरा तर्क यह है कि ईश्वर को सत्ता मान लेने पर हम अनेक ऐसे सिद्धान्तों की अवहेलना कर जाते हैं, साथ ही कुछ ऐसे मनुष्यों की भी अवहेलना कर जाते हैं, जिन्हे ईश्वर में विश्वास नहीं होता । अनेक धर्म भी ऐसे हैं जो बिना ईश्वर की सत्ता माने पूर्ण रूप से धर्म के रूप में विकसित है । जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म । ये सभी सिद्धान्त या धर्म सत्य को परम आदर्श मानने में कोई सन्देह नहीं करते। चौथा तर्क यह है कि ईश्वर के विविध रूपों के कारण विभिन्न धर्मों में विषमता देखी जाती है किन्तु यदि ईश्वर के स्थान पर सत्य को स्वीकार कर लिया जाय तो किसी प्रकार का भेद-भाव या द्वन्द नहीं प्रतीत होता । इन्ही कारणों से गाँधी ने ईश्वर के रूप में सत्य को स्वीकार किया, सत्य की उपासनाकी ओर उन्होंने सत्य को सर्वोच्च माना ।

साधना और साध्यः

महात्मा गाँधी ने सत्य को साध्य तथा अहिंसा को साधन कहा है । अहिंसा के साधन से सत्य रूपी लक्ष्य तक पहुँचना आसान है । सत्य के पेड़ को सिर्फ अहिंसा के जल से ही सींचा जा सकता है तभी उसमें फल फूल मिल सकेंगें ।सत्य और अहिंसा ही ईश्वर के दूसरे नाम हैं । तात्पर्य ये है कि सत्य और अहिंसा आपस में इतने मिले

---

1. गाँधी : आत्मकथा (अंग्रेजी) , 1948, पृ6-7
2. सुमन, श्री रामनाथ (सम्पा०) : अहिंसा और सत्य, पृ० 656
3. जिम्मर : फिलासफीज आफ इण्डिया, 1953, लन्दन, पृ 1

हुए हैं कि इनको एक दूसरे से अलग करना कठिन है । दोनों एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं । जिसमें उल्टा सीधा का ज्ञान नहीं हो पाता है बल्कि दोनों ही बराबर हैं। इन सब के बाद भी अहिंसा साधन है सत्य साध्य है ।[1]

साधन का अर्थ है जो हमारे वश में है या जहाँ तक हम पहुँच सकें । यदि साधन हमारे पास हो तो देर से ही सही अपने साध्य तक पहुँच सकते हैं आवश्यकता है साधन और साध्य पर विश्वास करने की ।

ईश्वर या सत्य तक पहुँचने के लिए हमें किसी न किसी मार्ग की तलाश करनी पडेगी । गाँधी जी ने मार्ग का सुझाव देते हुए कहा है कि सत्यमय बनने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है । सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में अशक्य है।[2]

यदि सत्य का दर्शन करने की इच्छा है तो मनुष्य मात्र के प्राप्त आत्मवत प्रेम की और शुद्ध आत्मा की आवश्यकता है । आत्मशुद्धि के बिना तो अहिंसा धर्म का पालन अशक्य ही हो जायेगा। शुद्ध होने का अर्थ है- मन से, वचन से और काया से निर्विकार होना और राग द्वेषादि से रहित होना । इस तरह से शुद्ध होकर अहिंसक माध्यम से सत्य तक पहुँचा जा सकता है । इसलिए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है कि गाँधी अनुचित साधन को सदैव ही घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उससे एक तो कभी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो पाती और दूसरे यदि कार्य सिद्धि जैसी कुछ लगे भी तो वह उस ध्येय को सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि साधन की अपवित्रता के कारण साध्य भी अपवित्र हो जाता है ।[3]

अहिंसा और सत्य दोनों महात्मा गांधी के अनुसार तात्विक दृष्टि से समान हैं। सत्य ही वह आधार है । प्रथम तत्व है जिस पर जगत का अस्तित्व टिका है । अहिंसा वह शक्ति है जो जगत को धारण किये हुए है । अहिंसा और सत्य दोनों हमारे अस्तित्व की नियम व व्यवस्था हैं । हमारा अस्तित्व सत्य व अहिंसा के प्रेन रूप बंधन से बंधा हुआ है । सत्य और अहिंसा ही वे केन्द्र हैं जहाँ अस्तित्व की शक्तियां केन्द्रीभूत रूप में विधमान हैं तथा जीवन को नियमित कर रही है । इसलिये महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा को ही सब कुछ माना है वही उनका ईश्वर है । सत्य को वह अहिंसा के द्वारा खोजते हैं, और अहिंसा को सत्य के द्वारा समझने की चेष्टा करते हैं । उनके लिए सत्य ही अहिंसा और अहिंसा ही सत्य है । इसी सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि अहिंसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है । जब मैं अहिंसा को ढूंढता हूँ तो सत्य कहता है मेरे द्वारा उसे खोजो, जब मैं सत्य की तलाश करता हूँ तो अहिंसा कहती है मेरे जरिये उसे खोजो ।[4]

---

1. सुमन, श्रीरामनाथ (सम्प०) : अहिंसा और सत्य, पृ० 670
2. सुमन, श्रीरामनाथ (सम्प०) : अहिंसा और सत्य, पृ० 671
3. प्रसाद, डॉ० राजेन्द्र : गाँधी जी की देन, पृ० 90
4. यंग इण्डिया : 4-10-1925

सत्य स्वयं सिद्ध है, अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है । यह सत्य में छिपी हुई है । वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है इसलिए उसको मान्यता दिये बिना मनुष्य भले ही शास्त्र की शोध करे, उसका सत्य उसे आखिर अहिंसा ही सिखायेगा ।[1]

सत्य में अहिंसा पूर्ण रूप से विद्यमान है । सत्य ही अहिंसा का आधार है और उसका परिणाम है । सत्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है वह तो सूर्य की तरह सत्य है, वह स्वयं सिद्ध है । सत्य में अहिंसा मिली हुई है जिसने सत्य का पालन किया। उसने अहिंसा का पालन किया क्योंकि अहिंसा के माध्यम से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है। गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं अहिंसा मार्ग से सत्य की शोध करता हूँ। मैने अनुभव किया है कि दूसरे मार्ग से सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता ।[2]

अहिंसा की नीति के द्वारा ही उन्होंने सत्य के शोध का वीणा उठाया । उनके सामने सत्य को सिद्ध करने का प्रश्न नहीं था, सत्य तो स्वयं सिद्ध है ।

जो व्यक्ति सत्य का उपासक होता है वह शान्ति प्रिय अवश्य ही होगा । शान्ति का मार्ग सत्य के मार्ग पर ही जाकर मिलता है, परन्तु सत्य शान्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण है जिसे सत्य की खोज करनी है, वह अहिंसा के माध्यम से उसे खोज पायेगा । सत्य और अहिंसा का कहीं से भी मेल नहीं बैठ सकता । सत्य की खोज में हिंसा की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि सत्यप्रिय व्यक्ति अधिक समय तक हिंसक नहीं रह सकता । वह अपने अन्वेषण के दौरान अनुभव करेगा कि उसे हिंसक होने की आवश्यकता नहीं है और उसे यह भी ज्ञात होगा कि जब तक उसके अन्दर थोडी भी हिंसा है वह सत्य की शोध में असफल रहेगा ।[3]

इसलिए कहा जा सकता है सत्य का मार्ग सिर्फ अहिंसा है । अहिंसक रास्ते के द्वारा ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है । इसी बात की पुष्टि में गाँधी ने फिर कहा है कि यह कहने का भी साहस करता हूँ कि सत्य की विजय कभी हिंसा से नहीं हुई।[4]

सत्य पर यदि विजय प्राप्त करना है तो सिर्फ अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है । अहिंसा में वह गुण है जो सत्य तक हमें पहुंचा सकती है । सत्य तक हमें हिंसा नहीं पहुंचा सकती । हिंसा के द्वारा तो सिर्फ पतन ही होता है । आवश्यकता ि्चित करने की है कि हम सत्य की आराधना छोड़ने वाले नहीं हैं ।[5]

---

1. हिन्दी नवजीवन : 15-10-1925
2. हिन्दी नवजीवन : 18-11-1926
3. यंग इण्डिया : 20-5-1926
4. हिन्दी नवजीवन : 27-10-1927
5. हिन्दी नबजीवन : 20-9-1928

अहिंसा को धर्म और सत्य को आराध्य माने, अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं होता और सत्य तो ईश्वर ही है । इसलिए अहिंसा धर्म के माध्यम से सत्य की खोज करेंगे तो निश्चित ही हमें सत्य के दर्शन होंगें और सत्य की खोज में विजय प्राप्त होगी।

सत्य और अहिंसा का कभी नाश नहीं होता है। यह शाश्वत है, यह मनुष्य की प्रकृति में है। मनुष्य का स्वभाव है। सत्य और अहिंसा के विना एक दिन संसार नष्ट हो जायेगा सत्य और अहिंसा सर्वव्यापक सिद्धान्त या तत्व है ।[1]

सत्य और अहिंसा की सबसे बडी विशेषता उसकी सर्वव्यापकता है यह हर समय हर व्यक्ति के अन्तः में विद्यमान रहता है । इसके बिना मनुष्य पशु से ही बेदतर स्थिति में हो जायेगा। दिन प्रतिदिन अहिंसा और सत्य का विकास हो रहा है, ये मानव मात्र का विकास है । गाँधी जी ने भी स्पष्ट किया है 'हिंसा और असत्य नहीं, अहिंसा और सत्य ही मानव जाति का नियम है'' ।[2]

महात्मा गाँधी ने सम्पूर्ण मानवता के हित को ध्यान में रक्खा और कहा कि हमें देश का हित समस्त मानव हित के साथ सुसंगत रखना होगा । हमें एक धर्म समुदाय एवं सम्प्रदाय का हित इस तरह करना होगा कि उसमें दुनिया के तमाम धर्म, सम्प्रदायों का हित तो वह मन, वचन, धर्म से सत्य और अहिंसा का सम्पूर्ण पालन करने से ही हो सकेगा ।[3]

अहिंसा और सत्य सम्पूर्ण मानवता के हित का विचार करती है, वह किसी एक धर्म का सिद्धान्त नहीं, बल्कि सभी धर्मों में सत्य और अहिंसा सर्वव्यापक सिद्धान्त है । यदि एक धर्म का दूसरे धर्म से मेल बैठता हो या एक धर्म को सभी धर्मों से जोड़ता हो तो सत्य और अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन आवश्यक है और यह पालन मन, विचार और आचरण के द्वारा ही संभव है । अहिंसक आचरण के द्वारा मानव जाति का उद्धार हो सकता है यदि मानवता को बचाना है तो सत्य और अहिंसा पर चलना अनिवार्य है।

गाँधी जी को सत्य और अहिंसा पर बड़ी श्रद्धा थी, इसलिए उन्होंनें कहा है कि सत्य और अहिंसा में मेरी श्रद्धा दिन पर दिन बढ रही है और ज्यों ज्यो मैं अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न कर रहा हूँ, त्यों त्यों मेरा भी विकास हो रहा है । मुझे उसमें रोज नई रोशनी नजर आती है और नये-नये अर्थ मालूम होते हैं ।[4]

इसलिये हमें अपने जीवन में सत्य और अहिंसा को आत्मसात कर लेना आवश्यक है । इससे जहाँ आनन्द आयेगा, वहीं जटिल से जटिल समस्यायें भी अपने आप सुलझ जायेंगी । सिर्फ आवश्यकता है-सत्य और अहिंसा को अपनाने की ।

---

1. हिन्दी नवजीवन : 29-8-1929
2. यंग इण्डिया : 13-9-1928
3. महादेव भाई की डायरी : भाग 2, अप्रैल 1950, पृ० 36
4. हरिजन ; 2-3-1940

यदि सत्य रूपी ईश्वर कीं अनुभूति करनी है उसे खोजना है तो अहिंसा ही एकमात्र उसका माध्यम है, साधन है। अगर इसे और स्पष्ट करने की आवश्यकता हो तो कहा जा सकता है कि प्रेम के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। प्रेम रूपी अहिंसा को सत्य रूपी ईश्वर की खोज का अगर साधन बनाया जाय तो सत्य के निकट जल्दी ही पहुँचा जा सकता है। चूकि गाँधी जी साध्य और साधन की एकता को स्वीकार करते हैं, इसलिए अहिंसा ही सत्य है या प्रेम ही ईश्वर है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि जब आप सत्य को ईश्वर के रूप में पाना चाहते हैं तब उसका एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम अर्थात अहिंसा ही है और चूंकि मैं मानता हूँ कि अन्त में साधन और साध्य समानार्थक शब्द हो जाते हैं इसलिए मुझे यह कहने में संकोच नहीं होगा कि ईश्वर प्रेम है।[1]

जो भी व्यक्ति ईश्वर के रूप में सत्य की व्यक्तिगत खोज करना चाहते हैं, उन्हें पहले कई व्रतों का पालन करना चाहिए। उदाहरणार्थ सत्य, अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि। अमर आप अपने पर ये पाँचो व्रत लागू नहीं करते तो यह प्रयोग शुरू ही नहीं करना चाहिए। जैसे वैज्ञानिक खोज के लिए विज्ञान का प्रशिक्षण लेना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार सत्य की खोज के लिए कुछ प्रारम्भिक साधना की नितान्त आवश्यकता होती है और ये साधना है पांचो व्रत। यदि इन व्रतों का पालन नहीं हो सकता तो सत्य की प्राप्ति असंभव है । ब्रह्मचर्य द्वारा कामों पर अर्थात् वासनाओं एवं भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त किया जाता है, अहिंसा द्वारा राग, द्वेष, क्रोध पर विजय प्राप्त की जाती है, अपरिग्रह द्वारा संग्रह की प्रवृति का त्याग होता है। चोरी न करना अर्थात इमानदार व्यक्ति को ईश्वर की प्राप्ति होती है। सत्य का पालन इनके लिए अनिवार्य है इन शर्तों का जो व्यक्ति पालन करता है वह सत्य का साक्षात्कार कर सकता है अन्यथा उससे वंचित रह सकता है।

पाँचो व्रत सभी शास्त्रों के सभी धर्मों के केन्द्र बिन्दू हैं कोई भी शास्त्र और धर्म ऐसा नहीं है, जो कि इन पाँचो व्रतों से शून्य हो। इसलिए यह आवश्यक है कि सत्य और अहिंसा के विपरीत जो भी वस्तु शास्त्रों में मिले उसका वह परित्याग कर दे, क्योंकि सत्य एवं अहिंसा ही समस्त धर्म के आधार स्तम्भ हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के सभी धर्मों का आधार ही सत्य और अहिंसा पर टिका हुआ है। चाहे वह हिन्दू धर्म हो, ईस्लाम धर्म हो, ईसाई धर्म हो या सिक्ख धर्म हो। बौद्ध और जैन धर्म तो सिर्फ अहिंसा पर अवलम्बित ही हैं और भी दुनिया में जितने धर्म हैं इसी को अपना आधार स्वीकार करते हैं। अतःइसके विपरीत जो कुछ भी कहा जाय उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। जिस धर्म में इसका विरोध

1. यंग इण्डिया : 31-12-1931
2. हरिजन सेवक :6-4-1934

हो उसे धर्म या शास्त्र नहीं माना जा सकता है। गाँधी जी का मत है कि संसार में सत्य और अहिंसा से बढ़ कर कोई शक्ति नहीं है। इनकी तुलना में अणुबम कोई चीज नहीं, एक नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति है, दूसरी शारीरिक और भौतिक।[1]

सत्य अहिंसा और अणुबम में जमीन आसमान का अन्तर है। एक शाश्वत और दूसरा नाशवान है। आज सत्य और अहिंसा के पालन सेही अणुबम के प्रकोप से बचा सकता है ।

आज चारो तरफ हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है हिंसा का साम्राज्य फैला हुआ है। झूठ, फरेब असत्य का बोलबाला है। अहिंसा के नाम पर हिंसा होता है धर्म के नाम पर अधर्म होता है।[2]

फिर भी सत्य और अहिंसा की परीक्षा तो इन्ही के बीच हो सकती है। इस कठिन समय में आज भी सत्य और अहिंसा उतनी ही प्रभावशाली है, जितनी पहले कभी थी और उतनी ही प्रभावशाली बाद में भी रहेगी।

गाँधी जी ने स्वीकार किया है कि शास्त्रों ने हमें दो बहुमूल्य वचन दिये हैं उनमें से एक है 'अहिंसा परमो धर्मः'। और दूसरा है सत्यानस्ति परोधर्मः।सत्य के समान कोई धर्म नहीं, ये दो वचन हमें समस्त विहित अर्थ और काम की कुंजी प्रदान करते हैं।[3]

गाँधी जी के इन दोनों वचनों ने ही जो शास्त्रों द्वारा प्राप्त है, सभी समस्याओं की कुंजी का काम करते हैं और कठिन से कठिन समस्याओं की परीक्षा में भी ये खरे उतरते हैं।

सत्य और अहिंसा को मनुष्य जब चाहे जैसे चाहे प्रयोग में ला सकता है। अगर वह हर जगह हर समय खरे नहीं उतरे हैं तो सनातन सिद्धान्त नहीं रह जायेंगें। यही नहीं सत्य और अहिंसा किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ सबके लिए समान है। इसीलिए गाँधी जी ने स्पष्ट किया है कि सत्य और अहिंसा मठवासियों के ही धन नहीं है, अदालतों, सभाओं और अन्य व्यवहारों मे भी यह सनातन सिद्धान्त लागू हो सकते हैं।[4]

सत्य और अहिंसा धर्म का पालन जितना मंदिर में बैठा साधु कर सकता है उतना ही पालन घर चलाने वाला गृहस्थ कर सकता है जितनी प्रभावशाली सत्य और अहिंसा मंदिर में होगी उतनी ही प्रभावशाली वह व्यवहारिक कार्यों में भी होगी। यही अहिंसा की विशेषता है।

---

1. हरिजन सेवकः 6-4-1934
2. बापू के पत्र सरदार वल्लभ भाई के नाम : 25-12-1946
3. हरिजन :27-7-1940
4. सुमन, श्री रामनाथ (सम्पा०) : अहिंसा और सत्य, पृ०668

सत्य और आहिंसा का संबन्ध शरीर से नहीं बल्कि मन और भावनाओं से है। मन और भावनाएं अपने आप परिवर्तित होती है। उन्हे कोई जोर जबरदस्ती से परिवर्तित नहीं कर सकता है जबतक व्यक्ति स्वेच्छा से इसका पालन नहीं करता। अगर उद्देश्य सही है तो सत्य और अहिंसा अपना कार्य स्वयं ही कर लेगी। जैसे कांग्रेस ने बहुत बड़ा काम देश को स्वतंत्र कराने का लिया था। उस विषम परिस्थिति में महात्मा गाँधी का कथन है कि कांग्रेस जब तक अपने सत्य और अहिंसा के ध्येय के प्रति सच्ची रहेगी, तबतक उसका काम कायम रहेगा।[1]

सत्य और अहिंसा का एक नियम है, एक निश्चित उद्देश्य है। उस पर न चलने पर कार्य की सिद्धि संदिग्ध हो जायेगी। सत्य का मार्ग जितना सीधा है, उतना तंग भी है यही बात अहिंसा का भी है। यह तलवार की धार पर चलने के बराबर है, ध्यान की एकाग्रताके द्वारा एक नट रस्सी पर चल सकता है, परन्तु सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए कहीं बडी एकाग्रता की आवश्यकता पडती है। जरा सा चूके कि धड़ाम से जमीन पर आ गिरे।[2]

सत्य और अहिंसा जितना कहने और सुनने में आसान दिखता है उतना असानी से उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसके लिए कठिन अभ्यास और मन से, विचार से और कर्म से व्यक्ति को शुद्ध होना पडता है। महात्मा गाँधी के विचार में सतत् साधना के द्वारा ही सत्य और अहिंसा को सिद्ध किया जा सकता है।

सत्य और अहिंसा को सिद्ध करने के लिए निरन्तर प्रयास और अपने भावों को नियंत्रण में रख कर अभ्यास या साधना की आवश्यकता पडती है। इसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन पूर्णरूप से करना होगा। चोरी से किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दूर रहना होगा। आवश्यक वस्तु से अधिक संग्रह की प्रवृति पर भी नियंत्रण रखना होगा। कठोर शारीरिक श्रम करना होगा क्योंकि जो बिना मेहनत किये खाते हैं वे चोर होते हैं। मन से भय को दूर भगाना होगा, छुआछुत के निवारण का प्रयास करना होगा, और सभी धर्मों के लोगों से आपसी सद्भाव कायम करना होगा, सभी धर्मों की इज्जत करनी होगी, सत्य और अहिंसा की प्राप्ति के लिये नम्रता की विपुल भावना का विकास करना होगा और अपने आपको शून्य समझ कर ही सत्य और अहिंसा की शक्ति का विकास किया जा सकता है। इन्ही सब नियमों को साधना एवं अभ्यास करने के पश्चात ही आत्म शुद्धि और शारीरिक शुद्धि की प्राप्त होती है।

बिना आत्म शुद्धि के प्राणि मात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता है और आत्मशुद्धि के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है।[3]

---

1. हरिजन सेवक : 11-11-1939
2. सुमन, श्री रामनाथ (सम्प०) : अहिंसा और सत्य पृ० 671
3. सुमन, श्री रामनाथ (सम्प०) : अहिंसा और सत्य पृ०671

अशुद्ध आत्मा से ईश्वर का दर्शन कभी भी नहीं हो सकता है इसलिए सबसे पहले तो शुद्धि की प्रक्रिया से गुजर कर अपने को शुद्ध कर लेना अनिवार्य है। चूंकि शुद्धि साधन है और परमेश्वर साध्य है इसलिये शुद्धि द्वारा ही अहिंसा की प्राप्ति और फिर सत्य की प्राप्ति हो सकती है। इसी परिपेक्ष में गाँधी जी ने कहा है कि मैं जानता हूँ कि अभी मुझे बीहड़ रास्ता तय करना है इसके लिये मुझे शून्यवत बनना पडेगा। जब तक मनुष्य खुद अपने आप को सबसे छोटा नहीं मानता है, तबतक मुक्ति उससे दूर रहती है। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और यह अनुभव सिद्ध बात है कि इस तरह की नम्रता के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।[1]

उनकी इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य और अहिंसा की प्राप्ति के लिए अपने आपको छोटा से छोटा समझना होगा, अहंकार की भावना को त्याग देना होगा और नम्रता की पराकाष्ठा को पार कर देना होगा। अगर संक्षेप में कहें तो मनुष्य को शून्य वन जाना होगा, तभी उसे मुक्ति मिल सकती है अन्यथा अहिंसा और सत्य का रास्ता बड़ा ही कठिन है। उस पर चलना बहुत कठिन कार्य है।

सत्य और अहिंसा की अपार महिमा है। उसकी तुलना संसार की कोई वस्तु नहीं कर सकती है। दोनों की तुलना करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा है 'तराजू के एक पलडे पर सब ज्ञान, विद्वता और कला रखिए और दूसरे पर सत्य तथा शिव, तो आपको पता चलेगा कि सत्य और शिव वाला पलड़ा भारी है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य और अहिंसा सबसे बहुमुल्य वस्तु है जिसने इसको पा लिया, उसने संसार की समस्त सम्पत्ति को पा लिया और जिसके पास ये नहीं आ सकी वो अपने जीवन की यात्रा में असफल सिद्ध हुआ।

महात्मा गाँधी ने अपनी महानता का रहस्य बताते हुए कहा है कि अगर आज मैं महात्मा बना हूँ तो इसलिए नहीं कि अंग्रेजी की बैरिस्टर हूँ,पर इसलिए कि मैने सेवा की है,और वह सेवा सत्य और अहिंसा के द्वारा ही है। इस सत्य और अहिंसा की पूजा में जो थोड़ी सी सफलता मुझे मिलती चली गई उसी कारण आज मेरी थोडी बहुत पूछ है।[3]

यह विचार करने की वस्तु है कि महात्मा गाँधी अगर सत्य और अहिंसा के द्वारा इतने बडे महापुरुष बन सकते हैं तो एक साधारण मनुष्य भी इसकी आराधना और प्रयास से महान पुरुष बन सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी विचार, वाणी और कर्म को ही पूर्ण सत्य स्वीकार करते हैं। जो सत्य को पूर्णतः समझ लेता है उसे संसार में कुछ समझने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। सत्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । यह अनिवार्य नैतिक नियम है, यह मिथ्या आचरण का निषेध करता है। गाँधी जी के राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक नियम सत्य की कसौटी पर पूर्णरूप से खरे उतरे हैं। इसलिए उन्होंने सत्य को अहिंसा के साथ जोडा और सत्य अहिंसा के द्वारा अनेकों नये सिद्धान्तों का निर्माण किया।

---

1. सुमन, श्री रामनाथ (सम्प०) : अहिसा और सत्य, पृ०672
2. हिन्दी नवजीवन : शिकारपुर सिंह में विद्यार्थियो के बीच किया गया भाषण, 7-3-1929

गाँधी जी ने अहिंसा को सत्य का साधन मानकर एक नवीन जीवन दर्शन दिया और सत्य को व्यवहारिक बनाया। अहिंसा के माध्यम से सत्य तक पहुँचना और फिर ईश्वर.को प्राप्त कर लेना गाँधी की आध्यात्मिकता की अनुपम कड़ी और भारतीय दर्शन का महत्वपूर्ण अध्याय है।

अहिंसा:

अहिंसा सर्वग्राही सत्य को प्राप्त करने का एक साधन है। गाँधी जी के शब्दों में परम सत्य अकेला खड़ा होता है। सत्य साध्य है अहिंसा साधन''। गाँधी जी के अनुसार अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है हिंसा न करना। परन्तु गाँधी जी के लिए अहिंसा का केवल शाब्दिक अर्थ ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ है 'सकारात्मक अनुशासन' । सकारात्मक अनुशासन का अर्थ है मन, बुद्धि, कर्म, वाणी एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण, क्योंकि मनुष्य के अन्दर आक्रामक प्रवृतियाँ होती हैं जिसके कारण वह दूसरों को अपने कर्म, वाणी और कार्य से कष्ट पहुँचाता है। इन प्रवृतियों पर विजय प्राप्त करना ही अनुशासन है। यह अनुशासन ही इन्द्रियातीत होकर प्रेम का रूप धारण करता है अतःअहिंसा का वास्तविक अर्थ है, प्राणी मात्र के लिए प्रेम का अभ्युदय। गाँधी के अनुसार प्रेम का नियम है जानबुझकर या चैतन्य रूप से कष्ट सहना। जैसाकि एक माँ अपने बच्चे के लिए अपार कष्ट सहती है, वह यहाँ अनजाने में प्रेम का अनुगमन करती है।[1]

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति ने आत्मिक अनुशासन को प्राप्त कर लिया है या नहीं इसकी कसौटी क्याँ होगी? इसकी एकमात्र परख या कसौटी वे विपरीत परिस्थितियाँ होंगी जो मनुष्य के अनुशासन पर परीक्षण कर सकेगी? जो प्रेम देते हैं उनके साथ प्रेम करना सहज मानवीय वृत्ति है, किसी अनुशासन का प्रतीक नहीं। अतः मनुष्य को अहिंसा का परिचय तभी मिल सकेगा जब उसका प्रेम दूसरे ब्यक्ति के प्रेम या द्वेष से प्रभावित न हो।[2]

इसलिए गाँधी जी ने सच्चे प्रेम की परिभाषा करते हुए कहा है 'वास्तविक प्रेम उन लोगों से प्रेम करना जो आपसे घृणा करते हैं' अपने पड़ोसी से प्रेम करना,चाहे आप उस पर विश्वास भले ही न करते हों ------ वह प्रेम किस काम का यदि वह तभी तक बना रहे जबतक मित्र का आप पर विश्वास हो।[3]

ऐसा ही उच्च प्रेम वास्तविक अहिंसा है। गाँधी जी अन्यायी एवं अन्याय के प्रति जान लड़ाकर विरोध करने के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।परन्तु यहां विरोध की

---

1. गाँधीःद ला आफ लव, पृ6
2. गाँधी : इन सर्च आफ सुप्रिम वालूम1पृ०16व6
3. हरिजन : 3-3-1946,पृ०28

तकनीकि भिन्न है। यहां दण्ड विरोधी को नहीं स्वयं को दिया जाता है ताकि उसकी पवित्रता व त्याग से विरोधी के हृदय को जीता जा सके लेकिन यह मार्ग बडा संघर्ष पूर्ण एवं आत्मकष्ट सहने का है। इस तकनीकी के पीछे गाँधी जी की मानवीय स्वभाव की अवधारणा निहित है। जब मनुष्य गलत कार्य करता है तब कैसे प्रेम के द्वारा उसे सही कार्य करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है?गाँधी जी का उत्तर है मनुष्य मूलतः अच्छा है, परिस्थितियों व वातावरण ने उसकी अच्छाई को धूमिल कर दिया है अतः जब सही निवेदन उससे किया जाता है तो उसकी चेतना लौट जाती है और वह अपने सचेतन और उजागर स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है।

वास्तव में यह प्रेम साधारण प्रेम से भिन्न है। इस प्रेम में मनुष्य निरन्तर शरीर से आत्मा की ओर उन्मुख होता है, और जैसे-जैसे वह आत्मा की ओर उन्मुख होता है वैसे-वैसे वह समस्त जीवों की एकता की अनुभूति करता है, और तब उसके लिए विरोधियों को प्रेम करना भी सहज हो जाता है। गाँधी के शब्दों में सच्चा प्रेम शरीर से अन्तरात्मा के प्रति अपने स्थानान्तरण में और तब असंख्य शरीर में निवास करने वाले समस्त जीवन की एकता की आवश्यक अनुभूति में है।[1]

गाँधी जी के अनुसार अहिंसा के तीन अलग-अलग स्तर हैं-सबसे प्रथम एवं उच्च स्तर वीरों की अहिंसा का है जिसे गाँधी जी ने प्रकाशमान अहिंसा कहा है । यह वह अहिंसा है जिसे कि व्यक्ति ने किसी आवश्यकता के कारण नहीं वरन अपने विश्वास और नैतिकता के कारण चुना है। वह अहिंसा को जीवन का नियम मानता है इसलिए नहीं कि इससे वह अपने उद्देश्यों में सफल होगा बल्कि इसलिए कि वह उस नैतिक स्तर पर पहुँच गया है जहाँ हिंसा उसके लिए असह्य है यही अहिंसा का वास्तविक रूप है।[2]

अहिंसा का दूसरा स्तर वह है जबकि मनुष्य ने इसको एक नैतिक आदर्श के रूप में नहीं बल्कि एक उपयोगी साधन के रूप में अपनाया है। यहां पर अहिंसा कमजोर और साधनहीनों की अहिंसा है परन्तु यहाँ भी यदि व्यक्ति अपनी कायरता को छुपाने के लिये नहीं बल्कि ईमानदारीपूर्वक और पूर्ण निष्ठा के साथ यदि इसका अनुगमन एक नीति के रूप में करता है तो कुछ सीमा तक उसे इच्छित परिणाम प्राप्त हो सकेंगे।[3]

तीसरा स्तर अहिंसा का वह है जब एक कायर आदमी अहिंसा को अपनी कमजोरियों को छुपाने के लिये अपनाता है । ऐसी अहिंसा गाँधी जी के लिए हिंसा से भी बुरी है क्योंकि हिंसक मनुष्य कम से कम साहसी और अपनी भावनाओं के प्रति सच्चा होता है। इसलिए हिंसक मनुष्य में किसी दिन अहिंसक हो जाने की आशा है लेकिन कायर के लिये कोई आशा नहीं।[4]

---

1. बापू की चिट्ठी मीरा को: नवजीवन पबलिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1949, पृ०159
2. हरिजन : 31-8-1947पृ०302
3. यंग इण्डिया : वालूम1पृ०265
4. यंग इण्डिया . वालूम III पृ०222-223

यहां इस बात की समीक्षा करना आवश्यक है कि गाँधी जी ने ऐसा क्यों कहा, उनका तर्क है कि भय और प्रेम विरोधी शब्द है, उसी प्रकार कायरता और अहिंसा विरोधी है और उतने ही विरोधी हैं जितना कि पानी और आग।[1]

कायर के पास सत्य की शक्ति नहीं है वह अहिंसा के आचरण में दूसरों पर अपनी विजय प्राप्त करना चाहता है। ऐसी कायरता से हिंसा उच्च है क्योंकि बदला लेना निर्बल के समर्पण से उच्च है। वास्तव में अहिंसा उस व्यक्ति को सिखायी नहीं जा सकती है जो मरने से डरता है, जिसमें विरोधी की शक्ति नहीं है। वास्तव में अहिंसक के लिए हिंसा से अधिक उच्च साहस की आवश्यकता है क्योंकि यहां शत्रु को मारना नहीं बल्कि शत्रु के लिये मरने की तैयारी करना है।

जो अहिंसा को प्रथम और वास्तविक रूप है वह गांधी जी के लिए हिंसा से बहुत अधिक श्रेष्ठ है, इसकी श्रेष्ठता को केवल तात्विक रूप से ही नहीं वरन् बड़े ही तार्किक तरीके से गाँधी जी ने अभिव्यक्त किया है। अहिंसा हिंसा से अधिक क्रियाशील है। यह वह स्वायत्तता आत्मक्रिया है क्योंकि इसे अपने संचालन के लिए किसी शारीरिक या वाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। वाह्य शक्तियों को विश्राम की आवश्यकता पड़ती है परन्तु आन्तरिक शक्तियां निद्रा और जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में कार्यशील रहती है।[2]

पुनः अहिंसक प्रत्यक्ष है, अनवरत् और इसका तीन चौथाई अदृश्य है केवल एक चौथाई दृश्य है। अपने दृश्य रूप में यह अप्रभावशाली प्रतीत होती है परन्तु यह वास्तव में बहुत तीव्र रूप से क्रियाशील है और अपने परिणाम में बहुत अधिक प्रभावशाली है एक हिंसक मनुष्य को कार्यवाहियाँ बहुत अधिक जान पडती है परन्तु वह स्थाई नहीं होती।[3]

पुनः अहिंसा में कभी हार नहीं होती उसकी हार वास्तव में विजय का प्रभात हो सकता है क्योंकि अहिंसक जितना जितना हारता जाता है उतना-उतना वह अपने उद्देश्य में सफल होता जाता है।[4]

सत्याग्रहः

गाँधी दर्शन में अहिंसा के साथ सत्य के समाहित हो जाने के पश्चात एक नवीन स्थिति की उत्पत्ति होती है। इस स्थिति का मूल अभिप्राय अहिंसा में आस्था रखने वाले मनुष्य का सत्य के प्रति आग्रह है। जिसे सत्याग्रह के नाम से पुकारा जाताहै। सत्याग्रह में सब कुछ सत्य के लिए ही कहा और किया जाता है। सत्याग्रह का एक

1. हरिजन : 4-9-1939, पृ०331
2. यंग इण्डिया : 21-12-1931
3. हरिजन : 20-3-1937पृ०41-42
4. हरिजन : 20-8-1938 पृ०226

ऊंचा आदर्श है कि दूसरों को कष्ट पहुंचाये बिना ही सत्य का दृढ़ता से पालन तथा सत्य के निरापद खोज, इसके लिये व्यक्ति अपनी अंतिम सांस तक प्रयास करके लड़ता रहता है। बिना बैर, द्वेष तथा हिंसा के गाँधी जी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है विरोधी को पीड़ा देकर नहीं, अपितु स्वयं कृष्ट उठा कर सत्य की रक्षा करना।[1]

सत्याग्रह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है सत्य+आग्रह इसका अर्थ है सत्य का आग्रह। विभिन्न विद्वानों ने सत्य के अलग-अलग अर्थ लिए हैं इसलिये सत्याग्रह के अर्थ में विभिन्नता आना स्वाभाविक है जयन्तनुजा वन्दोपाध्याय ने गाँधी के सत्य के मूल्यात्मक अर्थ को विशेष महत्व दिया और कहा कि अपने मूल्यात्मक अर्थ में सत्य न्याय का सूचक है।[2]

अतः सत्याग्रह का अर्थ होता है न्याय का आग्रह। इसी प्रकार सुगत दास गुप्ता सत्य को मौलिक धारणा न मानकर इसे सामाजिक व्युत्पन वस्तु मानते हैं।[3]

उनके अनुसार मौलिक धारणा अहिंसा है, जिसका मुख्य अर्थ है अशोषण। अतः सत्याग्रह सामाजिक सत्य के रूप में अशोषण के लिये अहिंसक प्रक्रिया है। परन्तु गांधी जी ने सत्याग्रह को सत्य शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है और उसे आत्मशक्ति प्रेम शक्ति के प्रति आग्रह को ही सत्याग्रह स्वीकार किया। रंगनाथ दिवाकर जी का कहना है कि सत्याग्रह का यह विचार गांधी जी के हाथों में आकर प्रेम का विधान बन गया। वह सभी परिस्थितियों और सभी रूपों में तथा सिद्धान्त में हिंसा का पूर्ण परित्याग करना है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिना किसी दबाव में आकर सत्य का पालन करना तथा विरोधी के प्रति समस्त दुर्भावना का त्याग होते हुए भी असत्य के विरोध को सत्याग्रह कहते हैं।

गाँधी जी ने सत्याग्रह शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है कि हमारे अगणित असुविधा रूपी तालों को खोलने के लिए सत्याग्रह रूपी एक मुख्य कुंजी है। सत्याग्रह कोई बड़ा शब्द नहीं है सत्य पर आरूढ रहना ही सत्याग्रह है।[5]

जिस कुंजी से अनगिनत ताले खुल जाते हैं उसे मास्टर कुंजी कहते हैं। उसी प्रकार अनेक समस्याओं के समाधान की मास्टर कुंजी है सत्याग्रह। सत्याग्रह से किसी भी समस्या का समाधान निकल जाता है बस आवश्यकता है सत्य पर विश्वास और अहिंसा के मार्ग पर चलने की। क्योंकि सत्याग्रह का आधार सत्य है वह एक ऐसा अस्त्र

---

1. यंग इण्डिया :14-1-1920
2. जयन्तनुजा, वन्दोपाध्याय : सोशल एण्ड पालिटिकल थाट आफ महात्मा गाँधी, पृ०21
3. गुप्ता, सुगत दास : गांधियन इ कान्स्ट्रक्ट फ़ार ए न्यू सोसाइटी गांधी मार्ग, 14-10-1970, पृ० 333
4. दिवाकर, रंगनाथ : सत्याग्रह और विश्वशान्ति, पृ०16
5. इण्डियन ओपिनियन : 28-10-1911

है, जिसका प्रभावकारी उपयोग केवल वे ही कर सकते हैं। जो कभी रक्तपात पर विश्वास नहीं रखते।

सत्याग्रह का आधार सत्य है इसलिए इसका उपयोग अहिंसक व्यक्ति ही कर सकता है जो हिंसा और खून खराबे से दूर रहे। इस शस्त्र को धारण करने वाली पहली शर्त है अहिंसक होना। गाँधी जी ने सत्याग्रह के विषय में उसकी महान शक्ति का परिचय देते हुए कहा है कि सत्याग्रह एक महान शक्ति है और जिस प्रकार प्रकाश गहरे से गहरा अन्धकार का मुकाबला कर सकता है उसी प्रकार सत्याग्रह भी बडी से बडी विरोधी ताकतों का मुकाबला कर सकता है।[1]

जिस प्रकार प्रकाश की विशेषता होती है, या उसका गुण होता है अन्धकार को नष्ट करना, उसी प्रकार सत्याग्रह की यह विशेषता है कि विरोधी के पास चाहे जितनी भी ताकत क्यों न हो अगर सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया जाय तो उसकी ताकत चूर हो जायेगी क्योंकि अहिंसक योद्धा एक महान सत्याग्रही हो सकता है।

सत्याग्रही योद्धा कभी हारता नहीं है वह हमेशा जीतता ही है। चाहे सामने वाला कितना भी ताकतवर क्यों न हो। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि सत्याग्रही के सामने केवल एक ही लक्ष्य हो कि वह अपने कर्तव्य का पालन करता रहे, चाहे उसे इसकी कुछ भी कीमत चुकानी पड़े। सत्याग्रही का परम लक्ष्य है सत्य पर दृढ रहना और अहिंसा के अनुसार आचरण करना। इसके लिये वह कोई भी कीमत देने के लिये तैयार रहता है, चाहे उसे सत्य की स्थापना और अहिंसा के लिये अपनी जान की भी कीमत क्यों न देनी पड़े। जो योद्धा अपने जान की कीमत पर विरोधीं का विरोध करे, वह हारता नहीं बल्कि जीतता है। इसलिये गाँधी जी ने कहा है कि खेल तो बहुत है, किसी में हम जीतते हैं, किसी में हारते हैं, लेकिन यह एक ऐसा खेल है जिसमें सदैव जीत ही है और वह है सत्याग्रह का खेल।[2]

इसीलिए सत्याग्रह को बड़े विस्तृत अर्थ में लिया गया है कहा जा सकता है कि जिसे हम सत्य समझते हैं उसे मरण पर्यन्त न छोड़ना सत्य के लिये चाहे जितनी भी तकलीफें उठानी पड़े सब उठाना। कष्ट किसी को नहीं पहुँचाना चाहिए। क्योंकि कष्ट पहुँचाने से सत्य का उल्लंघन होता है, इतना सब सहनेकी शक्ति का आ जाना ही सच्ची जीत है।[3]

सत्याग्रही के लिए आवश्यक है कि वह अहिंसक ही हो। क्योंकि अहिंसक ब्यक्ति ही सत्य के लिये कठिनाइयां उठाने मे सक्षम होता है और स्वयं कष्ट सहते हुए भी दूसरों को कष्ट नहीं देता। स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को कष्ट से मुक्ति दिलाने वाला व्यक्ति ही सत्याग्रही हो सकता है और सत्याग्रही की जीत निश्चित ही होती है। गाँधी जी का इस बारे में स्पष्ट मत है कि सत्याग्रह का प्रथम और अंतिम सिद्धान्त यह है कि हम दूसरों को कष्ट न पहुंचायें, बल्कि न्याय प्राप्त करने के लिए स्वयं कष्ट उठायें।[4]

---

1. इण्डियन ओपिनियन : (अंग्रेजी) 27-5-1911
2. सुमन, श्रीराम नाथ (सम्पा०) : सत्याग्रह,संपादक श्री रामनाथ सुमन,पृ० 7
3. इण्डियन ओपिनियन, 26-9-1908
4. सत्याग्रह : सम्पादक श्री रामनाथ सुमन पृ०17

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्याग्रह में सत्याग्रही को कष्ट से भय नहीं होता बल्कि न्याय प्राप्ति की चाह होती है। सत्याग्रही को ईश्वर में श्रद्धा होना अति आवश्यक है, ईश्वर में श्रद्धा ही उसे भय से मुक्ति दिला सकती है। इसलिए कहा गयाहै कि सत्याग्रह की भावना को अच्छी तरह समझ लेने पर ईश्वर के सिवा और किसी से डरने की बात रह ही नहीं जाती है।[1]

चूंकि अहिंसक ही सत्याग्रही हो सकता है इसलिए सत्याग्रही को ईश्वर के सिवा अन्य किसी से भी भय नहीं होता है। वह पूर्ण रूप से निर्भीक होता है। सत्य की इच्छा रखने वाला सत्याग्रही जब स्वेच्छा से अपनी जान भी देने के लिये तैयार हो तो उसे किसी से क्या भय हो सकता है।

जिसे सत्य की इच्छा होती हैं, उसे भय को दूर भगाना पड़ता है। फिर इसके बाद तो जहां अभय है, वहाँ सत्य तो अपने आप रहेगा।[2]

जहां डर है, भय है, वहां सत्य नहीं टिक सकता और जहां अभय है वहां सत्य अपने आप आ जाता है। सत्य वहीं रहेंगा जहाँ निर्भिकता हो, अन्यथा सत्य वहाँ नहीं रहेगा। अर्थात सत्याग्रही के लिए निर्भिकता आवश्यक है। क्योंकि अभय के बिना सत्याग्रह की गाड़ी एक कदम भी नहीं चल सकती।अभय पूर्णतया और सब बातों में होना चाहिए। धन संपत्ति,झूठा मान,सगे संबधी, राज दरबार, शारीरिक आघात और मरण सभी के विषय में अभय हो तभी सत्याग्रह का पालन संभव है।[3]

अभय का अर्थ है व्यक्ति पूर्ण रूप से निर्भय हो,चाहे किसी भी क्षेत्र में क्यों न प्रयोग करना हो। उसे धन सम्पत्ति का लोभ न हो,यह भय कभी न हो कि उसके जानेके बाद क्या होगा? इसी प्रकार झूठा और अहंकार, मान-मर्यादा, जीवन मरण का भय यदि व्यक्ति छोड़ दे तो वह सफल सत्याग्रही होगा।

गाँधी जी ने सत्याग्रह के अनाक्रामक प्रतिरोध नाम देकर भी कहीं कही सम्बोधित किया है। अनाक्रामक प्रतिरोध शब्द का स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि हम सब प्रकार की हिंसा के अवलम्बन से दूर रहें और स्वयं कष्ट सह कर सरकार को केवल यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि हम उस कानून को नहीं मानेंगे, जो हमारे विचार,हमारी अन्तरात्मा को ठेस पहुँचाता है, अन्यथा आपत्तिजनक है। इससे अधिक अच्छा शब्द न मिलने के कारण अनाक्रामक प्रतिरोध कहा गया है।[4]

हम कह सकते हैं कि बिना आक्रमण किये या शारीरिक बल का उपयोग किये बुराई के बदले बुराई न कर शान्तिपूर्वक इसका प्रतिरोध, हिंसा का सहारा न लेते हुए अहिंसक मार्ग से उस कानून का विरोध जो आपत्ति-जनक है, अनाक्रामक प्रतिरोध कहा

1. सुमन, श्रीरामनाथ (सम्प०) : सत्याग्रह, पृ०-3
2. इण्डियन,ओपिनियन 18-12-1909
3. सुमन, श्रीरामनाथ (सम्प०) : सत्याग्रह,पृ०6
4. सम्पादक श्रीरामनाथ सुमन : सत्याग्रह,पृ०4

जा सकता है। अनाक्रामक प्रतिरोध में हिंसा की व्यर्थता को स्वीकारते हुए महात्मा गाँधी ने कहा है कि ज्यादातर लोगों का ख्याल यह है कि कोई भी सुधार करवाने के लिये हिंसा ही एकमात्र उपाय है। हिंसा व्यर्थ है और उचित उपाय है स्वयं कष्ट सहना। अर्थात आनाक्रामक प्रतिरोध।[1]

हिंसा के द्वारा किया गया कोई भी कार्य स्थाई नहीं हो सकता है। अनाक्रामक प्रतिरोध दूसरों का कष्ट देना या हिंसा करना नहीं होता, बल्कि स्वयं कष्ट सहकर भी अहिंसा का पालन करना होता है। कोई भी सुधार परिवर्तन या क्रान्ति हिंसा के द्वारा नहीं हो सकती है। अनाक्रामक प्रतिरोध का सिद्धान्त हिंसा के सिद्धान्त से बिल्कुल विपरीत है। हिंसा वाह्य साधनों से कार्य करती है जबकि अनाक्रामक प्रतिरोध आन्तरिक भावना से कार्य करता है। क्योंकि वह आत्मा का बल है। इसलिये वह सफल और हिंसा असफल होती है। इसमें आध्यात्मिकता-नैतिकता और दया की भावना होती है। यह शुद्ध अहिंसा पर आधारित है। इसकी अपनी एक अलग कसौटी है, जिस पर उसे खरा उतरना ही पडता है और आक्रामक प्रतिरोध की विजय होती है। गाँधी जी ने इस बात की पुष्टि में कहा है कि हिंसा सदा असफल होता है,अनाक्रामक प्रतिरोध सदा सफल होता है, अनाक्रामक प्रतिरोध सदा नैतिकता पर आधारित होता है। उसमें कभी निर्दयता हो या अन्य प्रकार का इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता वह निसंदेह ही अनाक्रामक प्रतिरोध नहीं है।[2]

अनाक्रामक प्रतिरोध के जरीये व्यक्ति तमाम समस्याओं को सुलझा सकता है,चाहे समस्यायें राजनैतिक हो या सामाजिक या धार्मिक,आर्थिक अगर कोई कष्ट है तो अनाक्रामक प्रतिरोध कष्टों के निवारण के लिए एक उचित मार्ग है।

गाँधी जी ने कु० एस्थर फैरिंग को पत्र में लिखा कि शायद तुम नहीं जानती कि निष्क्रिय प्रतिरोध का गुजराती नाम सत्य बल है मैंने उसे सत्य बल प्रेम बल या आत्मबल कह कर कई तरह से कह कर स्पष्ट किया है। करने योग्य बात तो यह है कि हमें जो सर्वत्र एक घृणा दिखाई देती है उसके बीच हम प्रेम पूर्वक जीवन बीताये जब तक इसकी अमोघशक्ति में हमारी अटूट श्रद्धा न हो तब तक हम ऐसा जीवन नहीं बिता सकते।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनाक्रामक प्रतिरोध या निष्क्रिय प्रतिरोध को गाँधी जी ने सत्यबल, आत्मबल और प्रेमबल माना है। इसी को अपने जीवन में अपनाने वाला व्यक्ति अहिंसक होगा। इसमें श्रद्धा रखनी होगी, आन्तरिक मन से इसका पालन करना होगा तभी विजय या सफलता प्राप्त हो सकेगी।

---

1. सत्याग्रहः पृ० 5
2. इण्डियनः ऑपिनियन 25-5-1910
3. सत्याग्रहः पृ०13

अनाक्रामक प्रतिरोध करने वाले व्यक्ति की भी कुछ सीमाएं होती हैं। एक विशुद्ध प्रतिरोधी यह इच्छा नहीं कर सकता है कि लोग उसे हुतात्मा समझें,न वह जेल के अथवा किसी अन्य प्रकार के कष्टों की शिकायत कर सकता है और न जो उसे अन्याय या दुर्व्यवहार प्रतीत होता है,उसका राजनैतिक लाभ उठा सकता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो व्यक्ति अनाक्रामक प्रतिरोध का वीणा उठाता है उसे इस बात का लोभ नहीं होता कि लोग उसे महात्मा या महान समझें। उसे किसी से कोई शिकायत भी नहीं रहती। पूर्ण रूप से यह राग द्वेष लाभ और स्वार्थ से मुक्त होता है, तभी वह अन्याय का प्रतिरोध कर सकता है।

सत्याग्रह का महत्व :

सत्याग्रह के महत्व पर प्रकाश डालते हुए हम गाँधी जी की यह उक्ति प्रस्तुत कर सकते हैं। यह ऐसी शक्ति है,जिसका प्रयोग व्यक्ति और समाज दोनों के द्वारा किया जा सकता है। राजनीतिक और घरेलू मामलों में एक समान इसका प्रयोग किया जा सकता है। सार्वदेशिक रूप से इसके प्रयोग का संभव होना इसके स्थायित्व और इसकी अजेय शक्ति का द्योतक है। पुरुष स्त्रियां और बच्चे सब इस पर अमल कर सकते हैं। अत्यान्तिक रूप से यह शक्ति किसी प्रकार की आर्थिक या दूसरी किसी भौतिक सहायता से स्वतंत्र है और शारीरिक बल या हिंसा से अपने प्रारंभिक रूप से भी वह बिल्कुल स्वतंत्र है।[2]

सत्याग्रह शुद्ध अहिंसा पर आधारित है। इसे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। बच्चे स्त्री पुरूष सभी के लिए ही समान उपयोगी नहीं बल्कि सामाजिक राजनैतिक और घरेलू जीवन में भी उतनी ही उपयोगी है। सार्वदेशिक रूप से लोकप्रिय होना ही इसके महत्व को प्रकाशित करता है।

सत्याग्रह का मूल लक्षण बताते हुए गाँधी जी बोलते है कि अन्याय का विरोध करते हुए भी अन्यायी के प्रति वैर न करना सत्याग्रह का मूल लक्षण है।[3]

इस प्रकार अन्याय के प्रति विरोध प्रगट न करना और अन्यायी के प्रति वैर न रखना ये किसी कमजोर व्यक्ति का नहीं,बल्कि साहसी, अहिंसक व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है अहिंसा का अर्थ ही है निर्भय होकर मृत्यु का आवाहन करना और विरोधी के प्रति वैर न रखकर प्रेम रखना और अन्याय का विरोध करना। अगर इसे गाँधी जी की भाषा का रूप दिया जाय तो कहा जा सकता है कि सत्य के अनुगमन में विरोधी के प्रति हिंसा करने की कोई गुंजाइस नहीं है। उसकी गलती तो धैर्य और सहानुभूति के द्वारा ही दूर करनी पड़ेगी, धैर्य का अर्थ स्वयं कष्ट उठाना है। इसीलिए सत्याग्रह का अर्थ यह लिया गया कि विरोधी को पीड़ा देकर नहीं बल्कि स्वयं कर दिखाकर सत्य की रक्षा करना।[4]

---

1. इण्डियन ओपिनियन: 18-12-9
2. इण्डियन ओपिनियन: 29-7-1914
3. सत्याग्रह: पृ024
4 यंगइण्डिया: 14-1-1920

सत्याग्रह में हिंसा को बिल्कुल ही स्थान नहीं है। इसमें धैर्य, सहानुभुति और कष्ट सहन करने की क्षमता इसकी अहिंसक मर्यादा के सूचक है। सत्याग्रह में कष्ट सहन करन की क्षमता के साथ - साथ सफलता के प्रतीक श्रद्धा और विश्वास आवश्यक है। गाँधी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सत्याग्रह यदि संसार की सबसे बडी शक्ति है तो इसके लिये हृदय में क्रोध और दुर्भाव रखे बिना अधिक से अधिक कष्ट सहन की क्षमता भी आवश्यक है। किन्तु कष्ट सहन की शाश्वत सांत्वना के साथ सत्य की अंतिम सफलता की ज्वलन्त श्रद्धा का होना भी आवश्यक है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य बातों के साथ-साथ सत्याग्रह में सबसे आवश्यक वस्तु श्रद्धा है। श्रद्धा से सत्याग्रही की सफलता सुनिश्चित हो जाती है

गाँधी जी ने सत्याग्रह के महत्व को स्पष्ट करते हुए वह तरीका भी प्रस्तुत किया है, जिस प्रकार सत्याग्रही को आचरण करना चाहिये। सत्याग्रही के लिए निम्नलिखित तत्व आवश्यक है :

1. ईश्वर में श्रद्धा:

सत्याग्रही को सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह सत्य पर,ईश्वर पर श्रद्धा रखेगा क्योंकि सत्याग्रही जानता है कि वह वाह्य साधन पर निर्भर नहीं रह सकता। वह अन्तः साधन पर ही निर्भर रहता है, जिसकी ईश्वर पर अनन्त श्रद्धा है,वह अपने पर श्रद्धा रख कर चलेगा।[2]

सत्याग्रही को ईश्वर पर विश्वास रखना होगा,या कहा जाय तो उसे सत्यनिष्ठ रहना पडेगा। सत्य ही सिर्फ उसका अवलम्बन है,यही उसका सहारा है जिसने सत्य को छोड़ा वह सत्याग्रही कैसा?गाँधी जी ने भी स्पष्ट रूप से अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि ईश्वर पर विश्वास भीतरी शक्ति है इसलिए जो उसे नहीं मानते,उनके लिये सत्याग्रह का मार्ग बन्द है। जो ईश्वर को नहीं मानेगा वह अन्त में हारेगा। ईश्वर में विश्वास ही अहिंसा का बल है।[3]

इस प्रकार अहिंसा का बल सत्यबल है। अहिंसक व्यक्ति कभी भी सत्य या ईश्वर को नहीं छोड़ सकता। क्योंकि वही एकमात्र उसका सहारा होता है। ईश्वर के बल को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को तपस्या और श्रद्धा की आवश्यकता पडती है। ईश्वर में श्रद्धा रख कर ही सत्याग्रही अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है, चूंकि अहिंसा शरीर की नहीं आत्मा की कला है इसलिए सत्याग्रही का बल संख्या में नहीं आत्मा में है। दूसरे शब्दों में ईश्वर में है। उसकी ईश्वर में जीवित व श्रद्धा होनी चाहिए। सत्याग्रही का दूसरा कोई नहीं है, ईश्वर का बल तभी आता है जब उसमे अनन्त श्रद्धा हो । इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस सत्याग्रही में ईश्वर के प्रति श्रद्धा होती है उसे इस बात

1. हरिजन सेवकः 4-3-1939
2. सत्याग्रहः पृ०52
3. सत्याग्रहः पृ०52

का पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मैं या मेरे पीछे एक शक्ति है जो मेरा अन्त तक साथ देगी, साहस देगी और जुल्म, द्वेष और अपमान को सहने की ताकत देगी।

गाँधी जी भी इस विषय पर अपने विचार, प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब तक किसी तत्व में उसकी इतनी श्रद्धा न हो और वह ऐसा महसूस न करे कि मेरे पीछे एक प्रचण्ड शक्ति खड़ी है, तब तक उसे निर्दयता, शान्ति से सहने का बल नहीं मिलेगा। यह शक्ति जो मदद देती है उसी का नाम ईश्वर है। ऐसे मौके पर जालिम पर दिल में भी रोष न करना इसी प्रकार का नाम ईश्वर निष्ठा है। इस प्रकार उस प्रचण्ड शक्ति पर विश्वास या श्रद्धा के द्वारा ही बड़े से बड़े कष्ट को सहेगा और अपने विचारों को को पवित्र रख पायेगा। अन्यथा वह इस कार्य में असमर्थ हो जायेगा।

सत्याग्रही को किसी भी वाह्य सत्ता की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। चाहे वह सर्वोच्च सत्ता ही क्यों न हो। सिर्फ ईश्वर पर श्रद्धा रखकर ही उसे सत्य के मार्ग पर चलना चाहिए तभी वह अहिंसक पद्धति के द्वारा सत्याग्रह में सफल हो सकेगा। क्योंकि प्रेम तथा परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण ही उसकी पूंजी है। गाँधी जी ने ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास को अति आवश्यक बताते हुए यहां तक कहा है कि सत्याग्रही बिना उस श्रद्धा के सत्याग्रह का अस्त्र किस प्रकार हाथ में ले सकता है?आप लोंगों में से जो ईश्वर में ऐसी जीवित श्रद्धा न रखते हों उनसे तो मैं यही कहूँगा कि वे गाँधी सेवा संघ को छोड़ दें और सत्याग्रह का नाम भूल जायें।[1]

वस्तुतः ईश्वर का आधार सत्याग्रही के लिये अत्यन्त आवश्यक है

2 असहयोग :

सत्याग्रही ईश्वर पर श्रद्धा रख कर बिना मन में द्वेषभाव से रखे अन्याय का विरोध करता है और अन्याय करने से रोकना है। इसके लिए उसके पास जो सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र होता है उसका नाम है असहयोग। गाँधी जी ने असहयोग की परिभाषा देते हुए कहा है कि असहयोग एक स्वर्णिम अस्त्र है,एक देवास्त्र है जब आप अन्याय देखें किसी को पाप की साक्षात मूर्ति के रूप मे देखें तो उसका त्याग कर दें। दुर्भावना या घृणा से इसका प्रादुर्भाव नहीं होता है।[2]

असहयोग सत्याग्रही का स्वर्णिम अस्त्र है जिससे कि वह पाप के प्रतिकार के रूप मे उसका प्रयोग करता है।परन्तु शुद्ध अहिंसक ढंग से। असहयोगी के मन में किसी भी प्रकार की दुर्भावना या घृणा का भाव नहीं रहता है।उसकी आत्मा पवित्र रहती है। उसमें त्यागने की प्रवृति विशेष रूप से विद्यमान रहती है। इस प्रकार कहा जा

1. हरिजनः 13-5-1939
2. नवजीवनः 3-11-1920

सकता है कि आत्म त्याग और बलिदान के लिये आत्मसंयम का दूसरा नाम असहयोग है।[1]

असहयोग में व्यक्ति कुछ भी छोड़ने को तैयार रहता है। त्याग उसका प्रधान गुण है, फिर आत्मसंयम के द्वारा अपने को तैयार करता है। व्यक्ति में इतना आत्मसंयम होना चाहिए कि वह अपने जान की कीमत पर भी त्याग करने को तैयार हो। वही सच्चा असहयोगी हो सकता है। गाँधी ने इसी बात को और स्पस्ट करते हुए कहा है:-

असहयोग और कुछ नही आत्मबलिदान का अनुशासन है।"

इस प्रकार हम देखते हैंकि सच्चे सत्याग्रही को आत्मबलिदान के लिए तैयार रहना होगा। असहयोग के द्वारा अहिंसक नीति से छोटी - छोटी वस्तुओं के त्याग करते करते उसे आत्मबलिदान तक पहुँचने का अभ्यास करना होगा। असहयोग में एक और महत्वपूर्ण वस्तु है शिष्टता। शिष्टता असहयोग का प्रथम और अंतिम चरण है।

सत्याग्रही के लिये यह परम आवश्यक शर्त है कि वह शिष्ट हो क्योंकि अशिष्ट व्यक्ति अहिंसक की कोटि में नहीं आ सकता और फिर सत्याग्रही नहीं बन सकता। शिष्टता और नम्रता आत्मशुद्धि का मार्ग है और असहयोग आत्मशुद्धि का तरीका है।[3]

असहयोग के द्वारा ही सत्याग्रही अपने को शुद्ध करता है। असहयोग शुद्धिकरण का विज्ञान है।[4]

जब तक व्यक्ति शुद्ध नहीं हो जाता तब तक सत्याग्रह में वह सफल नहीं होता है। शुद्धिकरण असहयोग की कसौटी है इसमें जो पास हुआ और उसकी अनिवार्य शर्तों को पूर्ण किया वही सफल सत्याग्रही हो सकता है। क्योंकि असहयोग की कल्पना अभ्यास और आत्मसंयम की साधना पर निर्भर है। धैर्य और शान्ति धारण करना असहयोग का लक्षण है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि असहयोगी को अभ्यास यानि आत्मसंयम का निरन्तर प्रयास करना पडता है और कठिन परिस्थिति में भी धैर्य के साथ - साथ शान्तिपूर्वक, अहिंसक ढंग से अन्याय तथा अन्यायी के साथ असहयोग करना पडता है। असहयोग में ज्ञान और प्रेम भी होता है क्योंकि सत्याग्रही अज्ञानी नहीं होता और

1. यंग इण्डिया: 25-8-1920
2. सत्याग्रह: पृ32
3. यंगइण्डिया: 15-11-1920
4. नवजीवन: 21-11-1920
5. यंग इण्डिया: 15-12-1920

द्वेष की भावना से सदा दूर रहता है। कहा जा सकता है कि असहयोग अज्ञानता अथवा द्वेष से नहीं उत्पन्न होता, इसलिए इसका जन्म ज्ञान और प्रेम से होता है।[1]

असहयोग प्रेम और ज्ञान पर ही आधारित होता है साधारण रूप से असहयोग का अर्थ निष्क्रियता ही माना जाता है परन्तु गाँधी जी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है - असहयोग कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं है यह प्रबल सक्रियता की स्थिति है। यह शारीरिक प्रतिरोध या हिंसा की अपेक्षा सक्रिय स्थिति है।[2]

असहयोग में हर प्रकार की सक्रियता और अनुशासन की आवश्यकता पडती है। असहयोग अनुशासन और उत्सर्ग का कार्य है और इसमें विरोधी विचारों के प्रति धैर्य और आदर रखने की आवश्यकता पडती है। अगर हम अपने से बिल्कुल विरोधी विचारों के लिये पारस्परिक सहिष्णुता की भावना न विकसित कर सके तो असहयोग असंभव हो जायेगा।[3]

गाँधी जी के इस विचार से स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग में वही सारी प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है,जो अहिंसा और सत्य के पालन में आवश्यक होती है। क्योंकि अहिंसक व्यक्ति ही सत्याग्रही होता हैऔर सत्याग्रही ही असहयोग का अस्त्र उठा सकता है।

अहिंसक व्यक्ति का अस्त्र सत्याग्रह है सत्याग्रह के बल पर ही वह कोई भी बडी से बडी समस्या का समाधान करता है। अन्याय का विरोध और पाप का नाश करता है। गाँधी जी ने इसे कई नामों से पुकारा है और कहा है कि हमारा बल सत्याग्रह है,चाहे असहयोग कहें या सविनय अवज्ञा।[4]

सत्याग्रह को यदि तना माना जाय तो असहयोग और सविनय अवज्ञा उसकी शाखाएँ है। सत्याग्रह तथा इसके शाखा भेद असहयोग और सविनय प्रतिरोध, आत्मपीड़न के नियम दूसरे नामों के सिवा कुछ नहीं है।[5]

सत्याग्रह का अभिन्न अंग असहयोग है। असहयोग के द्वारा ही सत्याग्रह को सफल बनाने का कार्य होता है। असहयोग में घृणा नहीं प्रेम महत्वपूर्ण होता है और प्रेममय असहयोग का अर्थ होता है समस्त अधिकारों का त्याग कर्तव्यों का नहीं।[6]

असहयोग में कर्तव्यों का नहीं बल्कि अधिकारों का त्याग किया जाता है। सब कुछ करने के पश्चात भी दुष्ट व्यक्ति से प्रेम नहीं छोडा जा सकता है। झूठे सहयोग की अपेक्षा असहयोग अच्छा है। असहयोग भी अन्त में मूल रूप से सहयोग करने के लिए ही किया जाता है।

---

1. यंग इण्डियाः 13-7-1921
2. यंग इण्डियाः 25-8-1920
3. सत्याग्रहः पृ०33
4. यंग इण्डियाः 28-7-1920
5 यंग इण्डिया :11-8-1920
6. हिन्दी नवजीवनः 20-4-1924

इसी सन्दर्भ में गाँधी जी ने जमशेदपुर में इस्पात कर्मचारियों के सामने कहा था कि मैं असहयोगी हूँ और सविनयभंग का समर्थक हूँ, पर यह असहयोग अन्त में सहयोग करने के लिये ही है। मुझे झूठा सहयोग पसन्द नहीं। सौ टंच का सोना ही मुझे पसन्द है,मेरा असहयोग दुष्टता के साथ हैं, दुष्ट प्रथा के साथ है, दुष्ट प्रथा को प्रचलित करने वालों के साथ नहीं। मेरा धर्म मुझे शिक्षा देता है कि बुरा काम करने वालों के साथ प्रेम करो।[1]

इस प्रकार व्यक्ति के खिलाफ नहीं अपितु दुष्टता के खिलाफ, बुराई के खिलाफ यह होता है। व्यक्ति से तो प्रेम, सौहार्द और सहनुभुति का ही व्यवहार दिया जाता है। इसके पश्चात फिर उन्होंने आगे भी कहा कि मैं काम करने के तरीकों,पद्धतियों और प्रणालियों से असहयोग करता हूँ,मनुष्यों से कदापि नहीं ।[2]

असहयोग शुद्ध रूप से अहिंसा पर आश्रित है। असहयोग में अहिंसक होना सत्याग्रही का अति आवश्यक गुण है। इसलिये जो लोग असहयोग के सबसे शक्तिशाली और क्रियाशील अंश यानी अहिंसा की विशेषता नहीं समझते, उसे नहीं पहचानते, उनके लिए असहयोग किसी समय भी ध्येय का गौरव प्राप्त नहीं कर सकता और वह शुद्ध की अनेक चालों मे एक बन कर रह जायेगा।[3]

असहयोग में अहिंसा मुख्य अंग है इसका ज्ञान होना अतिआवश्यक है क्योंकि इसमें अहिंसा की विशेषताएं हैं।

गाँधी जी ने कहा हैकि अहिंसक साधनों द्वारा सब प्रकार के अत्याचारों का प्रतिकार किया जा सकता है।अहिंसक असहयोग ही उसका मुख्यसाधन है, जिस चीज को हिंसा कभी नहीं कर सकती,वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा सिद्ध की जा सकती है और अन्त में जाकर अत्याचारियों का हृदय परिवर्तन भी हो सकता है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह आवश्यक है कि असहयोगी अहिंसा के तथ्य को पहचाने और अहिंसक मार्ग के द्वारा ही असहयोग करे क्योंकि अहिंसा ही मुख्य साधन है और अहिंसा के माध्यम से ही विरोधियों का हृदय परिवर्तन संभव है। असहयोग में अहिंसा और आचरण में भी अहिंसा होती है इसलिये गाँधी जी ने कहा कि 'मेरा असहयोग विचार की भांति कार्य में भी शुद्ध रूप से अहिंसक है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि असहयोग की सफलता धीरज, आत्मत्याग, सत्य, प्रेम तथा विश्वास पर निर्भर है। चालबाजी, घृणा, डाह, और अविश्वास तथा नुक्ताचीनी इसके लिये लाभदायक नहीं हो सकती है। असहयोग के द्वारा लोकमत को प्राप्त किया

1. हिन्दी नवजीवनः 20-5-1925
2. यंग इण्डियाः 12-9-1925
3. यंग इण्डियाः 19-11-1928
4. हरिजन सेवक 20-4-1940
5. सत्याग्रहः पृ० 219

जा सकता है। इसलिये आवश्यक है कि स्वतंत्रतापूर्वक दिल खोल कर लोग अपनी राय प्रकट करें और अनुशासनपूर्वक सहयोग करें। असहयोग एक ऐसा अस्त्र है जिससे विरोधी पर विजय प्राप्त की जा सकती है,किन्तु असहयोग बिना सविनय अवज्ञा के उपयुक्त नहीं होगा।

सविनय अवज्ञाः

असहयोग और सविनय अवज्ञा सत्याग्रही रूपी एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएं है। सत्याग्रह सत्य का शोध है और ईश्वर सत्य है। अहिंसा वह प्रकाश है जो सत्य को प्रकट करता है।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि सत्याग्रह के वृक्ष की शाखाएं असहयोग और सविनय अवज्ञा है। सविनय अवज्ञा जीवन का एक शाश्वत सिद्धान्त है जिसका लोग जाने अनजाने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग करते हैं। गाँधी जी ने कहा है कि सरकार के शस्त्रागार में कोई भी शस्त्र उस शाश्वत शक्ति को न तो पराजित न तो नष्ट कर सकता है। एक समय निश्चित ही आयेगा जब शिकायतों के निराकरण में सविनय प्रतिरोध सबसे फलदायक साथ ही सबसे निरापद औषधि के रूप में ग्रहण किया जायेगा।[2]

गलत कानून के विरोध के दो ही मार्ग है एक शरीर बल के माध्यम से या हिंसा के द्वारा अपनी बात मनवाना या कानून तोड़ना।

दूसरा अहिंसक तरीके से कानून भंग करना और दण्डस्वरूप कष्ट सहन करने के लिये सहर्ष तैयार रहना। इसे ही सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिरोध कहा जा सकता है। गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा को विस्तार से समझाते हुए कहा है कि साधारण कानून तोडने वाला धोखे से या छल से कानून भंग करता है और उसके दण्ड से बचने की चेष्टा करता है। सत्याग्रही ऐसा नहीं करता है वह जिस राष्ट्र में रहता है उसके कानूनों को भय से नहीं बल्कि इसलिये मानता है कि वह उन्हें समाज कल्याण के लिये हितकारी समझता है पर कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब कुछ कानूनों को वह इतना अनीतिपूर्ण समझता है कि उसको मानना वगैरीती मालूम पडती है। तब वह खुले तौर पर विनय पूर्वक उसको भंग करता है और उसके लिये वह शान्ति के साथ दण्ड सहन करता है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वार्थ के वशीभूत होकर लाभ के लिए या गलत भावना से जो व्यक्ति कानून तोडते हैं वे दण्ड से भागने का काम करते हैं परन्तु जो व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से समाज के हित के लिये समाज कल्याण विरोधी कानून को तोड़ते हैं वह दण्ड से भागते नहीं, बल्कि उसे स्वेच्छा से स्वीकार करते हैं।

---

1. यंग इण्डियाः 26-12-1924
2. सत्याग्रहः पृ०109
3. यं ग इण्डियाः 14-1-1920

सविनय अवज्ञा शब्द को महात्मा गाँधी ने थोरो से प्राप्त किंया था उनका कहना था कि सविनय अवज्ञा शब्द को जहां तक मुझे मालूम है थोरो ने एक दास राज्य के कानूनों के प्रति अपने विरोध को व्यक्त करने के लिए कहा था।

वह कानूनों के प्रति विरोधी के अहिंसात्मक विरोध का द्योतक था वह कानून के आदेशों की दुहाई देता था और हँसते हँसते कैद झेलता था।[1]

सविनय अवज्ञा संबधी ग्रन्थ को पढ़ कर गाँधी जी ने इस शब्द को अपने जीवन और व्यवहार में उतारा था।

असहयोग और सविनय अवज्ञा में मुख्य अन्तर यही हैं कि असहयोग किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा या जनसाधारण के द्वारा भी किया जा सकता है। परन्तु सविनय अवज्ञा वही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनको कानून से कोई भय नहीं हो और दण्ड को स्वेच्छा से प्रेम पूर्वक सहन कर सकने की क्षमता रखते हों । असहयोग और सविनय अवज्ञा दोनों ही सत्याग्रह के अंग हैं और अहिंसा पर पूर्ण रूप से आधारित है। अहिंसक व्यक्ति ही इनका पालन कर सकता है। अहिंसा के बिना यह सत्याग्रह न होकर शुद्ध रूप से अराजकता की स्थिति मे आ जायेंगे।

गाँधी जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पूर्ण सविनय अवज्ञा शान्तिपूर्वक विद्रोह की स्थिति है। यह प्रत्येक राज्यनिर्मित कानून को मानने से इन्कार है अतएव यदि सविनय प्रतिरोधी चरम कष्ट सहने को तैयार हो तो उसका दमन नहीं किया जा सकता है। यह निष्कपट कष्ट सहन की पूर्ण क्षमता में असंदिग्ध विश्वास पर आधारित है।[2]

इस प्रकार अनैतिक वैध कानूनों के प्रति शान्तिपूर्ण विद्रोह का विगुल बजाना और उसके बदले मन में क्लेश या दुर्भावना न रख कर खुशी से दण्ड स्वीकार करने की भावना ही सविनय अवज्ञा है यह अहिंसात्मक विद्रोह का द्योतक है।

सविनय अवज्ञा चुँकि शुद्ध रूप से अहिंसक मार्ग है इसलिए सविनय अवज्ञा प्रतिरोधी कभी भी शस्त्र का उपयोग नहीं करता है। अतः एक उस राज्य के लिये निर्दोष है जो कि जनमत का स्वर सुनने के लिये तनिक भी प्रस्तुत है।[3]

इस प्रकार जो भी शासक या राज्य जनमत का ध्यान रखता है वह सविनय अवज्ञा की भाषा को अवश्य ही सुनेगा। क्योंकि यह सशस्त्र विद्रोह नहीं बल्कि अहिंसक प्रतिरोध है। यह अराजकता की स्थिति नहीं है, बल्कि प्रत्येक नागरिक का अधिकार है, और अधिकार की माँग प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। परन्तु इसके लिये कुछ अनिवार्य शर्तों का होना आवश्यक है।

---

1. सत्याग्र हः पृ 135
2. यंग इण्डियाः 4-2-1929
3. सत्याग्रहः पृ० 141

इस अनिवार्य शर्त के विषय में गाँधी जी का कहना है कि सविनय अवज्ञा का उपयोग तभी स्वस्थ्य, आवश्यक और प्रभावशाली होगा,जब हम सर्वांगीण विकास के नियम का पालन करें।

सविनयता, अनुशासन, विवेक और अहिंसा के बिना की गई अवज्ञा निश्चय ही ध्वंस है। प्रेम मिश्रित अवज्ञा जीवन का प्राणजल है। सविनय अवज्ञा विकास को सूचित करने वाला एक सुन्दर भिन्न रूप है। इस प्रकार यदि सरकार का विरोध सविनय अवज्ञा या कानून भंग नीति के द्वारा करना हो तो विनयपूर्वक और अहिंसा के माध्यम से करना होगा अन्यथा इसके परिणाम के बजाय दुष्परिणाम ही सामने आयेंगे।

महात्मा गाँधी ने इसे धर्म के रूप में स्वीकार किया है। इसके पालन में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मशुद्धि अनिवार्य है। इसलिये उन्होंने कहा कि हम केवल आन्तरिक प्रयत्नों से ही अर्थात आत्मशुद्धि और स्वावलम्बन के द्वारा यानि सत्य और अहिंसा पर दृढ़ रह कर ही सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं।

इसके लिये मजबूत दिलों की आवश्यकता है जो किसी भी प्रकार के खतरे से जरा भी नहीं हिचकते और जो सख्त से सख्त कसौटी के समय ही अपना पूरा जौहर दिखाते हैं। अवज्ञा करनेका प्रत्येक मनुष्य को हक है परन्तु जब वह सविनय होती है अर्थात प्रेम से होती तब वह एक धर्म हो जाता है।[1]

इस प्रकार धर्म में विशेष रूप से शुद्धि,त्याग,सत्य और प्रेम निर्भीकता के साथ होना चाहिये। गाँधी जी ने इन सबको मिलाकर सविनय अवज्ञा के साथ जोडा और उसे एक धर्म का रूप दिया।

इस अहिंसक शस्त्र की खास विशेषता है कि इसे किसी समूह की आवश्यकता नहीं पडती। सविनय भंग की बात अलग है अगर अन्दर से पुकार हो तो अकेला आदमी भी सविनय भंग कर सकता है।[2]

गाँधी जी की इस बात से यह स्पष्ट होता है कि अकेला व्यक्ति भी सत्ता से टक्कर लेने की ताकत रखता है क्योंकि निर्भिकता उसका गुण है।वह सदिच्छापूर्ण, उदार, नियंत्रित और अनुश्रृंखल होनी चाहिये। किसी पूर्ण अनुभव किये हुए सिद्धान्त पर होनी चाहिये और सबसे अधिक इसके अन्तर्गत असद्भाव और घृणा नहीं होनी चाहिये।[3]

इस प्रकार सविनय भंग का आधिकार स्वशक्ति आत्मशक्ति है।

गाँधी ने सविनय अवज्ञा की एक अनिवार्य शर्त यह भी रखी है कि उसी के खिलाफ नहीं किया जा सकता, जिसे हम अपना शत्रु मानते हैं अथवा जो हमें अपना शत्रु मानते हैं। इस प्रकार शत्रु के खिलाफ सविनय अवज्ञा किसी भी तरह नहीं किया

1. हिन्दी जनजीवनः 1-4-1926
2. हरिजन सेवकः 6-4-1940
3. यंग इण्डियाः 24-3-1920

जा सकता है। इससे उनकी मूल भावना का नाश होता है और इसकी सफलता संदिग्ध हो जाती है।

गाँधी जी इसकी मूल भावना सत्य और अहिंसा को ही मुख्य मानते थे। इसके बिना उन्हें सविनय अवज्ञा मंजूर नहीं था। इसलिये उनका कहना है कि सविनय भंग करने के लिये मैं अधीर हो रहा हूँ, किन्तु यदि सत्य अहिंसा को छोड़े बिना सविनय भंग न हो तो मेरे अन्दर सैकड़ो वर्ष तक उसकी राह देखने का धैर्य है।[1]

इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी जी सविनय भंग को चाहते थे परन्तु अहिंसा की कीमत पर कभी नहीं यदि इसमें अहिंसा और सत्य न हो तो इसे कोई महत्व नहीं दिया जा सकता है।

उपवास :

गाँधीजी ने हिंसा और शरीरबल के बदले में सत्याग्रह और उसी के अंगस्वरूप सविनय अवज्ञा के अस्त्र का विकास किया। उपवास उसी सविनय भंग का चरमोत्कर्ष रूप है। उनका कहना है कि सविनय विरोध करने वालों के लिये अन्त तक उपवास करके अपने प्राण त्याग करना मेरी योजना में आता है।[2]

इस प्रकार सविनय अवज्ञा करने वालों की बात अगर सरकार नहीं सुनती है तब वह तब तक उपवास करे तब तक उसकी बात सरकार सुने या वह उपवास करके अपने प्राण त्याग दे। उपवास आत्मशुद्धि का अभूतपूर्व तरीका है। यह कोई नया नहीं युगों पुरानी प्रथा है। गाँधी जी ने कहा है कि अपनी और दूसरों की भी शुद्धि के लिये उपवास करना युगों-युगों पुरानी प्रथा है। यह आर्त्त हृदय की परमात्मा के प्रति प्रार्थना है।[3]

इस प्रकार उपवास में हृदय से ईश्वर से प्रार्थना होती है, यह बहुत पुरानी प्रथा है। इससे विरोधी के विचारों में परिवर्तन आता है, यह अंतिम शस्त्र है। कहा जा सकता है कि यह अहिंसक व्यक्ति के हाथ में आमरण अनशन रूपी बलिदान का शस्त्र है। मनुष्य को इससे अधिक कुछ करने की क्षमता नहीं दी गई है।[4]

सत्याग्रह में उपवास का एक विशेष महत्व है चूंकि सत्याग्रह में अहिंसा ही श्रेष्ठ है इसलिये अहिंसा के मार्ग में उपवास एक श्रेष्ठ कर्म है। अगर वह अहिंसा की भावना से ओतप्रोत हो और जिस कार्य के लिये उपवास किया जाता है उसमें स्वार्थ लेशमात्र भी न हो।[5]

---

1. हिन्दी नवजीवनः 23-11-1930
2. सत्याग्रहः पृ०45
3. सत्याग्रहः पृ० 46
4. महादेव भाई की डायरीः भाग3, पृ०75
5. बापु के पत्र मीरा के नाम : प्रथम संस्करण 19-5-1949, पृ०173-174

कुछ लोग स्वास्थ्य लाभ के लिये भी उपवास करते हैं, परन्तु गाँधी जी का उपवास स्वास्थ्य लाभ के लिये न होकर सत्याग्रह की एक कड़ी है, जो शुद्ध रूप से अहिंसा पर आधारित है। इस उपवास में स्वार्थ लाभ और विद्वेष की भावना न होकर प्रेम, सहानुभूति और विरोधी को अपनी बातें मनवाने की भावना होती है।

उपवास की कुछ शर्ते है जैसे हृदय में पूर्ण सत्य तथा पूर्ण अहिंसा हो, अर्न्तप्रेरणा मिली हो, किसी के प्रति द्वेष हृदय में न हो, हेतु स्वार्थी न होकर पारमार्थिक हो, अन्तर्नाद सुनने के कान बिना संयम के नही उभरते। इसलिये अभ्यस्त तथा चुस्त संयमी हो। इस प्रकार के उपवास करने के लिये सत्याग्रही को हृदय से सत्य और अहिंसा का उपासक होना आवश्यक है। किसी से उसकी शत्रुभाव न हो,हृदय में वैर, प्रेम, घृणा का भाव न हो, वह स्वार्थ की भावना से ऊपर हो, दूसरों के हित की चिन्ता करने वाला हो तथा संयम सें रहने वाला ही उपवास कर सकता है।

इस विषय में गाँधी जी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि केवल शारीरिक योग्यता इसके लिए कोई योग्यता नहीं, ईश्वर से जीती जागती श्रद्धा न हो तो अन्य योग्यताएं बिल्कुल अनुपयोगी हैं। विचार रहित मनोदशा या निरी अनुकरण वृति से वह कभी नही होनी चाहिए। उपवास एक अमोघ अस्त्र अवश्य है परन्तु उसमें कठोर मर्यादाओं की आवश्यकता है।[1]

.इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी अन्याय या बुराई का अहिसक ढंग से विरोध करने के लिये गाँधी जी ने सत्याग्रह का सहारा लिया।

सत्याग्रह के अंगों मे ही सविनय अवज्ञा और सबसे अंतिम तथा सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र है उपवास। यह अहिंसा की चरम परीक्षा है। इस परीक्षा में वही पास हो सकता है जो कि वास्तव में अहिंसक हो। मन से भी, कर्म से भी और वचन से भी। उपवास ही अहिंसा की असली कसौटी है। उपवास करते हुए प्राण देने से भी मनुष्य के पास अधिक क्षमता नहीं है अंतिम समय तब जिस व्यक्ति ने उपवास की निर्धारित मान्यताएं रख ली, वही सच्चा अहिंसक होगा। अन्यथा वह अहिंसक न होकर अहिंसा का ढोंगी ही होगा।

अहिंसक विरोध के मार्ग के रूप में सत्याग्रह :

सत्याग्रह अहिंसक विरोध का नाम है। सत्याग्रह और अहिंसा में अन्योनाश्रित संबध है। सत्याग्रह का आधार अहिंसा है। अहिंसा का व्यवहारिक रूप सत्याग्रह है। इसलिये गाँधी जी ने सत्याग्रह के बारे में कहा है कि सत्याग्रह का अर्थ है - हिंसा के सामने अहिंसा, क्रोध के सामने अक्रोध, अप्रेम के सामने प्रेम।[2]

1. सत्याग्रहः पृ० 492
2. सत्याग्रहः पृ० 45

अहिंसक व्यक्ति ही सत्याग्रही हो सकता है। जो व्यक्ति हिंसा के सामने अहिंसा का प्रयोग से, क्रोधी के सामने विनम्र होकर और घृणा के सामने प्रेम से जीतने का साहस रखता है वही सच्चे रूप में सत्याग्रही हो सकता है क्योंकि सत्याग्रह मानव जीवन का शाश्वत धर्म है और वह हिंसा का जो कि पशु धर्म है, स्थान लेने वाला है।[1]

इस प्रकार हिंसा तो पशुता है इस पशुता के स्थान पर मानव का शाश्वत धर्म अर्थात अहिंसा का स्थान दिलाने के लिये समाज का मत परिवर्तन करने के लिये सत्याग्रह का प्रयोग करना ही पड़ेगा।

गाँधी जी को अपने सत्याग्रह में बहुत विश्वास था इसकी पूर्णता देखते हुए कहते हैं कि मेरा तो धर्म है प्रत्येक दशा में अहिंसा का व्यवहार करना। मेरा तरीका बलात् कोई काम करना नहीं, मत परिवर्तन करना है। यह है स्वयं कष्ट सहना, न कि अत्याचारी को दुख देना। मैं जानता हूँ कि मेरा अस्त्र अमोघ है यह विफल नहीं जाता। इस प्रकार गाँधी जी के विचार से स्पष्ट होता है कि वह चाहते हैं समाज में अत्याचार न हो, अन्याय न हो और समाज बदलने का रास्ता अहिंसक हो। अगर इस अहिंसक पद्धति को व्यवहार में लाया जाय तो सत्याग्रह के द्वारा समाज को परिवर्तित किया जा सकता है। यदि सत्याग्रही अपनी मर्यादा का पालन करता है तो वह अपने उद्देश्य में निश्चित सफल होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। जो व्यक्ति अहिंसा से अपरिचित है, कमजोर है, शोषित है, पीड़ित है, वह हिंसा का सहारा लेता है, क्योंकि उसके पास दूसरा कोई सहारा नहीं है परन्तु सत्याग्रह बहादुरों का अस्त्र है सत्याग्रह प्रेम के सक्रिय तत्व पर चलता है यह तत्व कहता है कि जो तुम्हारे साथ बुरा करे तुम उसके साथ प्रेम करों मित्रों के प्रति प्रेम रखना स्वाभाविक है।[2]

कायर व्यक्ति हिंसक होगा क्योंकि वह कमजोर और डरपोक होता है परन्तु सत्याग्रही बहादुर और अहिंसक होता है। जिस तरह घृणा हिंसा की जननी है, उसी प्रकार प्रेम अहिंसा की ओर, अहिंसा के द्वारा सत्याग्रह के मार्ग का निर्धारण होता है। इसलिये पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त करने की कुंजी यह है कि हमें हर प्रकार से अहिंसा का पालन करना होगा, हमें अपने प्रत्येक कार्य में देख लेना होगा कि कहीं से हिंसा नहीं होने पाती।[3]

इस प्रकार अहिंसा के द्वारा भी इस संसार में पूर्ण रूप से शान्ति संभव है अहिंसा के द्वारा ही मानव मानव आपस में मिलेगें और प्रेम, सौहर्द, सुख का साम्राज्य कायम हो सकेगा। इस प्रकार के साम्राज्य के लिये आवश्यक है कायरता और हिंसा से दूर रहना तथा सत्याग्रह के द्वारा हिंसा अन्याय का पूर्ण असहयोग द्वारा विरोध होगा।

---

1. सत्याग्रहः पृ०45
2. हरिजन सेवकः 21.5.1938
3. यंग इण्डिया : 28.7.1920

सत्याग्रह अहिंसा पर अधारित है। गाँधी ने कहा है कि सत्याग्रह का स्थान अहिंसा में है। सत्याग्रह अहिंसा के द्वारा शुरू होता है और अहिंसा के समाप्त होते ही उसका अन्त हो जाता है। इसके लिये मेरा विश्वास है कि अन्त में अहिंसा ही और अहिंसा पर आधार रखने वाली चीजें ही कायम रहेंगी। जिनमे अहिंसा नहीं होगी,वह नष्ट और समाप्त हो जायेगी।[1]

इससे हमें गाँधी विचारधारा की स्पष्टता और दृढ़ता का परिचय मिलता है। उन्होंने सत्य और अहिंसा को सर्वोच्च मूल्य मानकर उसे व्यवहार करने की सलाह दी है। सत्याग्रह एक विचार नहीं अपितु एक अजेय शस्त्र है। महात्मा गाँधी का कहना है कि सत्य वह शक्ति है जिसका कभी पराजय नहीं हो सकता। महात्मा गाँधी ने सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति के साधन के रूप मे सत्याग्रह के सिद्धान्तों की स्थापना की है।

■

1. हरिजन सेवक: 19-11-1938

सप्तम अध्याय

शिक्षा सम्बन्धी विचार

गांधी जी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे और जीवन के हर क्षेत्र को उनका कुछ न कुछ प्रसाद अवश्य मिला है। शिक्षा का क्षेत्र उनका विशेष रूप से ऋणी है क्योंकि उन्होंने एक परमावश्यक सुधार की ओर राष्ट्र का ध्यान आकृष्ट किया। प्रारम्भ से ही वह शिक्षा के महत्व को समझते थे और इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा उनके रचनात्मक कार्यक्रम का अविच्छिन्न अंग थी। गांधी जी को वर्तमान शिक्षा पद्धति से बड़ा असंतोष था। वे इसके प्रबल विरोधी थे। वे स्वावलम्बी शिक्षा के समर्थक थे। उनका कहना था कि ''शिक्षा से मेरा तात्पर्य मनुष्य तथा बालक में जो कुछ श्रेष्ठतम है, उसका सम्पूर्ण विकास करना है और यह शरीर, आँख, कान, नाक, आदि शारीरिक अवयवों के उचित अभ्यास और प्रशिक्षण से हो सकता है ।''बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक सी गति से होता होना चाहिए।[1] सिर्फ साक्षरता ही शिक्षा नहीं है जिसके माध्यम से स्त्री और पुरूष को शिक्षित किया जा सकता है। इसलिए मै बाल शिक्षा का प्रारम्भ उसे कोई महत्वपूर्ण हस्तकला की शिक्षा देकर करना चाहता हूँ। इससे हर स्कूल स्वावलम्बी बनाये जा सकते हैं और इस शिक्षा पद्धति से बुद्धि तथा आत्मा का उच्चतम विकास सम्भव है। किसी भी हस्तकला की शिक्षा सिर्फ यांत्रिक रुप से ही नहीं, बल्कि वैज्ञानिक रुप से देनी चाहिए।[2] यदि बचपन से ही बालक को खेती, चरखा आदि उपयोगी और रचनात्मक कार्यो में लगाया जाय तो उनकी बुद्धि, उनका विकास सहज ही हो जायेगा। स्कूल छोड़ने के बाद लड़के यह नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिये। वास्तविक शिक्षा तो वह है जो बालकों के माध्यमिक, बौद्धिक और भौतिक गुणों को विकसित करता है।

यदि हम ''शिक्षक'' शब्द के गूढ़ आशय को ग्रहण करें तो यह मानना होगा कि गांधी जी सदा शिक्षक ही रहे है। यद्यपि बड़े पैमाने पर होने वाले राजनीतिक कार्य-कलापों में गांधी जी डूबे हुए थे और बराबर-प्रायः देहातों में- सामाजिक तथा आर्थिक रचनात्मक कार्यों में लगे रहते थे तो भी अन्य राजनीतिज्ञों की तरह वे राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष लाभो को प्रमुखता नहीं देते थे। वे तो उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले उस प्रभाव को प्रमुखता देते थे जो लोगों के सामाजिक और नैतिक गुणों पर पड़ता था। वे इन लाभों का महत्व समझते थे और इनके लिए प्रयत्न भी करते थे क्योंकि वे जानते थे कि इनसे भारतीय लोगों को महत्तर स्वतंत्रता

---

1. हरिजन : 13-7-1937
2. हरिजन : 13-7-1937

प्राप्त होगी और सद्‌जीवन के निर्माण का अवसर मिलेगा और यह बात स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नहीं बल्कि अभी और यहीं से आरम्भ होगी। इस अर्थ में यथार्थतः शिक्षक थे, शिक्षाशास्त्री थे। अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षो में गांधी जी अनिवार्य रूप से इस निष्कर्ष पर पहुते थे कि यदि ये गुण प्राप्त किये जा सकें तो इनकी रक्षा के लिए मुझे शिक्षा की समस्या पर विशेष ध्यान देना होगा और जनसाधारण के हृदय तथा शिक्षाविदों के मन में शिक्षा का महत्व स्थापित करना होगा। वे शिक्षा के ठीक-ठीक उद्देश्य, विषय और पद्धति की व्याख्या करने का भी प्रयत्न करते थे। सन् 1937 ई० में "हरिजन" साप्ताहिक में उन्होंने कई लेख लिखे थे जिनमें उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी कुछ ऐसे नवीन क्रान्तिकारी विचार प्रस्थापित किये थे जिनसे बहुतेरे पुराणपन्थी शिक्षाविद् चौक उठे थे। कुछ समय बाद उन्होंने सेवाग्राम में राष्ट्रीय शिक्षा पर विचारार्थ एक सम्मेलन बुलाया था। इन दिनों सेवा ग्राम ही उनके कार्य-क्षेत्र का मुख्य केन्द्र था। उस सम्मेलन में उन्होंने ऐसे अनेक प्रसिद्ध सामाजिक और शैक्षणिक कार्यकर्ताओं को बुलाया था जिनका सरकारी शिक्षा तंत्र से कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने अत्यधिक आस्था और साहसपूर्वक उन लोगों से शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियों पर नई दृष्टि से विचार करने के लिए कहा और परम्परा, जड़ता तथा यथास्थिति का जो परदा पहले से पड़ा था उसे हटा देने के लिए कहा।

उनके विचारों तथा उन विचारों में निहीत क्रान्तिकारी तात्पर्य का विवेचन करने से पहले उत्तम होगा कि हम उस समय के अधिकतर प्रारम्भिक विद्यालयों में प्रतिष्ठित शिक्षा के स्वरूप का ध्यान रखे। उसमें ऐसी पुस्तकीय शिक्षा का ही बोलबाला था जिसमें साक्षरता को ही अध्ययन और अध्ययन को ही शिक्षा समझा जाता था। शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। बालकों को पढ़ना, लिखना और गणित ही सिखाया जाता था और इतिहास तथा भूगोल का थोड़ा-बहुत ज्ञान करा दिया जाता था। व्यावहारिक और रचनात्मक कार्यों पर उस समय ध्यान ही नहीं दिया जाता था। उस पद्धति में वार्षिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए जानकारी भर दी जाती थी। मन तथा भावों सम्बन्धी शिक्षा नहीं दी जाती थी। विद्यालय तथा समाज में कोई प्रेरणादायक सम्बन्ध नहीं था और न पाठचर्या और उन प्रेरणादायी क्रियाकलापों में ही कोई सम्बन्ध था जो विद्यालय से निकलने पर जीवन के आधार होते हैं। उसमें कोई ऐसी बात नहीं थी जो हमारे सामुदायिक जीवन क्षेत्र से उद्‌भूत हुई हो और जिसका व्यक्तियों की आवश्यकताओं और मनोवृत्ति के साथ कोई सामंजस्य हो। जो कुछ था वह बाहर से लाकर थोपा हुआ था और इंग्लैण्ड की उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा की निष्प्रभ प्रतिकृति मात्र थी। यह ठीक है कि शिक्षा को अधिक व्यापक, अधिक अर्थवान और बच्चे की मानसिक आवश्यकता तथा अभिवृद्धि के अनुकूल बनाने के लिए समय-समय पर कुछ प्रयत्न किये गये है। कुछ दूरदर्शी शिक्षाशास्त्रियों और टीचर्स ट्रेनिंग कालेजों के शिक्षको ने ऐसे नये विचार अपनाए तथा दूसरों को अपनाने के लिए कहा जो पिछले कुछ दशकों में प्रगतिशील शिक्षा आन्दोलन के सिलसिले में दूसरे देशों में लोकप्रिय हुए थे। सरकारी अधिक्षेत्र के बाहर वाले "राष्ट्रीय" विद्यालयों में नये प्रयोग भी हुए परन्तु उनका कोई उल्लेखनीय फल नहीं हुआ। यह बात अनेक समितियों और आयोगों के प्रतिवेदनों से ज्ञात होती है। इस प्रकार अधिकतर विद्यालय उसी पुरानी लीक पर ही चलते रहे और शिक्षा

सम्बन्धी नयी विचार धाराओं से अछूते रहे। प्रगतिशील शिक्षाशास्त्रियों को इस बात का सन्देह हो रहा कि उनके विचारों को कभी विद्यालय अपना भी पायेगा या नहीं।

इसके अतिरिक्त शिक्षा तत्वहीन भी थी और अपर्याप्त भी। साक्षरता बहुत कम थी। साक्षरों की संख्या पुरूषों और स्त्रियों को मिलाकर पन्द्रह प्रतिशत थी और मात्र स्त्रियों की छः प्रतिशत ही थी। प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले छः से ग्यारह वर्ष के बच्चों का औसत भी तीस प्रतिशत से अधिक नहीं था। पढ़ाई-लिखाई का औसत भी कुल मिलाकर तीन चार वर्ष का होता था और कितने ही ऐसे बच्चे थे जो बीच में ही विद्यालय जाना छोड़ देते थे। और वे जो थोड़ा बहुत कुछ सीखते भी थे वे भी बाद में भूल-भाल जाते थे और इस प्रकार साक्षर भी नहीं कहे जा सकते थे। कुछ विशिष्ट विद्यालयों को छोड़कर शेष में निवास का भी बन्धन नहीं था, फिर ऐसे भी विद्यालय थे जो यह स्वस्थ सिद्धान्त नहीं मानते थे कि आरंभिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही हो। बहुत दिन हुए सन् 1921 में "यंग इण्डिया" में उन्होंने उस समय की शिक्षा पद्धति के दोष तीन वर्गों में बाँटे थे। "यह विदेशी संस्कृति पर आधारित है और स्थानीय संस्कृति से पूर्णतः रहित है। यह मात्र मस्तिष्कप्रधान है। शारीरिक श्रम और संवेदनशीलता की उपेक्षा करती है। सच्ची शिक्षा विदेशी माध्यम से कदापि सम्भव नहीं।" वे इन बातों तथा इनसे सम्बद्ध अन्य विचारों का लगातार पन्द्रह वर्षो तक विस्तृत विवेचन करते रहे। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक उनकी समझ में यह नहीं आ गया कि अब शिक्षा-तंत्र के गढ़ पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने का समय आ गया।

गांधी जी जब कभी कोई नया सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक आन्दोलन चलाते थे तो उसके लिए वे कोई विशिष्ट कार्यपद्धति भी अपनाते थे। ये अपने विचार लोगों के सामने इतनी सरलता से और इतने जोरदार ढंग से रखते थे कि लोगों की चिन्तन शक्ति पर उनका पूरा प्रभाव पड़ता था, यथास्थिति से संतुष्ट रहने और उसे बनाये रखने की दलीले देने वाले विशेषज्ञ हिल उठते थे और पुरानी बँधी-बँधायी धारणायें पर फिर से चिन्तन-मनन और उनका मूल्यांकन करने लगते थे। जिस शैक्षणिक क्रांति का ये सूत्रपात करना चाहते थे। उसके लिए इसी शक्ति से ये काम लेते थे। वे शिक्षा की समस्या को ऐसी दृष्टि से देखते थे जिसमें कोई धुँधलापन नहीं था। उनमें पेशेवर शिक्षकों वाला कोई पूर्वाग्रह या पूर्वधारणा नहीं थी। प्रशासक लोग अपने क्षेत्र की रक्षा के लिए जो सावधानी बरतते है गांधी जी उस सावधानी से मुक्त थे वे आमूल परिवर्तनकारी विचारों और समस्याओं से धबराते नहीं थे। उन्होंने अपनी शैक्षणिक धारणाएँ पुस्तकों से नहीं प्राप्त की थी, बल्कि राष्ट्रीय परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ देखकर स्वयं धारणाएँ बनायी थी और जो विशाल देहाती मूक जनता की स्थिति के ज्ञान पर विशेष रूप से आश्रित थी। उन्होंने अपने व्यक्ति और मर्यादा और अपने निश्चय के सचाई के आधार पर सेवाग्राम कान्फ्रेंस में विस्फोटकारी विचार उपस्थित किये थे। शिक्षा का बहुत दिनों से जीवन की उद्देश्यपूर्ण और मूर्त वास्तविकताओं से सम्बन्ध टूट चूका था, उसे अब फिर से जीवन के ठीक केन्द्र सै स्थापित करना होगा। शिक्षा को जीवन से ही अद्भूत होना चाहिए और जींवन के साथ ही सम्बद्ध होकर उसे समृद्ध करना चाहिए। अनुंभव,

कर्मशीलता और सामाजिक सम्बन्धों से हमारी शिक्षा बहुत दूर हट गई थी और उसने ऐसी पुस्तकों की किलेबन्दी में शरण ले रखी थी जो अच्छी, रचनात्मक या विचारोत्तेजक नहीं थी, बल्कि निर्जीव और नीरस थी। आरम्भिक कक्षाओं की पुस्तकों में रचनात्मक कार्यो को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। ऐसे रचनात्मक कार्यों को गांधी जी ''बुनियादी शिल्प'' कहते थे और यह रचनात्मक कार्य ऐसा होना चाहिए जिसमें बालक मग्न रहे, जो सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगी हो और साथ ही जिससे ज्ञान कि उपलब्धि के लिए भी प्रेरणा प्राप्त हो। यदि हम मानव जाति का इतिहास देखें तो हमें पता चलेगा कि सम्पूर्ण ज्ञान का अर्जन काम करने से हुआ है और ये काम है- कपड़ा बुनना, फसले पैदा करना, इमारतें बनाना तथा और सैकड़ों तरह की चीजे बनाना। हर काम में कुछ न कुछ समस्याएँ खड़ी होगी जिनका निराकरण स्वयं बालक को करना होगा। इस प्रयास में उसे बुद्धि लगानी होगी और अपने पैतृक गुणों का भी उपयोग करना सीखना होगा। बालक को विकास की उसी प्राकृतिक या ऐतिहासिक लीक पर चलने देना चाहिए जिस पर चल कर वह विभिन्न प्रकार के शिल्प सीखते-सीखते उनसे सम्बद्ध ज्ञान अर्जित करता चले।

बच्चों के लिए उसका विद्यालय ही सारा संसार होता है और उसकी प्रेरणादायी पाठचर्या का सजीव स्रोत है- भौतिक पर्यावरण या प्रकृति का जगत, जिससे समस्त विज्ञान निकलते है, सामाजिक पर्यावरण का मानव जगत जो इतिहास, साहित्य, दर्शन, कला, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि समस्त मानविकी विधाओं का स्रोत है और रचनात्मक कार्य या हस्तशिल्प जो प्रकृति के साधनों का उपयोग करके मानव जगत के प्रयोजनों की सिद्धिं करते हैं और इस प्रकार दोनों जगतो को परस्पर जोड़ते है। हमें यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे के जीवन में इस बात को महत्व नहीं देना चाहिए कि हम उसे कितनी अधिक या कितने विविध प्रकार से ज्ञान की शिक्षा देते हैं बल्कि जिस बात को महत्व देना चाहिए वह यह है कि हम उसके जीवन में कितना ज्ञान उतार सकते हैं जब बालक बुनियादी या आनुषंगिक हस्तशिल्पों में लगा रहता है, अनेक ऐसे अवसर आते है जिनमें सावधान शिक्षक बालक का ध्यान इतिहास, भूगोल, गणित, साहित्य, कला, विज्ञान आदि विषयों पर आकृष्ट कर सकता है और इस प्रकार व्यावहारिक कार्य और सैद्धान्तिक ज्ञान का सम्मिश्रण कर सकता है। कताई और बुनाई, बागवानी और खेतीबारी, दफ्ती और लकड़ी का काम, रसोई और छात्रावास का काम, सामाजिक सेवा कार्य, खेलकूद और यात्राएँ आदि ऐसे ज्ञानवर्धक कार्य है जिन्हें छोटे बालकों के क्रिया क्षेत्र का अंग नहीं बनाया जा सकता। यह माना जाता है कि छोटे बच्चों के लिए ये कार्य बहुत अधिक संगत नहीं है और उनके बड़े होने पर इन क्षेत्रों में भी उनका प्रवेश करा दिया जायेगा। आरंभ में गांधी जी की यही धारणा थी कि बुनियादी हस्तशिल्प से ही हर प्रकार का ज्ञान सम्बन्द्ध होना चाहिये। परन्तु सेवाग्राम कान्फ्रेंस के बाद जिस बुनियादी राष्ट्रीय शैक्षणिक समिति की स्थापना हुई थी वह इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि हस्तशिल्प भौतिक पर्यावरण और सामाजिक पर्यावरण तीनों को परस्पर सम्बन्द्ध

किया जाना चाहिए । गांधी जी भी इस मत से सहमत थे। इस प्रकार क्रिया और ज्ञान में जो संबंध स्थापित होगा वह कृत्रिम या ऊपर से थोपा हुआ नहीं होगा बल्कि अधिक समझदारी का और प्राकृतिक होगा।

शिक्षा के इस दृष्टिकोण में कई ऐसी बाते थीं जिनसे पेशेवर शिक्षाविद् भड़क सकते थे और भड़के भी थे। शैक्षणिक क्षेत्र में जिस बात ने हलचल पैदा कर दी वह थी गांधी जी की प्रथाविरूद्ध विचारधारा। विद्यालयों में बच्चें बुनियादी शिल्प सीखेंगे और उपयोगी वस्तुएँ बनायेंगे। इस वस्तुओं की बिक्री होगी जिससे सप्तवर्षीय अनिर्वाय शिक्षा का कुछ ऐसा खर्च निकल आयेगा जिसका और कहीं से प्रबंध नहीं हो सकेगा। उन्होंने अत्यन्त विचार तथा धैर्यपूर्वक कहा था कि जितनी जल्दी हो सके बालकों और बालिकाओं दोनोंके लिये ये कार्यक्रम शुरू किये जाने चाहिये। इस बात से बहुत कम लोग सहमत थे कि इतने विस्तृत आयाम वाले कार्यक्रम को कैसे इतनी जल्दी कार्य रूप दिया जा सकता है सामान्य लोग और अधिकारी दोनों सप्तवर्षीय पढ़ाई की वांछनीय तो समझते थे परन्तु इसे जल्दी कार्यरूप में परिणत होने के योग्य नहीं समझते थे। भवनों , उपकरणों, अध्यापकों की कठिनाई तो है ही, अध्यापकों को न्यूनतम वेतन देने के लिए धन की भी कमी है। गांधी जी यह कठिनाई समझते थे। परन्तु वे यह भी जानते थे कि यदि इस योजना के आर्थिक पक्ष का विचार किया जाएगा तो यह योजना कई दशकों के लिए टल जायेगी। ऐसे अवसर पर गांधी जी ने लोगों के सम्मुख अपना यह क्रान्तिकारी विचार रखा कि लगभग तेरह बच्चों की कक्षा कताई-बुनाई, बागवानी या बढ़ई गिरी का बुनियादी धन्धा अपना ले तो उससे इतनी आय हो सकती है। जिससे सामान्यतः अध्यापक का मासिक वेतन चुकाया जा सकें। जल्दी उन्नति करने के मार्ग में जो सबसे बड़ी बाधा है उसका बहुत कुछ निवारण इस प्रकार हो जाता है।

अधिकतर शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासकों को गांधी जी का यह विचार पसन्द नहीं आया और उन्होंने संगत तथा असंगत आपत्तियां भी की। उनका कहना था कि इस प्रकार की शिक्षा बच्चों के लिए गुलामी की मेहनत की तरह होगी। विद्यालय की शिक्षा के मूल उद्देश्य लुप्त हो जायेंगें और आर्थिक पक्ष प्रमुखता प्राप्त कर लेगा। फिर यह कार्यक्रम अव्यवहार्य भी हैं क्योंकि विद्यालय में निर्मित वस्तुओं के लिए बाजार कहां खोले जायेंगें और ब्रिक्री का प्रबंध कैसे होगा फिर इससे बेरोजगारी भी बढ़ेगी । इसके अतिरिक्त बौद्विक और रचनात्मक मस्तिष्क विद्यालय फिर कैसे उत्पन्न कर सकेगा। जहां तक इस योजना के आर्थिक पक्ष का संबंध है इस प्रकार के सहस्त्रों-बुनियादी विद्यालयों के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि साधारण विद्यालयों में अल्पमत निश्चित आय भी नहीं हो सकती कुछ ऐसे विद्यालय भी थे जो अधिक संगठित थे तथा जिनमें सुयोग्य अध्यापकों के निरीक्षण में सामान्यतः अपेक्षित आय से अधिक आय भी होती थी। परन्तु ऐसे विद्यालय अपवाद स्वरूप ही थे। सब विद्यालयों के लिये यह संभव नहीं था। अन्त में अधिकतर लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जो राष्ट्र शिक्षा को इतना अधिक महत्व देता हैं उसे शिक्षा के लिए आपातिक आय पर आश्रित नहीं रहना चाहिये बल्कि विद्यालयों पर अधिक उदारतापूर्वक व्यय करना चाहिये।

मैं नहीं समझता कि इस तर्क से शिक्षा में होने वाले रचनात्मक कार्य का महत्व कम होता है या बच्चों द्वारा उपयोगी वस्तुएं बनाने और बेचने का ही महत्व घटता है। इस संबंध में आर्थिक पक्ष गौण है और भारत की विशेष स्थिति के अनुसार अप्रासंगिक भी। सच्चे शिल्पी के रूप में काम करने का जो अनुभव प्राप्त होता है वहीं शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। आशय यहीं है कि बच्चों को शिक्षित और प्रशिक्षित कर उनमें यह विचार उत्पन्न किया जाय कि वे अपना काम चाहे कितनी ही छोटा क्यों न हो उसे अच्छे शिल्पी की तरह गौरवपूर्वक करें और जहां तक हो उसे अच्छे से अच्छे रूप में करें। मन और चरित्र को सबसे अधिक प्रशिक्षित करने वाली चीज कर्तव्यनिष्ठा है। यह भावना होनी चाहिये कि कर्तव्य ही पूजा और उपासना है। बेमन से काम करना या आलस्य करना ईश्वर का भी और आत्मसम्मान का भी तिरस्कार करना है। जो बढ़ई एक बार भी गलत ढंग से हथौड़ी चलाता है, वह मानों ईश्वर की दसों आज्ञाएं तोड़ता है। गांधी जी का दृढ़ विश्वास था कि हर कार्य के आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक पक्ष भी होते हैं। सब में आत्मा एक ही है वह भिन्न हो भी नहीं सकती। उनकी दृष्टि में राजनीति और धर्म, संस्कृति और कला में द्वैतभाव नहीं था। उनकी दृष्टि में हर अवयव में सारा जीवन विद्यमान है। भारतीय परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए यह उपदेश अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि जीवन के विविध क्षेत्रों में यहां कार्य का स्तर बहुत अधिक गिर चुका है। जब तक विद्यालय आरम्भ से ही इस क्षेत्र में इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते तब तक निश्चित प्रगति सम्भव नहीं है स्वयं अच्छा कार्य ही वास्तविक पुरस्कार है। यदि बालकों के रचनात्मक कार्य से इतनी आय नहीं होती कि विद्यालय के शिक्षकों का वेतन चुकाया जा सके तो इससे अच्छे और शुद्धशिल्प का महत्व कम नहीं हो जाता। बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा समिति के अध्यक्ष के रुप में डॉ० जाकिर हुसैन ने केन्द्रीय सलाहकार शिक्षा बोर्ड को जो सुझाव दिये थे उसमें उन्होंने कहा था मैं ऊँचे स्तर के काम के लिए यह जानते हुए आग्रह करता हूं कि उसे एक दिन रद्दी कि टोकरी में फेंकना पड़ेगा। पूर्णता और श्रेष्ठता के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही सच्ची शिक्षा देता है।

गांधी जी का आग्रह था कि विद्यालयों में मातृभाषा के माध्यम से ही बच्चों को शिक्षा देनी चाहिये और अंग्रेजी भाषा ने हमारी शिक्षा के माध्यम के रूप में जो महत्व प्राप्त कर लिया है उसका अन्त कर देना चाहिये। अंग्रेजी भाषा का वे आदर करते थे, जागतिक भाषा और राजनयिक भाषा के रूप में उसका महत्व स्वीकार करते थे। वे इसे विचारों का बहुत बड़ा भण्डार भी समझते थे और इसे एक विषय के रुप में बालकों को पढ़ाने के कदापि विरुद्ध नहीं थे। परन्तु वे नहीं समझते थे कि वह भारतीय भाषाओं का स्थान ले या उसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाय। भारत और इंग्लैण्ड के सम्पर्क काल में एक वह ही स्थिति थी जब अग्रेजीं भाषा को ही शिक्षा का पर्याय समझा जाता था और ऐसे किसी आदमी को कहने योग्य शिक्षित नहीं समझा जाता था जिसे अंग्रेजी न आती हो फिर वह चाहे टूटी फूटी अंग्रेजी क्यों न बोलता हो धारा प्रवाह अंग्रेजी बोलने में सक्षम व्यक्तिं के बहुतेरे दोष भी ढक जाते थे। गांधी जी ने तर्कपूर्वक कहा था कि कोई देश अनुवादकों और नकलचियों का बहुत बड़ा वर्ग तैयार करके राष्ट्र नहीं बन

सकता। उनका यह भी विचार था कि स्वतंत्रता की धारणाएं ग्रहण करने और विचारों में यथातथ्यता लाने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं वाले लोगों के भिन्न-भिन्न मत है। कुछ लोगों का कहना है कि अंग्रेजी भाषा के द्वारा ही भारतीयों का पाश्चात्य विचार जगत् में प्राकृतिक विज्ञानों, नवीन सामाजिक और राजनीतिक विचारधाराओं और प्रयोगों में प्रवेश हो सकता है। धीरे धीरे इस सत्य को भी मान्यता मिल रही है कि ऐसी भाषा के माध्यम से बालकों को शिक्षा प्राप्त कराना उचित नहीं है जिसपर उनका पूरा पूरा अधिकार न हो, क्योंकि ऐसा होने पर वे आत्म अभिव्यक्ति नहीं कर पाते, उनकी रचनात्मक कर्मशीलता दब जाती है और समाजिक क्षेत्रों में वे जनसाधारण से कट कर दूर जा पड़ते है। यह भी देखने में आता है कि ऐसे लोग अपनी भाषाओं की उपेक्षा करते हैं फिर चाहे इसके लिए उन्हें ग्लानि भी होती है। यह स्थिति मानसिक दासता की सूचक है जिससे न तो गांधी जी सहमत थे और न जिससे कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति ही सहमत हो सकता है। शिक्षा में तथा सामान्य राष्ट्रीय जीवन में भी भारतीय भाषाओं को उनका उपयुक्त स्थान दिलाने में चाहे जितनी अधिक और विकट कठिनाइयां हो उन्हें दूर करने के लिए इसी तरह विश्वास पूर्वक बढ़ना होगा और इस बात से सचेत रहना होगा कि जल्द बाजी में कहीं योजना ही खड़बड़ा न जाये।

गांधी जी ने अपने देश वासियों के सम्मुख शिक्षा का जो कार्यक्रम रखा था वह संक्षेप में इस प्रकार है- सारे देश में सात से चौदह वर्ष के बालक बालिकाओं के लिए सामान्य शिक्षा अनिवार्य हो और उसका आधार मातृभाषा हो। सारी शिक्षा का माध्यम कुछ चुने हुए हस्तशिल्प हो। इस प्रकार सैद्धान्तिक शिक्षा और रचनात्मक कार्य परस्पर घनिष्ठता पूर्वक सम्बद्ध हो जायेंगे। बच्चों को सहकारी क्रिया-कलापों और नैसर्गिक अनुशासन के द्वारा सामाजिक समुदाय के रूप में रहना सिखलाया जाय और उन्हें विद्यालय से बाहर, वयस्क लोगों की सामाजिक सेवा के अवसर भी दिये जाए। गांधी जी ने सीधे सादे शब्दों में कहा था "अपने जीवन का हर क्षण उपयोगी कामों में लगाने का सिद्धान्त ही अच्छे नागरिक की शिक्षा का आदर्श होना चाहिये, केवल पुस्तकों का ज्ञान अर्जित करना नहीं।"[1]

1920 में चलाये गये सत्याग्रह आन्दोलन के समय, रवि बाबू के उत्तर देते हुए गांधी जी ने हरिजन में लिखा था मै साक्षरता के प्रशिक्षण का कभी अन्ध श्रद्धालु नहीं रहा हूँ मुझे इस बात का अनुभव है कि साक्षर होने भर से मानव का नैतिक स्तर जरा भी ऊँचा नहीं होता। निश्चय ही इस अतिवादी विचारधारा से सब शिक्षावादी सहमत नहीं होंगे। व्यक्तिगत रूप में मैं ऐसा समझता हूँ कि वर्तमान युग में जबकि सचमुच ज्ञान का विस्फोट हो रहा हो (अर्थात् ज्ञान का भण्डार दिन पर दिन बढ़ता जा रहा हो) उक्त विचार के फलस्वरूप पढ़ाई लिखाई की महत्ता कुछ कम होती है और बिना अच्छे

1. गाँधी : इण्डिया आफ माई ड्रीम्स, पृ० 75

और पूरे ज्ञान के आधुनिक भूल भूलैया में से मनुष्य अपना रास्ता निकाल कर आगे नहीं बढ़ सकता। गांधी जी ने यह उग्रतामूलक विचारधारा को क्यों अपनाया इसका भी एक कारण है। वे शिक्षा में ऐसा सन्तुलन लाना चाहते थे जो प्रायः नष्ट हो चुका था। उस समय के शिक्षक पुस्तकीय ज्ञान को ही मन और चरित्र को विकसित तथा प्रशिक्षित करने वाली विविध तथा पेचीली क्रियाओं के बराबर मान बैठे थे। गांधी जी के शैक्षणिक चिन्तन का सार यह है कि पुस्तक की अपेक्षा काम अधिक व्यापक तथा शिक्षा का सच्चा माध्यम है और इसका मनुष्य के व्यक्तित्व पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। गांधी जी के मत के अनुसार मन का उपयुक्त और सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है जब उसके साथ ही साथ बालक की शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों के शिक्षा का क्रम भी चलता रहे। ये दोनों का एक ही समूचे ईकाई के अभिभाज्य अंग हैं। यह मानना बहुत भ्रमात्मक होगा कि हम दोनों का अलग-अलग और थोड़ा-थोड़ा करके विकास किया जा सकता है मनुष्य न तो केवल बौद्धिक सत्ता है और न कोरा पशु ही, न केवल हृदय है और न आत्मा। यह कहना पूरी तरह से ठीक नहीं होगा कि गांधी जी शिक्षा अथवा जीवन में बुद्धि का महत्व कुछ कम समझते थे बल्कि जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि उनका दृढ़ विश्वास था कि प्राथमिक महत्व कार्य को ही मिलना चाहिये और कार्य ठीक ढ़ंग से किया जाना चाहिये।

शांति निकेतन में जहां संस्कृति और मानस नगर का सबसे अधिक आदर होता था, गांधी जी को स्वयं विद्यार्थियों से यह पूछने में कुछ भी हिचक नहीं हुई थी कि क्या तुम्हें ऐसी शिक्षा मे मिल रही है जो तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ गुणों का विकास करती है और तुम्हें उस उच्च आदर्श तक पहुंचाती है जिसकी स्थापना रवि बाबू ने अपनी राष्ट्रीय गीत में की है? अथवा तुम्हें ऐसी शिक्षा मिल रही है जो ऐसे कारखाने की तरह है जिसमें सरकारी नौकर-चाकर, अधिकारी और लिपिक तैयार किये जाते हैं? हम अपने राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्यों को गांधी जी के शब्दों में अपने स्वंराज्य की प्राप्ति 'खरे सोने के विशुद्ध चरित्र के सम्बर्धन से ही कर सकते हैं। तुम जो बौद्धिक और साहित्यिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हो वह यदि सत्य और प्रेम पर आधारित नहीं है तो वह तुम्हारें लिए निष्प्रयोजन है। गांधी जी सत्य और प्रेम को चरित्र के आधार स्तम्भ मानते थे। अपनी मृत्यु से कोई साल भर पहले उन्होंने हरिजन में इहलोक तथा परलोक में होने वाली मुक्ति संबंधी अपनी धारणा का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया था एक प्राचीन सूक्ति है 'शिक्षा वह है जो मुक्ति दिलाये।' यह सूक्ति आज भी उतनी ही खरी उतरती है जितनी कि पहले थीं शिक्षा का अभिप्राय केवल आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है और मुक्ति का अभिप्राय मृत्यु के उपरान्त होने वाला आध्यात्मिक मोक्ष नहीं है। ज्ञान के अन्तर्गत वे सब बाते आ जाती है जो मानव जाति के कल्याण के लिए उपयोगी होती है, और मुक्ति से अभिप्राय सब प्रकार की दासता से वर्तमान जीवन का भी दासता से मिलने वाली मुक्ति से होता है। दासता दो प्रकार की होती है। ब्राह्म प्रभुत्वजन्य दासता और अपने कृत्रिम आवश्यकताओं की दासता।

अन्य पुराने चिन्तकों तथा दार्शनिकों के विपरीत रवि बाबू की तरह गांधी जी भी शिक्षा को इहलोक और परलोक में तथा भौतिकता तथा आध्यात्मिकता में संबंध

कराने वाला सेतु समझते थे और आत्मा के सच्चाईयों को सांसारिक जीवन में अभी और यहीं से कार्यान्वित और सिद्ध करने के लिए उत्सुक रहते थे। भौतिक पुनरूत्थान ही सब कुछ नहीं है, आध्यात्मिक सम्पूर्णता उससे भी महत्वपूर्ण है। जो लोग सलीव (क्रास) का उपासना या पूजा करते हैं वे जानते है कि भौतिक पराजय और मृत्यु से होने वाली क्षति की पूर्ति आध्यात्मिक विजय से हो सकती है। वस्तुतः उन्होंने मनुष्य के बहुरंगी इतिहास में इस प्रकार की पूर्ति भी की है। ईसा मसीह तो सूली पर चढ़े ही, हुसेन करबला में खंजर से मारे गये, प्लेटो ने जहर का प्याला पिया । सेंट जान को खम्बे से बांधकर जलाया गया, गांधी जी को हत्यारे की गोली लगी और बहुतेरे ऐसे स्त्री और पुरूष हैं जो परलोक सिधारे और जो हम सच्चाई के गवाह है राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय स्वतंत्रता संबंधी उनको धारणा भी उनकी गंभीर नैतिक दृष्टि की परिचायक है। राष्ट्रवाद से मेरा अभिप्राय यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाये, इसके लिए भले ही पूरे देश को आत्म बलिदान देना पड़े, पर जिससे मानवजाति जीवित रहे। जातीय धृणा के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। गांधी जी का मुख्य उद्देश्य अपने देश के वर्गो और जातियों में तथा विभिन्न राष्ट्रों में भी सद्भाव स्थापित करना था।

मानव जाति के अन्य प्रमुख मार्गदर्शकों की तरह गांधी जी भी क्रोध को अक्रोध से, हिंसा को अहिंसा से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहते थे। वे किसी को शत्रु या पराया नहीं मानते थे। बल्कि सभी पुरूषों और स्त्रियों को ऐसा सहयोगी और साथी मानते थे जो भौतिक तथा आध्यात्मिक कष्टों में पड़े हुए हैं। जैसा कि डा० राधाकृष्णन ने कहें है 'जब हम दूसरे लोगों को ठीक तरह से नहीं पहचानते तब हम भयभीत और क्रुद्ध होते तथा बौखला जाते हैं। परन्तु जब हम उन्हें अच्छी तरह समझ लेते है तब हम उनकी दुर्बलताओं के प्रति उदार होते है। गांधी जी ने शिक्षा के संबंध में जो सिद्धान्त और व्यवहार स्थिर किये थे उसके उक्त मत पूरी तरह से भीना हुआ था वे जो समाजसेवा सामुदायिक जीवन क्रम के गौरव, प्रेम और शान्ति को सद्जीवन को आधार स्तम्भ मानते थे। उसमें भी उनकी यही भावना काम करती थी। गांधी जी जातियों, वर्णों और प्रदेशों के भेदभाव को नहीं मानते थे और सेवा की भावना पर जो इतना जोर देते थे उसका भी मूल व्याख्या यहीं है। शिक्षा का उद्देश्य भौतिक या बौद्धिक तृप्ति तक ही परिमित नहीं रहना चाहिये बल्कि उसका चरम उद्देश्य सेवाभाव होना चाहिये। भौतिक और बौद्धिक तृप्तियां तो मनुष्य को भोग विलास में रत करती और उनका पतन कराती है। शिक्षित व्यक्तियों को ऐसे प्रलोभनों से बहुत बचकर रहना चाहिये। गांधी जी साफ साफ यह कहते और चाहते थे- 'मनुष्य को अपनी भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को ऐसा रूप देना चाहिये जिससे वे मानव जाति की सेवा में बाधक न हो। मनुष्य की सारी शक्तियां मानव सेवा में लगानी चाहिये।'[1]

गांधी जी में दो बातों का विलक्षण सम्मिश्रण था। एक ओर तो वे उस परम्परा के समर्थक थे जिसकी जड़े प्राचीन भारतीय सभ्यता में बहुत गहराई तक पहुंच गई थीं

1. हरिजन : 29-8-1936

और दूसरी ओर वे ऐसे नवीनीकरण के पक्षपाती थे जो विचारधारा में नये-नये विचारों और पद्धतियों को सम्मिलित करने में कभी हिचकते नहीं थे। अपनी मूल मान्यताओं और सिद्धान्तों के आधार पर ही वे सदा सावधानी से नये विचारों के गुण दोष का परख करते थे और यदि ये विचार उनके उद्देश्यों की सिद्धि में सहायक होते थे तो उन्हें अस्वीकार कर देते थे। कौन चीज उपयोगी है और कौन फालतु इस बात के निर्णय की उनमें नैसर्गिक शक्ति थी और जो चीज फालतू होती थी उसे जड़ से वे खोद निकालते थे। गांधी जी के शैक्षणिक विचारों में यह गुण स्पष्ट रुप से अभिव्यक्त हुआ है उदाहरण के लिए यदि कोई बालक इधर उधर का बहुत अधिक फालतू ज्ञान प्राप्त करता है और ऐसा बहुत थोड़ा ज्ञान प्राप्त करता है जिसे वह सक्रियतापूर्वक अपने जीवन में उतार पाता है तो गांधी जी इसे थोड़े से ज्ञान का निसंकोच स्वागत और समर्थन करते और जो ज्ञान प्राप्त करने से बालक रह गया है उसके लिए कोई खेद नहीं व्यक्त करते थे। ऐसी अवस्था में जबकि एक ओर तो अनेक भाषाओं के ज्ञान से फालतू बौद्धिक चमक दमक होती और दूसरी ओर चरित्र और आदर्शो का बल होता तब वे चरित्र को विशेषता और आदर्श सिद्धि को ही अधिक महत्व देते थे। उन्हें मूल भारतीय जनता की आकाक्षाओं और भावनाओं का पूरा पूरा ज्ञान था और चाहे अनजान में हो या जानबूझकर उनके साथ उनकी पूरी एकात्मता थी और इसी के आधार पर वे अपनी शैक्षणिक कार्य प्रणाली स्थिर करते थे। गांधी जी की शैक्षणिक विचाधारा में जो कुछ बलबत्ता या दुर्बलता है और जो कुछ ग्राह्य या अग्राह्य है वह उनके समग्र जीवन दर्शन से ही उद्‌भूत है यदि उनका यह दृष्टिकोण पूरी तरह से अथवा अधिक रुप से मान लिया जाए तो उनके विचारों के बिखरे हुए टुकड़े-जोड़ने से एक सुसंगत और सुसम्बद्ध ढाचाँ तैयार हो जाएगा। उनमें इतना साहस भी था और इतनी सत्यनिष्ठा भी थी कि वे अपने प्रतिपादित मत के अंतिम परिणाम का स्वरूप भी अच्छी तरह देख कर समझ लेते थे। जो विचार लोगों के लिये ग्राह्य हो सकते थे उनका कोई युक्तयुक्त संकलन प्रस्तुत करने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया था। यदि यह कहा जाय कि शिक्षा के संबंध में उनका कोई सामान्य सामाजिक सिद्धान्त था तो उसका उल्लेख उन्होंने हरिजन में इस प्रकार किया था।

कटाई आदि की तरह के देहाती शिल्पों के द्वारा आरंभिक शिक्षा देने की मेरी योजना का उद्देश्य मौन सामाजिक क्रान्ति करना है। यह काम ऐसा है जो एक बार आरंभ हो जाने पर बराबर आप से आप आगे बढ़ता चला जाएगा। इसके परिणाम दूरव्यापी होगें। इससे नगरों और देहातों में पारस्परिक संबंध स्थापित करने के लिए स्वस्थ आधार प्रस्तुत करना होगा। आजकल सामाजिक अरक्षा के कारण जो अनैतिक बुराइयां बढ़ रही है उन्हें दूर करने में इससे बहुत सहायता मिलेगी और वर्ग संघर्ष का विषाक्त प्रभाव भी बहुत कम हो जाएगा हमारे गांवो की दिन पर दिन जो दुर्दशा होती जा रही है वह भी उससे रूकेगी और अधिक न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की नींव पड़ेगी। यह ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें अमीरी और गरीबी में अस्वाभाविक विभाजन नहीं होगा और प्रत्येक व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक भी मिलेगा और स्वतंत्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर भी।

इसमें दो बाते ध्यान देने योग्य है। एक तो यह कि अनेक सतर्क शिक्षाशास्त्रियो और अध्यापकों को कार्यप्रणाली के विपरीत गांधी जी शिक्षा को आधुनिक युग के सामाजिक प्रश्नों से सम्बन्ध रखना चाहते थे तथा उसी को नैतिक दृष्टि से उनके निराकरण के लिए उत्तरदायी समझते थे। वे चाहते थे कि विद्यालय ऐसे सक्रिय माध्यम बने जिससे समाज में परिवर्तन हो और अहिंसा तथा मिलजूल कर साथ रहने के आदर्शो आदि की भावना सामान्य जनजीवन में उत्पन्न हो। गांधी जी ऐसे कोरे विवादास्पद विषयों को महत्व नहीं देते थे कि विद्यालय 'परिरक्षणात्मक' हो या रचनात्मक। यदि जीवन के उत्कर्ष के लिए कुछ आदर्श और मूल्य आवश्यक है तो शिक्षा का स्पष्टतः तथा अनिवार्यतः उद्देश्य लोगों के मस्तिष्क में उन्हें जमाना तथा उसकी सिद्धि के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए । साथ ही शिक्षा को ऐसा मार्ग प्रशस्त करना चाहिए जिस पर चल कर लोग उन मूल्यों तथा आदर्शो को कार्यान्वित कर सके। साथ ही उनका यह भी मत था कि उन आदर्शों की सिद्धि के लिए जो साधन अपनाये जाये वे भी उन आदेशों के अनुसार तथा महत्वपूर्ण होने चाहिये। दोनों का पवित्र होना आवश्यक है। यदि साधन निकृष्ट हुए तो यह निश्चित प्रायः है कि उनसे साध्य भी भ्रष्ट तथा कलुषित हो जायेगे। राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में ऐसे साधनों में राजनीतिक तथा धार्मिक आर्थिक संस्थानों की गिनती तो होती है संस्कृति और शिक्षा के स्वरूप की भी गिनती होती है आजाद ने कहा है।"

"गांधी जी के विचारधारा का मूल सिद्धान्त है कि सत्य और न्याय की रक्षा तो हमारा उद्देश्य होना ही चाहिए साथ ही साथ हमें साधन भी सच्चे और न्यायपूर्ण ही अपनाने चाहिए। संसार को यदि विनाश से बचना है तो उसे गांधी जी का यह मत अपनाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है । उन्होंने हमें यह भी सिखलाया कि हिंसा और घृणा से कोई समस्या हल नहीं होती बल्कि उनसे और भी अधिक दुर्गति होती है उन्होंने लोगों से यही प्रार्थना की थी कि आप अपने झगड़े विचार पूर्वक तथा न्याय की भावना से सुलझाएं। गांधी जी का यह भी कहना था कि वास्तविक विजय है जो नैतिक सिद्धांतों पर आधारित हो।"

गांधी जी के कथन से दूसरा प्रश्न उदभूत होता है,वह यह है कि क्या गांधी जी मौन सामाजिक क्रांति और शिक्षा के महत् कार्य में बाधक कठिनाइयों को कम समझते थे और अपना रास्ता अत्यधिक सरल समझते थे क्या ऐसे जटिल सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को हल करना संभव है जिनकी जड़ें परम्परा, मनोवृत्ति, अधिकार और लिप्सा और व्यवसाय बुद्धि में जमी हुई है और जिन्होंने इस युग को विश्रृङ्खल कर रखा है? जब गांधी जी शिक्षा को देहाती शिल्प पर और राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को लघु उद्योग धन्धों और खेती पर आश्रित करने की बात करते थे तः स्वभावतः प्रश्न उठता था कि क्या वे प्रक्रियावादी तो नहीं हैं या फिर ऐसा नेता तो नहीं है जो भूत पर ही दृष्टि रखे हुए है। वे लोगों का आर्थिक स्तर ऊंचा उठाने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि वे यथार्थवादी थे और जानते थे कि यदि जल्दी में स्तर थोड़ा भी ऊँचा किया गया तो यहाँ के लोग उसका महत्व बहुत बढ़ा चढ़ा कर आंक लेंगे और विकास संबंधी उन भव्य योजनाओं को उतना महत्व नही देंगे जिनके कार्यान्वयन में कई दशकों का समय लगने का है। इन प्रश्नों का रूढ़िबद्ध उत्तर देना संभव नहीं है क्योंकि ऐसे बहुत से तत्व हैं जो विभिन्न परिस्थितियों पर आश्रित होते हैं और गांधी जी का मत उन परिस्थितियों के

सामूहिक मूल्यांकन पर आधारित है। गांधीजी जिस तरह के समाज की रचना करना चाहते थे उसी की सिद्धि के अनुकूल शिक्षा का स्वरुप भी स्थिर करना चाहते थे। वे निश्चित रुप से इस विचार के विरुद्ध थे कि शिक्षा का उद्देश्य बस इतना ही है कि वह भौतिक वस्तुओं का जल्दी जल्दी निर्माण करे। आधुनिक सभ्यता (संस्कृति नहीं) की वे आलोचना करते थे उसका आधार वे घटनाएं थी जो यूरोप अमेरिका तथा संसार के दूसरे देशों में घटित हो रही थी और जिनके फलस्वरुप अभीष्ट जीवन पद्धति लोभ प्रतियोगिता और हिंसा की दलदल में भटक रही थी। गांधी जी ने अपने देशवासियों तथा संसार के अन्य देशों के लोगों को भी इस बात पर विचार करने के लिए कहा था।

'मैं चाहता हूं कि जो कुछ यूरोप में हो रहा है उससे आप अपनी आंखें फेर लें और यदि आप इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आधुनिक सभ्यता से यूरोप रौदा गया है तो उस सभ्यता की अपने देश में नकल करने से पहले आपको दोबारा सोच लेना चाहिए।'

द्रुत आर्थिक प्रगति और नैतिक समृद्धि में होने वाले अनिवार्य संघर्षों और असंगतियों के प्रति गांधी जी अत्यधिक संवेदनशील थे। जिन का जीवन स्तर गिरा हुआ है और जो किसी प्रकार दिन ही बिता रहे हैं उनका आर्थिक स्तर ऊपर उठाने के लिए यद्यपि वे पूर्णतः सहमत थे फिर भी वे उन खतरों से पूरी तरह अवगत थे जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन और प्रयासों को भौतिक विलासता से मुक्त करने पर उत्पन्न होते हैं! उनकी दृष्टि में सच्ची सभ्यता से अभिप्राय आवश्यकताओं को बढ़ाने से नहीं है बल्कि जानबुझकर तथा स्वैच्छिक रुप से उनके घटाने से है । ऐसा करने से ही वास्तविक आन्तरिक सुख तथा तृप्ति मिलती है और दूसरों की सेवा करने की शक्ति बढ़ती है। अन्यथा ऐसी आशंका है कि मनुष्य अपनी सारी शक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की बराबर पूर्ति करने में ही खपा डालेगा। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि भौतिक उन्नति में नैतिक प्रगति भी आवश्यक रुप से निहित होती है। यदि ऐसा होता है तो समाज में जितने करोड़पति हैं वे समाज की नैतिक सामाजिक उन्नति करने में सहायक होते । उन्होंने इस आधुनिक विचार धारा से साहसपूर्ण असहमति प्रकट की और ऊँचा बौद्धिक आध्यात्मिक जीवन स्तर पर अपनाने के लिए जोर दिया फिर भले ही निम्न आर्थिक स्तर क्यों न अपनाना पड़े। उनका मत था कि इस हेतु निम्न आर्थिक स्तर आवश्यक है। 1936 ई० में उन्होंने 'हरिजन' में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था "किसी सीमा तक शारीरिक सुखसुविधा आवश्यक है परन्तु उस सीमा से अधिक सुख सुविधा सहायक नहीं बल्कि बाधक बन जाती है। इस प्रकार अपनी आवश्यकताएं बढाते चलना और उनकी पूर्ति में लगे रहना भ्रमजाल मात्र है। भौतिक तथा बौद्धिक भोग विलास में पड़े रहने तथा भ्रष्ट होने से पहले ही यदि मनुष्य अपने संकुचित अहं की फालतू भौतिक आवश्यकताओं को खत्म कर दे तो अच्छा है।"[1]

1. हरिजन : वर्ष 1936

जो समाज और राष्ट्र भूतकाल में अत्यधिक सम्पन्न तथा सशक्त थे, समय आने पर उनका भी इसलिए नैतिक तथा बौद्धिक पतन हुआ कि वे मूल तथा आवश्यक चारित्रिक गुणों से रहित हो गये। गांधी जी को लग रहा था कि आधुनिक मानव का धीरे-धीरे क्षय हो रहा है और उसकी जड़े निश्चित रूप से खोखली हो रही हैं। अर्थात वे विलास और अधिकार के फेर में पड़कर अपनी श्रेष्ठतम नैतिक और बौद्धिक सम्पत्ति खो रहा है। वे चाहते थे कि मानव फिर से अपने वे श्रेष्ठ गुण प्राप्त कर ले, भले ही उसे आधुनिक होने की संज्ञा न प्राप्त हो। इस संबंध में वे किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। यदि हमें सचाई का पक्ष लेना है तो हमें झूठ का साथ छोड़ना होगा, यदि मातृभूमि के लिए राजनिष्ठा अभीष्ट है तो देशद्रोह निन्द है, यदि हमें स्वतंत्रता का साथ देना है तो हमे दासता से असहयोग करना होगा।[1]

व्यक्तिगत तथा समविष्टगत जीवन में सदाचार की भावना होनी ही चाहिये और इस भ्रम का निवारण भी होना चाहिये कि मनुष्य की विलक्षणता उसके पाँव ऐसी दो नावों पर रख सकती है जो विभिन्न दिशाओं की ओर अग्रसर है। इससे पता चलता है कि गांधी जी आर्थिक क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति करने के पक्ष में नहीं थे और उनका यह मत आदर्श की दृष्टि से भी और यर्थाथ की दृष्टि से भी इसलिए ठीक था कि वे समाज के पुरूषों और स्त्रियों से नैतिक और सामजिक आचार व्यवहार के क्षेत्र में बहुत बड़ी बड़ी आशाएं रखते थे और इसलिए वे उक्त दोनों पक्षों में किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। व्यवहार कुशल होने के नाते वे धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहते थे और सभी बिखरे हुए लोगों को अपने साथ मिलाकर चलना चाहते थे। परन्तु उनकी प्रगति की दिशा सुनिश्चित और उन्नतिशील थी। वे चाहते थे कि हमारे विद्यालय मानव जाति की इस उन्नति में सहायक बने।

जिस प्रकार आधुनिक सभ्यता की ऐसी बातों को वे छोड़ने के लिए तैयार थे जो उनके आदर्शो से मेल नहीं खाती थी उसी प्रकार वे प्राचीन सभ्यता की ऐसी बाते छोड़ने के लिए भी उद्यत रहते थे जिनसे मनुष्य अन्धविश्वास के कारण चिपका हुआ है। वे संस्कृतियों के परस्पर आदान प्रदान का महत्व समझते थे तथा विदेशों के स्वस्थ्य आन्दोलनों तथा प्रवृत्तियों का स्वागत भी करते थे। परन्तु वे यह बात पसन्द नहीं करते थे कि कोई राष्ट्र भिक्षुक बन कर दूसरे राष्ट्रों से संस्कृति ग्रहण करें। किसी अशक्त राष्ट्ररूपी जलयान का संस्कृति रूपी लंगर यदि दृढ़ न हो तो विदेशी संस्कृति रूपी आधियाँ उसे बहा ले जा सकती है। उन्होंने बहुत ही बुद्धिमतापूर्वक यह बतलाया था कि पहले हमें अपनी संस्कृति की सभी बातों का मूल्यांकन करके वही बाते ग्रहण करनी चाहिये जो हमारे लिये अनुकूल और हितकर हो। गुजरात विद्यापीठ में गांधी जी ने कहा था कि इस विद्यापीठ का उद्देश्य प्राचीन संस्कृति को दोहराना या उसी पर आश्रित रहना नहीं है परन्तु ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना है 'जो भूत की परम्पराओं पर तो आधारित हो परन्तु बाद के समय के अनुभवों से समृद्ध हो। जो संस्कृति बाहर से

1. गांधी : इण्डिया आफ माई ड्रीम्स

भारत में आई तथा जिन्होंने भारतीय जीवन को प्रभावित किया वे उन सबके समन्वय पर जोर देते थे। ऐसी संस्कृतियां स्वयं भारत की संस्कृति से भी प्रभावित हुई है।'[1]

यही विचार उन्होंने अन्यत्र बहुत ही सुन्दरता से इस प्रकार व्यक्त किया है-

'मैं नहीं चाहता कि मेरा घर चारों ओर से दीवारों से घिरा रहें और खिड़कियों से मेरा दम घुटता रहे मै तो चाहता हूँ कि सभी देशों की संस्कृतियों की हवाएँ जितनी स्वतंत्रता से हो सके बहती हुई मेरे घर में आए। लेकिन मै यह नहीं चाहता कि वे मुझे बहा ले जाए।'[2]

शिक्षा दर्शन :

गांधी ने नैतिक प्रगति और सामाजिक सन्तुलन के लिए एक साधन के रुप में शिक्षा पर विशेष बल दिया है।[3]

उनके शब्दों में शिक्षा से मेरा अभिप्राय उन सब अच्छाइयों को बाहर प्रकट करवाना है जो बच्चें अथवा मनुष्य के अन्दर हैं शरीर मस्तिष्क और आत्मा में। इस प्रकार उनकी दृष्टि में शिक्षा का मुख्य लक्ष्य था आध्यात्मिक बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों का समन्वित विकास करना। शिक्षा की व्यापक व्याख्या करते हुए गांधी जी ने कहा था शिक्षा एक स्वतंत्र धर्म दर्शन है। शिक्षा जीवन का एक अंग नहीं बल्कि शिक्षा में जीवन का सर्वांग आ जाता है और आना चाहिये। इसी जीवन दर्शन का जिसे साक्षात्कार हुआ है वही शिक्षा का ऋषि है, वही धर्मकार है, क्योंकि समाज धारक का रहस्य उसे अवगत है वहीं शिक्षा पथ को प्रदीप्त करेगा।[4]

गांधी जी के अनुसार वास्तविक शिक्षा व्यक्ति के सर्वगीण विकास में सक्षम होती है वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा मिथ्या शिक्षा है। हिन्दू स्वराज्य में आधुनिक सभ्यता के अभिशापों का उन्होंने बड़ी निर्भीकता से उल्लेख किया है और उसके सुखवादी प्रवृत्ति की निन्दा की है। वे चाहते थे कि एक आदर्श शिक्षा व्यवस्था में नैतिक शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की जानी चाहिये। सच्ची शिक्षा संयम सदाचार और चरित्र निर्माण में है इसलिए शिक्षा का सही उद्देश्य बच्चों की सम्भावनाओं का पूर्ण विकास ही है। चरित्र निर्माण ही मानवता का सर्वोच्च उद्देश्य है। भारत के प्राचीन ऋषि मुनि भी यह विश्वास करते थे कि चरित्र निर्माण के बिना बौद्धिकता का विकास, दया के बिना विद्या, चरित्र के बिना श्रुति और शब्द ज्ञान वस्तुतः शिक्षा का सही उद्देश्य पूरा नहीं बरते।[5]

भारतीय संस्कृति में शिक्षा को केवल जो जीवकोपार्जन का साधन मात्रनहीं माना गया है वह तो आध्यात्मिक जीवन की दीक्षा है जिसे हम सत्य और सद्‌गुण के अवगाहन में आत्मा कि एक खोज भी कह सकते है। यह वस्तुतः हमारा द्वितीय जन्म

1. यंग इण्डिया : 17-11-1921
2. यंग इण्डिया : 17-11-1921
3. उत्रीमान : गांधी एण्ड सोशल चेंज, पृ० 76
4. दैनिक नवजीवन : 21-3-1930 पृ० 73
5. मुकर्जी, आर. के. : एथिएंट इण्डियन एजूकेशन, पृ० 205

है। नए समाज के लिए नई तालीम चाहिये। वह शिक्षा सचमुच शिक्षा नहीं, जो हमें सेवा और त्याग की प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकती है। शिक्षा का महत्व तो तभी प्रकट होगा, जब वह अपने वातावरण को प्रभावित करेगी।[1]

इसलिए हमें अपनी शालाओं को वैसे समाज में बदल देना चाहिये, जहां व्यक्तित्व कुंठित न होकर समाज सम्पर्क स्वयं समाज सेवा के माध्यम से हमेशा विकसित होता रहे।[2]

ऐसी ही भावना बाद के कोठारी कमीशन की रिपोर्ट में भी व्यक्त की गई है। शिक्षा को समाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तन की उपकरण बनकर राष्ट्रीय आकांक्षाओं और राष्ट्रीय विकास में आबद्ध होना चाहिये।[2]

समाजिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय तथा भावात्मक एकता और सांस्कृतिक क्षेत्र में इससे सांस्कृतिक पुर्नजागरण, विश्व प्रेम और विश्व शान्ति की भावना को मजबूत किया जा सकता है।[3]

गांधी से पूर्व भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रसार का श्रेय विदेशी ईसाई मिशिनिरियों, ब्रिटिश सरकार और प्रगतिशील भारतीयों की है। भारत के विशाल प्रशासन तंत्र को संचालित करने के लिए शिक्षित व्यक्तियों कि बहुत बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। इंग्लैड से सभी व्यक्तियों को भारत लाना संभव नहीं था। नये ही प्रशासन के लिए सुयोग्य व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने के लिए भारत में स्कूल और कालेज खोलना आवश्यक हो गया। महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेजों की और अधीनस्थ पदों पर शिक्षित भारतीयों की नियुक्तियां की गई।

ब्रिटेन के कुछ अंग्रेजी विचारको ने भारत में आधुनिक शिक्षा को प्रश्रय दिया। प्रबुद्ध अंग्रेजों का यह विश्वास था कि ब्रिटिश संस्कृति संसार में सर्वश्रेष्ठ और सबसे उदार थी और अगर भारत दक्षिणी अफ्रीकी और फिर सारा संसार सांस्कृतिक तौर पर अंग्रेज हो जाये, तो सारे संसार के सामाजिक और राजनैतिक एकीकरण का रास्ता प्रशस्त होगा। ब्रिटिश शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के लिए अंग्रेज में मिशनरियों जैसा जोश था। मैकाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के इसी गुट में था जिसका नेता सेसिल रोड्स था।[4]

यह सारे संसार के अंग्रेजीकरण का एक कार्यक्रम था और इस तरह ब्रिटेन के नेतृत्व और निर्देश में लाये दुनियां के लोगों के राजनीतिक और सामाजिक एकीकरण और साम्राज्यवाद का कार्यक्रम था। इस तरह ब्रिटिश पूंजीवाद की राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकता फिर यह कट्टर विश्वास की ब्रिटेन नये युग का मसीहा है, जिसका कर्तव्य है कि वह सारी दुनियां में ब्रिटिश संस्कृति का प्रसार कर उसे संभ्य बनावें और उसका एकीकरण करें। भारत में आधुनिक शिक्षा की शुरूआत के पीछे यही तथ्य काम कर रहें थे।[5]

---

1. यंग इण्डिया : 14-11-1929
2. पटेल, एम. एस. एजुकेशन फिलासपी आफ महात्मा गांधी, पृ० 5
3. सिंह, रामजी : पृ० 30
4. देसाई, ए. आर.: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूम्रि, पृ० 113
5. देसाई, ए. आर.: भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 114

1923 ई० में सार्वजनिक शिक्षा समिति का गठन किया गया जिसका कार्य सरकारी अनुदानों को सरकार द्वारा संचालित विद्यालयों की स्वीकृति प्रदान करना था। जब विद्यालयों में अंग्रेजी की शिक्षा प्रारम्भ की गयी तो छात्रों कि संख्या शीघ्रता से बढ़ी। 1819 ई० में कलकत्ता हिन्दू कालेज में प्रवेशार्थियों की संख्या 70 थी, अंग्रेजी के कारण 1829 ई० में छात्रों कि संख्या 429 हो गयी।[1]

1884 ई० में मैकाले इस समीति के अध्यक्ष हो गये। उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया हिन्दू कालेज तथा स्काटिश चर्च कालेज में अंग्रेजी को माध्यम बनाकर शिक्षा अर्जीत करने वालो की संख्या बहुत अधिक थी। इसके विपरीत संस्कृत कालेज में छात्रों की संख्या बहुत कम थी। मार्च 1835 ई० में राजाराम मोहन के प्रयत्नों के कारण विलियम वैंटिक के समर्थन और आदेश से सरकारी अनुदान को पाश्चात्य शिक्षा पर व्यय करने का निर्णय लिया गया।[2]

1844 ई० में सरकारी आदेश द्वारा यह घोषित किया गया कि राजकीय सेवाओं में अंग्रेजी में शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को वरीयता दी जायेगी। इस प्रकार राजकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त करना भारतीय छात्रों का प्रमुख उद्देश्य हो गया जाति प्रधान हिन्दू समाज में उच्च जातियों के युवकों ने लिपिकों के पदो को ग्रहण करना शुरू किया और शरीर के श्रम से भागने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षित बेरोजगार युवकों की भारी संख्या देश के लिए समस्या बन गई।[3]

आधुनिक शिक्षा प्राप्त कुछ युवकों पर पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का बुरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने पुराने आदर्शो और मानदण्डो का बहिष्कार किया जो ठीक ही हुआ, क्योंकि व्यक्ति स्वतंत्र रचनात्मक शक्ति के लिए ये पुराने आदर्श जंजीर का काम कर रहे थे लेकिन जब शिक्षित भारतीय पुराने आदर्शो के बदले व्यक्तिगत आचार में नए बौद्धिक आदर्शो और मापदण्डों को अपना सकने में सदा सफल नहीं हुए सामाजिक जीवन की पुरानी सत्तावादी धारणाओं का तिरस्कार करते हुए वे स्वतंत्र सामाजिक धारणा विकसित नहीं कर सके। पुराने सामाजिक पर्यावरण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया मूलतः निषेधात्मक थी। उन्होंने पुराने रुपों और विचारों की अबौद्धिकता को समझा लेकिन सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार के लिए नये प्रगतिशील सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकें। इससे व्यक्तिगत जीवन में अराजकता और जनजीवन से विलगांव का जन्म हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के प्रति सम्पन्न भारतीयों की अभिरूचि और झुकाव को देखकर ही मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया था। वह भारतीय संस्कृति अंध विश्वासों के पुंज मात्र थी। उसने भारतीय संस्कृति के बदले पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिष्ठान की वकालत की। उसका उद्देश्य था भारतीयों के ऐसे वर्ग का निर्माण करना जो रंग और खून में भारतीय है लेकिन रूचि, विचार, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज हो।[4]

---

1. कुप्पुस्वामी : पृ० 268
2. कुप्पुस्वामी : पृ० 268
3. कुप्पुस्वामी : पृ० 269
4. ए. आर. देसाई : सेलेक्शन फ्राम एजुकेशनल रेकार्डस, जिल्द प्रथम, पृ० 130-31

इस प्रकार की नई शिक्षा प्रणाली ने अंग्रेजी भाषा को बहुत अधिक महत्व दिया जिसके कारण शिक्षित भारतीय और जन साधारण के बीच अन्तर बेहद रहा। यह शिक्षा भारतीय जनता के वास्तविक जीवन से बहुत अलग थी और भारतीय राष्ट्र की प्रगति की समस्याओं से इसका कोई संबंधनही था। इसने ब्रिटिश शासन को आर्दश के रुप में प्रस्तुत किया उसे गौरवपूर्ण माना और भारत के अतीत के आलोचनात्मक वैज्ञानिक विवेचन के बदले, उसका नितांत अवमूल्यन किया। 1905 ई० में बंगाल विभाजन तथा जापानियों द्वारा रुस को पराजित करने के कारण भारत में राष्ट्रीयता की एक नई लहर पैदा हुई। उसने शिक्षा के विदेशी सत्ता के प्रति स्वामी भक्त और अंग्रेजी सभ्यता के गौरव गाथा के गान को अपनी राष्ट्रीय भावना के विपरीत घोषित किया। जिस शिक्षा के राष्ट्रीय स्वाभिमान न जाग्रत हो वह शिक्षा व्यर्थ है। कलकत्ता में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की स्थापना की गई जो बाद में चलकर जादवपुर विश्वविद्यालय बना। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1906 ई० के अपने कलकत्ता अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें इस बात की स्वीकार किया गया कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था को देश की आवश्यकताओं के अनुकूल गठित करने का समय आ गया है।

इसके पश्चात राष्ट्रीय शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए गोखले, एनी बेसेन्ट, लाला लाजपत राय, रविन्द्र नाथ टैगोर, तथा बाद में चलकर गांधी ने इस बात पर बल दिया कि राष्ट्रीय शिक्षा से राष्ट्रीय चेतना जागृति करना चाहिये। युवकों में देशभक्ति की भावना पैदा करनी चाहिये। अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति आदर भाव विकसित करना चाहिए। इन तथ्यों की पूर्ति के लिये शिक्षा जन भाषा में दी जानी चाहिए। विज्ञान की शिक्षा को भी देश के विकास के लिये आवश्यक माना गया। उद्योग धंधों तथा प्राविधिक शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए।[1]

ऐसे शैक्षिक परिपेक्ष में जनवरी 1915 में गांधी का भारत में आगमन हुआ। इसके पूर्व दक्षिण अफ्रीका में फिनिक्स तथा टालस्टाय फार्म में गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये थे। 22 अप्रैल 1915 में मद्रास मेल के प्रतिनिधि ने गांधी से उनके भारत में भावी कार्यक्रम पर प्रकाश डालने को कहा, तो सर्वप्रथम उन्होंने यहां कहा कि गोखले ने सहमति प्रदान की थी कि फिनिक्स आश्रम और टालस्टाय फार्म में मैने जो प्रयोग किये है उसके भारत में भी आगे बढ़ाये। इस आश्रम में युवको, स्त्रियों एवं बच्चो को भी मातृभूमि की दीर्घकालीन सेवा के लिए शिक्षित किया जाता है। इस संस्था के यह विशेषता है कि इसकी प्रत्येक व्यक्ति के लिये किसी न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम करना आवश्यक है। और चूंकि खेती का काम सर्वोत्तम शारीरिक श्रम है इस लिए प्रत्येक व्य क्ति से दिन में कुछ समय तक खेत में काम करने की आपेक्षा की जाती है। हथकरघे का उद्योग आरंभ करने का विश्वास है। इस संस्था में जो लोग है वे देश की मुख्य भाषाए भी सीखेंगे जिससे वे देश के विभिन्न भागों में लोगों से बिना किसी कठिनाई के मिल जुल सके। आपसी बातचीत या पत्र व्यवहार मे देशी, भाषाओं का ही प्रयोग

1 कुपुस्वामी : पृष्ठ 269-20

किया जायेगा। जहां तक हो सके अंग्रेजी का प्रयोग सिर्फ अंग्रेजो से और उन लोगों से जो भारत को किसी भी मुख्य भाषा को नहीं समझते, व्यवहार करने के लिये किया जायेगा। संस्था में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो का पूर्ण पालन किया जायेगा, मुझे लगता है कि यदि वह प्रयोग सफल हुआ और काफी युवक आगे आये तो हम जिन प्रस्तुत समस्याओं से दुविधा और चिंता में पड़े है उनमें से कितनी ही अपने आप हल हो जायेगी।

इस प्रकार भारत आगमन के समय गांधी ने यह निश्चय कर लिया कि फीनिक्स में प्रचलित शिक्षण पद्धतिको अपने देश में भी प्रयोग में लाया जाय। उन्होंने पत्र प्रतिनिधियों से यह स्वीकार किया कि बाइस वर्षों से अधिक समय तक भारत से बाहर रहने के कारण किसी सामाजिक या राष्ट्रीय कार्य करने के संबंध में निर्णय करने से पहले मुझे समस्याओं की व्यक्तिगत रुप से पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये।

उन्होंने पत्र प्रतिनिधि से यह भी कहा कि मैं सरकार से रियायते प्राप्त करने के लिये आन्दोलन करने को उतना महत्व नहीं देता, जितना देश के लोगों के नैतिक सामाजिक और आर्थिक पुनरुत्थान के लिये काम करने को क्योंकि मेरी राय यह है कि यदि लोग एक बार अपने चरित्र और सामर्थ से योग्य बन जायेंगे तो उसके बाद विशेषाधिकार अपने आप मिल जायेंगे।

गांधी ने भारतीय समस्याओं के निदान के लिये चरित्र बल के विकास के सर्वोच्च प्राथमिकता दी और इस चारित्रिक शक्ति के निर्माण और विकास के लिये फिनिक्स पद्धति पर आश्रमों में युवकों को प्रशिक्षण देना आवश्यक माना। आश्रमों में दिये गये प्रशिक्षणों के द्वारा गांधी ने जो अनुभव प्राप्त किये उन्हीं अनुभूत सत्यों के आधार पर शिक्षण पद्धति की रुपरेखा निर्धारित की गयी।

इस प्रकार गांधी के शिक्षा संबंधी विचारों को निरुपित करने में फिनिक्स आश्रम की योजना ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उन्होंने कहा मैने फिनिक्स आश्रम की योजना मातृभूमि की सेवा के लिये लोगों की शिक्षित करने के लिये बनायी है। जीवन में आचरण के लिये मैं तो सिद्धान्तों को सर्वोपरि मानता हूँ सत्य, प्रेम और अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देगा। मैने सब तरह के यंत्रों के उपभोग करने के विरुद्ध हूं और केवल हाथ की बनी चीजो का ही उपभोग करना चाहता हूँ।[1]

वस्तुतः गांधी शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति और समाज में मातृभूमि के प्रति सेवाभाव, सत्य प्रेम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आदि विचारों को क्रियान्वित करना चाहते थे। यद्यपि गांधी यह जानते थे कि सारा समाज इन आर्दशों को जीवन में आधारित नहीं कर सकता फिर भी इन आदर्शों को आधारित करने के लिये शिक्षा के माध्यम से प्रयास होना चाहिये। ऐसा उनका विचार था।

1- हिन्द : 21-4-1915, पृ ० 53-54

गांधी ने विद्यार्थी भवन, कलकत्ता में छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा कि गुप्त षडयंत्रो और हिंसात्मक कार्यों से मनुष्य के कायरता आती है। उन्होंने युवकों को हिंसा से विरत रहने की सलाह दी। मैं अपने नौजवान दोस्तो को सलाह दूंगा कि वे निर्भय और सच्चे बने और धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण करे। यदि उनके पास देश के लिये कोई कार्यक्रम है तो उन्हें चाहिये कि उसे खुले आम जनता के सामने रहे। शिक्षा के माध्यम से गांधी ने युवकों को निर्भय बनने की सलाह दी कि सत्य के लिये बड़ी से बड़ी शक्ति के विरुद्ध युवकों को निर्भीकता और साहस के साथ खड़े होने के सद्‌गुण का विकास करना चाहते थे।

गांधी प्राचीन भारतीय आर्दशों और परम्पराओं के प्रति प्रारंभ से ही आस्थावान थे। भारत में आने के साथ ही स्वागत समारोहों में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वे भारतीय शिक्षा पद्धति को किन आधारभूत मूल्यों पर विकसित करना चाहते थे। शान्ति निकेतन के स्वागत समारोह की व्यवस्था भारतीय ढंग पर की गयी थी जिसकी प्रशंसा गांधी ने की। उनका बम्बई में पाश्चात्य ढंग पर बड़े धूम धाम से स्वागत किया गया था परन्तु उसमें उन्हें सुख देने वालों कोई बात नहीं मिली थी।

गांधी प्रारंभ से ही पाश्चात्य शिक्षा के विरोधी थे। वे प्राचीन भारतीय शैक्षिक मूल्यों के आधार पर पाश्चात्य वैज्ञानिक शिक्षा के आवश्यक मूल्यों को समाहित कर आधुनिक भारतीय शिक्षा का पुर्ननिर्माण करना चाहते थे।

गांधी जी भारत में आने के बाद फिनिक्स के आर्दश को सामने रखकर एक नये जीवन की योजना तैयार करने की व्यवस्थित समस्या की ओर ध्यान दिया। कठोर नैतिक अनुशासन के आदेश को अपने लिये ही नहीं सार्वजनिक प्रश्नों को सुलझाने के लिये नैतिक शक्ति के प्रयोग का उनका जो कार्यक्रम था उसकी सफलता के लिये भी अपरिहार्य मानते थे। इस सब को ध्यान में रखते हुए मई 1915 में उन्होंने अहमदाबाद के पास कोचरब नामक स्थान पर एक आश्रम की स्थापना की। उद्देश्य यह था कि इसे राष्ट्र के आत्मत्यागी सेवको के लिये प्रशिक्षक केन्द्र बनाया जाय। उन्होंने कुछ नियम निर्धारित कर दिये, जिनके अधीन आश्रमवासियों को जीवन व्यतीत करना था।

गांधी जी ने हिन्द स्वराज्य नामक स्व रचित पुस्तक में शिक्षा के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है। यद्यपि उनके शिक्षा संबंधी प्रारंभिक विचार प्रगतिशील नहीं लगते है पर उनमें मनुष्य को बनाने पर बल अवश्य दिया गया है। पाश्चात्य शिक्षा की आलोचना करते हुए गांधी ने लिखा है करोड़ो लोगों को अंग्रेजी शिक्षण देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकाले ने जिस शिक्षण की नीव डाली, वह सचमुच गुलामी की नींव थी, उसने इसी इरादे से यह योजना बनायी, यह मैं नहीं कहना चाहता। किन्तु उसके कार्य का परिणाम वही हुआ है। हम स्वराज्य की बात भी पराई भाषा में करते है, यह कैसी बड़ी दरिद्रता है। वे अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा के पक्षधर नहीं थे। उस समय स्वयं इग्लैण्ड में शिक्षा पद्धति के परिवर्तन का प्रयास किया जा रहा था और भारतीय इसी का अंधानुकरण कर रहे थे। गांधी ने लिखा जिसे उन्होंने भुला दिया है उसे हम मूर्खतापूर्ण चिपटाये रखते है। वे अपनी भाषा की उन्नति करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वेल्स इंग्लैड

का एक छोटा परगना है। इसकी भाषा धुल के समान नगण्य है अब उसका जीर्णोद्वार किया जा रहा है। वेल्स के बच्चे वेल्स में ही बोले, ऐसी कोशिश की जा रही है। इंग्लैड के खजांची लायड जार्ज इसमें बहुत बड़ा हाथ बंटा रहे है। अब हमारी दशा क्या है? हम एक दूसरे को जो पत्र लिखते है, सो गलत सलत अंग्रेजी में। गलत अंग्रेजी से साधारण एम.ए. पास व्यक्ति भी मुक्त नहीं है। हमारे अच्छे से अच्छे विचार प्रकट करने का साधन है अंग्रेजी। हमारी कांग्रेस का कारोबार भी अंग्रेजी में चलता है। हमारे अच्छे अखबार अंग्रेजी में है। यदि लम्बी अवधि तक ऐसा ही चलता रहा तो आने वाली पीढ़ी हमारा तिरस्कार करेगी और हमें उसका श्राप लगेगा ऐसी मेरी मान्यता है उनकी दृष्टि में अंग्रेजी शिक्षण स्वीकार करके जनता को गुलाम बनाया गया। इससे दमन, द्वेष, अत्याचार आदि बढ़े। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों ने जनता को ठगने और परेशान करने में कोई कसर नहीं रखी। इस प्रकार गांधी पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति की कोरी भौतिकवादिता और भोग संग्रहवादी प्रवृति की कटु भर्त्सना करते है।

गांधी ने भारतीय भाषाओं के विकास को हिन्द स्वराज्य में बहुत महत्व दिया है उन्होंने कहा हमें अपनी भाषाओं के द्वारा ही शिक्षा लेनी चाहिये। इस बात का क्या अर्थ है? इसे अधिक समझाने का स्थान नहीं है। जो अंग्रेजी पुस्तके काम की है, हमें उनका अनुवाद करना होगा। बहुत से शास्त्र सीखने का दम्भ और भ्रम हमें छोड़ना होगा। सबसे पहले धर्म अथवा नीति की ही शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रत्येक पढ़े लिखे भारतीयों को अपनी भाषा का हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का, और हिन्दी का ज्ञान सबको होना चाहिए। कुछ हिन्दुओं की अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिये। उत्तर और पश्चिम भारत के लोगों को तमिल सीखनी चाहिये। सारे भारत के लिये जो भाषा चाहिये वह तो हिन्दी ही होगी। उसे उर्दू या देवनागरी लिपि में लिखनें का छूट रहनी चाहिए। हिन्दू और मुसलमानों में सद्भाव रहे, इसलिए बहुत से भारतीयों को ये दोनों लिपियां जान लेनी चाहिए। ऐसा होने पर हम आपस के व्यवहार में अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकेगे।

गांधी ने हिन्द स्वराज्य में पाश्चात्य सभ्यता की खुलकर निन्दा की है। यह एक प्रारंभिक पुस्तक है जिसमें गांधी के उन महत्वपूर्ण और शक्तिशाली विचारों के बीच मिलते है जो बाद में विकसित हुए। हिन्द स्वराज्य में हमें साधन और साध्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सामाजिक सुधार, सभ्यता के अर्थ आदि विषयों पर चर्चा की शुरुआत मिलती है चाहे वह अपरिष्कृत ही हो। इस पुस्तक में उनके मंजे हुए विचार नहीं है पर उन विचारों या संकल्पनाओं के आरंभिक स्वरुप को देखा जा सकता है। इस पुस्तक में किसी विचार ने अंतिम रुप नहीं लिया है।[1]

हिन्द स्वराज्य की ऐतिहासिक और संदर्भ संबंधी व्याख्या करने से यह पता चलेगा कि गांधी गैर लोगों के उन प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे जिन्हें भारत या अन्य उपनिवेशो को सभ्य बनाने का मिशन कहा जाता था। इसका मतलब था कि गांधी जी

1- सेठी, जयदेव : गांधी की प्रासंगिकता : पृ० 23

अपने उन देशवासियों की जो नई शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, विदेशी मालिकों का साथ देने व उनके सामने हाथ जोड़ने की खतरनाक प्रवृत्ति के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे। इस नये पढ़े लिखे वर्ग में डाक्टर, अध्यापक, वकील और इंजीनियर आदि थे जो यूरोपीय सभ्यता की श्रेष्ठता की स्वीकार कर चुके थे। जब गांधी ने इस उदीयमान अभिजात वर्ग को एक ओर विदेशी सत्ता के साथ सहयोग करते और दूसरी ओर जनसाधारण का शोषण करते देखा तो उनकी देशभक्ति की भावना को बड़ी ठेस पहुंची। उन्होंने कहा कि यह देखकर मेरी आंखों से आंसू बह निकलते है। और मेरा गला सूखने लगता है। यह एक ऐसे देशभक्त के वाक्य थे जिसके हृदय में एक नयी आग धधक रही थी।[1]

गांधी के बाद में भी पाश्चात्य शिक्षा की आलोचना द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था मैकाले ने हमारे इस साहित्य का तिरस्कार किया हमें अंधविश्वासी माना। जिन लोगोंने हमारी शिक्षा की योजना बनाई, उनमें से अधिकांश का हमारे धर्म के बारे में गहरा ज्ञान था। कितनों ने ही उसे अधर्म समझा। उन्होंने हमारे धर्म ग्रन्थों को अंधविश्वासों का समुच्य माना। उन्हें हमारी सभ्यता दोषपूर्ण मालूम हुई। यह समझा गया कि हमारा राष्ट्र अवगत है और इसलिए हमारी प्रणालियों में बहुत दोष होने चाहिये। चूंकि रचना नई करनी थी। इसलिए प्रयोजकों ने तत्कालीन परिस्थितियों का ही ध्यान रखा। उन्होंने सारी योजना इस ख्याल को आगे रखकर बनाई कि उन्हें अपनी अक्षमता के लिये वकीलों डाक्टरों और कलर्कों की आवश्यकता होगी और हम सबको नये ज्ञान की जरुरत होगी। इसलिए हमारे जीवन का विचार किये बिना पुस्तक तैयार की गयी और जैसा कि अंग्रेजी में कहावत है गांड़ी के पीछे घोड़ा जोत दिया गया।[2]

गांधी जी प्रारंभ से ही यह विचार व्यक्त किया कि अंग्रेजी शिक्षा भारतीय वातावरण के अनुकूल नहीं है। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में ही फिनिक्स में अपनी शिक्षा का प्रारुप तैयार किया था। उस शिक्षण पद्धति में शरीर श्रम, मातृ भाषा का ज्ञान सभी कर्मों के मौलिक एकता संबंधी विचारों से बालकों को परिचित कराना आदि बातों पर बल दिया गया था। फीनिक्स की पाठशाला के संबंध में गांधी ने लिखा है कि इस पाठशाला का मुख्य उद्देश्य बच्चों के चरित्र का विकास करना है। कहा जाता है कि सच्ची शिक्षा वह है जिसमें बालक स्वयं पढ़ना सीखे, अर्थात इसके ज्ञान प्रात करने का इच्छा उत्पन्न हो। ज्ञान तो बहुत तरह का होता है कुछ ज्ञान हानिकर भी होता है तब यदि बालकों के चरित्र का निर्माण न हो तो वे अंधा ज्ञान सीखने लगते है। हम देखते है कि शिक्षा मनमाने ढंग से दी जाने के कारण ही कुछ लोग नास्तिक हो जाते है और कुछ बहुत पढ़ लिख जाने पर भी बुराइयों में फंस जाते है। इसलिए बालकों के चरित्र को दृढ़ करने में सहायता देना इस पाठशाला का मुख्य हेतु है।[3]

1- सेठी, जयदेवः गाँधी की प्रासंगिकता, पृ० 24

2- गांधी के विचार सृष्टि से उद्धत 20-10-1917

3- स०गा०वा०: पृष्ठ 140

बालकों को उनकी अपनी भाषा अर्थात् गुजराती या हिन्दी और संभव हो तो तमिल और अंग्रेजी, में अंकगणित, भूगोल, इतिहास, वनस्पति विज्ञान और प्रकृति विज्ञान भी पढ़ाये जायेंगे। ऊंची कक्षाओं में बालकों को बीजगणित, और रेखागणित भी पढ़ाया जायेगा। धर्म शिक्षा के लिये मां बाप चाहे जिस धर्म गुरु को भेज सकते है। हिन्दू बालकों को हिन्दू मां बापों की मर्जी के मुताबिक हिन्दू धर्म के मूल तत्वों की समीक्षा की जायेगी। भारतीय ईसाई बालकों को ईसाई धर्म के तत्वों को शिक्षा श्री वेस्ट और कार्डिस देगें। यह शिक्षा थियासफी की शिक्षाओं पर आधारित होगी। इस्लाम मानने वालों बालकों की शुक्रवार को उर्बन जाने की छूट दी जायेगी। हमारा ख्याल है कि किसी भी समाज की शिक्षा उसके धर्म की शिक्षा के बिना निकम्मी है, अतः धार्मिक वृत्ति के माताओं पिताओं का कर्तव्य है कि वे अपने बालकों को धर्म की शिक्षा और लौकिक शिक्षा दोनों साथ साथ दे। गहराई से सोचे तो मालूम होगा कि हम जिसको लौकिक शिक्षा कहते है वह भी धर्म को दृढ़ करने वाली तालीम ही है। हमारे विचार में इस उद्देश्य से हीन शिक्षा प्रायः हानिकार होती है।

बालकों के मन में भारत के प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उनको देशभक्त बनने में सहायता देने के लिए भारत का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास पढ़ाया जायेगा।

फीनिक्स की पाठशाला में पुरुषोत्तम दास देसई (प्रिंसिपल) वेस्ट, कार्डिस कु० वेस्ट आदि शिक्षक थे। इस पाठशाला में मुख्यतया संयम, सर्वधर्म सहिष्णुता तथा नैतिक गुणों के विकास पर विशेष बल दिया जाता था। सबको कामिक श्रम करना अनिवार्य था। वस्तुतः गांधी की शिक्षा की अवधारणा में आध्यात्मिक और नैतिक तत्वों का समावेश फीनिक्स में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के समय से ही हो गया था। हिन्द स्वराज्य में प्रतिपादित शिक्षा संबंधी विचारों के कारण उन पर मध्ययुगीनता का आरोप लगाया गया है लेकिन गांधी लन्दन की उदारदलीय सरकार की प्रजातीय भेदभाव की नीति के कारण अत्यन्त क्षुब्ध थे। कटु आलोचनाओं के बावजूद गांधी अपने विचारों पर अटल रहे। शिक्षा में सरलता, अकृतिमता, नैतिकता और अध्यात्मिकता को महत्वपूर्ण स्थान अपने दक्षिण अफ्रीका के निवास काल में ही देते रहे। उन्होंने टालस्टाय फार्म सत्याग्रह की कड़ाई से उत्पन्न आवश्यकता की दृष्टि में रखकर खोला था। वहां जेल यात्री सत्याग्रहियों के परिवारों को रखा जाता था और भरसक कम खर्च में उनके पालन पोषण की व्यवस्था की जाती थी किन्तु गांधी जी शिक्षा के संबंध में अपने निरुपित विचारों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन का भी प्रयास किया। इस अवसर का उपयोग सहयोग स्वावलम्बन, शरीर श्रम और व्यक्तिगत जीवन में खासकर आहार और सेक्स में संयम पर आधारित सामुदायिक जीवन के नये रुपों के प्रयोग करने के लिये किया। टालस्टाय फार्म ने मानो उनकी भावी जीवन चर्चा की रुपरेखा निश्चित कर दी। उनके आध्यात्मिक विकास में वह एक रचनात्मक दौर का सूचक है। गांधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है विद्यार्थियों के शरीर और मन के शिक्षण की अपेक्षा इनकी आत्मा की शिक्षित करने में मुझे बहुत अधिक श्रम पड़ा। आत्मा का विकास कराने में मैने धर्म की पोथियों का सहारा कम लिया था। आत्म शिक्षण शिक्षा का एक स्वतंत्र विषय है यह बात मैने टालस्टाय आश्रम के बालकों की शिक्षा आरंभ करने के पहले ही समझ ली थी। आत्मा का विकास

करने का अर्थ चरित्र का गठन ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना। आत्म ज्ञान प्राप्त करना। यह ज्ञान प्राप्त करने में बालकों को बड़ी मदद की जरुरत है और यह मैं मानता था कि उसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है और हानिकारक भी हो सकता है।[1]

गांधी ने शिक्षा के माध्यम से छात्रोंमें आत्मज्ञान और चरित्र बल के विकास पर मुख्य रुप से जोर दिया है। आत्मिक शिक्षा कैसे की जाय? बालकों से भजन गवाता था। नीति की पुस्तके पढ़ कर सुनाता था। पर उससे संतोष होता न था। ज्यों-ज्यों उनसे सम्पर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों मैने देखा कि यह ज्ञान पोथियों द्वारा नहीं दिया जा सकता। शरीर की शिक्षा शरीर की कसरत से, दी जा सकती है, दी जानी चाहिए। बुद्धि की बुद्धि से कसरत से, वैसे ही आत्मा की शिक्षा शरीर की कसरत से दी जा सकती है, दी जानी चाहिए। बुद्धि की बुद्धि से कसरत से वैसे ही आत्मा की आत्मा की कसरत से। आत्मा की कसरत शिक्षक के आचरण से ही मिल सकती है। अतः युवकों की उपस्थिति हो या न हो, शिक्षकों सावधान रहना ही चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा के लिये आवश्यक गुणों से युक्त शिक्षकों के संबंधमें उन्होंने कहा कि शिक्षक के आचरण से सत्यनिष्ठा, सदाचार, संयम की ऐसी अभिव्यक्ति होनी चाहिये जो शिष्यों के लिये अनुकरणीय उदाहरण बन सके। जो अध्यापक अपने व्यक्तित्व से छात्र की आत्मा को आन्दोलित न कर सके वह अपने पद के गरिमा के अनुकूल नहीं माना जायेगा। इस संबंधमें उन्होंने लिखा था मैने अनुभव किया है कि अपने साथ रहने वाले बालकों बालिकाओं के सामने मुझे पदार्थ पाठ के रुप में रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य ही मेरे शिक्षक बन गये। अपने लिये नहीं तो उनके लिये ही मुझे भला बनकर रहना चाहिए यह मैने अनुभव किया और मुझे यह कहना चाहिये टालस्टम आश्रम का मेरा अधिकतर समय उन युवक युवतियों का आभारी है।[2]

युवावस्था में भी गांधी अक्षर ज्ञान की शिक्षा के लिये अनिवार्य नहीं मानते थे यद्यपि उसकी उपादेयता की अस्वीकार भी नहीं करते थे स्वयं अपने बच्चों को अक्षर ज्ञान संबंधी शिक्षा उतना नहीं दे सके जितना देनी चाहिये लेकिन माता पिता की अपने आचरण और व्यवहार से किस प्रकार परिवार में उत्तम शैक्षिक वातावरण बनाये रखना चाहिये यह गांधी ने किया यह कह सकता हूं कि उनके चरित्र गठन के लिये जो कुछ करना उचित था वह करने में मैने त्रुटि नहीं की और मैं मानता हूं कि हर मां बाप का यह फर्ज है। मेरी पक्की धारणा है कि मेरी मेहनत के बावजूद मेरे उन बालकों के चरित्र में जहां कोई खामी दिखाई दी है वह हम दम्पति की खामियों का प्रतिविम्ब है। बच्चों का मां बाप की सूरत शक्ल की विरासत भी जरुर मिलती है। इसमें आसपास के बातावरण के कारण अनेक प्रकार की कमी वेशी जरुर हो जाती है पर उसकी पूंजी तो

---

1. सत्य के प्रयोग : पृ० 318
2. सत्य के प्रयोग : पृ० 319

वहीं होती है जो उन्हें बाप दादों की ओर से मिली होती है। मैने देखा है कि ऐसे दोष का विरासत से कुछ लड़के अपने आपको बचा लेते है।[1]

शिक्षा व्यक्ति और समाज में मानवीय सद्‌गुणों का समावेश कर भावी विकास के साधन के रुप में अत्यंत महत्वपूर्ण है इसलिये उसका रुप ऐसा होना चाहिये। जिसमें व्यक्ति का सर्वागीण और सांगोपांग विकास हो सके। गांधी शिक्षाकी इस मूलभूत अवधारँणा को महत्ता से पूर्णतया परिचित थे इसलिए टालस्टाय आश्रम में हर प्रकार की शिक्षा दी जाती थी गांधी का विश्वास था कि आर्दश परिस्थिति में सच्ची शिक्षा माता पिता के पास ही मिल सकती है। आर्दश परिस्थिति में बाहर की सहायता कम से कम होनी चाहिए मैने सोचा टालस्टाय आश्रम एक कुटुम्ब है, और मैं इसमें पिता तुल्य हूँ। इसलिये उन नौजवान युवकों को गढ़ने की जिम्मेदारी मुझे उठानी चाहिये। मैने हृदय की शिक्षा को अर्थात चरित्र के विकास को हमेशा प्रथम स्थान लिया है। और इसकी जानकारी किसी भी अवस्था में और किसी भी तरह के वातावरण में पोषित लड़के.लड़कियों को थोड़ी बहुत कराई जा सकती है, ऐसा सोचकर इन लड़कों और लड़कियों के साथ मैं रात दिन पिता की तरह रहता था। चाल चलन को मैने उनकी शिक्षा का बुनियाद समझा। बुनियाद पक्की होगी तो और सब कुछ बच्चे अवसर पर दूसरो की सहायता से या अपने आप सीख लेंगे।[2]

शारीरिक श्रम तो आश्रम के दैनिक कार्यों के करने से पूरा हो जाता था। पाखाना साफ करने से लगाकर रसोंई तक सब काम आश्रम वासियों को ही करने होते थे। मि० केलनवेक की खेती का शौक था, स्वयं सरकारी आर्दश बागों में जाकर कुछ सीख आये थे। रोज एक खास वक्त पर, छोटे बड़े सबकों, जो रसोई के काम मे न लगें हो, बाग में काम करना ही पड़ता था। इनमें बालकों का बड़ा नाम था। बड़े-बड़े गडढ़े खोदना, पेड़ काटना, बोझा ढोना इत्यादि कामों में उनके शरीर अच्छी तरह गढ़ जाते थे। इन कामों में उन्हें आनन्द आता था और इसमें दूसरी कसरत या खेल की जरुरत न रह जाती थी। गाँधी ने यह निश्चय किया कि सबकों कोई एक उपयोगी धन्धा सिखना चाहियें। इसलिये मि० केलनवेक ट्रपिस्ट मठ में चप्पल बनाना सीख आये उनको गाँधी जी ने सिखाया और जो बच्चें इस धन्धे को सीखने के लिये तैयार हुए उन्हें गाँधी ने सिखा दिया। केलनवेक की बढ़ई के काम का अनुभव था। उसकी भी शिक्षा दी जाने लगी। रसोई बनाना तो लगभग सभी बच्चे सीख गयें थे।[3]

1- सत्य के प्रयोगः अध्याय- 23, पृ० 294

2- सत्य के प्रयोग : पृ० 315, हिन्दी नवजीवन : 29-12-1927

3. सत्य के प्रयोग : पृ० 316

प्रातः काल का समय खेती और घर के काम में जाता था और दोपहर का खाना खाने के बाद पाठशाला चलती थी। अक्षर ज्ञान के लिये अधिक से अधिक तीन घन्टे रखे गयें थे इसके सिवा क्लास में हिन्दी, तमिल, गुजराती और उर्दू सिखनी होती थी। शिक्षा प्रायः बालकों को उनकी मातृभाषा के द्वारा ही दी जाती थी। अग्रेजी भी सबको सिखाई जाती थी। इसके सिवा गुजराती हिन्दू बालकों को थोड़ी संस्कृत का और सबको थोड़ी हिन्दी की ज्ञान करा देना, इतिहास, भूगोल और अंकगणित सबको सिखाना यह टालस्टाय आश्रम का शिक्षण क्रम था।[1]

टालस्टाय फार्म पर किये गये गाँधी जी के शैक्षिक प्रयोगो न ही उन्हें इस योग्य बनाया कि भारत में आकर वह एक सर्वथा- मौलिक शिक्षा योजना का प्रसार कर सके। यहाँ भी उन्होंने साबरमती तथा वर्धा में आश्रम खोले जहाँ इसी शिक्षा योजना की लागू किया। आगे चलकर गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा नई तालीम के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके लिये सेवाग्राम में हिन्दूस्तानी तालीमी संघ स्थापित हुआ।

गाँधी के आधार भूत विचारों को पुष्ट करने वाली बुनियादी शिक्षा उनकी मूल दृष्टि और मान्यताओं को प्रतिविम्बत करती है।[2]

शिक्षा व्यक्तित्व का निर्माण है। गाँधी व्यक्ति को हिस्सो में नही देखते उसकी पूर्णता में देखते है उन्होंने लिखा है मनुष्य न तो सिर्फ बुद्धि है न स्थूल पंशु शरीर, न ही ह्रदय अथवा आत्मा मात्र है। पूर्व मनुष्य बनने में इन तीनों का सस्वरित व अंचल संयोग होना अपेक्षित है। [3]

इस प्रकार गाँधी ने ऐसी शिक्षा पर जोर दिया जो मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करती है जो ज्ञान पिपासा शारीरिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक सौष्ठव प्राप्त करने की चाह को संतप्त करती है। ऐसी शिक्षा द्वारा ही छात्र की सर्वागीण उन्नति हो सकती है।

गाँधी 9 जनवरी 1915 में भारत आये और अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों की मूर्तरूप देने के लिये 20 मई 1915 में उन्होने अहमदाबाद के समीप चख नामक स्थान पर एक आश्रम की स्थापना की । इसका उद्देश्य था कि राष्ट्र के आत्मा त्यागी सेवा के लिये एक प्रशिक्षण केन्द्र बनाया जाय। गाँधी ने कुछ नियम निर्धारित कर दिये जिनके अधीन आश्रमवासियों को अपना जीवन व्यतीत करना था इसके नियम आश्रम के सविधान के मसविदे में दिये गये है। इसमें जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, एवं शैक्षणिक आदि विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित गाँधी का समस्त कार्यक्रम क्रमबद्ध ढंग से दिया गया है।

1- राजानन्दः गांधी दर्शन और शिक्षा, पृ० 71
2- राजानन्द : गांधी दर्शन और शिक्षा, पृ०71
3- हरिजन : 8-5-1937

भारतीय परिस्थितियों का सही आकलन करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचें कि अगर भारत को अपना असली रूप अपनी रचनात्मक शक्ति अक्षुण्ण रखनी है तो शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन करना होगा। उसे ऐसा रूप देना होगा जिसमें आज की तरह किताबी ज्ञान पर अनावश्यक जोर न दिया जाये औरसाथ ही अग्रेजी भाषा की जिसने केन्द्रस्थ स्थान को हथिया लिया है उसे अपदस्थ करना होगा।

इसलिये कोचरब आश्रम में गाँधी ने धर्म, कृषि बुनाई की शिक्षा पर विशेष बल दिया। उसमें शिक्षक विद्यार्थियों को मातृभाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने की व्यवस्था थी। उसमें इतिहास, भूगोल,अंकगणित, भूमिति, बीज गणित, अर्थशास्त्र, आदि विषय रखे गये थे। संस्कृत, हिन्दी और किसी एक द्रविड़ भाषा का शिक्षणअनिवार्य था। अग्रेजी दूसरी भाषा के तौर पर सिखाने की व्यवस्था थी। उर्दू, बंगला, तमिल, तेलगू, देवनागरी और गुजराती लिपियाँ सब को सिखाई जायेगी। समस्त पाठ्यक्रम 10 वर्ष में पूरा करने की व्यवस्था की गई थी। मैं अपना गुजारा कैसे करुंगा इस भय से मुक्त करना इस आश्रम की शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य था। स्वावलम्बन की भावना का विकास इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। भोजन सादा रहेगा। उसमें सूखे और ताजे फलों का विशेष उपयोग होगा। आश्रम में छुटिट्या नही होगी। विद्यार्थियों से कोई मासिक व्यय लेने का नियम नहीं रखा गया किन्तु जिनके मां बाप समर्थ हो, या जो स्वंय सर्मथ थे, उनसे जो कुछ वे दे सकेगें उतना लेने की अपेक्षा की जायेगी। आश्रम की स्थापना के समय सदस्यों की संख्या पैतीस थी। इनमें से चार व्यक्ति सपरिवार रह रहें थे। शिक्षक का कार्य पाँच अध्यापको को दिया गया था। आश्रम के स्थायी सदस्यों मे दो उत्तर भारत के, नौ मद्रास प्रांत के और शेष गुजरात काटियावाड के थे। 20 अक्टूवर 1917 में द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में भाषण देते हुए गाँधी ने कहा था कि शिक्षा स्वराज्य की कुंजी है। सच्चीशिक्षा के बिना देश का विकास संभव नही है। अग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देना देश के लिये अहितकर है। विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने में दिमाग पर जो बोझ पड़ता है,वह असहय है यह बोझ हमारे बच्चे उठा तो सकते है लेकिन उसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ती हैं। वे दूसरा बोझ उठाने लायक नही रह जातें। इससे हमारे स्नातक अधिकतर निकम्में कमजोर, निरुत्साही, रोगी और कोरे नकलची बन जाते है। उनमें खोज करने की शक्ति, विचार करने की शक्ति, साहस, धीरज, वीरता, निर्भयता और अन्य गुण बहुत क्षीण हो जाते है। इस प्रकार मातृ भाषा के विकास के लिये अग्रेजी की नहीं, भातृभाषा के प्रेम की आवश्यकता है। भाषाये उनके बोलने वाले लोगों के चरित्र का प्रतिबिम्ब होती है। इसलिये यदि शिक्षा को चरित्र के विकास का साधन बनाना है तो शिक्षा मातृभाषाओं में दी जानी चाहिये। इस प्रकार उन्होंने मातृभाषा के माध्यम से राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना पर जोर दिया और जो सस्थाये इस प्रकार के शिक्षण कार्य मे लगी थी उनकी प्रशंसा की।

गाँधी ने इस अवसर पर युवकों से डिग्री का मोह छोड़ने का आह्वाहन किया। डिग्री सिर्फ सरकारी नौकरी करने वाले लोगों के काम की चीज़ है परन्तुं जनक्षेत्र की इमारत केवंल नौकरी पेशा लोगों के सहारे नही खड़ी की जा सकती । बिना नौकरी के बहुत से लोग अच्छी तरह जीविकोंपार्जन करते है। इसलिंये केवल राजकीय सेवा

के लोभ में पड़कर अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करना उचित नहीं है। अग्रेजी शिक्षा पद्धति जनजीवन को समुन्नत बनाने के लिये प्रचलित नहीं की गई है। यह तो ब्रिटिश सरकार की राजनीतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये प्रचलित की गई है। इस शिक्षण पद्धति में परिवर्तन आवश्यक है। गाँधी ने कहा था हमारी आधुनिक शिक्षा राष्ट्रीय नहीं है जिसके फलस्वरुप इसमें प्रजा को जो लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिलता। हमारे बालक शिक्षा प्राप्त करते -करते क्षीण हो जाते हैं वे पुरुषार्थ नहीं कर पाते तथा उनके मिले ज्ञान का प्रसार जन समाज में यहा तक कि उनके परिवारों मे भी नही होता।

शिक्षा का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि इसकी रचना समाज के आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर की जानी चाहिये। शिक्षा केवल बुद्धि का चरम विकास की नही करती बल्कि जो इसका लाभ लेते है उनके नैतिक चरित्र को ऊँचा उठाते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा योजना पर प्रकाश डालते हुए परीक्षा पद्धति की भी गाँधी ने आलोचना की । हिन्दूस्तान मे परीक्षाओं जैसे कोई चीज थी ही नही। यह पद्धति अभी हाल ही में शुरू की गई है। अब परीक्षा का बहुत दुरुपयोग होने लगा है, हर एक विषय परीक्षा को ध्यान मे रखकर पढाया जाता है और विद्यार्थी के मन में यह बात अच्छी तरह घर कर लेती है कि परीक्षा में उन्तीर्ण होना ही पर्याप्त है। अध्यापक को भी इसी तरीके से अपना काम करने की आदत पड़ गयी है। इसलिये विद्यार्थियों को ज्ञान मिलता है वह ऊपरी होता है। कोई भी विषय पूरी तरह से नही पढ़ाया जाता।

इस प्रकार बहुत से शिक्षक और विद्यार्थी अपनी कार्यशक्ति सच्ची शिक्षा पर नही बल्कि परीक्षा मे परीक्षक कैसे प्रश्न पूछेगा उस पर विचार करने मे लगाते है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों को परीक्षा के भय से मुक्त किया जाना चाहिये। विद्या सीखने का उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना है, इस बहम को हर प्रकार से दूर करना चाहिये। विद्यालय में खेती और बुनने के काम की शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे किसानो और बुनकरों को लाभ पहुंच सके।

उन्होंने छात्रों को उपदेश देते हुए कहा था पश्चिम की अच्छी नकल और शुद्ध तथा परिस्कृत अग्रेजी बोलने व लिखने की योग्यता से स्वतंत्रता देवी के मन्दिर की रचना मे एक भी ईट नही जुड़ेगी विद्यार्थी जग की जो शिक्षा मिल रही है, वह भूखे नंगे भारत के लिये बहुत महगी है। उसे बहुत थोड़े ही लोग प्राप्त करने की आशा रखते है। इसलिये विद्यार्थियों से यह आशा रखी जाती है कि वे राष्ट्र के लिये अपना जीवन तक न्यौछावर करके अपने को उस शिक्षा के योग्य बनावे। विद्यार्थियों को समाज की रक्षा करने वाले सुधार कार्य में अगुआ बनना ही चाहिये । वे राष्ट्र में जो कुछ अच्छा है उसकी रक्षा करे और समाज में बेशुमार बुराइयाँ घुस गई है उनसे निर्भयता पूर्वक समाज को मुक्त करे।[1]

1. गाँधी : मेरे सपनो का भारत , पृ० 223 एवं यंग इण्डियाः 9-7-1927

लम्बी छुटिट्यों मे विद्यार्थियो को देहात में रहना चाहिये। प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाये चलो, ग्रामवासियों को सफाई का नियम सिखाना, मामूली बीमारियों में बीमारो को दवादारु और देखभाल करने का कार्य करना चाहिये । उन्हें किसानों को चरखा चलाना सिखाना चाहिये।[1]

गाँधी शहरों द्वारा गावों के शोषण के विरोधी थे । उन्होंने लिखा कि शहरवासियों ने आमतौर पर ग्रामवासियों का शोषण किया है, सच तो यह है कि वे ग्रामवासियों के मेहनत पर जीते हैं।[2]

इसलिये शिक्षा को सार्वजनिक बनाने के लिये उसे ग्रामोन्मुखी होना चाहिये । शहरों मे दी जाने वाली अग्रेजी शिक्षा से गाँवों की गरीब जनताकी आवश्यकताओं की पूर्ति नही हो सकती है। लियोनेल कार्टिस ने हमारे गाँवों का वर्णन करते हुए उन्हें धूरे का ढेर कहा है। हमें उन्हें आदर्श बस्तियों में बदलनी चाहिये। हमारे ग्रामवासियों को शुद्ध हवा नही मिलती यद्यपि वे शुद्ध हवा से घिरे हुए है। उन्हें ताजा अन्न नही मिलता यद्यपि उनके चारो ओर ताजा से ताजा अन्न होता है।[3]

शिक्षा के माध्यम से उन्हें आरोग्यता सम्बन्धी ज्ञान कराना चाहिये। ग्रामोद्योगो का विकास होना चाहिये। जब तक शिक्षा सात लाख गांवो में बसे हुए गरीब लोगों के स्तरोन्नयन मे सहायक नही होगी तब तक उसका वास्तविक उद्देश्य पूरा नही होगा। इसलिये ग्रामोद्योगों के परीक्षण द्वारा शिक्षा के उत्पादन कार्य से जोड़कर स्वाश्रयी बनना चाहते थे। शिक्षा मे दस्तकारी या उद्योग के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था- साक्षरता स्वयं कोई शिक्षा नही है। इसलिये मै तो बच्चो की शिक्षा का प्रारम्भ इस तरह करुगा कि उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाई जाय और जिस क्षण से अपनी तालीम शुरू करे उसी क्षण , उसे उत्पादन का काम करने के योग्य बना दिया जाय।[4]

गाँधी शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे जिसे उसे निःशुल्क और अनिवार्य बनाने में आर्थिक बाधा न उपस्थित हो । उसका परिणाभ यह होगा कि शिक्षा गरीब से गरीब ग्रामवासियों को भी उपलब्ध हो सकेगी । शिक्षा को सार्वजनिक और स्वावलम्बी बनाने के लिये उसे ग्रामोद्योग से जोड़ना आवश्यक है। इससे ग्रामोद्योग की तकनीक में सुधार होगा और उनका विकास होगा। उन्होंने इसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए यह विचार व्यक्त किया । इस प्रकार कताई और बुनाई जैसे ग्रामोद्योगो द्वारा प्राथमिक शिक्षा देने की योजना मे मेरी कल्पना यह है कि वह ऐसी शांत सामाजिक क्रान्ति की अग्रदूत बने, जिसमे अत्यंत दूरगामी परिणाम भरे हुए है। इससे नगर और ग्राम के सम्बन्धों का एक स्वास्थप्रद और नैतिक आधार प्राप्त होगा और समाज की मौजूदा अरक्षित अवस्था और वर्गो के परस्पर विषाक्त सम्बन्धी कुछ बड़ी से बड़ी बुराइयों को दूर करने में बड़ी सहायता मिलेगी।[5]

---

1. गाँधी : मेरे सपनों का भारत , पृ० 236
2. हरिजन : 4-4-1936
3. हरिजन : 4-4-1936
4. गाँधी : सर्वोदय , पृ० 156 एवं हरिजन: 31-7-1937
5. गाँधी : सर्वोदय,पृ० 157

इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से लधु कुटीर उद्योगों की स्थापना के समर्थक थे। विशाल उद्योगों की स्थापना से पूजीपति वर्ग का विकास होगा। और मजदूर वर्ग उससे संघर्ष करने लगेगा। इस प्रकार वर्ग संधर्ष की सम्भावना को प्रारम्भ से ही शिक्षा के माध्यम से दूर करना चाहते थे। वल्कि मनुष्य के सर्वोनमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे। चरित्र निर्माण, आध्यात्मिक विकास, सर्वधर्म सम्भाव का विकास तथा आर्थिक विकास करना चाहते थे।

गाँधी की इस धार्मिकता के कारण तथा पाश्चात्य शिक्षा के विरोध के कारण बाभपंथी शिक्षाविदों ने गाँधी की बहुत आलोचना की है। ए० आर० देसाई ने गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए लिखा है सरकारी शिक्षा के धर्मनिरपेक्ष चरित्र पर आघात कर गाँधी जैसे नेताओं ने इस शिक्षा के प्रगतिशील तत्वो पर हमला किया पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा का स्थान है। इस तरह का उनका सुझाव प्रतिक्रियावादी था गाँधी ने विद्यामन्दिर योजना को विकसित किया। उन्होंने इसको शिक्षा की बहुशिल्पीय योजना कहा, क्योकि इसमे व्यक्ति के सर्वागीण विकास के लिये सैद्धान्तिक और प्रोद्योगिक दोनो का स्थान था। बहुशिल्पीय शिक्षा का सिद्धान्त तो प्रगतिशील था लेकिन अब यूरोप में इस शिक्षा का सिद्धान्त तो निरुपित हुआ तो उसका अर्थ था आधुनिक सैद्धान्तिक ज्ञान और आधुनिक उद्योगो का समन्वय। लेकिन गाँधी ने आधुनिक शिक्षा पर धर्म का मुलम्मा चढ़ायाऔर इसे बीते हुए युग के हस्तशिल्प से जोड़ दिया। आधुनिक शिक्षा आधुनिक सामाजिक आर्थिक स्थितियों मे जन्मी थी और उनका पथ प्रदर्शन कर रही थी। गाँधी का प्रयोग पुरातन शिल्पी और आधुनिक शिक्षा का अनैतिहासिक प्रयोग प्रस्तुत करता है। अवास्तविक और अनैतिहासिकता पर आधारित ऐसी शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं का व्यापक समर्थन नही मिल सकता था और न मिला।[1]

गाँधी उपयोगी पुरानी परम्पराओं को पुनर्जीवित करना चाहते थे। इसमें कोई सन्देह नही । पाश्चात्य शिक्षा की अधांनुकृति से उन्हे धोर घृणा थी। कोरी भौतिकवादी और पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष शिक्षा को भारतीय वातावरण के अनुकूल नही मानते थे। विदेशों से आयातित अंग्रेजी शिक्षा को भारत में जनाधार नहीं मिल सकता था। अभिजात वर्गीय शिक्षा पद्धति अत्यंत व्यय साध्य थी। इसलिये गावो की गरीब जनता के पहुच के बाहर थी । वैज्ञानिक शिक्षा का विरोध गाँधी ने नही किया बल्कि उसकी कोरी भौतिकता से उत्पन्न पैशाचिकता का विरोध किया । गाँधी पाश्चात्य शिक्षा की सुखवादी और भोगवादी प्रवृत्ति के कट्टर विरोधी थे।

गाँधी ने देखा कि जब तक कोटि-कोटि जनो का जीवन अहिंसा के नूतन आधार पर गठित नही होता, कोई भी आन्दोलन या कार्य बहुत दूर तक नही चल सकता। सर्वग्राही क्रान्ति के लिये समग्रजीवन का प्रशिक्षण नूतन आधार पर होना चाहिये। शिक्षा वह वस्तु है जो रूचि आधार पर प्रतिष्ठित होने पर जीवन की दृष्टि ही बदल सकती है । इसलिये जीवन के उत्तरकाल में उन्होने शिक्षा मे अहिंसा लाने और

1. देसाईः भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ० 125-126

उसे उपयुक्त आधार पर खड़ा करने की चेष्टा की । इसे ही जीवन, शिक्षण, बुनियादी तालीम, उद्योग शिक्षण इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता रहा है। आजकल सामान्य बोलचाल में, अक्षर ज्ञान या साक्षरता की शिक्षा को पर्याय माना जाता है गाँधी जी ने इस विश्वास पर जोर के साथ प्रहार किया। उन्होने बार-बार कहा कि साक्षरता शिक्षा नही है। निरक्षर व्यक्ति शिक्षित और सक्षर व्यक्ति अशिक्षित हो सकते हैं।

शिक्षा का अर्थ है अपने को बाहर ले जाना अर्थात् मानव के अन्दर जो शक्ति छिपी हुई है या मूर्छित पड़ी हुई है उसे विकसित करना, उद्‌बुद्ध करना। इसलिये सच्ची शिक्षा और साक्षरता के बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है। गाँधी जी शुरू से मानते रहे कि शिक्षा का उद्देश्य सदाचरण है। सच्ची शिक्षा तो बच्चो के चरित्र निर्माण में है।[1]

मानव के लिये ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना व्यर्थ और बोझ न बन जाय। बम्बई में छात्रों के पुरस्कार वितरण के अवसर पर भाषण देते हुए गाँधी जी ने कहा था तुमने जो भी ज्ञान प्राप्त किया है उसका लाभ तुम्हें उसी हद तक मिलेगा जिस हद तक तुमने उसे हृदयंगम किया होगा। इस प्रकार उनकी स्पष्ट धारणा था कि ज्ञान का बोझ छात्र पर नही लादना चाहिये। जितनी शिक्षा विद्यार्थी स्वभावतः आत्मसात कर सके उतनी ही शिक्षा देनी चाहिये।[2]

शिक्षा हमारा साध्य नही है साधन है। इसलिये पुस्तकीय ज्ञान ही शिक्षा का लक्ष्य नही होना चाहिये । शिक्षा व्यवहारिक और चरित्र प्रधान होनी चाहिये जिससे मनुष्य सच्चा मनुष्य बन सके।

गाँधी के अनुसार वर्तमान शिक्षा प्रणाली शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य से बहुत दूर हट गई है संस्कृति आत्म साक्षात्कार के लिये साधना और तपस्या को लेकर चलती है जबकि आधुनिक शिक्षा अच्छे से अच्छे रूप मे केवल बुद्धि विकास की एक प्रक्रिया है। मानव है आत्मा' मन और शरीर का समन्वय । आज की शिक्षा मे तो आत्मा का कोई स्थान ही नही रह गया है। सम्पूर्ण शिक्षा मानसिक या बैद्धिक है या शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति ही उसका ध्येय है। बैद्धिक कार्य श्रेष्ठ है ऐसी झूठी मान्यता ने प्रवंचनापूर्ण जीवन की सृष्टि की है और हाथ या शरीर से काम करना नीचे दर्जे का काम मान लिया गया है आधुनिक शिक्षा में शरीर और मन का समन्वित विकास होता नही। इसलिये उन्होंने जोर देकर कहा कि शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नही बल्कि अच्छा बनना और देश सेवा करना है। यदि यह उद्देश्य सफल न हो तो शिक्षा पर किये गए खर्च को बेकार समझ सकते हैं।[3]

शिक्षा कैसी होनी चाहिये? इस पर प्रभाव डालते हुए गाँधी जी ने पालमाल गजट के लेखक का उद्धरण देते हुए कहा था शिक्षा का वास्तविक कार्य मनुष्यता सिखाना है। ज्ञान केवल साध है साध्य नहीं। शिक्षा को लोकसेवा की भावना पैदा करना

1. इण्डियन ओपिनियन : 2-9-1914
2. इण्डियन ओपिनियन : 15-7-1914
3. इण्डियन ओपिनियन : 9-3-1907

चाहिये । गाँधी जी के मतानुसार सच्ची शिक्षा का लक्ष्य अच्छे मनुष्य पैदा करना है जो समाज के विकास में शारीरिक और मानसिक दोनो रूपों में सक्रिय सहयोग दे सके। उन्होने साक्षरता और पुस्तकीय ज्ञान को ही उत्तम नहीं माना है।[1]

शिक्षा को स्वावलम्बी या स्वाश्रयी होना चाहिये। यह सूत्र ऐसा था कि जो लोग उनकी शिक्षा योजना की केन्द्रीय दृष्टि को मानते थे उन्हे भी इस विषय मे शंका थी । ऐसी संभव है वे यह नही मानते थे। इस सम्बन्ध मे जितने भी प्रयोग किये गये, किसी में पूरी सफलता मिली हो, ऐसा नही कहा जा सकता ।परन्तु गाँधी जी इस पर बहुत जोर देते थे उनका कहना था कि यदि इस योजना को सफलतापूर्वक चलाना है या उसका पूर्ण फलितार्थ प्राप्त करना है तो उसे स्वाश्रयी होना ही चाहिये। कम से कम शिक्षक के वेतन का खर्च तो उद्योग से उत्पन्न वस्तुओं के विक्रय से ही निकलना चाहिये। उनका यह अभिप्राय नही था कि बिल्कुल आरम्भ से ही ऐसा हो जायेगा किन्तु उनका यह मत अवश्य था कि यदि शिक्षक इस तरह के शिक्षण देने के शास्त्र में पारंगत है, साथ ही यह यज्ञ भाव से मन लगाकर छात्र में अपने अनुभव ज्ञान और कौशल को प्रास्थापित करता है तो छात्र इस उद्योग मे ही इतना रह पाने लगेगे कि अधिकाधिक कुशलता से वस्तुओं का निर्माण करेगें और उनकी शिक्षा अधिकाधिक स्वावलम्बी होती जायेगी।

गाँधी द्वारा प्रवर्तित शिक्षा की विशेषता यह है कि वह गांवो में हजारो साल से चले आये पेशो और घरेलू उद्योग धन्धो को अपदस्थ नही करती बल्कि घर और अपने ही समाज मे रखकर छात्र को इन उद्योग धन्धो में शास्त्रीय रुप से कुशल बनाती और श्रम प्रधान उन उद्योगों के प्रति उनमें गौरवकी भावना जगाती है। यह शिक्षा इन छात्रों को अपने घर गांव के प्रति तिरस्कार रखने वाले शहरियों के रूप में नही, स्वजनों के प्रति, गांव के प्रति, समाज एवं देश के प्रति महत्व रखने वाले त्यागी उद्योगी और सेवक मान्यताओ के रूप में विकसित करती है। यहाँ मानवता अपने घर में पलती है अपने घर, गांव की सेवा एक परिष्कार का केन्द्र बनती है और प्रवंचना के दिखाऊ जीवन से दूर रहकर सादगी और सच्चरित्रता का पाठ पढ़ती है। उसकी योग्यता का, शिक्षा का लाभ घर गांव को मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि कोरी बौद्धिक शिक्षा मानव मे जो झूठा अहंम्, विकृत विलास दृष्टि और अधिकाधिक प्राप्त करने की लालसा उत्पन्न कर वर्ग भेद की पुष्टि करती है उससे यह शिक्षा पद्धति हमे बचा लेती है । हाथ और दिमाग, शरीर श्रम एवं बुद्धि दोनो को इसमे पूरी अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

उनका विचार था कि उद्योग को शिक्षा का माध्यम बना देने से आज की शिक्षा जो शरीर श्रम शून्य और कोरीं किताबी हो गई है उसका यह दोष दूर ही जायेगा। हाथ और दिमाग, शरीर श्रम और बौद्धिक क्षमता के बीच सन्तुलन स्थापित होगा। विद्यार्थी अपने ही घर के आस पास शिक्षा प्राप्त करेगा। ऐसी शिक्षा जिसका उपयोग पीढ़ियों से चले आये हुए उसके पैतृक धन्धों के परिष्कार और विकास में होगा। तथा

---

1. गुजराती हिन्द स्वराज्य : अध्याय 18

आज की शिक्षा के कारण समाज में ऊचँ नीच की भावना, वर्ग भेद, वर्ग द्वेष, शरीर से किये जाने वाले उपयोगी कार्यो के प्रति अरुचि इत्यादि जो दुर्गण और दोष फैलते है इनका भी बहुत दूर तक नियंत्रण हो जायेगा।

राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों की शिक्षा पद्धति का विरोध करते हुए उसे राष्ट्रीय आदर्शों के आधार पर पुनर्गठित करना चाहते थे। यदि जनता को समझाये जा सके। कि सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा क्या है और उसके प्रति रुचि जाग्रत की जा सके तो सरकारी स्कूलों मे कोई झाकेगा भी नही और जब तक सरकारी संस्थाओं मे दी जाने वाली शिक्षा का ढंग बुनियादी तौर पर बदल कर उसमें राष्ट्रीय आदर्शों का समावेश नही किया जाता तब तक लोग उसे नही अपनायेगे।[1]

गाँधी जी ने शिक्षा और मनुष्यता के सम्बन्धों का विवेचन करते हुए कहा था हम मनुष्य बने यह पहली शिक्षा है मनुष्य ही अक्षर ज्ञान के योग्य है। जो लोग मनुष्यत्व खो बैठे है उन्हे शिक्षित कर आप क्या पायेंगे? मात्र पुस्तकीय ज्ञान से मनुष्यत्व नही आता।[2]

इस प्रकार शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य को सच्चे अर्थ में मनुष्य बनाना है। जो शिक्षा मानवीय सद्‌गुणों के विकास में योग नही देती और व्यक्ति के सर्वागीण विकास का मार्ग नही प्रशस्त करती वह शिक्षा अनुपयोगी है। इसलिये गाँधी जी ने कहा था मेरे विचार से मानव बनना ही अत्यंत महत्वपूर्ण शिक्षा है।[3]

यही शिक्षा सच्ची शिक्षा है जो स्वतंत्रता का मार्ग दर्शन करती है केवल वही उच्च शिक्षा है जो हमे अपने धर्म का संरक्षण करने के लिये समर्थ बनाती है । पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अंधानुकरण के कारण भारतीय शिक्षा में विदेशीपन की फलक स्पष्ट दीख पडती है। इससे भारत का उत्थान संभव नही है। माँ बाप, आचार्य, सबने प्राचीन आर्दशों और मूल्यों का परित्याग कर दिया । जिसके कारण विद्यार्थियों में भी मूल्यबोध का ह्रास हो गया है।[4]

इस प्रकार गाँधी जी के विचार से पाश्चात्य सभ्यता के आयातित आर्दशों से प्रेरित शिक्षा से भारत का कल्याण नही हो सकता। आधुनिक शिक्षा को प्राचीन भारतीय आर्दशों और विचारों से प्रेरणा लेनी चाहिये। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है जो ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करने से ही हो सकता है। शिक्षण का हेतु तो है बालको की आत्मा को जाग्रत करना, उसे प्रकाशित करना, उसके शरीर, उसकी बुद्धि और उसकी आत्मा की विकसित करना।

राष्ट्रीय पाठशालाओं की हस्ती इसलिये है कि केवल परीक्षा की कृत्रिम शिक्षा पाप से मुक्त हो जाय। गाँधी जी के विचार में शिक्षा का लक्ष्य शरीर, बुद्धि और आत्मा

---

1. इण्डियन रिव्यू : 8-4-1918
2. नवजीवन : 11-7-1920
3. नवजीवन : 10-10-1920
4. नवजीवन : 18-11-1920

के विकास पर समान रूप से बल देना कोरी बौद्धिक शिक्षा से समाज का संतुलित विकास संभव नही है। विद्यार्थी को निर्भिक होना चाहिये। गाँधी जी ने कहा है निर्भयता ही सब शिक्षाओं की जड़ है। यहाँ से उन आदेशों और मूल्यों को आरोपित करना चाहते जिससे उनका चरित्र बल बढ़े जिससे राष्ट्रीय चरित्र का समुचित विकासहो सके । छात्रो के चरित्र बल के विकास पर जोर देते हुए गाँधी जी ने कहा था चरित्रहीन शिक्षा और आत्मशुद्धिरहित चरित्र का कोई महत्व नही है। उनकी दृष्टि में शिक्षा को विद्यार्थी में अध्यात्मिक और नैतिक गुणो का विकास करना चाहिये। उन्होने धर्मराज कालेज केराडी (लेका) के छात्रों के समस्त भाषण देते हुए कहा था यदि आप की शिक्षा सत्य एवं पवित्रता की कठोर नींव पर आधारित नही है तो वह बिल्कुल निकम्मी है।

गाँधी जी शिक्षा और सस्कृति में समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। वे आधुनिक शिक्षा की प्राचीन भारतीय सस्कृति के आधार पर विकसित करना चाहते थे। जिससे छात्र अच्छे संस्कारों को आत्मसात कर सके। इस विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए कहा था 'कल्चर' का अर्थ है 'संस्कारिता' । एज्यूकेशन का अर्थ है साहित्य ज्ञान । साहित्य ज्ञान साधन है । संस्कारिता साध्य वस्तु है। साहित्य ज्ञान के बिना भी संस्कारिता आती है। जैसे यदि कोई बालक शुद्ध संस्कारी परिवार में पलकर बड़ा हो तो उसमें संस्कार अपने आप उत्पन्न होगे।

आज की शिक्षा और संस्कारिकता के बीच इस देश में तो कोई मेल नही है। इस शिक्षा के होने पर भी शिक्षितो में संस्कारिकता रही है । इससे मालूम होता है कि हमारी संस्कारिकता की जड़े बहुत गहरी पहुची हुई है। प्रचलित शिक्षा प्रणाली में धर्म और नैतिकता को उचित स्थान नही मिला है। इसलिये वर्तमान शिक्षा पद्धति अधूरी है। गाँधी जी ने इसके सम्बन्धमें कहा है शिक्षा एक स्वतंत्र धर्मदर्शन है। शिक्षा का अर्थ साधना है वह तो धर्म का सर्वस्व है।

शिक्षा जीवन का एक अंग नहीं है बल्कि शिक्षा में जीवन का सर्वाग आ जाता है और आना चाहिये। इस जीवन दर्शन का जिसे साक्षात्कार हुआ है वही शिक्षा का कृषि है वही शिक्षा पथ को प्रदीप्त करेगा, वही धर्मकार है क्योकि समाज धारणा के रहस्य उसे अवगत है।[1]

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा को अपने आप को 'ईश्वर को' सत्य को पहिचाने। शिक्षामात्र आत्मोन्नति के लिये होती है इसलिये इस प्रकार की शिक्षा लेनी चाहिये जिससे यह उन्नति हो । सदाचार और निर्विकार जीवन ही सच्ची शिक्षा का आधार स्तम्भ है। इस विचार का गंभीरता के साथ प्रचार करना चाहिये।[2]

आज की सारी शिक्षा तो मुझे पाखण्ड मालूम होती है। गाँधी जी के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली भारत के लिये अनुपयुक्त है ।

कटक की एक सार्वजनिक सभा मे पूछे गये एक प्रश्न का उत्तर देते हुए अग्रेजी शिक्षा की आलोचना करते हुए गाँधी जी ने कहा था **यह शिक्षा प्रणाली एक खालिस बुराई है। मैं इस शिक्षा प्रणाली को नष्ट करने के लिये अपनी शक्ति लगा रहा हूँ । मैं**

---

1. हिन्दी नवजीवन : 23-1-1930
2. हरिजन सेवक : 3-5-1935

यह नहीं कहता कि हमें इस प्रणाली से कोई भी लाभ नहीं मिला है। लेकिन अभी तक जो लाभ मिले है वे उस प्रणाली के कारण नही बल्कि उसके बावजूद मिले है। मेरा कहना यह है कि शिक्षा का मूल्याकन आप उसकी सच्ची समता और उसकी गरिमा के आधार पर करे। अग्रेजी शिक्षा ने हमे नपुंसक बना दिया है और हमारी प्रज्ञा कुंठित करदी है। जिस तरह यह शिक्षा दी जाती है उसके कारण हम कमजोर और कायर बन गये है। हम स्वतंत्रता की धूप तो सेकना चाहते है,परन्तु दास बनाने वाली यह पद्धति हमारे राष्ट्र की नपुंसक बनाये डाल रही है। यह एक शैतानी प्रणाली है मैने इस प्रणाली की नष्ट करने के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया है।[1]

वर्तमान शिक्षा पद्धति हमें अंग्रेजी साहित्य का विवेकपूर्ण उपयोग को अवसर न देकर गुलाम बनाती है । 19वीं शताब्दी में जो महान व्यक्ति पैदा हुए वे अग्रेजी शिक्षा के कारण ही नहीं पैदा हुए । यदि अग्रेजी शिक्षा का कुप्रभाव नही पड़ा होता तो वे और अधिक महान हुए होते। गांधी जी ने अपने इन विचार को स्पष्ट करते हुए। यंग इण्डिया में लिखा था यदि तिलक और राममोहन को अग्रेजी शिक्षा की छूत न लगी होती तो वे अपेक्षाकृत महान व्यक्ति हुए होते।[2]

वस्तुतः वे अंग्रेजी शिक्षा को मिथ्या महत्व देने के विरोधी थे। मैं अग्रेजी शिक्षा से घृणा नही करता । मैं अंग्रेजी सरकार की जड़ अवश्य उखाड़ना चाहता हूँ पर अंग्रेजी भाषा को नष्ट करना नही चाहता। मै एक भारतीय राष्ट्र प्रेंमी के रूप में उसका अध्ययन करना चाहता हूं। राममोहन और तिलक ऐसे व्यक्ति थे जिनका चैतन्य, शंकर, कबीर और नानक की तुलना में जनता पर प्रभाव नहीं था । राजाराममोहन और तिलक इन महात्माओं के सामने बोने ही थे। शंकर ने अकेले जो कार्य किया अंग्रेजी जानने वालो का विशाल समूह भी सम्पन्न नही कर सकता। यदि इस जाति का पुनजार्गरण करना है तो अग्रेजी शिक्षा के माध्यम से इसका पुर्नजागरण सम्भव नहीं है।[3]

उच्च शिक्षा के संबन्ध में स्पष्ट विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि वे ऊँची से ऊँची शिक्षा के विरोधी नही थे। उनके अनुसार यदि राज्य को जहां ऊँची शिक्षा की जरूरत हो वहांइसका व्यय उसे उठाना चाहिये । वे साधारण आमदनी द्वारा सम्पूर्ण उच्च शिक्षा के लिये सम्पूर्ण व्यय का भार उठाने के खिलाफ थे।उनका निश्चित विश्वास था कि कालेजो में साहित्य को जो इतनी सारी तथाकथित शिक्षा दी जाती थी वह सब व्यर्थ थी और उसका परिणाम शिक्षित वर्गों की बेकारी के रूप मे सामने आया। यही नही बल्कि जिन लड़के, लड़कियो को उन कालेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इसने चौपट कर दिया था। अन्त मे उन्होने कहा था कि विदेशी भाषा के माध्यम ने जिसके द्वारा भारत में उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुचाया है। अभी हम अपने जमाने के इतने नजदीक है कि इस नुकशान का निर्णय नही कर सकते।[4]

---

1. यंग इण्डिया : 13-4-1921
2. यंग इण्डिया : 13-4-1921
3. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 13-4-1921
4. हरिजन सेवक : 7-7-1938

यद्यपि गाँधी जी उच्च शिक्षा के विरोधी नही थे। लेकिन उस उच्च शिक्षा के अवश्य विरोधी थे जो हमें देश में दी जा रही थी। विश्वविद्यालयों को स्वावलम्बी बनाने के पक्ष में थे। उच्च शिक्षा का क्षेत्र मे पश्चिम का अनुसरण करने से कोई लाभ नहीं हो सकता था। उनके अनुसार हमे और हमारे बच्चो को अपनी खुद की विरासत बनानी चाहिये अगर हम दूसरों की विरासत लेगे तो अपनी नष्ट हो जायेगी।

शिक्षा का माध्यम :

गाँधी जी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाने के पक्ष में थे। अग्रेजी भाषा के प्रति बढ़ती हुई रुचिसे गाँधी जी बहुत चिन्तित थे। विदेशी भाषा के माध्यम से अपनी संस्कृति और धर्म की वास्तविक शिक्षा नही दी जा सकती । गाँधी जी ने मातृभाषा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था हम तो भारतीय भाषाओं को पढ़ना, आवश्यक इसलिये मानते है कि अपनी भाषा के ज्ञान के बिना कोई सच्चा देशभक्त बन ही नही सकता। मातृभाषा के ज्ञान के बिना हमारे विचार विकृत हो जाते है और हृदय से मातृभूमि का स्नेह जाता रहता है। भारत के साहित्य और धर्म को विदेशी भाषा के माध्यम से कभी नही समझा जा सकता । उपनिवेश में उत्पन्न हुए नवयुवको की तीव्र बुद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भी हमे उनमें वस्तु की कमी दिखाई देती है कि उन्हें वास्तविक विचार इतिहास और साहित्य का ज्ञान नही होता। उनमें से अधिकांश अग्रेजी के अतिरिक्त और कोई भाषा नही बोल सकते। कुछ एक को अपने मातृभाषा का केवल बोल सकने योग्य ज्ञान है,परन्तु भारत की उच्च भाषाओं को कोई बिरला ही पढ़ लिख सकता है। यह दशा अत्यंत शीचनीय है।[1]

इस प्रकार गाँधी जी दासता से मुक्ति पाने के लिये विदेशी भाषा का वहिष्कार आवश्यक मानते थे। उनके विचार से राष्ट्रीयता और देश प्रेंम की भावना पैदा करने के लिये भारतीय भाषाओं का अध्ययन आवश्यक था । उनकी स्पष्ट धारणा थी कि अतीत की विस्मृत कर नये भारत के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि दासता की श्रृंखलाओं की तोड़कर स्वतंत्र भारत का नव निर्माण करना था तो वह निर्माण भारत के अतीत की अच्छी बातो को अपनाकर ही किया जा सकता था और भारत के अतीत के ज्ञान के लिये मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम होना आवश्यक था। गाँधी विदेशी माध्यम से शिक्षा के विरोधी थे क्योकि विदेशी भाषा के माध्यम से सही शिक्षा नही दी जा सकती। मातृभाषा के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा बच्चो को सरलता से ग्राह्य होती है। बिना देशी भाषाओं के विकास के भारत का वास्तविक विकास नही हो सकता। हम अपने विचार जितनी स्पष्टता से अपनी मातृभाषा में अभिव्यक्त कर सकते है उतनी स्पष्टता से अंग्रेजी में नहीं कर सकते। अग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम बन गई है जिससे देश को बड़ी भारी हानि पहुंची है और मैं समझता हूँ कि यदि गत् पचास वर्षों से हम

---

1. इण्डियन ओपिनियन : 7-12-1912

लोगो को उच्चतर ज्ञान की शिक्षा देशी भाषाओं में ही मिलती तो इस समय तक हम लोग अपने लक्ष्य के बिल्कूल निकट पहुंच गये होते।[1]

शिक्षा के माध्यम के रूप मे देशी भाषाओं के उपयोग के प्रश्न को वे राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न मानते थे। देशी भाषाओं की उपेक्षा की अर्थ था राष्ट्रीय आत्मघात । हमारा देशी भाषाओं के प्रति आश्वस्त न रहना अपने आप में आश्वस्त न होने का चिन्ह है और यह हमारी अवनति का पक्का लक्षण है। यदि हम उस भाषा का जिसमें हमारी माताये बोलती है आदर नही करते तो स्वशासन की कोई भी योजना हमें स्वशासित राष्ट्र नही बना सकती चाहे वह कितनी हो शत्रु भावना से या उदारता से क्यो न की जाय।

गाँधी के अनुसार मातृभाषा का अनादर माँ के अनादर के बराबर है, जब तक मातृभाषा में विचार प्रगट करने की शक्ति नही आ जाती और जब तक वैज्ञानिक शास्त्र मातृभाषा मे नहीं समझाये जा सकते तब तक राष्ट्र को नया ज्ञान नही मिल सकेगा। वस्तुस्थिति तो यह थी कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति में शिक्षित लोगो का एक ऐसा वर्ग बन गया जिसका अन्य देशवासियो से सम्पर्क टूट गया था। शिक्षा का माध्यम अग्रेजी होने के कारण युवको पर जो बुरा प्रभाव पड़ा है उसका गाँधी जी ने उल्लेख करते हुए कहा था, कि शिक्षित वर्ग और जनता के बीच अन्तर पड़ जाता है। हम जनसाधारण को नही पहिचानते । जनसाधारण हमें नही जानता । वे हमें साहब समझते है और हम से डरते है, वे हम पर भरोसा नही करते। यदि यही स्थिति अधिक दिन तक कायम रही तो एक दिन लार्ड कर्जन का यह आरोप सही हो जायेगा कि शिक्षित वर्ग जन साधारण का प्रतिनिधि नही है। उन्होने आगे कहा कि हमें अग्रेजी शिक्षा देने में मैकाले का हेतु शुद्ध था पर उसके मन में हमारे साहित्य के प्रति तिरस्कारका भाव था। वह छूत हमें भी लग गई, हम भी मूढ़ हो कर इसका तिरस्कार करने लगे और इसी मामले में अपने गुरू से भी आगे बढ़ गये। मैकाले सोचता था कि हम जनसाधारण में पश्चिमी सभ्यता के प्रचारक बन कर जायेगे। उसकी कल्पना यह थी कि हमसे कुछ लोग अंग्रेजी पढ़ कर अपना चरित्र उन्नत करके जनता को नये विचार देंगे। हम ने अंग्रेजी शिक्षा में धन प्राप्ति को देखा और उसके उपयोग को सर्वाधिक प्रमुख स्थान दे डाला। कुछ लोगो ने अपने देश का अभिमान भी पैदा हुआ। इस तरह मूल विचार गौण हो गया और अग्रेजी भाषा का प्रचार श्री मैकाले की धारणा से भी आगे बढ़ गया किन्तु इससे हम घाटे में रहे। वस्तुतः उनके विचार में देश का शिक्षित समाज विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाकर अशक्त हो रहा था। इस शिक्षा से जो शक्ति वह प्राप्त कर रहा था उसका लाभ देश को नही मिल पा रहा था। इस सम्बन्ध में गाँधी जी ने कहा था शिक्षा के मिथ्या के रुप में देशी भाषाओं का सवाल राष्ट्रीय महत्व का है। देशी भाषा का अनादर राष्ट्रीय आत्महत्या है।[2]

---

1. हिन्दू (अंग्रेजी) : 17-2-1916
2. गाँधी : विचार सृष्टि

बुनियादी शिक्षा :.

जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के आदर्श हमारे सामने रखे। उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र मे भी उन्होनें जो लक्ष्य रखे उसका मुख्य उद्देश्य यह था कि पाठशालाओ में मानवता और सदाचार की दिव्य भावनाये जीवन सूत्र में पिरो दी जाय। प्रत्येक छात्र को अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हो। जन्मभूमि से प्रेम होने का अर्थ है उसका जनता से प्रेम होना, ग्रामीण जीवन से प्रेम होना और ग्रामो में होने वाले उद्योग धंधो का ज्ञान होना। उसके विपरीत ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजो के माध्यम से जिस शिक्षा पद्धति को हमारे देश में चलाया उसने कुछ पढ़े लिखे बाबू पैदा किये और उन बाबूओ तथा अंसख्य ग्राम वासियो भोली भाली जनता के बीच बहुत गहरी खाई खोद दी। विदेशी शिक्षा पद्धति की दूसरी त्रुटी यह थी कि वह वच्चो के मनोविज्ञान उनकी आवश्यकताओं, उनकी सहज प्रवृत्तियो को सन्तुष्ट करने में असमर्थ थी। गांधी जी के शिक्षा का मूल उद्देश्य किसी न किसी उद्योग धंधो के माध्यम से ही सभी विषयो का ज्ञान कराना था। कताई, बुनाई, बढ़ई गिरी, लोहे का काम, चमड़े का काम, खेती, बागवानी, आदि अनेक ऐसे धंधे है जिसके आधार पर भाषा इतिहास भूगोल गणित आदि सभी विषयो का उपयोगी ज्ञान हो सकता है इसलिये उन्होनें ज्ञान शिक्षा का नाम बुनियादी शिक्षा रखा।

बुनियादी शिक्षा की रुपरेखा तैयार करने में महात्मा गांधी को भारत की गरीबी पर भी ध्यान रखना पड़ा था विशेष रुप से इस कारण कि जब यहाँ शिक्षा संबधी कार्यों के विस्तार का प्रश्न आता था तो हमारे अग्रेज शासक आर्थिक संकट की दुहाई देकर टाल देते थे। अतः गांधी जी ने सोचा क्यो न ऐसी शिक्षा पद्धति चालू की जाय जिसमें स्कूलो में पढ़ने वाले लड़के अपना तथा अपने गुरुओ का खर्च आप ही निकाल ले। गांधी जी का विचार था कि यदि पर्याप्त साधन सरकार और जनता की ओर से मिल जाये तो शिक्षक और छात्र दोनो अपनी जीविका के लिये अपना जरुरी खर्च अवश्य निकाल लेगे। इसलिये गांधी जी चाहते थे कि शिक्षा की ऐसी नई प्रणाली विकसित की जाय जो भारत की निर्धनता को देखते हुए अधिक खर्चीली न हो। शिक्षा की ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे गरीब तथा धनी सभी आसानी से शिक्षा अर्जित कर सके ।

शिक्षा के क्षेत्र में गांधी जी ने भारत में प्रथम प्रयोग कोचरब आश्रम मे किया। यह आश्रम कोचरब के दो बंगलो में था। यह आश्रम 1915 के ग्रीष्मकाल से 1918 के ग्रीष्म काल तक रहा। बाद में साबरमती आश्रम बना । आश्रमवासियों को जो शिक्षा दी जाती थी उसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त अपरिग्रह पर सबसे अधिक जोर दिया जाता था। गांधी जी ने अपरिग्रह पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि यह हमारा चौथा व्रत है। इसका सत्य, ब्रह्मचर्य और अहिंसा से महत्व कम नहीं है। अपरिग्रह का अर्थ है अपने पास सामान कम से कम रखना । जिन वस्तुओ के विना हमारा काम चल सकता है उन वस्तुओ कों हमे बटोरना नहीं चाहिये। हमारी प्रगति अपने लिये ज्यादा सामान जोड़नें में नही है लेकिन थोड़े से साधनों के सहारे बढ़िया से बढ़िया

काम करने की कला से हमारी सही प्रगति होने वाली है। सत्य,अहिंसा और ब्रह्मचर्य को हमें अपने में पक्का करना है और अपरिग्रह को अपने हमें अपने रोज के व्यवहार में लाना है। अपरिग्रह वर्त.के लिये हम संक्षेप में कह सकते हैं कि हमारा जीवन सादा से सादा हो। बनावट आडम्बर आदि से रहित, सीधा सादा रहन सहन हम अपनावे।[1]

इस आश्रम में युवकों को बौद्धिक शिक्षा के साथ - साथ धार्मिक और सामाजिक शिक्षा भी दी जाती थी। युवको के चरित्र विकास पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाता था । आश्रम की सारी व्यवस्था आश्रमवासियो द्वारा की जाती थी जिससे छात्रो को व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त होता था और स्वावलम्बन की क्षमता का विकास होता था। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम प्रयोग था जिसने गांधी जी के शिक्षा संवंधी विचारो को निर्मित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

दक्षिण अफ्रीका में उन्होनें फिनिक्स तथा टाल्सटाय फार्मो पर सामूहिक जीवन का प्रयोग करते समय शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रयोग किया। इन फार्मो पर रहने वाले लोगो का जीवन सादगी और कठोर श्रम का जीवन था। बुनियादी शिक्षा संबधी प्राथमिकता विचारो की उत्पत्ति इन्हीं फर्मों मे दी जाने वाली शिक्षा से हुई। अपने दक्षिण अफ्रीका के अनुभवो तथा कोचरब और साबरमती आश्रमों में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत से परीक्षण किये जिसके आधार पर बुनियादी शिक्षा की परिकल्पना की। बुनियादी शिक्षा की पूर्ण पीठिका के रूप में गांधी जी के ये विचार उघृत किये जा सकते हैं। इस संघर्ष (सत्याग्रह आन्दोलन) का शायद सबसे बड़ा और ठोस नतीजा निकाला है फार्म पर एक स्कूल का प्रारंभ। अभी विधार्थियो की संख्या पच्चीस है और पचास से अधिक विधार्थी भर्ती करने का विचार भी नहीं है दिन में पढ़कर घर चले जाने वाले विद्यार्थी नहीं लिये जाते हैं। सवको यही फार्म पर रहना पड़ता है। पढाई का शुल्क नही लिया जाता। मानसिक शिक्षण के साथ- साथ दस्तकारी का अभ्यास भी करवाया जाता है परन्तु सबसे अधिक बल चरित्र निर्माण पर दिया जाता है। विधार्थियो को किसी प्रकार का शारीरिक दंड न देकर उनके मन और बुद्धि को प्रभावित कर उनकी उत्तम संभावनाओ को प्रकट करने और उनका विकास करने की पूरी- पूरी कोशिश की जाती है। उन्हे अपने अध्यापको के साथ मिलने जुलने और निस्संकोच अपनी बात कहने की अधिकतम छूट दी जाती है। वास्तव में यह संस्था एक स्कूल नही परिवार है और यहाँ व्यवहार तथा उपदेश के द्वारा ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि सब बालक अपने आपको इस परिवार का अंश समझने लगे। प्रातःकाल तीन घंटे तक बालक कोई सरल सा शारीरिक श्रम करते हैं। इसके लिये खेती को चुना गया है, वे अपने कपड़े अपने आप धोते है और उन्हें प्रत्येक काम में पूर्णतया स्वावलम्बी कहना सिखाया जाता है। स्कूल के साथ ही चप्पल बनाने और सिलाई सीखने का भी एक वर्ग चलता है। फार्म पर स्कूल या रसोई के काम के लिये वेतनभोगी नौकर नही रखे जाते। फार्म पर ताम्बाकू, शराब न पीने और निरामिष भोजन के नियम का पालन सबको करना पड़ता है। मानसिक शिक्षण

1. काका कालेकर : गांधी व्यक्तित्व, विचार और प्रभाव, पृ० 211 -212

प्रतिदिन कम से कम साढ़े तीन घंटे तक दिया जाता है। शिक्षा का माध्यम मुख्यतः भारतीय भाषाये अर्थात गुजराती, हिन्दी और तमिल है। मुझे खेद है कि तमिल का कोई अच्छा अध्यापक न मिलने के कारण उसकी पढ़ाई बहुत प्रारंभिक अवस्था में चल रही है। शाम को एक घंटा बालकों को अपने - अपने धर्म से परिचय करवाने में लगाया जाता है। इसके लिये इस्लाम हिन्दू और जरथुस्टी धर्मों को पुस्तकों का पाठ किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में प्रारंभ से ही गांधी ने शारीरिक श्रम पर सर्वाधिक बल दिया। छात्रो में सहिष्णुता उदारता तथा सभी धर्मों के प्रति समानता का दृष्टकोण विकसित करने पर बल दिया। नैतिकता के विकास को शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य माना। स्वच्छता तथा आत्म निर्भरता के गुणो के विकास का प्रयास किया। शिक्षा के क्षेत्र में अपने- नवीन प्रयोगो द्वारा छात्रो के व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास पर बल दिया। उन्होनें बौद्धिक शारीरिक तथा अध्यात्मिक तीनो शक्तियो के समन्वित विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

फिनिक्स, टाल्सटाय, कोचरब, साबरमती, सेवाग्राम तथा वर्धा के आश्रमो में निवास करते हुए गांधी जी ने शिक्षा के क्षेत्र में अपने विचार निर्मित करने के लिये बराबर प्रयोगवादी पद्धति का आश्रय लिया। इस दिशा में उनके विचार बराबर विकसित होते रहे। शिक्षा की राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुरुप भी ढालने का प्रयास किया गया।

चम्पारन में नई तालीम के आधार पर खोले गये विद्यालयो के संबध में अपने विचार व्यक्त करते हुए गांधी जी ने कहा था विचार यह है कि जितने भी बालक मिल सके उन्हें बहुमुखी शिक्षा दी जाय। उन्हें हिन्दी या उर्दू पढ़ाई जाय और उसके माध्यम से गणित इतिहास तथा भूगोल की बुनियादी बातो की शिक्षा देने के साथ- साथ साधारण वैज्ञानिक सिद्धान्तो की जानकारी करायी जाय और कुछ औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाय। अभी शिक्षा का कोई निश्चित पाठ्यक्रम नही बनाया गया है क्योकि हम एक अछूत मार्ग पर चल रहे है। मै प्रचलित प्रणाली को भय और अविश्वास की दृष्टि से देखता हूँ इसमे बच्चो की मानसिक और नैतिक शक्तियो का विकास करने के वजाय उन्हें बौना बना दिया अपने प्रयोग में जब मै वर्तमान शिक्षा पद्धति को अच्छाइयों पर विचार करने लगता हूं तब मै उसमे निहित दोषों पर ध्यान नहीं देता। मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि वच्चों का सुंसस्कृत स्त्री पुरुषो के साथ सम्पर्क स्थापित हो और उनका चरित्र निर्दोष हो। मेरी दृष्टि में यही शिक्षा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक साधन के रूप में अक्षर ज्ञान का उपयोग किया जा सकता है। जीविका के अतिरिक्त साधनो के लिये जो बालक बालिकाये आयें उनके लिये औद्योगिक प्रशिक्षण का आयोजन किया जा सकता है। यह उद्देश्य नहीं है कि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात वे अपने पैतृक व्यवसाय का परित्याग करें बल्कि यह है कि विद्यालय में जो उन्होनें ज्ञान प्राप्त किया है उसका उपयोग वे कृषि तथा कृषक जीवन का सुसंस्कार करने में कर सकें। व्यस्को को स्वास्थ्य रक्षा, सहकारिता, सामुदायिक कल्याण जैसे गाँव की सड़कों की मरम्मत करना कुएं खोदना आदि के बारे मे शिक्षा दी जायेगी।[1]

1. तेन्दुलकर : महात्मा, खण्ड- 1,1951; पृ० 260

इस प्रकार गांधी जी शिक्षा का उद्देश्य था कि भारत गांवों का देश है इसलिये शिक्षा को भी ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुरुप होना चाहिये। छात्रों को उनके पैतृक व्यवसाय में अधिक दक्षता प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करनी चाहिये ताकि शिक्षित युवक नौकरी की खोज में शहरो की दौड़ न लगाये। शारीरिक श्रम की महत्ता कायम करने के लिये प्रत्येक छात्र को कुछ न कुछ कृषि कार्य में स्वयं भाग लेना चाहिये। शारीरिक श्रम के बिना स्वास्थ्य भी अच्छा नही रह सकता, यह भावना छात्रों में पैदा करनी चाहिये। शिक्षा के बारे में उनकी योजना का मूल विचार यह था कि शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये । इसका खर्च अपने आप निकलना चाहिये।[1]

उन्होनें लिखा था कि स्कूल अपना खर्च खुद पूरा करे अगर अपने चारो ओर के वातावरण के अनुसार वचो को व्यावसायिक शिक्षा दी जाय तो वे स्कूल में अपने ऊपर होने वाले खर्च को ही नही पूरा कर सकेगे बल्कि आगे चलकर वे अपनी जिन्दगी में भी इसका उपयोग कर सकेगे।[2]

निःशुल्क शिक्षा से आशाय सरकार द्वारा निःशुल्क शिक्षा दिये जाने से नही था। इसका आशय उस अधिकतम सहायता की व्यवस्था करने से था जो किसी भी विद्यार्थी को काम करने के अपने अनुभव से मिल सकती थी। यह अनुभव ही उसकी शिक्षा का साधन और जीविका का स्रोत दोनो है। स्वतंत्र रहने के लिये दूसरो की दया या सहायता के वजाए हर ब्यक्ति व समाज को अपने पर निर्भर रहना चाहिये।

नआरंभ में गांधी ने सात से चौदह वर्ष के शिक्षण क्रम की बात पर ही अधिक ध्यान दिया था किन्तु 1942 के आन्दोलन के समय जब आगा खाँ महल में नजरबंद थे उनको इस पर विचार करने के लिये काफी समय मिला। गंभीर चिन्तन मनन के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि नवीन शिक्षण दृष्टि को पूर्णतः विकसित करना है तो छात्र की सप्तवर्षीय शिक्षा काफी नही है। मानव की शिक्षा तो जीवन भर चलती रहती है वह जन्म के साथ आरंभ होती है और मृत्यु के साथ समाप्त होती है। जब वह जेल से बाहर आये तो अपनी सप्तवर्षीय वुनियादी शिक्षा को बढ़ाकर चार खण्डों विभाजित कियाः-

1. सात से कम वर्ष के बालको के लिये
2. 7 से14 वर्ष का आयु की श्रेणी के लिये
3. 14 से ऊपर वालो के लिये
4. बड़ी उम्र के स्त्री पुरुषों के लिये।

इस प्रकार अपनी मूल शिक्षण दृष्टि की उन्होंने प्रायः जीवन व्यापी बना दिया। इन सब आयु वर्गों का पाठ्यक्रम विस्तार से बनाने और उस पर निरन्तर शोध एवं

---

1. यंग इण्डिया : 1-9-1921
2. यंग इण्डिया : 11-7-1929

संस्कार करने के लिये उन्होनें हिन्दुस्तानी तालीमी संघ नामक एक संस्था का वर्धा में स्थापना की। स्वावलम्बन इन सम्पूर्ण शिक्षा का अनिवार्य तत्व है।

गांधी जी अक्षरज्ञान को विशेष महत्व नहीं देते थे । उनके विचार में विना अक्षर ज्ञान के भी अच्छी शिक्षा दी जा सकती है । वह छोटे बच्चों को शुरू मे ही अक्षर ज्ञान कराने के विरुद्ध थे । उनके मत से इस काल मे अधिकाशं शिक्षा उत्तम संस्कार डालने, अपने अंगो से उचित काम लेने, स्वच्छ रहने, आदर्श युक्त कहानियो द्वारा उनमे दया, करुणा प्रेम और संयम की वृतियाँ विकसित करने तक सीमित होनी चाहिये । उनके मत से उत्तम संस्कार डालना और आवश्यक सामान्य ज्ञान कराना ही शिक्षा की बुनियाद है और यह सब अक्षर ज्ञान के बिना भी कराया जा सकता है ।

इस प्रकार पूर्व बेसिक शिक्षा और बेसिक प्राइमरी शिक्षा को गाँवो को दस्तकारी के माध्यम से दिये जाने पर जोर देते थे । इसके बारे मे उनका दृष्टिकोण भिन्न था और उसका इस शिक्षा के खर्च से कोई संबन्ध नहीं था। गांधी जी के अनुसार हर एक व्यक्ति को कुछ न कुछ शारीरिक श्रम करना आवश्यक मानते थे । उन्होंने अपने समस्त सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रमों में श्रम और रोटी की अवधारणा को केन्द्रीय बिन्दु बना चुके थे । वह इसे शुरू से ही अपनाये जाने का आग्रह करते थे । इसी के कारण गांधी जी की शिक्षा के संबंध की योजना एक क्रान्तिकारी योजना बन गई । उन्होंने बच्चों को आरंभिक शिक्षा के बारे में बिल्कु ल ही भिन्न मत अपनाने का सुझाव दिया था। वे बच्चों को अक्षर ज्ञान कराने के पहले उन्हे बातचीत द्वारा शिक्षा देने पर जोर देते थे उन्होंने लिखा था मैंजो रूपरेखा बना रहा हूँ इससे साहित्य का प्रशिक्षण अलग नहीं है। इसमे व्यावसायिक प्रशिक्षण है जो स्कूल मे अधिकांश समय मे दिया जायेगा साथ-साथ बच्चों को मौखिक रूप से आंरभिक इतिहास भूगोल, गणित, शिष्टाचार भी सिखाया जायेगा, उनको स्वास्थ्य विज्ञान की व्यवहारिक शिक्षा दी जायेगी जब वह इतना सब सीख जायेगा तब अपने घर में भी इस शिक्षा का उपयोग करेंगे और एक मौन क्रान्तिकारी बन जायेंगे।[1]

देश का आधार जिस धंधे पर हो उस धंधे का सामान्य ज्ञान सब विद्यार्थियों को देना चाहिये । इस सिद्धान्त को कोई अस्वीकार नहीं करेगा । इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे सब विद्यार्थियों को खेती का और बुनने का काम सिखाना चाहिये क्योकि भारत में 95% लोग खेती के काम में लगे हुए हैं । पहले इसमे से 90% बुनने का काम भी करते थे । वे चाहते थे कि लडकों को बचपन मे आरोग्यशास्त्र की शिक्षा देनी चाहिये। उनके अनुसार धर्म के ऊपर सब कुछ निर्भर है और संस्कृत जाने बिना धर्मशास्त्रो का ठीक ज्ञान मिलना असंभव है । इसलिये संस्कृत का जानना भी प्रत्येक हिन्दू लड़के का कर्तव्य है । मेरे विचार मे स्वराज्य की कुंजी सरकार के हाथ में नहीं जितनी कि

1. यंग इण्डिया : 11-7-1929

हमारी शिक्षा प्रणाली पर है । गांधी जी शिक्षा प्रणाली में ऐसा परिवर्तन चाहते थे जिससे विद्यालयो से निकले छात्रों में देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावना कूट कूट कर भर जाये।

गांधी जी ने प्राथमिक शिक्षा के प्रारंभिक रूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि यह विश्वास अनुभव पर आधारित है कि बालक का मानसिक विकास अक्षर ज्ञान मिलने से पहले हो सकता है। अक्षर ज्ञान को पहला स्थान देने से बालक का विकास हो सकता है। अक्षर ज्ञान का बोझ बालक पर डालकर हम उसकी प्रगति को रोकते है । उसे ज्ञानरहित रखते है उसकी स्मरण शक्ति को रोकते हैं।[1]

गांधी जी का विचार था कि कताई और बुनाई के साथ - साथ विज्ञान की भी शिक्षा दी जाय। विज्ञान की शिक्षा के वे विरोधी नहीं थे। वे एक ऐसी संतुलित शिक्षा पद्धति के समर्थक थे जिसमें बालक के शरीर और मस्तिष्क का समन्वित विकास हो। इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा था मेरे कहने का मतलब यह नही है कि शिक्षा संस्थाओं को केवल कताई और बुनाई की संस्था बन जाना चाहिए। मै कताई और बुनाई को किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली था आवश्यक अंग अवश्य मानता हूँ। इस काम के लिये बालको का सारा समय लेने का मेरा लक्ष्य नहीं है । मैं विभिन्न विज्ञानों की शिक्षा की कीमत करता हूँ हमारे बालक रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान जितना भी सीखे उतना ही थोड़ा है।[2]

इस प्रकार गांधी शिक्षा के माध्यम से बालक का स्वाभाविक विकास चाहते थे। उसके मस्तिष्क पर अनावश्यक बोझ के विरोधी थे। शिक्षा पद्धति में कोरी बौद्धिकता के वे समर्थक नहीं थे। वे चाहते थे कि शिक्षा पद्धति ऐसी हो जिसमें बालक का सर्वोमुखी विकास हो। साथ- साथ देशप्रेम और राष्ट्रप्रेम की भावना भी जाग्रत हो।

गांधी जी पहले विचारक थे जिन्होंने पूर्ण बुनियादी शिक्षा के महत्व पर माँ की प्रकृति तथा आहार विहार का प्रभाव पड़ता है इस अवस्था में आवश्यक है कि माता संयम और सदाचार का जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार गांधी जी के विचार से लिखना पढ़ना सीखने से पहले बच्चे की सामान्य ज्ञान और शिष्टाचार की शिक्षा देनी चाहिये यह महत्वपूर्ण कार्य सुशिक्षित माँ ही कर सकती है। माँ को भी सुशिक्षित वनना बहुत आवश्यक है तभी बालक को प्राथमिक शिक्षा अच्छी प्रकार से दी जा सकती है।

गांधी जी चाहते थे कि प्राथमिक शिक्षा में दस्तकारी की शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। उनका मत है कि इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली से मस्तिष्क और आत्मा का उच्चतम विकास संभव है। इस प्रकार गांधी जी ने शिक्षा के प्रारंभिक अवस्था में रचना और सर्जना पर बल दिया प्रारंभिक शिक्षा के द्वारा भी कुछ न कुछ उत्पादन की क्षमता का विकास बच्चे में होना ही चाहिये।[3]

---

1. हिन्दी नवजीवन : 26-9-19241.
2. यंग इण्डिया (अंग्रेजी) : 12-3-1925
3. हरिजन : 31-3-1937

हम इस तरह गांधी जी ने तत्कालीन शिक्षा पद्धति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास किया। इस प्रचलित शिक्षा पद्धति के विकल्प में पूर्ण बुनियादी शिक्षा का जो योजना रही उसमे उन्होंने बच्चों के मस्तिष्क पर अनावश्यक बोझ डालने का विरोध किया तथा बच्चे की स्वाभाविक रुचियों को ध्यान में रखकर उसे जबानी सामान्य ज्ञान कराने पर बल दिया। उन्होंने स्थूल इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर पहले बल दिया। वे बौद्धिक विकास के साथ बालक में आध्यात्मिक विकास पर बल देते थे उनका मानना था कि दोनों साथ- साथ होना चाहिये।[1]

इस प्रकार उन्होनें शिक्षा का कोरी भौतिकवादिता को भी नकारा और वच्चे के सर्वागीण विकास के लिये शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया।

गांधी वादी शिक्षा पद्धति में उद्योग द्वारा शिक्षा देने से बालक की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियो का ठीक विकास होता है । साथ ही साथ उसकी बुद्धि और ह्रदय का विकास भी अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। राष्ट्रीय प्राथमिक पाठशालाओ के द्वारा गांवों की सेवा करने वाला एक नया वर्ग पैदा होगा जो ग्रामोउद्योग में विशेष रुचि लेगा और उनके विकास का रचनात्मक प्रयास करेगा। इस प्राथमिक शिक्षा में ग्रामीण दस्तकारी तथा उद्योग को प्रधानता मिलेगी। इन दस्तकारियो और उद्योगो में प्रशिक्षित बच्चे ग्राम्य जीवन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगे। उपेक्षित ग्रामीण जीवन में नई चेतना और जागृति पैदा होगी जो सारे देश के जनसाधारण को प्रभावित करेगी। ऐसी चेतना से हो भारत की वास्तविक प्रगति संभव है क्योंकि भारत ग्रामों का देश है। ग्रामोन्मुख शिक्षा के कार्यक्रम पर विचार करते हुए गांधी जी ने लिखा था इन पाठशालाओं में इस तरह की शिक्षा दी जाय जिससे विद्यार्थियों में इतनी योग्यता आ जाये कि वे गांवों की हर तरह से सेवा करने के लिये तैयार रहे।[2]

इस प्रकार गांधी जी की प्राथमिक शिक्षा जहाँ का एक उद्देश्य बालकों को ग्रामों की सेवा करने के योग्य बनाना था वही दूसरा प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी था। हम यह कह सकते है कि भारतीय संदर्भ में जब तक शिक्षा को ग्रामीण जीवन से नही जाना जायेगा तब तक शिक्षा का प्रभाव सार्वजनिक नही हो सकता है। यदि शिक्षा के प्रभाव सम्पूर्ण भारत में व्यापक रुप से फैलता है तो ग्रामीण जनजीवन से शिक्षा को सम्बद्ध करना ही होगा । शिक्षा के क्षेत्र में गांधी जी आधुनिकता के प्रवाह में प्राचीन ग्रामीण संस्कृति का त्याग करना नही चाहते थे। उन्होनें इस विचार धारा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है दस्तकारी की तालीम से लिखाई पढ़ाई की शिक्षा को दूर करने के कारण हम ग्रामीण हुनरो को नीची निगाह से देखने के आदी हो गये है दस्ती हुनर कुछ नीचे दर्जे का काम समझा जाने लगा और वर्णाश्रम को भीषण विकृति के कारण हम लोग धुनिये, जुलाहे और मोचियों को नीची जाति का समझने लगे हुनर की बौद्धिक शिक्षा से बहिष्कृत नीचे दर्जे की कोई चीज

---

1. हरिजन सेवक 8-5-1937
2. हिन्दी नवजीवन 31-5-1924

समझने का दूषित रिवाज के कारण हमारे यहाँ क्रोम्पटन और हारग्रावे जैसे आविष्कारक पैदा नही हो सके। विद्या या इल्म को जैसा दर्जा मिला हुआ है अगर पेशे या हुनर को भी स्वतंत्र रुप से वैसा ही दर्जा मिला होता तो अपने कारीगर में बहुत से आविष्कारक मिल जाते।[1]

इस प्रकार गांधी जी गाँवो में मिला प्रचलित पेशे तथा उद्योग धंधों में बालको को वैज्ञानिक ढ़ग से प्रशिक्षित कराना चाहते थे जिससे ग्रामीण उद्योग धन्धों का समयानुकुल और समुचित विकास हो सके। बुनियादी शिक्षा प्रणाली तथा अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की तुलना करते हुए उन्होनें कहा था कि तत्कालीन शिक्षा प्रणाली से प्रमुख करदाता (ग्रामीण किसान) को जो लाभ मिलना चाहिये था उसमे से उसके बच्चों को सबसे कम लाभ मिल पाता था। इसलिये उन्होनें सुझाव दिया था कि प्राइमरी शिक्षा को सात वर्ष का बनाया जाय जिससे विद्यार्थी को मैट्रिक श्रेणी का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो सके। अंग्रेजी भाषा सीखने के बजाय वह एक उत्पादन उद्योग-भी सीख लेगा। वे विद्यार्थियो के सर्वांगिण विकास के लिये जहाँ तक संभव होता पूरा प्रशिक्षण किसी उत्पादक उद्योग के माध्यम से देने के पक्षधर थे। इसमें दो उद्देश्य की पूर्ति संभव होती प्रथम तो यह कि विद्यार्थी अपने अध्ययन का व्यय अपने श्रम से निकाल लेते और दूसरा वह कि पाठशाला में उस उद्योग का अभ्यास कर वे अपने व्यक्तित्व का पूरा प्रयास करने में सक्षम होते ।[2] उनकी दृष्टि में इस प्रकार बुनियादी शिक्षा देश के लिये अधिक जरुरी था।

गांधी जी का शिक्षा के क्षेत्र मे सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि उन्होने शिक्षा के द्वारा बेकारी की समस्या तो दूर करने का प्रयास किया था। आज देश में अराजकता और अव्यवस्था का प्रमुख कारण बेकारी और गरीबी की समस्या है। आजादी के तीस वर्ष के बाद भी हमारी लोकतांत्रिक सरकारे इस मौलिक समस्या के समाधान मे पूर्णतः असफल रही है। गांधी जी ने बड़ी दूरदर्शिता पूर्वक ऐसी विकराल समस्याओं के समाधान के लिये अपनी योजना प्रस्तुत करते हुए कहा था कि आवश्यकता से अधिक मशीनीकरण का दुष्परिणाम होगा बेकारी । इसलिये ग्रामों में प्रचलित्त कुटीर उद्योगों और जातीय पेशों को प्रोत्साहन देना चाहिये जिससे हर व्यक्ति को काम मिल जाये । शिक्षा की व्यवस्था भी ऐसी होनी चाहिए जिससे कुटीर उद्योगों और परम्परागत उद्योग धंधों को प्रोत्साहन मिले। इसलिये ग्रामीण जीवन में मशीनीकरण को प्रचलित करना देश में बेकारी को बढ़ावा देना होगा । इसके संभव में उन्होने लिखा है मेरे विचार से मशीन की हमें आवश्यकता नही हैं। हमें खादी का प्रयोग करना चाहिये। इसलिये हमे मिलों की आवश्यकता नहीं है हमें आवश्यक मात्रा में वस्त्र गांवों में उत्पन्न करने की कोशिश करनी चाहिये और हमे मशीन का दास नही बनना चाहिये। हमें भय है कि मशीन को काम में लाने से हम स्वयं मशीन बन जायेगे और दस्तकारी और कला का ज्ञान खो बैठेगें। यदि आप अब भी यह सोचते तो नई तालीम की योजना व्यर्थ है यदि

1. हरिजन सेवक : 18-9-1937
2. वर्धा शिक्षा परिषद में दिये गये भाषण का अर्थ 20-10-37

आप अपने गावों में मशीन द्वारा जीवन का संचार करना चाहते है और उनके माध्यम से गांवों के बच्चे को शिक्षा देने का विचार करते है तो ऐसा दृढ़ विश्वास है कि हमारे देश में यह सर्वथा असम्भव है । मशीन पैतीस करोड़ लोगों को बेकार बनाने में ही सहायक होगी।[1]

नई तालीम में गांधी जी ने कृषि पर भी बल दिया। भारत की अधिकांश जनता गांवों मे रहती है और कृषि द्वारा अपना जीवकोपार्जन करती है । इसलिये भारत देश की शिक्षा पद्धति में कृषि शिक्षा को प्रमुखता मिलनी चाहिये इसके संबन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए वर्धा शिक्षा सम्मेलन में उन्होनें कहा था गांवों के विद्यालयो में कृषि शिक्षण का माध्यम होना चाहिये । लेकिन हमारे पास आवश्यक साधन नही है। आज कल स्कूलों और कालेजों में कृषि की जिस ढ़ग से शिक्षा दी जाती है वह गांवों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है क्योंकि गांव की परिस्थतियों एवं आवश्यकताओं के साथ उसका किसी रुप में भी घनिष्ट संबध नही है। लेकिन यदि मेरी योजना स्वीकार कर ले और आपको योग्य अध्यापक मिल जाय तो मुझे लाभदायक होगी । विद्यार्थी भी अध्यापकों के साथ खेतों पर जायेगे और हल जोतते, बोते, सीचते तथा निराते समय अनेक नये विषयों का ज्ञान प्राप्त करेगे। उन्हें पर्याप्त शारीरिक श्रम करना पड़ेगा।

गांधी जी का विश्वास था कि व्यावहारिक कृषि शिक्षा देने से बेकारी की समस्या हल होगी और युवाशक्ति का उपयोग रचनात्मक और उत्पादक कार्यों में विश्वास जगेगा और तत्कालीन शिक्षा प्रणाली द्वारा केवल नौकरी की तलाश में बेकार घूमने वाले नवयुवको को अपने आप काम मिल जायेगा । गांधी जी ने इस पर अपना विश्वास व्यक्त करते हुए कहा था मेरी प्रोफेसर शाह की इस बात पर सहमति है कि जो राज्य बेकारो के लिये कार्य की व्यवस्था नहीं कर सकता वह किसी काम का नही है छोटे-छोटे उद्योगों की व्यवस्था करने मात्र से बेकारी की समस्या हल नहीं हो सकती । मैं तो बेकार व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिये कार्य की व्यवस्था करुगां और उन्हें धन नही तो भोजन अवश्य दूंगा। जब हमारे देश में तीस करोड़ जीवित मशीने है तब हमारे लिये काम का अभाव नही है काम करने से कोई दास नही बन जाता।[2]

गांधी जी अपनी शिक्षा पद्धति में समानता के पोषक थे शिक्षा गरीब धनी सबको समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिये। शिक्षित युवको में छोटें बड़े की भावना पैदा न हो। उन्होनें इसके संबध में लिखा था मैं शिक्षा के स्वर में समता लाना चाहता हूँ। शताब्दियो से श्रमिक वर्ग निम्न स्तर के रुप में उपेक्षित और वहिष्कृत रहा है। वे शुद्र समझे जाते रहे और शब्द घटिया स्तर का घोतक हो गया है। मैं बुनकर के पुत्र, किसान के पुत्र और अध्यापक के पुत्र के बीच स्थित भेदभाव को स्थान देना नही चाहता।[3]

वे धनी गरीब सबके लड़कों को शिक्षा की समान सुविधा और अवसर मिले इसके लिये शिक्षा पर होने वाले व्यय को कम से कम करना चाहते थे ताकि धनाभाव

---

1. वर्धा शिक्षा सम्मेलन में दिये गये भाषण का अंश 22-10-1937
2. महात्मा: खण्ड 4 जुलाई 1952 का संस्करण, पृ० 240
3. महात्मा: खण्ड 4 जुलाई 1952- 244-45

के कारण गरीबो के लड़के शिक्षा की सुविधा से वंचित न हो जाये। इस व्यवस्था को सफलता पूर्वक संचालित करने के लिये उन्होनें कहा था पाठशालाओ का खर्च उनके विद्यार्थियों के उद्योग से ही निकालना चाहिये यदि ऐसा न हो तो अन्य दो सूचनायें है कि विद्यार्थियों का अपना खर्च अपनी मेहनत से निकालना चाहिये अथवा कम से कम पाठशालाओ का उद्योग विभाग स्वावलम्बी होना चाहिये। इतना कहा जा सकता है कि वर्तमान जन मानस और गरीबी की दृष्टि से विद्यार्थियो के श्रम का मेहनताना फीस के खाते में जमा होने की अपेक्षा उसे कमाई के रुप में मिलने की व्यवस्था करना अधिक सन्तोषजनक और परिणाम कारक होगा। परन्तु साथ ही जिस विद्या की कीमत-न चुकानी पड़ती हो वह बहुत सफल नहीं हो सकती। इसलिये मै बीच का मार्ग सुझाता हूँ विद्यार्थियों की मजदूरी का एक हिस्सा फीस माना जाय और शेष उनकी बनाई कुशलता सिर्फ शिक्षा शास्त्र की दृष्टि से ही नही वल्कि अर्थ शास्त्र और शरीर शास्त्र की दृष्टि से भी होनी चाहिये।[1]

सामाजिक भेद को नकारते हुए उनको नई तालीम का आधार समता थी और सबके लिये श्रम करना अनिवार्य था श्रमिक और पूँजिपति की भावना को उनकी शिक्षा प्रणाली में पूर्णतया मिला दिया गया था। उस व्यवस्था में सबको श्रमिक बना दिया गया था जिससे सामाजिक असमानता का आधार ही नष्ट हो जाय। इससे बड़ा लाभ यह था कि छात्रों में वर्गीय चरित्र का विकास नहीं हो जाता । सभी अपने को एक वर्ग का समझने लगते। इस उनकी शिक्षा पद्धति की आधारशिला सामाजिक समानता था जिससे श्रम सबको करना पड़ता था। शिक्षा के क्षेत्र में वस्तुतः यह क्रान्तिकारी योजना थी जो आज के सामाजिक वर्ग संघर्ष का मूल ही विच्छिन्न कर देती। इससे सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो में व्याप्त आक्रोश का शमन स्वयमेव हो जाता।

उन्होनें अपनी शिक्षा नीति पर प्रकाश डालते हुए कहा था मै चाहता हूँ कि सारी शिक्षा किसी दस्तकारी या उद्योग के द्वारा दी जाय। प्रारंभिक शिक्षा में सफाई, स्वास्थ्य,भोजनशास्त्र,अपना काम आप करने और घर पर माता पिता को सहायता देने इत्यादि के मूल सिद्धान्त शामिल होगे। वर्तमान पीढ़ी के बालको को स्वच्छता और स्वावलम्बन का कोई ज्ञान नही होता और वे शरीर से कमजोर होते है इसलिये मै संगीतमय कबायद के द्वारा उनको अनिवार्य शारीरिक शिक्षा दिलवाऊगाँ।[2]

इस प्रकार उपयुक्त कथन से सपष्ट होता है कि गांधी जी शिक्षा जगत में एक नया प्रयोग कर रहे थे जिससे शिक्षा समाज के लिये अधिकतम उपयोगी हो सके।

गांधी जी पाश्चात्य शिक्षा को कोरी भौतिकता और हिंसात्मक प्रवृति के घोर विरोधी थे। प्रचलित शिक्षा पद्धति को दोषों से मुक्त करने के लिये सर्वथा नवीन शिक्षा पद्धति का प्रणायन किया जो अहिंसा के माध्यम से रचनात्मक शिक्षा प्रदान कर सके। विद्या मंदिर ट्रेनिगं स्कूल वर्धा में भाषण देते हुए नई शिक्षा पद्धति के उद्देश्य पर प्रकाश

---

1. हरिजन : 24-10-1937
2. हरिजन : 30-10-1937

डालते हुए कहा था यह योजना पूरी तरह से भारतीय योजना है। इसके आदर्श का जन्म गांव से हुआ है।

असली हिन्दुस्तानी तो ऐसे सात लाख गांवों मे बसता है जो गांव से भी बहुत हीन दशा में है। मै चाहता हूँ कि आप लोग इन गांवों से निरक्षरता को दूर भगा दे, ग्रामवासियों के लिये अन्न और अस्त्र के साधन जुटाये और सत्य और अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने का संदेश गावों में पहुँचाये। यह दायित्व आप के ऊपर है। आप का यह धर्म है कि आप इस भावना को लेकर काम करे। मैने तो काफी मनन के बाद यह योजना पेश की है। यदि यह योजना असफल हुई तो इसके लिये अध्यापक दोषी ठहराये जायेगे। दस्तकारी के जरिये, इतिहास, भूगोल और गणित की शिक्षा दी जायेगी और छात्रों के शरीर श्रम से स्कूल का खर्च निकालने का प्रयत्न किया जायेगा।

हिटलर तलवार के बल पर अपना उद्देश्य पूरा कर रहा है। मै आत्मा के द्वारा पूरा करना चाहता हूँ । विदेशी विचारों और आदर्शों का आवरण निकाल फेकिये। अपने आप को ग्रामवासियों के साथ समरस बना दीजिये। पाश्चात्य जगत विनाश की शिक्षा दे रहा है। हमें अहिंसा के जरिये रचनात्मक शिक्षा देनी है।[1]

पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीय समाज दो भागो में विभक्त हो रहा था। अग्रेजी शिक्षा से प्रभावित लोगों तथा सामान्य लोगों के बीच की दूरी निरंतर बढ़ रही थी। समाज के इस असंतुलन और असंगति के लिये पाश्चात्य शिक्षा उत्तरदायी थी। गांधी जी ने इस प्रभाव का समूल विनाश कर प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर नये विचारों तथा आदर्शों से अनुप्रभावित होकर एक ऐसी शिक्षा योजना प्रस्तुत की जो नवीन भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था को संतुलन कर सामंजस्य स्थापित कर सके। अपनी शिक्षा प्रणाली में गांधी जी ने गांवों को प्रमुखता प्रदान की उनके विकास की योजना का अपनी शिक्षा नीति का प्रमुख अंग माना। शिक्षा के माध्यम से अहिंसात्मक परिवर्तन पर बल देते हुए गांधी ने कहा था इसके लिये हमें अहिंसा पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। हितकर और मुसोलिनी को विचार धाराओ का मूल उद्देश्य हिंसा है पर हमारा उद्देश्य तो अहिंसा है। जिससे हमें अपनी तमाम समस्याओं को अहिंसा द्वारा ही हल करना है। अपने गणित को अपने विज्ञान को अपने इतिहास को केवल अहिंसा की दृष्टि से देखोगे और इन विषयों से संबधित समस्याये अहिंसा के रंग में रंगी होगी । इतिहास अभी तक राजाओं का और उनके युद्धों का वर्णन मात्र रहा है पर भविष्य में जो इतिहास बनेगा वह मानवता का होगा। वह इतिहास अहिंसा का हो सकता है और है। फिर हमें शहरों के उद्योग धंधों के छोड़कर ग्राम उद्योग की ओर ध्यान देना होगा। मतलब यह कि अगर हम अपने सात लाख गांवों को जीवित रखना चाहते है तो हमें गांवों की दस्तकारी का पुनरुद्धार करना होगा।[2]

1. हरिजंन सेवक: 30-4-1938
2. हरिजन सेवक: 7-5-1938

अपनी शिक्षा योजना से वे विशेष रुप से देहाती बच्चो को लोभ पहुँचाना चाहते थे जो पूर्णतया उपेक्षित थे इसलिये गांधी जी ने उसे ग्रामीण राष्ट्रीय शिक्षा कहा गांधी जी. शिक्षा में मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। वर्तमान प्रचलित शिक्षा जो पश्चिमी शिक्षा के अनुकरण पर आधारित था उसे समाप्त करना चाहते थे। उन्होनें इस विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा था कि इसे देहाती दस्तकारियों द्वारा दी जाने वाली ग्रामीण राष्ट्रीय शिक्षा कहना अधिक सही होगा। इस शिक्षा पद्धति में तथाकथित उच्च या अंग्रेजी शिक्षा का समावेश नही होगा। राष्ट्रीय शब्द उस समय सत्य और अहिंसा का सूचक बन गया था। इसलिये उनकी दृष्टि मे देहाती दस्तकारियो द्वारा दी जाने वाली शिक्षको से यह आशा रखना है कि देहाती बच्चों को उनको अपने ही गांवो में किसी चुनी हुई देहाती दस्तकारी के जरिये ऐसी शिक्षा देगे जिससे उनकी सभी शक्तियो का पूर्ण विकास होगा और यह सारी शिक्षा एक ऐसे वातावरण में दी जायेगी जो ऊपर से लादे गये बंधनो और बाधाओ से मुक्त होगी। इस दृष्टि से सोचने पर यह योजना देहाती बच्चों की शिक्षा में एक क्रान्ति ही थी। किसी भी दृष्टि से इसे पश्चिम का अनुकरण नही कहा जा सकता।[1]

इस प्रकार तालीम के माध्यम से गांधी जी सामान्य जन जीवन में परिवर्तन लाना चाहते थे। शिक्षा से अछूते देहाती बच्चों में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, श्रम के प्रति रुचि, दस्तकारी में दक्षता, आदि गुणो का समावेश करना चाहते थे।

गांधी जी पुरानी शिक्षा पद्धति के सर्वथा विरोधी थे। इसकी अपेक्षा वे पुरानी शिक्षा की अच्छी बातो को स्वीकार करने को सदैव प्रस्तुत थे साथ ही उसमें नये तत्वों के समावेश के भी समर्थक थे जिनमे शिक्षा बदलती हुई परिस्थितियो के अनुकुल और उपयुक्त हो सके। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होनें कहा था कि पुरानी शिक्षा पद्धति में जो गुण है उनका नई तालीम में समावेश अवश्य रहेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त उसमें नये तत्वों को भी पर्याप्त मात्रा में स्थान दिया जायेगा। यदि नई तालीम वास्तव में नई है तो इसका यह फल होना चाहिये, कि यह हमारी पोषण योग्य साधन सम्पन्नता में, हमारी बेकारी को श्रम और कार्य में और तिरस्कार को श्रम और एकता की भावना मे परिणत कर दे। यह सारे बालक व वालिकाओं को पढ़ना लिखना सीखने के योग्य बना दें और इसके साथ ही एक ऐसी हस्तकला जान ले जिसके माध्यम से वे ज्ञान प्राप्त कर सके।[2]

इस प्रकार गांधी जी के विचार से सारी शिक्षा को किसी बुनियादी उद्योग के साथ अवश्य संबध जोड़ना चाहिये।

1. बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की भूमिका से 28-5-1938
2. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ वर्धा प्रकाशित नई तालीम मासिक पत्र के लिये दिया गया संदेश 4-10-1938

गांधी जी के विचारानुसार स्वावलम्बन नई तालीम की प्रथम शर्त नही वल्कि सच्ची कसौटी थी। स्वावलम्बन के विना उनके विचार में नयी तालीम वैसी ही होती जैसे बिना प्राण का शरीर। नई तालीम में शिक्षित युवक चरित्रवान होगे और बेकारी उनके लिये कोई समस्या नहीं होगी। गांवों की सादगी और पवित्रता से उनका लगाव होगा। आधुनिक समाज की बुराईयों से मुक्त होगे। इन युवकों के द्वारा ही वास्तव में ग्रामीण जीवन का विकास होगा।[1]

भारत गाँवों का देश है इसलिये इसका भविष्य में कितने भी व्यापक पैमाने पर औद्योगिकरण किया जाय, गाँवों और कृषि की प्रधानता मिट नही सकती । इसी को ध्यान में रखकर ग्रामपरक बुनियादी तालीम को भावी भारत के विकास का आधार गाँधी जी ने माना ।

तत्कालीन प्रचलित विश्वविधालीय शिक्षा में भी गांधी जी परिवर्तन चाहते थे । विश्वविधालिय शिक्षा का भारत की आवश्यकताओं के साथ पूरा-पूरा मेल बैठना चाहिये इसलिये विश्वविधालय की शिक्षा को नई शिक्षा के सिलसिले मे जारी रहने वाला उसका विस्तृत रुप होना चाहिये । वे इस बात को मानते थे कि तत्कालीन यूनिवर्सिटी शिक्षा ने हमे आजादी का रास्ता दिखाने के बजाए गुलाम ही बनाया इसके विपरीत वे चाहते थे कि विश्वविद्यालयों को चाहिये कि वे देश की स्वतंत्रता के लिये जीने और मरने वाले जनसेवक तैयार करे । इसलिये उनकी राय थी कि तालीमी संध की शिक्षको की सहायता से विश्वविधालय की शिक्षा को नई शिक्षा के साथ जोड़कर उसको लाइन में ले आना चाहिये ।[2]

इस प्रकार गांधी जी विश्वविद्यालयीय शिक्षा में परिवर्तन लाकर, बुनियादी शिक्षा के आधार पर उसका विकास करना चाहते थे । तत्कालीन विश्वविधालयो में शिक्षा प्राप्त युवकों की नौकरी के पीछे भागने की प्रवृति से वे दुखी थे । गांधी जी का विचार था कि पूरी शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिये । यानि अंत मे पूंजी को छोड़कर अपना सारा खर्च उसे स्वंय निकालना चाहिये । इसमे आखिरी दर्जे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय यानि विद्यार्थी अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग धंधा आखिरी दर्ज तक मेरा सारी तालीम विद्यार्थियो को प्रान्तीय भाषा के माध्यम से दी जानी चाहिये। इससे साम्प्रदायिक-धार्मिक शिक्षा के लिये कोई जगह नही होगी लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिये काफी गुंजाइश होगी । इस तालीम को पाने वाले लाखों करोड़ों विद्यार्थी अपने आपको सारे भारत के नागरिक समझेगे, इसलिये उन्हे अर्न्तप्रान्तीय भाषा सीखनी होगी । सारे देश की एक भाषा नागरी या उर्दू में लिखी जाने वाली हिन्दूस्तानी ही हो सकती है इसलिये विद्यार्थियों की दोनों लिपियाँ अच्छी तरह सीखनी होगी ।[3]

---

1. हरिजन सेवक : 22.9.1946
2.. हरिजन सेवक : 25-8-1946.
3. हरिजन सेवक : 2-11-1947

प्रौढ़ शिक्षा :

गांधीवादी शिक्षा पद्धति और समाज सुधार का एक पक्ष प्रौढ़ शिक्षा भी रहा है। गांधीवादी पद्धति में यह तो सारी योजना एक छोटा सा अंश मात्र था । प्रौढ़ शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व और मूल्यों के विकाश में पिछली शिक्षा और बाद की आवश्यकताओं के बीच अनिवार्य रुप से पड़ने वाले अन्तर को पूरा करने के लिये सभी लोगो को दिया गया प्रशिक्षण होगा । प्रौढ़ शिक्षा में सबसे पहले साक्षरता पर बल दिया जायेगा । इसके साथ ही साथ इसके माध्यम से किसी काम में, भाई चारे की भावना से आपसी सहयोग में, सेवा कार्य में और इस सबके अलावा आत्म अनुशासन में लगातार शिक्षा देना भी रहा है । यही उसका असली आशय था जो अधिक प्रमुख रहा है । गांधी जी के अनुसार प्रौढ़ शिक्षा राष्ट्रीय निर्माण के सम्पूर्ण कार्यक्रम का एक अंश था जिसका उद्देश्य मानसिक शक्तियो का विकाश और मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण के बीच में अन्तर को पूरा करना था । गांधी जी भारतीयो में निर्भय होने की भावना को जाग्रत करना चाहते थे । इसीलिये उन्होंने निःशुल्क आत्मनिभर और समन्वित शिक्षा पद्धति को स्वीकार किया क्योकि इसी तरह की शिक्षा से ही बच्चे की शारीरिक क्षमता के साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है । गांधी जी निर्भय व्यक्तियों के जिस नये समाज का निर्माण करना चाहते थे, उसकी नींव स्वस्थ शिक्षा थी । कोई भी समाज तब तक स्वतंत्र नही हो सकता जब तक कि उसके विद्वान व्यक्ति स्वतंत्र और निर्भीक न हो । उन्होने अध्यापकों को अनुचित दबावों से मुक्त होकर काम करने की सलाह दी थी ।[1]

गांधी जी के विचारानुसार सच्चा शिक्षक वह है जो अपने विद्यार्थियों में घुलमिल जाता है, उनमे तन्मय हो जाता है वह जितना उन्हे सिखाता है उससे अधिक उनसे सीखता है ।[2]

गांधी जी चाहते थे कि शिक्षकों में नैतिक बल, साहस और निर्भिकता होनी चाहिये जिसे वे अपने शिष्यों के चरित्र निर्माण में सम्यक योग दे सके ।[3]

इस प्रकार शिक्षक को अपने जीवनयापन की विधि और व्यवहारिक सात्विक आचरण द्वारा शिष्यों में सत्य और अहिंसा पर आधारित नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापना करनी चाहिये । ऐसे शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित होने पर सच्चे शुद्ध हृदय वाले और स्वस्थ होगे । इनका रुझान गावों की ओर होगा । उनके मस्तिष्क और हाथ का विकाश एक सा होगा ।[4]

---

1. नवजीवन: 3-10-1920.
2. हरिजन सेवक: 15-2-1945
3. हरिजन सेवक: 18-8-1946
4. हरिजन सेवक: 22-9-1946

गांधी ने पटना के विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुए कहा था असली शिक्षा तो कर्त्तव्यपालन है । वे छात्र समुदाय में अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य पालन की भावना को प्रमुखता देते थे । परतंत्र भारत में अग्रेंजी शिक्षा प्राप्त युवक डिग्रियों को जीविका का साधन मानते रहे है । यह विचार दासता का सूचक था इसलिये वे चाहते थे कि छात्रों को देश की आजादी की लड़ाई में यदि सक्रिय योग देना है तो उन्हे राष्ट्र प्रेम तथा देश प्रेम की भावना से प्रेरित होकर देश की स्वतंत्र बुनियादी शिक्षा के आधार पर चरित्र निर्माण करना चाहिये ।[1]

वाराणसी के छात्रों को सम्बोधित करते हुए उन्होने स्वाबलम्बन, आत्म सम्मान और आत्म निर्भरता की भावना से शिक्षा प्राप्त करने पर बल दिया था । शिक्षा के माध्यम से गांधी गुलाम भारत को आजाद करने के लिये छात्रों में देश प्रेम की भावना भरना चाहते थे । वे शिक्षा का उद्देश्य स्वराज्य मानते थे । इस प्रकार उनकी शिक्षा व्यवसाय के द्वारा छात्रों में देश प्रेम की भावना, और मातृ भूमि को दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ने के योग्य बनाया था । इसके लिये उन्होंने छात्रों में सादगी, खादी का उपयोग और निर्माण की भावना जाग्रत करने पर बल दिया ।[2]

उन्होने मैनचेस्टर के बने कपड़ों को छोडकर खादी वस्त्र धारण करने का आह्वाहन किया जिससे रचनात्मक कार्य करने की क्षमता का विकास हो साथ ही देश प्रेम की भावना भी पैदा हो । विदेशी वस्त्रों को छोड़कर स्वदेशी वस्त्रों के धारण करने से अपने देश के प्रति अनुराग पैदा होगा, ऐसा उनका विचार था ।

गांधी जी शिक्षा के साथ - साथ रचनात्मक कार्यों और समाज सुधार के कार्यों पर भी बराबर बल देते रहे । विद्यार्थियों को रचनात्मक कार्य करने की शिक्षा देते हुए कहा था अगर विद्यार्थी अपने को सच्ची स्वराज्य सेना में बदलना चाहते है तो उन्हे व्याख्यान वाणी से हटकर रचनात्मक कार्यों में जुट जाना चाहिये । विद्यार्थियो की रिर्पोट मे भाषणो, नाटकों के उल्लेख की जगह अब तो यह लिखा जाना चाहिये कि उन्होंने उन कामों के सिवा कितने शौचालय साफ किये; कितने गाँवो की कुओं की सफाई की, कितने बांध बांधे, कितने मरीजों, रोगियों की सेवा की, कितनी खादी बुनी, कितने तालाब या कुएँ खोदे और कितनी रात्रिशालाओं आदि का संचालन किया ।[3]

इस प्रकार गांधी जी जहाँ शिक्षा के माध्यम से देश को आत्म निर्भर बनाना चाहते थे वही वे देश की स्वतंत्रता के लिये कर्मठ सेनानियों और समाज सुधार के लिये आत्मबलदानी सेवकों का निर्माण भी चाहते थे ।

गांधी जी शिक्षा की समस्या पर विशेषतः उसे भारतीय परिपेक्ष मे रखते हुए विचार कर रहे थे । एक और देश का अधिकाशं भाग साक्षरता से दूर था परन्तु उसे बहुतेरे उत्तम संस्कार प्राचीन काल से चले आ रहे थे । देश की अधिकांश प्रजा किसान

1. यगं इण्डियाः 15-1-1925
2. संर्चलाइटः 8.12.1920
3. हिन्दी नवजीवनः 20-6-1929.

और कारीगर थी । वह निरक्षर थी परन्तु निरक्षर होते हुए भी उसमे समझ थी, विवेक था, संस्कार था, धर्म बुद्धि भी थी । गांधी जी भारत में शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली चाहते थे जो एक और जनता को उसकी परम्परा और क्षेत्र से उसे अपदस्थ न करे और दूसरी और उसमे वैदिक शिक्षा तथा विज्ञान की नवीन साहसिक यात्राओ के प्रति अभिरुचि भी उत्पन्न कर सकें । गांधी के शिक्षा संबधी विचारों के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते थे कि एक गरीब देश मे कोटि कोटि जनता को साक्षर बनाने तथा उसमें प्राचीन संस्कृति की नींव पर नवीन जीवनोन्मेष लाने वाली शिक्षा योजना किस प्रकार बनायी जा सकती थी, यह सवाल गांधी जी के सामने थे ।

बहुत विचार और मनन के बाद उन्होने 1937 ई० में शिक्षण की एक ऐसी तस्वीर देश के सामने रखी कि शिक्षा जगत से सम्बद्ध लोग स्तब्ध रह गये । यह उनके आराम तलब जीवन पर ही कुठाराधात था । यह एक ऐसा क्रांतिकारी विचार था जिसे सहज ही पचा लेना शिक्षित समाज के बूते की बात न थी । इस पर गांधी जी की समग्र विचारधारा की छाप थी । इसे उन्होंने नई तालीम, नया शिक्षण का नाम दिया। अपने विचार को स्वंय ही सबसे अधिक क्रांतिकारी कदम बताया और अपना यह विचार शिक्षा क्षेत्र में काम करने वाला अपने साथियों और मित्रों के सामने रखते हुए उन्होंने कुछ इस भाव के विचार प्रकट किये थे मै इस देश के सामने और उसके द्वारा संसार के सामने कुछ नये विचार रखने का दावा कर सकता हूँ । मैने अब तक जिन विचारों की भेंट जगत के चरणों मे रखी है उनमे यह विचार मुझे सबसे अधिक क्रांतिकारी और इसलिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण लगता है । इससे अधिक महत्वपूर्ण और अधिकमूल्यवान भेंट दुनिया के सामने रख सकूगां, ऐसा मुझे नही लगता। इसमें मेरे रचनात्मक कार्यक्रम की व्यवहारिक रुप देने की कुंजी समाई हुई है । जिस नई दुनिया के लिये मैं छटपटा रहा हूँ वह इसमे से उत्पन्न की जा सकती है यह मेरी आखिरी बसीयत है।[1]

गांधी ने अनुभव किया था कि तत्कालीन शिक्षा का जो रुप प्रचलित था वह अत्यधिक ब्यय साध्य था । गरीब या तो शिक्षा प्राप्त नही कर सकते थे या करते थे तो उनका बोझ समाज या सरकार पर पड़ता था । फिर उस शिक्षा प्रणाली के कारण ग्राम और नगर का भेद बढ़ रहा था । अर्वाचीन शिक्षा पद्धति की आलोचना करते हुए प्रयाग की सार्वजनिक सभा मे जो प० मदन मोहन मालवीय के सभापतित्व में हुई थी उसमे महात्मा गांधी ने कहा था, आजकल शिक्षा प्राप्त करन का उद्देश्य सरकारी नौकरी पाना है । अंग्रेजी भाषा के द्वारा दी गई शिक्षा ने मुट्ठीभर शिक्षितों और सर्वसाधारण के बीच बड़ी भारी खाई उत्पन्न कर दी है । मूलतः शिक्षा के संबध में गांधी जी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय दृष्टिकोण था । वह भारत में अग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा प्रणाली के स्थान पर एक दूसरी प्रणाली शुरु करना चाहते थे । गांधी जी के मत में अंग्रेजो की शिक्षा पद्धति का उद्देश्य ऐसे शिक्षित लोगों को तैयार करना था जो केवल अंग्रेजो की सेवा कर सके। उन्होंने जिस वर्ग की हिन्द स्वराज्य में भर्त्सना की थी वह वर्ग अब और भी बढ़ा होता

---

1. प्रथम शिक्षा परिषद् वर्धा मे 22-9-1937 को अपने विचार रखते हुए गांधी ने उपयुक्त मत व्यक्त किया था ।

जा रहा था और भारतीय समाज के लिये खतरा बनता जा रहा था । इस शिक्षा पद्धति ने जिस शिक्षा पद्धति और वर्ग का निर्माण किया उसे गांधी जी ने अस्वीकृत कर दिया। गांधी के अनुसार इस शिक्षा का सबसे विनाशकारी परिणाम हुआ एक नई जाति का निर्माण अंग्रेजी बोलने वालों की जाति । इसलिये राष्ट्र के लिये गांधी जी की योजना यह थी कि यूरोपीय प्रभाव के कारण नष्ट होने वाली राष्ट्रीय और सामाजिक भावधारा को सूखने से बचाया जाये ।[1]

उनके लिये बुनियादी शिक्षा पद्धति एक सहज स्वाभाविक शिक्षा पद्धति था क्योकि यह इसे बच्चों के घर के वातावरण का एक विस्तार मानते थे । वह बच्चों के बुनियादी अच्छाई में विश्वास करते थे । वह यह भी मानते थे कि शिक्षा का स्वरुप बच्चों के और बच्चों को संस्कृति के सहज और उत्तरोत्तर विकास के अनुसार ही होना चाहिये । गांधीवादी स्कूल में शिक्षा खेल के वातावरण में शुरु होती है । इसमें बच्चों की आजादी का ध्यान रखा जाता है और बाल केद्रित होती है । विभिन्न कार्यकलाप, स्थान विशेष में प्रचलन के अनुसार दस्तकारी पर जोर देने के सहज वातावरण का निर्माण होता है । दूसरी ओर गांधी जी के शिक्षा सिद्धान्त में एक निश्चित आर्दशवाद भी मिलता है जिसके लिये उनकी कड़ा आलोचना भी हुई । आध्यात्मिक समाज मे आध्यात्मिक मानव के विकास का उनका मूल लक्ष्य शिक्षा सिद्धान्त में इतिहास की दृष्टि से एक आर्दशवादी लक्ष्य रहा है । विशेष व्यवसाय के लिये तैयार करने के बजाय जीवन की सम्पूर्णता की तैयारी के रुप मे शिक्षा को ग्रहण करना एक दूसरा आर्दशवादी लक्ष्य है । फिर भी उनके लिये शिक्षा का सबसे मुख्य प्रेरक लक्ष्य था आत्मानुभव अर्थात ...न और अहिंसा का अधिक पूर्ण उपलब्धि ।[2]

गांधी जी ने इस बात पर बल दिया था कि शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिसमे बुद्धि और आत्मा का सर्वाधिक विकास सम्भव हो सके । इसका आशय था एक समेकित दृष्टिकोण, जिसमे बच्चे के बौद्धिक, भौतिक और नैतिक पक्ष को उसने मनुष्य के रुप मे विकसित होने तक उचित रुप में विकसित होना और संतुलित रहना चाहिये। वह ऐसी शिक्षा का समर्थन नही करते थे जिसमे सिर्फ बौद्धिक पक्ष पर ही जोर दिया जाता है जैसा कि हमारी आधुनिक शिक्षा पद्धत्ति में होता है । कभी कभी यह कहा जाता है कि जीवन के बारे में गांधी जी का दृष्टिकोण बुद्धि - विरोधी है क्योंकि उन्होंने शिक्षा के नैतिक और व्यावहारिक या धंधे के पक्ष पर ही अधिक जोर दिया था । लेकिन गांधी जी ने बौद्धिक उन्नति के गुणों को कही पर भी कम महत्वपूर्ण नही कहा है । गांधीवादी पद्धति सभी पद्धतियों से एकदम आगे है । उसमे भरपूर शक्ति और सम्भावनायें है । उनके लिये बौद्धिक वाक्जाल बेकार चीज थी क्योंकि इससे एक पढ़ा - लिखा आदमी गैर पढे - लिखे आदमी की अपेक्षा कोई अधिक अच्छा आदमी नही बनता ।

1. केकनर, विलियमः द हिन्दू सरसमालिटी इन एजुकेशन नई- दिल्ली, 1976, पृ० 105
2. गांधी : पैसेज टु स्टूडेन्स, पृ० 5

इसलिये गांधीवादी शिक्षा पद्धति को जो लोग गैर बौद्धिक कहते है वे पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित गांधीवादी शिक्षा के तथ्य ठीक से नही समझ सके है ।[1]

गांधी जी ने सबसे पहले इस बात पर बल दिया कि शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिये जो शुरु से ही भारत की गरीबी को दूर करे और इस समस्या का अंतिम रुप से समाधान करे । उनकी बुनियादी तालीम पद्धति ठीक इसी समस्या का समाधान करती थी । दूसरे भारत जैसे देश में जहाँ अधिकाशं गरीब जनता गांवों मे रहती है शिक्षा पद्धति को ऐसा होना चाहिये जो इन लोगों की आवश्यकताओं को गांवों मे उत्पादन का आधार बनाकर पूरी करे । यह गाँवों के उद्योगो, शिल्प या उत्पादन के अन्य साधनों का पुनरुद्धार कर या वहाँ उद्योग आदि खोलकर पूरा किया जा सकता है । तीसरे शिक्षा पद्धति के विभिन्न स्तरों की बुनियादी शिक्षा से लेकर ऊँची शिक्षा के स्तरों को ऐसा होना चाहिये जिससे असमानतायें कम हो । गाँवो और शहरों का आपसी संघर्ष दूर हो । चौथे शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिससे विद्वान और उत्पादन में सहायक तकनीकि व्यक्ति ही पैदा न हो बल्कि ऐसे लोग तैयार हो जो सत्य और अहिंसा के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हो । पाँचवे स्वयं काम करने की आदत भी पैदा होनी चाहिये और इसे जीवन के साथ समन्वित किया जाना चाहिये छठें ऊँची शिक्षा से प्रौढों में राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने की उत्तरदायित्व की भावना का विकास होना चाहिये । शिक्षा आत्मनिर्भरता की सूक्ष्म कसौटी है । सातवें गांधीवादी शिक्षक को प्रकाश स्तम्भ सूचनापट्ट सबके साथ घुलमिलकर रहने वाला सबका कल्याण करने वाला और ऐसा व्यक्ति कहा गया है जो लोगों को वाकजाल के द्वारा होने वाले अत्याचार से बचाये । शिक्षा संस्थाओं को समुदाय जैसा समझा जाना चाहिये जो समाज के अन्य समुदायों के साथ समान उद्देश्य के लिये काम करती है और एक दूसरे से सम्बद्ध है । शिक्षा के द्वारा समाज के प्रसंग में ही मनुष्य पूर्ण बन सकता है उससे अलग रहकर नही । यही गांधी वादी आध्यात्मिकता का भी उद्देश्य है ।

गांधी जी भारतीय भी थे और एक विश्वसनीय व्यक्ति भी, भारत की आजादी उनका उद्देश्य था लेकिन इससे अधिक वह बुनियादी मूल्यों पर जोर देते थे । जैसा कि हम अपने सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों मे देख रहे है, इन मूल्यों के बिना आजादी एक कोरा नारा रह गई है । शिक्षा के बारे में के० जी० सैयदेन ने संक्षेप में गांधी के योगदान को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "शिक्षा के क्षेत्र मे उनका योगदान दुहरा है । एक ओर भारत मे शिक्षा की स्थिति को देखते हुए यह भारतीय प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत एक विशिष्ट पद्धति है जिसका विकास यहाँ की मिट्टी में हुआ और जो विदेश से लायी गयी चीज नही है । दूसरी ओर यह विश्व - स्तर पर भी उपयोगी है जिसके कारण यह युग के प्रगतिशील शिक्षा-दर्शन के कोटि में आ जाती है - यह एक ऐसा तथ्य है जिससे महात्मा गांधी स्वयं आश्चर्यचकित थे क्योंकि उनका विदेशों के आधुनिक शिक्षा आन्दोलनों से कोई भी बौद्धिक सम्बन्ध नहीं था ।[2]

■

1. नारायण, श्रीमन्ना : टूवर्डस् बेटर एजूकेशन, अहमदाबाद, 1963, पृ० 139
2. सैयदेन, के. जी : बेसिक एजूकेशन, पृष्ठ 164

परिशिष्ट

महात्मा गाँधी की रचनाएँ (हिन्दी)

आत्मकथा (संक्षिप्त) — अनु.महादेव देसाई, सम्पा. हरिभाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1975.

आर्थिक और औद्योगिक जीवन - उसकी समस्यायें और हल (भाग 1) — सम्पा व्ही. बी. खेर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1961.

अहिंसा और सत्य' — सम्पा. रामनाथ सुमन, उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारक निधि, वाराणसी, 1965.

अहिंसक समाजवाद की ओर — सम्पा. भारतन् कुमारप्पा, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1955

ऐसे थे बापू — संम्पा. आर.के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1959.

गाँधी बोध — संकलनकर्ता बालकोबा भावे, अनु. काशीनाथ त्रिवेदी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1972.

गाँधी - ग्रन्थ — सम्पा. श्री प्रेम नारायण माथुर, रामनारायण प्रकाश्क, इलाहाबाद, 1949.

गाँधी विचार दोहन — सम्पा.के.जी.मशरूवाला, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1962

गीता बोध और मंगल प्रभाव — सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, 1969.

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह — सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1927.

दिल्ली डायरी — सम्पा. जी. डी. देसाई, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1948.

पंचायत राज — संम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1961.

बापू के पत्र - मीराबेन के नाम — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद.

बुनियादी शिक्षा — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1953.

भारत के नये राज्य — संम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1961.

मेरा धर्म — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1955.

मेरा समाजवाद — सम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1959.

मेरे सपनों का भारत — सम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1960.

युद्ध और अहिंसा — सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1940.

रामनाम — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1949

वर्ण व्यवस्था — अनु. रामनारायन चौधरी, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1948.

विश्व शांति का अहिंसक मार्ग — सम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1959.

सच्ची शिक्षा — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1956.

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा — अनु. महाबीर प्रसाद पोद्दार, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987.

सत्याग्रह — सम्पा. रामनाथ सुमन, उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारक निधि, वाराणसी, 1967.

सत्याग्रह "युद्ध" — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1930.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय — प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1961 - 1980.

समाज में स्त्रियों का स्थान और कार्य — सम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद.

सर्वोदय — संपा. भारतन कुमारप्पा, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1958 एवं 1963.

साम्यवाद और साम्यवादी — सम्पा. आर. के. प्रभु, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1959.

संरक्षकता का सिद्धान्त — सम्पा. रवीन्द्र केलेकर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1960.

हिन्द स्वराज्य — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1973 एवं 1982.

महात्मा गाँधी की रचनाएं (अंग्रेजी)

An Autobiogrophy or the Story of My Experiment with Truth	Trans. by Mahadev Desai, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1955
Ashram Observance in Action	Trans. by V. G. Desai, Navajivan Publishing House Ahmedabad,1955.
Bread Labour	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.
Cent Percent Swadeshi	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1958.
Communism and Communists	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
Congress and its Future	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.
Constructive Programme	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1948.
Delhi Diary	Navajivan Publishing House, Ahmedabad.
Democracy : Real and Deceptive	Comp. by R. K. Prabhu, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1961.
Ethical Religion	Trans. by B. Rama Iyer, S Ganesan, Madras, 1930.
From Yervada Mandir	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1957.
Gandhi Against Fascism	Ed. by Jag Parvesh Chander, Free India Publications, Lahore, 1944.
Gandhian Correspondence with the Government (1942-1947 & 1944-1947)	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
Gita According to Gandhi	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1969.
Gokhale : My Political Guru	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1958.
Hindu Dharma	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1950.
Hind Swaraj or Indian Home Rule	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1962.
India's Case for Swaraj	Ed. and Comp. by W. P. Kabadi, Yashanand & Co., Bombay, 1932.
My Non - Violence	Comp. and Ed. by S. K. Bandopadhyaya, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.
My Philosophy of Life	Pearl Publications Limited, Bombay, 1961.
My Picture of Free India	Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965
My Varnasharma Dharma	Ed. by Anand T. Hingorani, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965.
Non-Violence in peace and war.	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, Vol. II, 1962.
Political and National Life and Affairs	Comp. & Ed. by V.B. Kher, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1967.

Practical Non- Violence	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1967.
Practical At any Cost	Comp. by R. K. Prabhu, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960
Rebuilding Our Villages	Ed. by Bharatan Kumarappa, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1952.
Removal of Untouchability	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1954.
Re- Orientation of Khadi	Sarvodya Pracharalaya, Thanjaour, 1964.
Round Table Conference	Gandhi Publications League, Lahore.
Sarvodaya : Its Principles and Programme	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1962.
Satyagraha : Non Violent Resistance	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1951.
Satyagraha in South Africa	Trans. by V. G. Desai, S. Ganeshan, Madras, 1928.
Selected Letters	Comp. and Trans. by V.G. Desai, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, I Series 1949 & II Series 1962.
Selection from Gandhi	Comp. by N. K. Bose, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1948.
Selection from Mahatma Gandhi	Comp. by K. N. Misra, Ram Narain lal, Allahabad, 1947
Service Before Self	Ed. Anand T, Hingorani, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1944.
Speeches & Writing of M. K. Gandhi	Comp. by G. A. Natesau & Co., Madras, 1917.
SomeWalls Do Not a Prison Make	V. B. Kher, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1964.
Swaraj in One Year	Ganesh & Co., Madras, 1921.
Swaraj Through Charkha	Wardha A. I. E. A., 1947.
The Collected Works of Mahatma Gandhi	Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, 1958-1971.
The Gospel of Swadeshi	Ed. by A. T. Hingorani, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1967.
The Indian State Problem	Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1941.
The Hindu - Muslim Unity	Ed. by A. T. Hingorani, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965.
The Message of the Gita	Ed. by R. K. Prabhu, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
The Science of Satyagraha	Ed. by A.T. Hingorani, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1967.
The Selected Works of Mahatma Gandhi	Ed. by Shriman Narayan, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.
The way of Communal Harmony	Comp. and Ed. by U. R. Rao, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1963.

Towards Non - Violent Socialism — Ed. by Bharatan Kumarappa, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1951.

Truth is God — Comp. by R. K. Prabhu, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1955.

Women and Social Injustice — Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1954.

(B) Journals (Edited by Gandhi)

Indian Opinion — Natal, South Africa (1904 - 1914).

Young India — Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1919 - 1932.

Harijan — Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1933 - 1955.

■

सहायक ग्रन्थ सूची (हिन्दी)

कृपलानी, जे.बी. गाँधी : एक राजनैतिक अध्ययन, अनु.मंगुलनाथ, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी,1981

कुमार, जैनेन्द्र अकाल पुरुष गाँधी, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली,1968.

ग्रेग, रिचर्ड बी. आशा के एक मात्र मार्ग, अनु.रामनारायण, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद,1960

गाँधी, मदन गोपाल गाँधी और मार्क्स,मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक, 1982

चतुर्वेदी, दूधनाथ महात्मा गाँधी का आर्थिक दर्शन,काशी विद्यापीठ मुद्रणालय, वाराणसी,1965.

चतुर्वेदी, नर्मदेश्वर बापू का सपना, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद,1953.

जैन, प्रतिभा गाँधी-चिन्तन, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989

दत्त, धीरेन्द्र मोहन महात्मा गाँधी का दर्शन,अनु. रामजी सिंह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1985

दुबे, नरेन्द्र ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त और व्यवहार,सर्वसेवा संघ प्रकाशन,वाराणसी.

दीक्षित, गोपीनाथ गाँधी जी की चुनौती : कम्युनिज्म को, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद,1974

धर्माधिकारी, दादा लोकतंत्र : विकास और भविष्य, सर्वसेवा - संघ प्रकाशन, वाराणसी,1986.

नंदा, बी.आर. महात्मा गाँधी - एक जीवनी, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली,1965

नरेन्द्र भाई (सम्पा.) निहत्थों का विद्रोह (भाग 1से 8 तक) सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी,1979.

पराशर, चिरंजीलाल गाँधी जीवन दर्शन और राष्ट्रवाद,राकेश प्रकाशन, दिल्ली.

प्रसाद, राजेन्द्र गाँधीवाद समाजवाद : तुलनात्मक अध्ययन, नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर.

बंग, ठाकुरदास सत्याग्रह : क्या क्यों और कैसे ?, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी.1986

बिड़ला, घनश्यामदास बापू, सस्ता साहित्य प्रकाशन,1956

मशरूवाला, किशोरी लाल गाँधी और साम्यवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, 1956

मंत्री, गणेश — मार्क्स गाँधी और समसामयिक सन्दर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1983

राजानन्द — गाँधी दर्शन और शिक्षा (गाँधी शताब्दी), सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर,1969

रोलां, रोमां — महात्मा गाँधी : जीवनी और दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,1976

राव, यू.आर. — ऐसे थे बापू (गाँधी जन्म शताब्दी पर प्रकाशित), अक्टूबर, 1969

बेलॉक , विल्फ्रेड — गाँधी एक सामाजिक क्रांतिकारी, अनु. चन्द्रकला मित्तल, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1960

शर्मा, देवीदत्त — गाँधी और विश्वशान्ति, सर्व-सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी,1960

शर्मा, हरिदत्त — महात्मा गाँधी और राष्ट्रीय एकता, ज्ञानदीप प्रकाशन, दिल्ली.

सीतारमैय्या, बी. पट्टाभि — गाँधी और गाँधीवाद, अनु. वेदराज वेदालंकार,शिवलाल अग्रवाल एण्ड क. प्रा.लि., आगरा, भाग1तथा भाग-2 1957 एवं1959

सेमियो, एलेनी — प्यारे बापू, अनु. सरलाबहन, सर्वसेवा - संघ प्रकाशन, वाराणसी,1968

सिंह, नारायण — मार्क्स और गाँधी का साम्यदर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

त्रिपाठी, कृष्ण मुरारी — युद्ध का प्रभावकारी विकल्प : अहिंसा, अनुपम प्रकाशन, बस्ती,1984.

गाँधी व्यक्तित्व विचार और प्रभाव, गाँधी शतसंवत्सरी के उपलक्ष्य में प्रकाशित,सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1969.

सहायक ग्रन्थ सूची (अंग्रेजी)

Abid Hussain, S	Gandhi ji and Communal Unity, Orient Longmans, New Delhi, 1969.
Agarwal, S.N.	Gandhian Constitution for Free India, Kitabistan, Allahabad, 1946.
Ahluwalia, B. K. (ed.)	Facets of Gandhi, Lakshmi Book Store, New Delhi, 1968.
Alexander, H.	Social and Political Ideas of Gandhi, Indian Council of World Affairs, New Delhi, 1949
Andrews, C. F. (ed.)	Mahatma Gandhi at Work , George Allen and Unwin Ltd., London, 1931
Andrews, C.F.	Mahatma Gandhi's Ideas - Including Selections from his Writings, Georgee Allen and Unwin Ltd., London, 1949.
Anjaria, J .J	An Essay on Gandhian Economics, Vora & Co., Bombay,1945.
Aryanayakam, A. D.	Gandhi the Teacher, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay,1966.
Ashe, G	Gandhi : A Study in Revolution, Asia Publishing House, Bombay, 1968.
Bakshi, S. R.	Gandhi and His Technique of Satyagraha, Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1987.
Bakshi, S.R.	Gandhi and Ideology of Nonviolence, Criterion Publication, New Delhi, 1986.
Bandyopadhyaya, J.	Social and Political Thought of Gandhi, Allied Publishers, Bombay, 1969.
Bandyopadhyaya, N.C.	Gandhism in Theory and Practice, Ganesh & Co., Madras, 1923.
Bari, S. A.	Gandhian Doctrine of Civil Resistance, Kalamkar Prakashan Pvt. Ltd., New Delhi, 1971.
Barr, F. M.	Mahatma Gandhi : His Life and Teachings, Radha Krishnalal, Allahabad, 1934.
Bhattacharya, B.	Evolution of the Political Philosphy of Mahatma Gandhi, Calcutta Book House, Calcutta, 1969.
Birla, G. D.	In the Shadow of the Mahatma : A Personal Memoir,Orient Longmans Ltd., Madras, 1953.
Bondurant, J. V.	Conquest of Violence : The Gandhian Philosophy of Conflict, Princeton University Press, New Jersey, 1958.
Bose, N. K.	Gandhiji : The Man and His Mission, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1966.
Bose, N. K.	Lectures on Gandhism, Navajivan Publishing, Ahmedabad, 1971.

Bose, N. K.	My days with Gandhi, Nishana Publications Calcutta, 1953.
Bose, N. K.	Studies in Gandhism, Indian Associated Publishing Co. Calcutta, 1947.
Bose, N. K. & Patwardhan, P. H.	Gandhi in Indian Politics, Lalvani Publishing House, Bombay, 1967.
Bright, J. S.	Gandhi Is India, Indian Printing Works, Lahore, 1947.
Catlin, G.	In the Path of Mahatma Gandhi, McDonald & Co. Publishers Ltd., London, 1948.
Chakravarty, A.	Mahatma Gandhi and the Modern World, The Book House, Calcutta, 1945.
Chandiwala, B. K.	At the Feet of Bapu, Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1954.
Chatfield, C. (ed.)	The Americanization of Gandhi : Images of the Mahatma, Garland Publishing, New York, 1976.
Chattarjee, M.	Gandhi's Religious Thought, Macmillan, London, 1983.
Chatterjee, R. N.	Bapu As I Saw Him, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
Choudhary, P. C. Roy	Gandhiji and International Politics, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1970.
Consul, G. D.	Mahatma Gandhi : The Divine Democrat, Model Press, Delhi, 1940.
Cowsins, N. (ed.)	Profiles of Gandhi : America Remembers of World Leader, Indian Book Co., Delhi, 1969.
Dandavate, M.	Marx and Gandhi, Popular Prakashan Pvt. Ltd., Bombay, 1975.
Dange, S. A.	Mahatma Gandhi and History, Communist Party of India, New Delhi, 1969.
Datta, D. M.	The Philosophy of Mahatma Gandhi, The University of Wisconsin Press, Madison, 1953.
Desai, M.	Day - To - Day with Gandhi (2 vol.), ed. by N. D. Parekh, Translated by H. G. Nilkanth, Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, 1968.
Desai, M.	Righteous Struggle, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1951.
Desai, M.	The Story of Bardoli, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1957.
Desai, M.	With Gandhiji in Ceylon, S. Ganesan, Madras, 1928.
Dhawan, G. N.	The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1957.
Dhebor, U. N.	Gandhiji : A Practical Idealist, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1964.
Dhebor, U. N.	Lectures on Gandhian Philosophy, Annamalai University, Tiruchi, 1964.

Diwakar, R. R. — Gandhi : A Practical Philosopher, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965.

Diwakar, R. R. — Gandhiji's Basic Ideas and Some Modern Problems, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1963.

Diwakar R. R. — Glimpses of Gandhiji, Hind Kitabs Ltd., Bombay, 1949.

Diwakar, R. R. — Satyagraha in Action, Signet Press, Calcutta, 1949.

Diwakar, R. R. — Satyagraha : Its Technique and History, Hind Kitabs, Bombay, 1946.

Diwakar, R. R. — Satyagraha : The Pathway to Peace, Pustak Bhandar, Patna,1950.

Doke, J. J. — M. K. Gandhi : An Indian Patriot in South Africa, G. A. Natesan & Co. Madras, 1909.

Erikson, E. H. — Gandhi's Truth, Faber & Faber, London, 1970.

Fisher, L. — A Week with Gandhi, International Book House, Bombay, 1943.

Fisher, L. — The Essential Gandhi, Vintage Books, New York, 1962.

Fisher, L. — The Life of Mahatma Gandhi, Haper & Bros. Publications, New York, 1950.

Fulop, N. — Gandhi : The Holy Man, G. P. Putnam's Sons, London, 1931.

Gandhi, Manubehn — My Memorable Moments with Bapu, Trans. by A. Seth, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.

Gangal, S. C. — Gandhian Thought and Techniques in the Modern World, Criterion Publications, New Delhi, 1988.

Gangal, S. C. — The 'Gandhian Way to World Peace, Vora & Co., Bombay 1960.

Ghosh, P. C. — Mahatma Gandhi : As I Saw Him, S.Chand & Co., Delhi, 1968.

Gora — An Atheist with Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1958.

Goyal, O. P. — Studies in Mordern Indian Political Thought : Gandhi : An Interpretation, Ktiab Mahal, Allahabad, 1964.

Gregg, R. B. — The Power of Non- Violence, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.

Grover, V. — Gandhi and Politics, Deep & Deep Publications, New Delhi, 1987.

Gupta, N. N. — Gandhi and Gandhism, Hind Kitabs, Bombay, 1945.

Gupta, S. S. — The Economic Philosophy of Mahatma Gandhi, Ashok Publishing House, Delhi, 1968.

Guru Dutt — India in the Shadow of Gandhi and Nehru, Bharati Sahitya Sadan, New Delhi, 1969.

Hart, E. G. — Gandhi and the Indian Problem, Hutchinson & Co., London, 1940.

Holmes, J. H. — Mahatma Gandhi : The World Significance, C. C. Basak, Calcutta, 1930.

Holmes, W. H. G. — The Two - Fold Gandhi : Hindu Monk and Revolutionary Politician, A. R. Nowbray & Co. Ltd., London, 1952.

Indian Ministry of Educatioon — Gandhian Outlook & Techniques, New Delhi, 1953.

Iyer, R. — The Moral and Political Thought of Mahatma Gandhi, Oxford University Press, New York, 1973.

Iyer, R. — The Moral and Political Writings of Mahatma Gandhi (vol. I, II, III), Clarendon Press, Oxford, 1986, 1987.

Jack, H. A. — The Wit and Wisdom of Gandhi, The Beacon Press, Boston, 1951.

Jha, S. N. — Critical Study of Gandhian Economic Thought, Lakshmi Narain Agrawal, Agra, 1955.

Jones, E. S. — Mahatma Gandhi, An interpretation, Abingdon Press, New York, 1948.

Kar, P. C. — Romantic Gandhi : A Search for Mahatma's Originality, W. Newman & Co. Ltd., Calcutta, 1933.

Kaur , D. — Mahatma Gandhi : Political Saint and unarmed Prophet, Popular Prakashan, Bombay, 1973.

Khanna — Gandhi on Recent Indian Political Thought, Ess Ess Publications, New Delhi, 1982.

Khanna, S. — Gandhi and the Good Life, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1985.

Kotturan, G. — Ahinsa : Gandhi to Gandhi, Sterling Publishers Ltd., New Delhi, 1973.

Kripalani, J. B. — Gandhi : His Life and Thought Publication Division, Govt. of India, New Delhi, 1970.

Kripalani, J. B. — Gandhian Thought, Orient Longmans, Calcutta, 1961.

Kripalani, K. — Gandhi : A Life, National Book Trust of India, New Delhi, 1968.

Krishnamurti, Y. G. — Gandhi Era in World Politics, The Popular Book Depot, Bombay, 1943.

Krishnan, S. R. (ed.) — Mahatma Gandhi : Essays and Reflections on His Life and Work, George Allen and Unwin Ltd., London, 1939.

Kumar, R. (ed.) — Essays in Gandhian Politics : The Rowlatt Satyagraha of 1919, Oxford University Press, London, 1971.

Kumarppa, J. C. — Gandhian Economy and Other Essays, J. C. Kumarappa, Wardha, 1948.

Rai, Lajpat — Mahatma Gandhi : The World's Greatest Man, National Literature Publishing Co., Bombay, 1922.

Mahadev Prasad — Social Philosophy of Mahatma Gandhi, Vishwavidyalaya Prakashan, Gorakhpur, 1958.

Mahadevan, T. K. (ed.) — Truth and Non-Violence, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1969.

Mahadevan, T. K. & Ramachandran, G. (ed.s) — Gandhi : His Relevance for Our Times, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1967.

Mahadevan, T. K. & Ramachandran,G (ed.s) — Quest for Gandhi, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1970.

Malhotra, S. L. — From Civil Disobedience to quit India, Publication Bureau, Punjab University, Chandigarh, 1979.

Mandal, S. R. — Gandhi and World Peace, Universal Brotherhood Temple and School of Eastern Philosophy Inc., California, 1932.

Mashruwala, K. G. — Gandhi and Marx, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1956.

Mashruwala, K. G. — Practical Non - Violence and Ideology of Non-Violence, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1941.

Mathur, J. S. — Essays on Gandhian Economics, Chaitauya Publishing House, Allahabad, 1960.

Mathur, J.S. & Mathur, A. S. (ed.s) — Economic Thought of Mahatma Gandhi, Chaitanya Publishing House, Allahabad, 1962.

Mathur, J.S. & Sharma, P. C. — Non-Violence and Social Change, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1977.

Mazumdar, B. B. (ed.) — Gandhian Concept of State, M. C. Sarkar & Sons Pvt. Ltd., Calcutta, 1957.

Moon, P. — Gandhi and Modern India, The English University Press Ltd., London, 1968.

Mukerjee, H. — Gandhiji - A Study, People's Publications House, New Delhi, 1960.

Munshi, K. M — Gandhiji's Philosophy in Life and Action, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1965.

Munshi, K. M. — Reconstruction of Society Through Trusteeship, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960.

Naess, A. — Gandhi and the Nuclear Age, The Badminster Press, New Jersey, 1965.

Nag, K.D. — Tolstoy and Gandhi, Pustak Bhandar, Patna, 1950

Nair, C. S. — Gandhi and Anarchy, The Tata Printing Works, Patna,1950.

Nanda, B. R. — Gandhi and His Critics, Oxford University Press, Delhi, 1985.

Nanda, B. R. — Mahatma Gandhi : A Biography, George Allen & Unwin Ltd., London, 1965.

Narayan, R. S. — Gandhi 's Contribution to Political Thought, Prasaranga University, Mysore, 1982.

Narayan, S.	Gandhi : The Man and His Thought, Publication Division, Govt. of India, 1969.
Narayan, S.	Gandhian Concept of Decentralized Economy, A Paper of International Seminar on the relevance of Gandhi to our time, New Delhi, 1970.
Narayan, S.	Principles of Gandhian Planning, Kitab Mahal Ltd., Allahabad, 1960.
Narayan, S.	Towards the Gandhian Plan, S. Chaud & co. Ltd New Delhi 1978.
Natesan, G.A. (ed.)	Mahatma Gandhi : The Man and His Mission, G. A. Natesan & Co., Madras, 1930.
Panter-Bricks	Gandhi Against Machiavellism, Trans. by P. Leon, Asia Publishing House, Bombay, 1966.
Patel, M. S.	The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1953.
Patil, S.H.	Gandhi and Swaraj, Deep and Deep Publications, New Delhi, 1983.
Patil, V. T. (ed.)	Studies on Gandhi, Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1982.
Power , P. F	Gandhi on World Affairs, Public Affaris Press, Washington, 1960.
Prabhu, R. K. & Rao, U. R. (comps.)	The Mind of Mahatma Gandhi, Oxford University Press, Bombay, 1945.
Prasad, K. M.	Sarvodaya of Gandhi, ed. by Ramjee Singh, Raj Hans Publication, New Delhi, 1984.
Prasad, Rajendra	At the Feet of Mahatma Gandhi, Hind Kitabs, Bombay, 1955.
Pyarelal	A Nation Builder At Work, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
Pyarelal	Gandhian Techniques in the Modern World, Navajivan Publishinng House, Ahmedabad, 1953.
Pyarelal	Mahatma Gandhi : The Early Phase, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1965.
Pyarelal	Mahatma Gandhi : The Last Phase (2 Vol.), Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1956, 1958.
Pyarelal	Thoreau, Tolstoy and Gandhiji, Bensons, Calcutta, 1958.
Pyarelal	Towards New Horizon, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1959.
Radhakrishnan, S	Great Indians, Hind Kitabs, Bombay, 1956.
Radhakrishnan, S. (ed.)	Mahatma Gandhi : 100 Years, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1968.
Ramanamurti, V. V. (Selected & ed.)	Gandhi : Essential Writings, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1970.

Ramanamruti, V.V.	Non-Violence in Politics : A Study of Gandhian Technique and Thinking, Frank Bros. & Co., Delhi, 1958.
Rolland, R.	Mahatma Gandhi, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India, 1968.
Roy, R.	Gandhi : Soundings in Political Philosophy, Chanakya Publications, Delhi, 1984.
Roy, S. (ed.)	Gandhi , India and the World : An International Symposium, Temple University Press, Philadelphia, 1970.
Santhanam, K.	Gospel of Gandhi, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1967.
Sharma, D.S.	The Father of the Nation, B. G. Pant & Co., Madras, 1956.
Saxena, K.S. (ed.)	Gandhi Centenary Papers, Vol. I,II,III,IV, Publications Division, Council of Oriental Research, 1972.
Saxena, S. A.	Every unto God : Essay on Gandhi and Religion, Indian Council of Philosophical Research, New Delhi, 1988.
Sengupta, B. & Chowdhury, R. (ed.s)	Mahatma Gandhi and India's Struggle for Swaraj, Modern Book Agency, Calcutta, 1932.
Sethi, J. D. (ed.)	Trusteeship. The Gandhian Alternative, Gandhi Peace Foundation, 1986.
Sharma, B.N.	Gandhi : His Life and Teachings, The Upper India Publishing House Ltd., Lucknow, 1950.
Sharma, B. S.	Gandhi as a Political Thinker, Indian Press Publication Pvt. Ltd., Allahabad, 1956.
Sharma, J. S.	Mahatma Gandhi : A Descriptive Bibliography, S. Chand & Co., Delhi, 1955.
Sharp, G.	Gandhi Wields the Weapon of Moral Power, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1960.
Shridharani, K.L.	The Mahtma and the World, Thacker & Co., Bombay, 1946.
Shridharani, K. L.	War Without Violence : A Study of Gandhi's Method and Its Accomlishments, Victor Gollancz Ltd., London, 1939.
Singh, K. N.	Gandhi and Marx : An Ethico Philosophical Study, Associated Book Agency, Patna, 1979.
Singh, M. P.	Contemporary Relevance of Gandhi, Nachiketa Publication, Bombay, 1970.
Singh, Ramjee	The Relevances of Gandhian Thought, Classical Publishing Co., New Delhi, 1983.
Singh, S.	Mahatma in the MarxistMirror, Siddhartha Publications Pvt. Ltd., Delhi, 1962.

■

महात्मा गाँधी
और
भारत

डॉ० अमर ज्योति सिंह
एम०ए०, एम०फिल०, पी-एच०डी० (समाजशास्त्र)